॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

१०५

महाकवि-भारविप्रणीत

किरातार्जुनीयम्

कोलाचल-मल्लिनाथविरचित-

'घण्टापथ' व्याख्या सहित 'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतम्

हिन्दी-व्याख्याकार

पं० आदित्यनारायण पाण्डेय शास्त्री

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

१९८०

HARIDAS SANSKRIT SERIES

105

KIRĀTĀRJUNĪYAM

OF

MAHĀKAVI-BHĀRAVI

With Ghantapath Sanskrit Commentary

OF

KOLĀCHAL MALLINĀTH

and

With 'Prakash' Hindi Commentary

By

Pt, ADITYANĀRĀYAṄ PANDEY

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

Varanasi–221001 (India)

1980

उपोद्घातः

अयि साहित्यरसास्वादनपरायणाः सहृदया विद्वांसः !

विदितमेवास्ति श्रीमतां तत्र भवतां यदिह समेऽपि शरीरिणः सततं सुखमेव समीहमाना दरीदृश्यन्ते। परमिह कमप्यनिर्वचनीयं निरतिशयानन्दरूपं काव्यादि-परिशीलनजन्यं ब्रह्मानन्दसहोदरं जीवनोद्देश्यभूतं सुखविशेषं सविशेषमनुभवितुं केचन विरला एव साहित्यरसिकाः परमभागधेयाः पारयन्ति।

तत्साधनतयैव भवतां पुरः प्रस्तूयते किरातार्जुनीयं नाम महाकाव्यम्। तद्धि 'भारवेरर्थगौरव' मिति लोकोक्तिं कृतार्थयत्, स्थले स्थले गुणगणगरिमाऽतिशालिनं गूढाशयं प्रकाश्य परमरमणीयचमत्कारशालि चार्थगौरवं समुद्भास्य समेषामपि विदुषां चेतश्चमत्करोति।

ग्रन्थोऽयं किरातवेषधारिशिवमर्जुनश्चाधिकृत्य कृतो भारविणेति समूलकमन्वर्थं नाम पुष्यन्नतीव शब्दादिसौष्ठवगुम्फनद्वारा काव्यजगति विदग्धचेतसां परमादरा-स्पदमापत्।

अर्जुनो हि तीव्रतपसा समाराध्य शिवमतूतुषत्। संतुष्टाच्च भगवतः शिवात् प्रसादरूपेण पाशुपतास्त्रं प्रापदित्यत्र प्रधानविषयो विदेलिमो विदुषा।

अस्मिंश्च महामहोपाध्याय-कोलाचल-मल्लिनाथकृति-कृता घण्टापथाख्या व्याख्या परमप्राचीना सर्वाङ्गीणा च संयोजिता नितरां चकास्ति। परमद्यत्वे सुकुमारमतीनां छात्राणां तावतापि सर्वथाऽध्ययनादौ पूर्णसौविध्यं न भवति स्मेति निभाल्य पं० श्री आदित्यनारायणपाण्डेयेन विरचिता "प्रकाश" नाम्नी परमोप-कारिणी हिन्दीभाषामयी टीकाऽपि प्रतरां समुज्जृम्भते।

ग्रन्थस्यास्य निर्माता विद्वद्धुरीणस्य दण्डिनः पितामहः श्रीनारायणस्वामिन-स्तनूजो दामोदरापरनामा सुगृहीतनामधेयस्तत्रभवान् महाकविः श्रीभारविमहोदयः षष्ठशतकान्ते सप्तमशतकादौ च इलातलमिदं समबीभसत्।

स्वजन्मना च कतमं देशं व्यबूभुषदिति विशेषप्रमाणानुपलब्धेर्वक्तुं न पार्यते। केचन चैनं दाक्षिणात्यं मन्यते परं तत्रापि प्रबलप्रमाणविरहान्न नो विश्वासः।

व्याख्याविधातुः कवेर्मल्लिनाथस्य स्थितिकालस्तु चतुर्दशं खिस्ताब्दीयं शतकमासीदिति न केषामपि विदुषां तत्र विवादः।

सर्वथा लाभलोभं विधूय संस्कृतच्छात्रहितैषिभिः श्रीजयकृष्णदासहरिदासगुप्तमहोदयैः परमोपकारिणीभिरुक्तसंस्कृतहिन्दीटीकाद्वयीभिः समलंकृत्य विद्वत्प्रकाण्डैः संशोध्य च ग्रन्थोऽयं प्रकाशतां नीत इति शीशकाद्यक्षरसंयोजकदृष्टिदोषेण संशोधकदृष्टिदोषेण च जायमानत्रुटिं गुणैकग्राहिणो मनीषिणः क्षंस्यन्ते इति नूनमहमाशासे।

विदुषामनुचरः—
सम्पादकः

प्रस्तावना

महाकवि भारवि

विद्वत् शिरोमणि भारवि संस्कृत-साहित्य के एक प्रसिद्ध महाकवि हैं। कवियों की गणना में इनका प्रमुख स्थान है। इनकी रचनाशैली अत्यन्त मनोहर और अर्थगौरव से पूर्ण है, जो आज भी 'भारवेरर्थगौरवम्' इस लोकोक्ति को चरितार्थ करती है। महाकवि भारवि याचना-कार्य को अत्यन्त घृणित समझते थे। इस विषय में महाकवि ने लिखा है— 'धिग्विभिन्नबुधसेतुमर्थिताम्'। महाकवि के प्राकृतिक वर्णन अतीव चमत्कारजनक हैं। आपने प्रत्येक प्राकृतिक वर्णन को पूरी नैसर्गिकता का प्रदर्शन करने के लिये प्राकृतिक वस्तुओं का सुन्दर चित्रण किया है। आपके सर्वतोभद्र आदि चित्र-काव्य और श्लेषात्मक एकाक्षर द्व्यक्षर आदि श्लोक अतीव सुन्दर हैं, जिन्हें लेकर मल्लिनाथ ने कहा भी है—

नारिकेलफलसंनिभं वचो भारवेः सपदि यद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

आपको राजनीति का भी अधिक अनुभव था। आपकी वंशस्थवृत्ति को कवि क्षेमेन्द्र ने बेजोड़ बताया है।

समय-निर्णय

यद्यपि महाकवि भारवि का समय निर्णय करना कठिन है तथापि प्राप्तलेखों के आधार पर कुछ लिखने का प्रयत्न किया जा रहा है—

व्हियेना ओरिएटल्ल सोसाइटी जनरल के तृतीय भाग के पृष्ठ १८४ में हरमैन जेकोबी महोदय ने षष्ठ शताब्दी का पूर्व भाग भारवि का समय लिखा है। सप्तम शताब्दी के बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित नामक ग्रन्थ में अपने से पूर्व काल के प्रायः समस्त कवियों का नामोल्लेख किया है किन्तु भारवि का कहीं निर्देश नहीं किया। अतः बाणभट्ट के मत से सप्तम शताब्दी से भी बाद के भारवि कहे जा सकते हैं। दुर्विनीत ने अपने किरातार्जुनीय की व्याख्या के परिचय में भारवि का समय (५५०–६०० ई०) कहा है। प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय ने अपने संस्कृत-साहित्य के इतिहास में भारवि का समय षष्ठ शताब्दी के लगभग लिखा है। पण्डित सीताराम जयराम जोशी तथा विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज द्वारा निर्मित संस्कृत-साहित्य के संक्षिप्त इतिहास में भारवि का समय षष्ठ शताब्दी का उत्तरार्ध माना गया है। एहोल (Aihole) शिलालेख में रविकीर्ति ने कालिदास और भारवि का उल्लेख किया है। इस शिलालेख का समय (६३४ ई०) है। आज भी यह शिलालेख 'एहोल' ग्राम के जैन विहार में मिलता है।[1] इस शिलालेख के आधार पर भारवि का समय

---

१. येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रित-कालिदासभारविकीर्तिः ॥ शिलालेखोऽयम् ॥

षष्ठ शताब्दी का उत्तरार्ध मानना ही उचित होगा। (सन् १९२४ में) के० रामनाथशास्त्री तथा रामकृष्ण कवि के द्वारा दक्षिण भारती ग्रन्थमाला के तृतीय पुष्प में प्रकाशित दण्डी कवि प्रणीत 'अवन्ति सुन्दरी कथासार' में लिखा है कि भारवि अचलपुर के निवासी और कौशिक गोत्रोत्पन्न नारायण स्वामी के पुत्र थे।

महाकवि का एक नाम दामोदर भी था। आप दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे और महाराज विष्णुवर्धन के सभापण्डित थे।[1] परन्तु अभी तक समस्त विद्वानों ने इसे मान्यता नहीं दी है। बहुतों का मत है कि भारवि दक्षिण भारत के निवासी थे और दण्डी के चतुर्थ पूर्वज दामोदर से उनकी घनिष्ठ मित्रता थी तथा वे दक्षिण भारत के चालुक्य वंशी महाराज विष्णुवर्धन के सभापण्डित थे।

किरातार्जनीयम्—

किरातार्जुनीय में अट्ठारह सर्ग हैं। कविप्रोक्त महाकाव्य के लक्षण से युक्त होने के कारण यह महाकाव्य कहलाता है और यह बृहत्त्रयी काव्यों में अन्यतम माना जाता है। इसकी कथावस्तु महाभारतीय वनपर्व से ली गयी है। यह काव्य प्रथम में 'श्री' शब्द से विभूषित है। इसके प्रत्येक सर्गान्त में 'लक्ष्मी' शब्द का संनिवेश है। इस काव्य में इन्द्रकीलपर्वत पर दिव्य अस्त्रलाभ के लिये तपस्या करनेवाले पाण्डुपुत्र 'अर्जुन' और किराताधिपति भगवान् 'शंकर' का परस्पर युद्ध वर्णित है। कविने इसी युद्धको महत्त्व देकर काव्य को सुन्दर और विस्तृत बनाया है। किराताधिपति और अर्जुन के युद्ध की ही मुख्यता होने के कारण इस काव्य का नाम भी 'किरातार्जुनीय' पड़ा है। इस काव्य में राजनीति का प्रदर्शन करते हुए कवि ने साम, दाम, दण्ड और भेद का बहुत गम्भीरता से वर्णन किया है। भारतवर्ष की प्राचीन स्त्रियों का कितना गम्भीर विचार था यह द्रौपदी की

---

१. "अस्त्यानन्दपुरं नाम प्रदेशे पश्चिमोत्तरे।
आर्यदेशशिरोरत्नं यत्रासन् बहवो नृपाः॥
ततोऽभिनिःसृता काचित् कौशिकब्रह्मसन्ततिः।
सुरलोकादिवायान्ती पुण्यतीर्था सरस्वती॥"
"नासिक्यभूमावौत्सुक्यान्मूलदेवनिवेशिताम्।
प्राप्याचलपुरं............रीमधिवसत्यसौ॥
तस्यां नारायणस्वामिनाम्ना नारायणोदरात्।
दामोदर इति श्रीमानादिदेव इवाभवत्॥
स मेधावी कविर्विद्वान् भारविः प्रभवो गिराम्।
अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने॥"
(अ० सु० क० सा० पृ० १–२२)

उक्ति से स्पष्ट मालूम होता है। भारवि ने पात्र के अनुसार ही शब्दों का निवेश किया है यह भीमोक्ति से विदित होता है। विवेचना के विषय में किसी कार्य को करने से पहिले उसकी पूरी विवेचना करके ही उसको करने में प्रवृत्त होना चाहिये ऐसा युधिष्ठिर की उक्ति द्वारा कहा है :—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥ (स० २, श्लो०३०)

इस काव्य में प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अत्यन्त मनोहर है। प्राकृतिक दृश्यों में कवि का हृदय सदा निमग्न था, यह सायंकालिक मनोहर वर्णन से प्रतीत होता है :—

मध्यमोपलनिभे लसदंशावेकतश्च्युतिमुपेयुषि भानौ।
द्यौरुवाह परिवृत्तिविलोलां हारयष्टिमिव वासरलक्ष्मीम्॥ (स० ९ श्लो० २)

इस श्लोक में 'परवृत्तिविलोला' अत्यन्त मनोहर हैं। तात्पर्य यह है कि जिस तरह जप करते समय माला हिलती रहती है उसी तरह चपला लक्ष्मी चंचल हो रही है।

कवि ने स्थान-स्थान पर पर्वत, जलाशय, कुञ्ज, वापी आदि का बहुत ही रम्य वर्णन किया है। चित्रकाव्य, यमक, अनुप्रास, एकाक्षर[1] श्लोक पञ्चदश सर्ग में अधिक सुन्दर है। यह सर्ग अपेक्षाकृत कठिन भी है।

उपसंहार

इस काव्य में धीरोदात्त नायक है। इसमें अर्जुन नायक हैं और किराताधिपति शंकर प्रति नायक हैं। यह वीररस प्रधान काव्य है। इसमें दूतमुख कथन और किरातपति शंकर का वचन उद्दीपन विभाव, नायक और प्रतिनायक का धनुरादि आकर्षण आदि अनुभाव, धैर्य, क्षमादि व्यभिचारी भाव, उत्साह स्थायी भाव, शृङ्गारादि रस अङ्ग, पाञ्चाली रीति, प्रसाद गुण हैं। दिव्य पाशुपतास्त्रप्राप्ति इस महाकाव्य का फल है।

---

१. न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेनानुन्न नुन्न नुत्॥

संक्षिप्त कथासार

प्रथम सर्ग

युधिष्ठिर के प्रति वनेचर की उक्ति

जब कि महाराज युधिष्ठिर जूये में हार जाने से भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदी के साथ द्वैतवन नामक जङ्गल में निवास करते थे, उस समय उन्होंने दुर्योधन का समाचार जानने के लिये एक वनवासी (किरात-वनेचर) को ब्रह्मचारी के वेष में भेजा था, वह सब हाल जानकर महाराज युधिष्ठिर के पास आया और कहने लगा–हे महाराज, दुर्योधन इस समय राज्य का नीति पूर्वक शासन कर रहा है, 'मैं राजा हूँ, मेरा यही धर्म है' ऐसा समझता हुआ शत्रु या पुत्र जो हो उसे धर्मशास्त्रानुसार दण्ड देता है। उसके यहाँ बड़े-बड़े राजा लोग आकर दरबार में कर देते हैं तथा जो आदेश करता है उसे सब पूरा करते हैं, उसके राज्य में सर्वत्र कृषि उत्तम रूप से होती है, और प्रजा प्रसन्नता से समय-समय पर कर देती है। वह दुःशासन को युवराज बनाकर स्वयं यज्ञादि करता रहता है, इसलिये अब आप उसे जीतने के लिये कोई प्रबल उपाय करें। इसके बाद युधिष्ठिर महाराज ने उसे पारितोषिक देकर विदा कर के उक्त समाचार भीमादि के सामने द्रौपदी से जाकर कहा, उसे सुनकर द्रौपदी ने कहा—

युधिष्ठिर के प्रति द्रौपदी की उक्ति

हे नाथ! यद्यपि स्त्री का उपदेश पुरुषों के लिये अनादर सा होता है तथापि क्या करूँ मेरी आन्तरिक व्यथा मुझे कहने के लिये बाध्य कर रही है अतः आप क्षमा करियेगा। हे महाराज! भला बताइये तो-आपके सिवाय कौन ऐसा राजा होगा—जो अपनी स्त्री के समान राजलक्ष्मी को दूसरे के अधीन कर देगा। हा! देखिये ये वही भीम हैं जो पहले सुन्दर पलङ्ग पर सोते थे आज जमीन पर सोते हैं, और जिन्होंने उत्तर कुरु देश को जीत-कर बहुत सा स्वर्ण लाकर खजाने में रखा था वे ही अर्जुन आज बल्कल पहने हुए हैं और ये दोनों सुकुमार सुन्दर नकुल तथा सहदेव कठिन भूमि में सोते हैं। इन सबों को इन हालतों में देखकर भी आप धैर्य और सन्तोष को नहीं छोड़ते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है, आपकी दुर्दशा देखकर मुझे तो अत्यन्त दुःख हो रहा है।

हे महाराज! आप अब शान्ति को छोड़कर शत्रुओं को नष्ट करने के लिये अपना पुराना तेज धारण करिये, क्योंकि शान्ति से मुनियों का कार्य होता है न कि राजाओं का, यदि आप शान्ति ही को सुख का साधन समझते हैं तो राज-चिह्न धनुषादि को त्यागकर जटा बढ़ाकर केवल मुनियों की भाँति अग्निहोत्र किया करें। हे महाराज! सब प्रकार से समर्थ होते हुए भी शत्रु-विजय के लिये आपको समय की प्रतीक्षा करते रहना उचित नहीं है, क्योंकि विजय चाहने वाले राजा लोग समय पड़ने पर किसी न किसी व्याज से सन्धि को भी तोड़ देते हैं।

द्वितीय सर्ग

युधिष्ठिर के प्रति भीम की उक्ति

(अपने मनोनुकूल द्रौपदी की बातें सुनकर भीम युधिष्ठिर से बोले)—

हे महाराज ! द्रौपदी ने इस समय जो कहा वह उचित है। उसकी बात बृहस्पति को भी आचर्य में डाल देने वाली है। इसे स्त्री की कही हुई समझकर आपको उपेक्षा करना उचित नहीं है, क्योंकि गुणग्राही पुरुष, स्त्री या पुरुष का विचार नहीं करते। बड़े खेद की बात है कि आप देवताओं को भी आश्चर्य में डालनेवाले पुरुषार्थ को पाकर भी दुश्मनों द्वारा दुर्दशा भोग रहे हैं, शत्रु को बढ़ते हुए देखकर भी उसकी उपेक्षा करना अत्यन्त अनुचित है। यद्यपि आप इस समय क्षीण हैं तथापि जब उन्नति के लिये चेष्टा करेंगे तो प्रजा आपके उत्साह को देखकर आपको नमन करेगी, यदि अवधि की प्रतीक्षा करते रहियेगा तो निश्चय समझिये कि दुर्योधन इतने दिन तक राज्यसुख भोगकर आपको अवधि बीतने पर राज्य दे देगा यह असम्भव है। अतः आलस्य छोड़कर पुरुषार्थ करिये, आपके उठते ही शत्रुओं पर विपत्तियाँ आ पड़ेंगी। आपके दिग्विजयी चारों भाइयों के तेज को भला शत्रुओं के मध्य में कौन है जो सह सकेगा। इस भाँति अत्यन्त क्रुद्ध भीमसेन की बातें सुनकर मतवाले हाथी की भाँति उन्हें धीरे-धीरे शान्त करने के लिये महाराज युधिष्ठिर चेष्टा करते हुए बोले—

भीम के प्रति युधिष्ठिर की उक्ति

हे भीम ! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब समयोचित शास्त्र-सङ्गत है तथापि मेरा मन विचार-पूर्वक कार्य करने को कहता है। असमय में क्रोध करना अत्यन्त अनुचित है, शान्ति से बढ़कर उत्तम साधन कोई नहीं है, इसके रखने से शत्रु स्वयं नष्ट हो जाते हैं। और यदि इस समय नियम तोड़कर चढ़ाई न की जाय तो जितने राजा हैं वे सब अवधि के बाद हमारी सहायता करेंगे। और यह समझना कि अधिक समय हो जानेपर राजा लोग दुर्योधन के पक्ष में हो जायँगे तो यह भूल है। अहङ्कारी मनुष्य की सेवा में जो लोग रहते हैं वे लोग जब समय पड़ता है तब उसे छोड़ देते हैं, क्योंकि उसके दुर्व्यवहार से मन में सभी अप्रसन्न रहते हैं। अतः जब तक अवधि है तब तक शान्ति के साथ समय बिताना उचित है। इस प्रकार से जब महाराज युधिष्ठिर भीम को समझा रहे थे ठीक उसी समय दवात् व्यास जी पहुँच गये, उन्हें देखते ही सभी ने उठकर स्वागत किया तथा आदर के साथ लाकर उच्च आसन पर बैठाया, पश्चात् अपने भी आज्ञा पाकर हाथ जोड़कर संमुख बैठ गये।

तृतीय सर्ग

युधिष्ठिर और अर्जुन के प्रति व्यास की उक्ति

हे राजन् ! संग्राम में उसी की जय होती है जिस के पास सेना तथा अस्त्रादि का विशेष बल है, यह बात परशुराम के साथ युद्ध करने में भीष्म ने उन्हें पराजित करके लोगों को दिखला दी है। और यमराज से भी नहीं डरनेवाले भीष्म तथा कर्ण एवम् प्रल-

यकालाग्नि के समान युद्ध में भयंकर द्रोणाचार्य आदि योद्धागण सब दुर्योधन के पक्ष में हैं अतः उन सबों को जिनसे जीत सकें उन दिव्य अस्त्रों को पाने के लिये मैं अर्जुन को एक मन्त्र बतलाता हूँ जिसके द्वारा वे कठिन तपस्या कर इन्द्र भगवान् को प्रसन्न कर दिव्य अस्त्र तथा पराक्रम प्राप्तकर युद्ध में विजयी हों, बस यही मेरे आने का उद्देश्य है, ऐसा कह व्यासजी पुनः अर्जुन से कहने लगे—हे अर्जुन ! तुम अब मेरे कथनानुसार साथ में अस्त्रों को भी लिये हुए मुनियों की भाँति जाकर तपस्या करो, और जहाँ पर तपस्या करनी है वहाँ पर यक्ष तुम्हें शीघ्र ही पहुँचा देगा ऐसा कहकर जैसे ही व्यास जी अन्तर्धान हुए वैसे ही अर्जुन के पास यक्ष उपस्थित हो गया तब उन्हें जाने के लिये उद्यत देख द्रौपदी अर्जुन से कहने लगी।

अर्जुन के प्रति द्रौपदी की उक्ति

जबतक तपस्या पूरी न हो तबतक आप हमलोगों के बिना व्यग्र न होना क्योंकि बिना दृढ़ आग्रह के कोई कार्य सिद्ध नहीं होता और उन्हें तपस्या के लिये उत्तेजित करने के लिये पुनः कहने लगी कि–संसार में तेजस्वी पुरुषों की मान–हानि प्राण–हानि के तुल्य ही होती हैं, शत्रु से पराजित होने पर उनका अपमान होता है और शत्रुओं ने जो-जो दुर्व्यवहार किये हैं और जिन्हें कि–मैं स्मरण भी नहीं करना चाहती, आज मुझे वे ही सब तुम्हारे बिना यद्यपि और भी कष्ट पहुँचायेंगे तथापि उन सबों को इस आशा से सहूँगी कि आप शीघ्र ही शत्रुओं को जीतने योग्य सामर्थ्य प्राप्त कर पुनः मिलेंगे। अतः अब आप तपस्या के लिये जायँ और आपके समस्त विघ्नों को इन्द्र भगवान् दूर करें हे नाथ ! आप व्यास जी का आदेश पालन करते हुए हमलोगों के मनोरथ को सफल करें। और अब आपको कृतकार्य देखकर पुनः आनन्द से आलिङ्गन करना चाहती हूँ। तब इन सब बातों को सुनकर अर्जुन को दुर्योधनादिकों के ऊपर अत्यन्त क्रोध हुआ, और वह कवच पहन कर तलवार, धनुष और तरकश लेकर यक्ष के बताये हुये रास्ते से इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने के लिये चल पड़े, और सब लोगों को उनके जाने पर अत्यन्त दुःख मालूम पड़ने लगा पर समझाकर किसी भाँति अपने-अपने चित्त को शान्त किया और उस समय मङ्गलसूचक दिव्य दुन्दुभी शब्द तथा आकाश में पुष्पवर्षा होने लगी जिसे देखकर सब अत्यन्त प्रसन्न हुये।

चतुर्थ सर्ग

शरदृतु वर्णन

इन्द्रकील पर्वत की ओर यक्ष के साथ जाते हुए अर्जुन ने शरद् की शोभा को निम्नलिखित रूप में देखा—

वर्षाऋतु के बीत जाने से मार्ग पर कहीं पङ्क (कीचड़) नहीं दिखाई देता था। सद्यः जलविमुक्त नदी-तट धवल बालुकामय शरीर को धारण किये हुये था। जलाशयों में

अधिक कमल खिलने के कारण दर्शकों को स्थलकमल की भ्रान्ति उत्पन्न होती थी। चारों ओर खेतों में अनेक प्रकार के धान की बालें झूल-झूल कर पथिकों के मन को आकर्षित कर रही थीं।

इस तरह अर्जुन को शरद् शोभा की छटाओं को देखने में आसक्त जानकर यक्ष शरद् सम्बन्धी वार्ता करने लगा—

यक्षकृत शरद् गुण वर्णन

हे अर्जुन ! यह समय बहुत सुन्दर प्रतीत हो रहा है। भूमि धान्यरूप फलों से भरी हुई है। सरोवर और नदियों का जल स्वच्छ हो गया है। आकाश मण्डल सजल मेघ रहित होने से निर्मल हो गया हैं। आकाश के अन्तराल में पक्षिगण मधुर शब्द करते हुए विचरण कर रहे हैं। सुगन्ध को लेकर पवन मन्द-मन्द वह रहा है। दिशाएँ प्रसन्न दीख रही हैं। खेत का जल हरित लता, सफेद कमल, और पके हुए साठी धान की पीत कान्ति से इन्द्रधनुष की शोभा को धारण कर रहा है। गोपालों की ललनाएँ अपने सुमधुर गीत से मयूर की केकावाणी को भी तिरस्कृत कर रही हैं। उनके गानों में आसक्त होकर हरिणियाँ तृण चरने को भी भूल गयी हैं।

इस प्रकार यक्ष द्वारा वर्णित शरद् कान्ति का अवलोकन करते हुए अर्जुन को वनराजि से श्याम रूप गिरिराज हिमालय का दर्शन हुआ।

पञ्चम सर्ग

'कविकृत' हिमालय वर्णन

इन्द्रकील पर्वत की ओर यक्ष के साथ जाते हुए अर्जुन ने हिमालय की शोभा को निम्नलिखित रूप में देखा—

हिमालय समस्त लोक के मनुष्य को आश्रय देने वाला है। इसके गर्भ में अनेक धातु और मणि गुम्फित हैं। अत एव यह रत्नाकर की छवि को धारण किये हुये है। इसका शिखर प्रदेश हिमाच्छन्न और मध्य-प्रदेश बहुत विशाल है। इसी मध्य-प्रदेश पर मेघमण्डल विचरण करते हैं। इसके तट-प्रदेश पर उच्च शिखरों से जाह्नवी आदि सुरसरितायें गिर रही हैं। जलपात से तटभूमि क्लिन्न है अतएव लता और वृक्ष अपनी रम्य कान्ति को धारण किये हुए विविध वन और उपवन में मनोहर मालूम पड़ रहे हैं।

यक्षकृत हिमालय वर्णन

हिमालय का उच्च शिखर आकाश-मण्डल को छूने जा रहा है। इसके पार्श्व प्रदेश में मानसरोवर और कैलास आदि पवित्र स्थान हैं तथा मध्य प्रदेश में गहन वन हैं जिसमें बड़े-बड़े वृक्ष और हिंसक प्राणी निर्भयतापूर्वक विचर रहे हैं। चारो ओर महौषधियाँ चमक

कर बिजली की शोभा दे रही हैं। सरोवर और लताकुञ्ज अत्यन्त सुन्दर हैं, जो नायक-नायिका को मुग्ध कर रहे हैं। इस हिमालय पर दिव्य सुन्दरियाँ विहार के लिये स्वर्ग से आती हैं। यह परम पवित्र स्थान है। इसी स्थान पर भगवती पार्वती ने अपनी विकट तपश्चर्या से भगवान् शंकर को प्राप्त किया था।

इसी हिमालय के पास पार्वतीपति भगवान् शंकर का निवासस्थान कैलास अपनी मणिमय कान्ति से सूर्य की किरणों को तिरस्कृत कर रहा है। तप-साधन में संलग्न तपस्वी जन के तप में विघ्न डालने वाली अप्सराएँ विविध रूप धारण कर भ्रूविक्षेपादि से तपस्वियों के धैर्य को च्युत करने की कोशिक कर रही हैं। परन्तु योगिजन अपनी इन्द्रियों का संयम करते हुए अपने लक्ष्य रूप ब्रह्म–सायुज्य को प्राप्त कर सांसारिक बाधाओं से मुक्त हो जाते हैं। तट प्रदेश पर समृद्धिशाली और सुखी कृषक लोग अपनी मर्यादा का पालन करते हुए आनन्दपूर्वक निवास करते हैं।

यक्षकृत इन्द्रकील (पर्वत) वर्णन

इन्द्रकील की गुफाएँ अत्यन्त सुन्दर हैं। यह पर्वत इन्द्र का अत्यन्त प्रिय है। स्वर्णमयी तटभूमि की कान्ति पवन प्रेरित लताओं के मध्य भाग पर जाकर विद्युल्लता का अनुकरण कर रही है। यहाँ का चन्दन वृक्ष मत्त गज के कपोल की रगड़ से सर्प रहित हो गया है। मरकत मणि की तीक्ष्ण प्रभा से इस पर्वत पर सूर्य की किरणें भी हतप्रभ हो गयी हैं।

अर्जुन के प्रति यक्ष का उपदेश

हे अर्जुन ! शस्त्र धारण कर इसी इन्द्रकील पर्वत पर आप तपस्या करें। तपस्या में बहुत सी विघ्न-बाधायें उपस्थित होंगी उसके बाद आपका कल्याण होगा। इसलिए आप इन्द्रिय चापल्य को छोड़ें और भगवान् शंकर की तपस्या कर वर प्राप्त करें। लोकपाल और इन्द्र आपकी तपस्या की वृद्धि करेंगे। इस प्रकार अर्जुन को आशीर्वाद देकर यक्ष अपने स्थान पर चला गया और अर्जुन अपनी कार्य-सिद्धि के लिये इन्द्रकील पर निवास करने लगे।

अर्जुन गङ्गा के समीप इन्द्रकील पर्वत के सुन्दर-प्रदेश में पहुँचे। उस स्थान पर वृक्ष अपने आश्रित भ्रमर और पक्षियों के द्वारा मानो अर्जुन की जयध्वनि और पवन के द्वारा पुष्प-वृष्टि कर रहे थे। पवन पङ्कज-पराग और भागीरथी के शैत्य को लेकर सुखस्पर्श करा रहा था। अर्जुन ने प्रवाह के वेग से भंग देवदारु एवं अत्यन्त पतली-पतली बेत की लता और तरङ्ग के ऊपर तैरने वाले कलहंसों तथा मत्त भ्रमर से युक्त तटप्रदेश को देखा।

षष्ठ सर्ग

इन्द्रकील पर्वत पर अर्जुन के तपोनुष्ठान तथा विघ्न डालने के लिए इन्द्रप्रेषित अप्सराओं के गमन का वर्णन

अत्यन्त सौम्य मूर्त्ति अर्जुन, इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचकर गिरिसरिताओं के जलकणों से अत्यन्त शीतल मन्द सुगन्ध पवन के स्पर्श से आनन्द को प्राप्तकर झरना आदि प्राकृतिक पर्वतीय दृश्यों की अनुपम रमणीय सुषमाओं से अलंकृत अत्यन्त निर्जन उस पर्वत के शान्त वातावरण को देखकर तपश्चरण के लिये उद्यत हुए। तदनन्तर सांसारिक विषयों से चित्तवृत्तियों को रोककर सारी इन्द्रियों को अपने वश में करके अत्यन्त कठिन तपस्या करते हुए अर्जुन को थोड़ा भी अनुष्ठान जनित खेद का अनुभव नहीं हुआ, क्रमशः काम-क्रोधादि आन्तरिक शत्रुओं से विवेक द्वारा चित्त को हटाकर अन्तरात्मा में परम शांतिजन्य आनन्द का अनुभव करते हुए जप ध्यान-वन्दनादि से इन्द्र को प्रसन्नकर स्वभावतः आगन्तुक वीर-शान्त रसों से समुद्भासित तेज को उन्होंने प्राप्त किया। बाद में तपोऽनुष्ठान-जनित उस विलक्षण तेज से जटाधारी अर्जुन अत्यन्त देदीप्यमान होकर चमकने लगे। आयुध धारण कर तपस्या करते हुए अर्जुन के तप के प्रभाव से हिंसक सर्प सिंह व्याघ्र आदि जन्तुओं ने हिंसाभाव को भी छोड़ दिया। पवन अत्यन्त सुखद होकर मन्द-मन्द बहने लगे। धूप निरतिशय सुखस्पर्श अनुभूत होने लगी। पौधे नूतन पल्लवों से लद गये। आकाश मण्डल अत्यन्त निर्मल हो गया। पृथिवीतल धूलि कणों से रहित होकर शान्त दिखाई पड़ने लगा। नैमित्तिक पुष्प अभीष्टफलप्रद मालूम पड़ने लगे। अर्जुन के उस तपोवैभव को देखकर वनेचरों ने अपने यथेच्छ आहार-विहार में क्लेश का अनुभव करते हुए इन्द्र के पास जाकर अर्जुन के तपोऽनुष्ठान की सारी बातें कहीं। बाद में इन्द्र ने उन वनेचरों के मुख से अर्जुन के तपोऽनुष्ठान का वृत्तान्त सुनकर हर्ष वेग को रोकते हुए उनकी तपस्या के परीक्षणार्थ अप्सराओं को बुलाकर कहा—हे सुराङ्गनाओं! आप लोग ही सर्वविजयी कामदेव के परम अमोघ अस्त्र हैं। आपके कटाक्षपातों से ही अत्यन्त जितेन्द्रिय महातपस्वियों के भी मन विचलित हो जाते हैं। आप सबके प्रसादसे ही स्वर्गलोक, संसार में सब लोकों से श्रेष्ठ माना जाता है। इस तरह उनकी अनेकों प्रशंसायें करके गन्धर्वों के साथ मिलकर अर्जुन के तप में विघ्न डालने के लिये इन्द्र ने उन अप्सराओं को सभी के शाप आदि विषयक संदेह-भय को दूर करते हुए विश्वास द्वारा निर्भीक बनाकर प्रेषित किया। बाद में वे अप्सरायें अनेक आभूषणों से भूषित होकर स्तनभारों से झुकी हुई, एवं अत्यन्त मादक भ्रूविक्षेप-कटाक्षपात आदि चेष्टाओं से सबको मोहित करती हुई इन्द्र को प्रणाम कर अर्जुन के प्रति चल पड़ीं।

सप्तम सर्ग

गन्धर्वों के साथ अप्सराओं के विलासपूर्वक इन्द्रकील के प्रति प्रस्थान का वर्णन

महेन्द्र के भवन से अर्जुन के समीप प्रस्थान करती हुई उन अप्सराओं के रक्षणार्थ इंद्र ने रथ-हाथी घोड़ों के साथ अपने भृत्यों को भेजा। रास्ते में जाती हुई उन गन्धर्वाङ्गनाओं के कपोलों पर धूप के ताप से लालिमा छा गयी, पसीने टपकने लगे। गमनजनित थकावट से नयन कमल मुरझाने लगे। अत्यन्त सुकुमारतम उन के शरीरों में आतप ताप की सहनशीलता देखकर गन्धर्वगण चकित हो गये। क्रमशः वे सब मन्दाकिनी के पास पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही उस नदी की तरङ्गों के सम्पर्क से अत्यन्त शीतल एवं विकसितकमलों के किञ्जल्कसौरभों से सुगन्धित होकर बहते हुए पवन से उनके मार्ग-गमन-जनित सारे परिश्रम दूर हो गये। विमान द्वारा अन्तरिक्ष में जाते हुए उन के ऊपर पानी वर्षा कर परिश्रम-जनित खेदों को दूर करने के कारण उन अप्सराओं ने बादल को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा। वायु द्वारा उन के जघनों से अधोवसन के हट जाने पर भी मणिमय मेखलाओं की किरणों ने ही जघनों को अपने प्रकाश से आच्छादित कर अधोवसन का काम किया। उनके विमानों की गति से बादल में इन्द्रचाप-जनित शोभा के नष्ट हो जाने पर भी उन सुर ललनाओं के भूषणों में जड़े हुए मरकत-पद्मराग आदि विविध मणियों की रङ्गविरङ्गी अनेक प्रभाओं से फिर इन्द्रधनुष की शोभा उत्पन्न हो गयी। बाद में अर्जुन के तप में विघ्न डालने की सफलता प्राप्त्यर्थ आपस में अनेकों बातचीत करते हुए वे सब इन्द्रसैनिक, इन्द्रकील पहाड़ पर पहुँचे। वहाँ पहुँचकर वह सारी सेनासंहति कमलों एवं फेनों के तुल्य मुख और श्वेत छत्रों से आकाश गंगा की भाँति अत्यन्त सुशोभित होने लगी। रथों में जोड़े हुए घोड़े, लगामों को पीछे कसने से अपने शरीर के पूर्व हिस्सा को झुकाकर बादल की श्रेणी रूप सड़क से उतरते हुए विमानों को क्षितितल पर ले आये। उस पर्वत की ओर गगन से उतरते हुए हाथी सब, बादलों के मध्य में रहने के कारण समुद्रमध्य विराजमान मैनाक आदि पर्वत जैसे मालूम पड़ते थे। उस पर्वत की चोटी पर बैठे हुए मोरगण झरनों के शब्दों से मिश्रित रथों की घर्घर आवाज को सुनकर मेघगर्जन की भ्रान्ति से गले को ऊपर उठाकर ताकते हुए अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये। इस तरह सब जीव-जन्तुओं में अत्यन्त कुतूहल पैदा करती हुई इन्द्रवाहिनी इन्द्रकील पर आ पहुँची। बाद में गन्धर्व-गण उस पर्वत पर शिविरों को बनाकर गङ्गा के समीप हरी २ घासों से भरी हुई भूमि पर रहन-सहन का क्रम स्थिर कर पर्वत की भी अत्यन्त शोभा बढ़ाकर रहने लगी। तदनन्तर उन सुराङ्गनाओं के भोग-विलास के काम में आने से अत्यन्त सुगन्धित पुष्पों से सुशोभित पौधे तथा नवीन पल्लवों से सुसज्जित लतायें सफलता को प्राप्त हुईं। उन लोगों के सहवास से नगर की तरह उस पर्वत की शोभा मालूम पड़ने लगी।

अष्टम सर्ग

गन्धर्वों और अप्सराओं के क्रीड़ादि का वर्णन

गन्धर्व गणों से युक्त होकर देवाङ्गनायें वन में विहार करने की इच्छा से अनेक विध सुख-साधनों से सम्पन्न तथा अत्यन्त सुन्दर नगर को भी छोड़कर सघन वन में प्रवेश करती हुई अपनी कान्तिच्छटा से वन-लताओं को प्रकाशित करती हुई बिजली की तरह चमकने लगीं। बाद में अनेक फूलों से सुशोभित लताकुञ्जों में विहरण करती हुई बाहुलता रूप वनलताओं से लिपटे हुए एवं पुष्परस का पान करने वाले भ्रमरों से युक्त चञ्चल किशलयोंवाली अशोक यष्टि को देखती हुई परम आनन्द का अनुभव करने लगीं। उनमें किसी एक मानिनी नायिका को सरस नायक ने कहा—हे मानिनि! नवीनपल्लववत् अत्यंत कोमल हाथों को मत कँपाओ क्योंकि कल्पलता के भ्रम से आये हुए भौंरे डर रहे हैं। प्रणय-कलह में बनावटी गुस्सा कर प्रिय से रूठी हुई किसी नवोढ़ा को मनाती हुई सखी कह रही थी—हे सखी! कोप को त्यागकर तुम अपने प्रिय वल्लभ के पास जाओ, वरना पीछे पछताओगी, इस तरह लीला के साथ विहार करती हुई वे अप्सरायें सारस पक्षियों के मधुर कलरव से झंकृत होती हुई पर्वतीय वननदियों की अनुपम शोभा, एवं मोती की तरह झरनों के जलबिन्दुओं, तथा भ्रमरों से व्याप्त पुष्पों से सुशोभित वनलताओं और चन्दन वृक्षों को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। कभी तो कहीं पर हाथ से ही तोड़ने के लायक रमणीय पुष्पगुच्छों को छोड़कर प्रेम से प्रिय द्वारा दिये गये पुष्पगुच्छों को ही लेना किसी ने पसंद किया। कहीं तो कोई कामिनी पुष्प देने की इच्छा से प्रिय द्वारा सौत के नाम से बुलाई जाने पर अत्यंत खिन्न होकर, कुछ न उत्तर देकर केवल आँसू बहाती हुई भूमि को नख से लिखने लगी। कोई प्रौढा नायिका तो पति के साथ बात करते समय तल्लीन होने से अकस्मात् नीवीबन्धन के खुल जाने पर भी उसको एवं शरीर पर से गिरे हुए कपड़े को भी नहीं सम्हाल सकीं। किसी चतुर प्रगल्भा नायिका ने तो प्रिय द्वारा दी गयी पुष्पमाला को शिर में अर्पण करने के बहाने से प्रिय को ही स्तन से थोड़ासा रङ्गरभस में ताड़न किया। किसी कामिनी ने तो वस्त्ररहित नितम्ब एवं कुछ खुले हुए दोनों स्तनों तथा रोमपंक्ति युक्त उदर को दर्शाकर अत्यन्त मनोहर काले-काले केशपाशों से वल्लभ को मोहित किया, किसी प्रौढ़ा युवती ने तो अपनी आँख में पड़ी हुई धूलि को मुख पवन से निकालते रहने पर भी नहीं सफल होते हुए अपने प्राणवल्लभ को कुचों से ताड़ित किया। उस समय पर्वतीय मार्ग से किसी तरह निकली हुई उन सुराङ्गनाओं के ऊरू-जघन स्तनादि के भारों से मन्द गति एवं चन्द्रहारमणि से शोभित नितम्बों तथा स्तन एवं त्रिवलिशोभित उदरों और पसीने की बून्द से अत्यन्त ललित कमल सदृश मुखों को कुतूहल के साथ देखते हुए गन्धर्वगण परम आनन्दित हुए। बाद में वे अप्सरायें गन्धर्वों के साथ जल-केलि-क्रीड़ा करने लगीं। स्नान के समय

तरङ्गों से आहत होकर उनके केशपाश बिखर गये। मालायें विलुलित हो गईं। स्तनादि में लिप्त कुङ्कुमादि के राग धुल गये। कमलिनी में लीन किसी नायिका की आँखों में भ्रमर युक्त कमलों का और केशपाशों में भ्रमरों का भ्रम होने लगा। जल में विहार करती हुई उन युवतियों के अञ्जन धुल गये, आँखें लाल-लाल हो गयीं। अधर पल्लव भी आलता के राग से रहित हो गये। उन स्त्री जनों के हाथ से ताड़ित होकर मृदङ्ग सदृश गम्भीर शब्द करते हुए पानी का, नायिकाओं के बड़े-बड़े स्तनों के संपर्क जन्य आघात से तालुलय युक्त होकर नृत्यसा होने लगा। ऊरु-स्थल के कपड़े में छोटी छोटी मछलियों के घुसकर फरफराने से त्रास के मारे आँखें चञ्चल होने लगीं और बाहुलतायें काँपने लगीं। मीन के अभिभव जन्य घबराहट के बहाने कोई नायिका प्रिय से ही लिपट गई, कोई मानिनी हँसी मखौल में प्रिय द्वारा जल से ताड़ित होकर रूठी हुई सी होने पर भी नायक से मनायी जाने पर खुश हो गई। कोई कामुकी तो मदन से विह्वल होकर दिल्लगी से प्रिय के ऊपर पानी छिड़कने के लिये उद्यत होती हुई हाथ को प्रिय द्वारा पकड़ लेने पर नीवीबन्धन के खुल जाने पर भी करधनी से कपड़े को बाँधकर सम्हल गई, इस तरह वे गन्धर्वाङ्गनायें चकवा चकवी को विछुड़ाकर और कमल वन की शोभा को नष्ट कर तारा-गणों से चमत्कृत रात की तरह सुशोभित हुईं। और गङ्गा का जल भी उनके अङ्गों में लिप्त चन्दन रस के सम्पर्क से त्रुटित भूषण मणि की प्रभा से देदीप्यमान होते हुए तरङ्गों से युक्त होकर लोगों का अत्यन्त नयनानन्दजनक हुआ।

नवम सर्ग

सायंकाल आदि का वर्णन

अब सबसे पहले महाकवि भारवि उत्प्रेक्षा द्वारा सूर्यास्त का वर्णन करते हैं—जल-केलि क्रीड़ा से निवृत्त उन सुराङ्गनाओं के मन को रमण करने की इच्छा से कलुषित सा समझ कर सूर्य भगवान् अस्त होने के लिये उद्यत हुए। उस समय सूर्य अपनी किरणों को ढीला कर पश्चिम दिशा का आश्रयण करके कमल-मधु के पान से लाल वर्ण सा अङ्गवाला होकर शोभने लगा। चक्रवाक पक्षी के हृदय में विरहसंताप प्रकट होने लगा। पश्चिम दिशा में अपने आश्रयभूत सूर्य के व्यसन से दुखी सा होकर किरणों का समूह मलिन सा हो गया। चिड़ियाँ पेड़ों पर जाकर शोरगुल मचाने लगीं। शाम का समय निकट आ गया सन्ध्याकालीन लालिमा से पश्चिम दिशा लाल सी हो गई। क्रमशः एकाएक संध्याकाल भी बीत चला। अन्धकारों में वन उपवन नदी पर्वत और सब दिशायें व्याप्त हो गईं। मिलन की इच्छा रहने से चक्रवाकदम्पति का विरह जन्य सन्ताप बहुत बढ़ा सा दीखने लगा। चक्रवाक के विरह-दर्शन से व्यथित सा होकर कमलिनी का मुख भी मलिन सा हो गया। दूसरी ओर केतकी पुष्प के किञ्जल्क की तरह स्वच्छ चन्द्र-चन्द्रिकायें दिगन्तों को व्याप्त

कर भासने लगीं। पूर्वदिशा चन्द्रोदय से अन्धकार रहित होकर धवलित हो गई। हिमवत् शुभ्र चन्द्रकिरणसमूह नील आकाश में समुद्रजल मध्य प्रविष्ट स्वच्छ गङ्गाजल की तरह फैल कर शोभने लगा। उदयकालिक लालिमा से रक्त सा दीखता हुआ चन्द्रमा पूर्वदिशा रूप पयोधि से सुवर्ण घट की तरह निकला हुआ सा दिखाई देने लगा, चन्द्रोदय से भासती हुई रात्रि, अन्धकार रहित होकर घूँघट रहित लज्जावती नववधू की तरह दीखने लगी, यद्यपि चन्द्रमा ने अपनी चाँदनी से आकाश को अत्यन्त प्रकाशित नहीं किया था, दिगन्तों में अपनी ज्योति नहीं फैलायी थी फिर भी रात्रि हिमकिरण चन्द्रमा से अवश्य सुशोभित हुई। चक्रवाक युगल सूर्य किरण से विधुरित होने से शीतल शशि किरण को देखने में भी समर्थ नहीं हुआ। शीतल मन्द सुगन्ध पवन वह रहे थे, कामदेव ने भी चन्द्रकिरणों को सहाय मानकर विश्वविजयी चाप का सन्धान किया। उस अत्यन्त सुन्दर सुहावने समय के होने से सुरवनितायें कामवासनाओं से अत्यन्त पीडित होकर सुरत तथा भोगविलास के उस उत्तम समय को समझकर केलिमन्दिर के सजे होने पर भी दुवारा सुसज्जित करने की अभिलाषा करती हुई एवं अलंकृत होने पर भी पुनः शृङ्गार से भूषित होती हुई विरहातुर होकर केवल प्रिय समागम की चाह करने लगीं। वाद में काम से अत्यन्त पीड़ित होकर स्वयं प्रिय भवन में चली जाने लगीं। कोई युवती तो झगड़ कर प्रिय को दूर भगा देने पर भी पुनः बुलाने की भावना से सखी की खुशामद करती हुई प्रिय से एकाएक स्वयं जाकर मिल गई। उस समय में अवसर पाकर कामदेव ने मदपान से विधुरित नायिका का मान खण्डन कर कांत के पास जाने में लज्जा को शिथिल कर दिया। किसी नायिका ने प्रणय-कलह से रूठकर चले जाते हुए नायक को आँसू गिराकर अनुनय द्वारा लौटाया। किसी नायिका का प्रियद्वारा चुम्बन करने पर कामोद्दीपन से लज्जा के साथ-साथ नीवीबन्धन भी खुल गया। किसी का मदपान से मान हट कर प्रणय कलह भी दूर हो गया। कामदेव का मनोरथ पूरा हुआ। नायक-नायिकाओं का परस्पर मधुपान का आदान प्रदान होने लगा। मदपान से मत्त होकर सखी के सामने ही कोई नायिका नायक के शरीर पर रङ्ग-रभस में गिरने लगी। चन्द्रोदय से मदनातुर होकर सब युवतियाँ प्रिय के प्रति प्रणय-कलह को भी छोड़ कर जाने लगीं। अकस्मात् वनिताओं को संभोग करने की अभिलाषा होने लगी। चुम्बन' दन्तक्षत, अधर-पान आदि रति व्यापार होने लगे। इतने में ही रात बीत कर प्रभात होने आया, वैतालिक प्रातःकालिक मंगलगान करने लगे। नींद खुलने पर शयन करने से रतिजन्य थकावट दूर होने पर मंगल-गान द्वारा उद्बोधित होकर उन युवतियों का फिर से संभोग आरम्भ हुआ। प्रभात पवन दयिताओं के रतिजन्य खेद को दूर करते हुए धीरे-धीरे बहने लगा।

दशम सर्ग

अर्जुन को लुभाने के लिये अप्सराओं का आगमन

अर्जुन को लुभाने के वास्ते उत्तम आभूषण एवं रति वर्द्धक इत्र, सुगन्ध तैलादि साधनों से सुशोभित होकर रमणीय हावभाव भ्रूविक्षेपादि करती हुई सुरललनायें अपने शिविरों को छोड़कर पृथुल नितंब, जघन तथा स्तन भारों से मंद मंद गमन करती हुई चल पड़ीं। उनके चलने से पैर के अलते के रङ्गों से रञ्जित होकर पृथिवी शोभायमान हुई। उनके करधनी, नूपुर आदि भूषणों की मधुर ध्वनि से वन-पर्वतों की गुफायें प्रतिध्वनित होकर मुखरित हो उठीं, बाद में गङ्गा जी के तट पर यम-नियम पूर्वक इन्द्रियों को वश में करके तपस्या करते हुए दृढ़व्रत उस अर्जुन को देखा। देखते ही मुनिजन को ठगने के लिये प्रवृत्त उन गन्धर्वाङ्गनाओं का अर्जुन के प्रति काम भाव प्रकट हुआ। उस समय गन्धर्वगण मृदङ्ग-वीणा बजाने लगे, सारी ऋतुएँ एक साथ एकत्रित होकर वहाँ आ गईं। आकाश में बादलों की कालीघटा छा गयी। बिजली चमकने लगी। मालतीपुष्प खिलने लगे। वर्षा से तपोवन गीला हो गया। शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन बहने लगे। कोयल की सुरीली ध्वनि होने लगी। मोर नाचने लगे। मलयाचल पवन मन को हरने लगा। कुमुद पुष्प से सुशोभित शरद् ऋतु वर्षाऋतु से सम्मिलित हो गई। भ्रमरगुञ्जन से मिश्रित होकर हंस-रव शोभने लगा। प्रियङ्गु तथा कुन्द पुष्पों को विकसित करता हुआ अकाल में ही हेमन्त आ पहुँचा, एवं लवली लताओं के पुष्पों के खिल जाने पर भी अर्जुन का मन जरा सा भी विकृत नहीं हुआ। गिरि काननों को विकसित करती हुई नवीन पल्लवों से अत्यन्त रमणीय सहकार वृक्षों को समुल्लासित करने वाली वसन्त ऋतु भी आ गई। भ्रमर गण के गुञ्जन से गुञ्जित होता हुआ कमल वन खिलने लगा। किन्तु इतने पर भी मुनि अर्जुन का मन जरा-सा भी विचलित नहीं हुआ। बाद में ग्रीष्म समय मल्लिका पुष्प को विकसित करता हुआ आ पहुँचा। ये ऋतु गण तीनों लोकों को जीतने में समर्थ होते हुए भी अर्जुन को वशीभूत नहीं कर सके। गन्धर्वों का मनोहर वीणारव और स्वाभाविक सुन्दर ऋतु-समय अर्जुन को प्रलोभित करने में असफल होकर सुराङ्गनाओं में ही कामविकार पैदा करने लगे, वे युवतियाँ अपने सौन्दर्य गुणों से अर्जुन को प्रलोभित करती हुई स्वयं मदनातुर हो गईं। लास्य में चतुर होती हुईं भी मुनि को प्राप्त कर कामविह्वलता से नृत्यकला भी भूल गईं। उनकी शृङ्गारचेष्टायें भी विफल हो गईं। किन्हीं के जघनों पर से वायु द्वारा कपड़े हट गये। किसी दूती ने अर्जुन से सखी वचनों का अनुवाद करके कहा कि—'तुम दयित को लाओ, मैं काम से पीड़ित हो रही हूँ, मेरा मन मुनि के पास चला गया है' इत्यादि। कोई तो कटाक्ष विक्षेप करती हुई हावभाव चेष्टा द्वारा लास्य कर रही थी। परन्तु जितेन्द्रिय अर्जुन के प्रति उन अप्सराओं के सारे हावभाव, शृङ्गार, रति-चेष्टा, कटाक्ष-पात हंसगमनादि प्रयास विफल ही होते गये। इस तरह अविलुप्त तपस्या से इन्द्र को आराधित कर रिपु को नाश करने के लिये अस्त्र प्राप्त कर राज्य लक्ष्मी को चाहने वाले अर्जुन के प्रति विफल प्रयास होकर वे गन्धर्व और अप्सरायें अपने-अपने स्थान चली गयीं।

एकादश सर्ग

अर्जुन के तपोऽनुष्ठान को देखने के लिये मुनिवेशधारी इन्द्र का आगमनवर्णन

अप्सराओं के लौटकर चले जानेपर उनके मुख से अर्जुन की जितेन्द्रियता सुनकर प्रसन्नता से इन्द्र, अर्जुन के परीक्षणार्थ तपोवन में आये। अत्यन्त भद्र मुनिवेश में आए हुए इन्द्र को देखकर उनसे अर्जुन अत्यन्त प्रभावित हुए। बाद में अर्जुन द्वारा सत्कृत होकर इन्द्र आसन पर बैठकर अर्जुन को उपदेश देने लगे—हे अर्जुन! वृद्धजनों द्वारा भी सुदुष्कर तपोऽनुष्ठान को तुमने जवानी में ही पूरा करना प्रारम्भ किया हैं इससे मैं अत्यन्त खुश हो रहा हूँ। सबसे अधिक तेरा प्रभाव मालूम पड़ता है। इस संसार में तारुण्यलक्ष्मी शरद् ऋतु के मेघों की छाया की तरह क्षणस्थायिनी होती हैं। विषय तो आपात रमणीय होते हुए भी परिणाम में दुखद ही होते हैं। यह तो और शोचनीय विषय है कि प्राणियों को सबसे पहले जन्म लेने में कितना दुःख होता है, बाद में जीवन भी हमेशा आधि-व्याधि-पीड़ा और शोकादि से युक्त होने से विषमिश्रित अन्न की तरह भयंकर रहता है। उस पर मृत्यु आगे विकराल कालवत् मुँहफाड़े तैयार रहती है। इसलिये तुम जैसे विवेकी महात्मा पुरुष मोक्ष को ही इच्छा करते हैं परन्तु तुम तो आयुध कवचादि युक्त होने से वैरिविजयाभिलाषी मालूम पड़ते हो, मोक्षाभिलाषी मालूम नहीं पड़ते। आत्मपीड़ा की तरह पर-पीड़न भी नहीं करना चाहिए। इसलिये अभी गङ्गाजी के पवित्र जल से अत्यन्त पवित्र इस इन्द्रकील पर्वत पर मुक्ति सुलभरूप में मिल सकती है अतः अस्त्र-शस्त्र धारण करना व्यर्थ है। बाद में विनय के साथ अर्जुन इन्द्र से मधुर वचन बोले—भगवन्! आपने बिलकुल युक्तियुक्त बातें कही हैं। आपके वचन ओज और प्रसाद गुण से भरे हुए प्रतीत होते हैं। सर्वथा आपका वचन अकाट्य मालूम पड़ता है किन्तु आपने मेरे तपोऽनुष्ठान के रहस्य एवं पौर्वापर्य क्रम को नहीं जानकर ही मुनिवत् मुझको उपदेश दिया है। प्रस्तुत विषय को न जानकर बोलने वाले बृहस्पति का वचन भी निष्फल हो जाता है। मैं आपके उक्त उपदेश का पात्र नहीं हूँ। मैं तो एक क्षत्रिय पाण्डु का पुत्र अर्जुन हूँ। दुर्योधनादि द्वारा सर्वस्व ले लेने पर अत्यन्त दुखी होकर युधिष्ठिर जी की आज्ञा से इस दुस्तर तप को मैं कर रहा हूँ। भगवान् व्यास से आदिष्ट होकर अस्त्र ग्रहण कर क्षत्रिय कुल के इष्टदेव भगवान् इन्द्र के आराधनार्थ यहाँ आया हूँ। महाराज युधिष्ठिर कपट जुआ में अपना सर्वस्व हार गये। सम्प्रति मेरे विरह से द्रौपदी और अन्य भाइयों के साथ वे अत्यन्त दुखी हो रहे होंगे। मैं आपसे अधिक कहाँ तक कहूँ। शत्रु ने हमारे शरीर से चादर तक भी छीन ली। उनके मर्मवेधी वचनों को सुनकर हमारे हृदय विदीर्ण हो गये हैं। बहुत दुःख की बात तो यह हैं कि—भरी सभा में बुरी तरह द्रौपदी उनके द्वारा अपमानित की गयी है। वहाँ पर द्रौपदी आँसू बहाती हुई कुररी पक्षी की तरह रोई थी। परन्तु समय की विधिमर्यादा को जानते हुए युधिष्ठिर महाराज ने ऐसी दुर्दशा को भी झेलते हुए अपनी मनस्विता का परिचय देकर विश्व को ही चकित कर दिया।

दुर्जनों के साथ मैत्री करना महान् अनर्थकारक होता है। उसी का यह परिणाम हुआ कि दुर्योधनादि के साथ अजातशत्रु युधिष्ठिर की भी उनसे इतनी बड़ी शत्रुता हो गई। दुर्जनों के स्वभाव का पता लगना फलप्रकाश से पहले अत्यन्त कठिन हो जाता है। युधिष्ठिरजी भी उसका प्रतिकार करने की भावना से ही जी रहे हैं। इस संसार में मानहीन प्राणियों को लोग तृण से भी तुच्छ समझते हैं। इसलिये मैं सुख का अभिलाषी नहीं हूँ। एवं बुढ़ापा और मृत्यु के भय से मोक्ष को भी नहीं चाहता, किन्तु विरहाग्नि से संतप्त शत्रुवनिताओं के लोचन जल से वैरियों के छल से प्राप्त अपयश रूप कीचड़ को धोने की इच्छा से तप कर रहा हूँ। इसलिये मुझे लोकापवाद का भय नहीं है। मति-विभ्रम-जन्य प्रमाद की भी शङ्का नहीं है। शत्रु का बदला न चुकाकर मोक्ष प्राप्त करना भी विजय का प्रतिबन्धक महान् विघ्न ही है। शत्रु को मार कर अपने यश को फैलाने वालों की अपेक्षा जन्म ही न लेना अच्छा है। वैसा पुरुष तो जीता हुआ भी मरा सा ही रहता है। मेरे बड़े भाई युधिष्ठिर जी अपनी प्रतिष्ठा के अनुसार शत्रुवधार्थी होकर मेरी ओर ही निगाह डाले हुए बैठे हैं। मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहता। मेरी प्रतिज्ञा है—या तो मैं इस पर्वत में विलीन हो जाऊँगा, या अपने इष्टदेव इन्द्र की आराधना कर अयश शल्य को समूल नष्ट करूंगा। बाद में इन्द्र अर्जुन को विजयार्थ महादेव की आराधना करने के लिये उपदेश देकर अन्तर्हित हो गये।

द्वादश सर्ग

महादेव की आराधना के लिये अर्जुन का तपोऽनुष्ठान वर्णन

इन्द्र के उपदेशानुसार अर्जुन यथाविधि शिवजी के आराधनार्थ कठिनतम तपस्या करने लगे। इन्द्रियों को वश में करके उपवास करते हुए विजयाभिलाषी होकर सूर्य के सामने एक पैर से खड़े होकर तप करते हुए उनके कितने ही दिन बीत गये किन्तु वे पर्वत की तरह धैर्य धारण कर अपने नियम से नहीं डिगे। पास ही में बन के पके हुए फलों और अत्यन्त शीतल स्वच्छ पानी की भी चाह नहीं की। उनका मन उस अवस्था में भी परिम्लान नहीं हुआ। तप से शरीर के पतले हो जाने पर भी ओज नहीं घटा बल्कि बढ़ता ही गया। जटाओं के समूह से देदीप्यमान होते हुए और धनुष को तान कर सन्धान किये हुए वे अर्जुन रुद्र की तरह लोगों को विस्मयजनक भयंकर प्रतीत होने लगे। बाद में अर्जुन के तपःप्रभाव को सहन न कर पाने से महर्षि लोग शिवजी की शरण में पहुँचे। वहाँ जाने पर सहस्र सूर्य किरणों से भी अधिक तेजों से प्रकाशमान महेश्वर को सहसा देखने में वे ऋषि समर्थ नहीं हो पाये। अनन्तर वे मुनिलोग शिवजी की स्तुति करने लगे। स्तुति सुनकर महादेव उनके सामने दृश्यरूप धारण कर प्रकट हुए। बैल पर चढ़े हुए हिमालय के शिखर पर विराजमान होते हुए भी अलौकिक तेजःपुञ्ज से अखिल विश्व को

व्याप्त करते हुए और मस्तक में गङ्गा फेन की तरह शशिकला को धारण किये हुए एवं सर्प समूहों को बाहुओं में परिवेष्ठित किये हुए शिवजी जटाओं से विभ्राजमान हो रहे थे। शिव के सामने बैठे हुए वे महर्षिगण अर्जुन के तपःप्रभाव का वर्णन करने लगे—भगवन्! वृत्रासुर की तरह सूर्य-किरण-समूह को भी अभिभूत करने वाला कोई भीषण शरीर वाला पुरुष तप कर रहा है। उसमें यही एक विचित्रता है कि—तपस्वी होता हुआ भी धनुष, बाण, कवच, खड्ग, जटा, वल्कल और मृगचर्म को धारण किया हुआ तापसों के विरुद्ध वेश वाला प्रतीत हो रहा है। जब वह चलने लगता है तब पृथिवी भी काँप उठती है। इसलिये हमलोगों को उसके विषय में महान् संदेह हो रहा है—क्या यह सुरासुर सहित सारे ही विश्व को अपने तेज से दबाकर हराना चाहता है या जीत लेना चाहता है? या एक ही बार संहार करना चाहता है? लेकिन हम इसके सुदुःसह तेज को सहन करने में समर्थ नहीं हैं। भगवन्! आप सर्वज्ञ होते हुए भी क्यों इसकी उपेक्षा कर रहे हैं। हम आपकी ही शरण में आए हुए हैं। आप ही हमको बचाने में समर्थ हैं। इस तरह निवेदन कर महर्षियों के विरत होने पर भगवान् शंकर ने गम्भीरतापूर्वक बोलना आरम्भ किया—अये तपस्वियो! यह तो बदरिकाश्रम तपोवन में रहने वाले सृष्टिप्रलयकारी भगवान् नारायण का अंश होकर पृथिवी पर अवतीर्ण मनुष्य नामधेय कृष्ण का मित्र महात्मा धनञ्जय है। सम्प्रति सकल लोकों को संताने में तत्पर इन्द्र तुल्य पराक्रमशाली प्रबल शत्रुओं को जीतने की अभिलाषा से मुझको प्रसन्न करने के लिये तपोऽनुष्ठानार्थ उद्यत हुआ है। देवकार्य में लगे हुए इसको देखकर विघ्नबाधा डालने के लिये छल से वराह रूप को धारण कर मूकदानव इसे जीतना चाहेगा। उसी समय में किरात रूप धारण कर मेरे द्वारा उसको मारे जाने पर भी अर्जुन भी एक साथ बाण चलाने के कारण उस मृगया के लिये झगड़ पड़ेगा। उस समय मेरे साथ घोर संग्राम करते हुए अर्जुन के पराक्रम को आप लोग देख लेना। इस तरह उनको समझा कर शिवजी किरात वेश धारण कर तैयार हो गये। तदनुसार किरात सेना भी तैयार होकर सिंह समान गरजने लगी और शिवजी से आदिष्ट होकर मृगया के बहाने से चौतरफा चल पड़ी। प्रमथ गणों के साथ महादेव भी भयंकर रूप धारण कर सब को भयभीत करते हुए अर्जुन के आश्रम स्थान पर पहुँचे। वहाँ आते ही अर्जुन की ओर धावा करता हुआ वराह रूपधारी मूकदानव को देखकर भिन्हीं लड़ाकू किरातों के साथ शिवजी उसके पीछे चल पड़े।

त्रयोदश सर्ग

अर्जुन के वराहरूपधारी मूकदानवदर्शन का वर्णन

परम तपस्वी अर्जुन ने अत्यन्त भयंकर शरीरवाले पर्वत को भी विदीर्ण करने में समर्थ, भीषण दंष्ट्राओं से विकराल मुखवाले वराहरूप को धारण किये हुए मूकदानव को देखा। बाद में क्रोध से रोंगटे खड़े कर अरनी और ही दूर से धावा कर आते हुए उसको देखकर

अर्जुन अनेक वितर्क करने लगे—यह शूकर कठोर दाँतों से वृक्ष के जड़-भाग को उखाड़ कर और पर्वतीय तट भागों को भी तोड़ फोड़ कर क्यों अकेला ही मेरी ओर आक्रमण कर रहा है ? तप के प्रभाव से तपोवन के शान्त स्वभाववाले मृगों के परस्पर हिंसवृत्तियों को छोड़ देने पर भी यह मेरी तरफ हीं मारने की भावना से दौड़ता आ रहा है, इससे मुझे शक हो रहा है कि शायद किसी दैत्य का तो यह वराह रूप का इन्द्रजाल नहीं है ? अवश्य ही यह मारने वाला कोई व्यक्ति है, वराह नहीं है क्योंकि इसको देखकर मेरा मन कलुषित वृत्ति वाला हो रहा है। जिसको देखकर चित्त संक्षुब्ध एवं प्रसन्न हो उसी को क्रमशः शत्रु और मित्र समझना चाहिये। निरपराध मेरे जैसे तपस्विजन का कोई शत्रु नहीं हो सकता यह समझना भी गलत है क्योंकि अकारण द्वेष करने वाले दुर्जनों के लिये कोई भी कार्य अकार्य नहीं है। इसलिये यह माया रूपधारी कोई दैत्य दानव ही प्रतीत होता है। जो कोई भी हो अवश्य ही मैं इस हिंसक को मारूँगा। इस तरह सोचकर अर्जुन उसको मारने के लिये गाण्डीव धनुष पर वाण सन्धान कर सुसज्जित हो गये। बाद में भगवान् शङ्कर जी सुसज्ज अर्जुन को देखकर अपने पिनाक धनुष को भी प्रत्यञ्चा-तीर कमान से संधान कर तैयार हो गये। शिवजी ने तुरत ही उस वराह को लक्ष्य कर अपने पिनाक धनुष से वाण चलाया। वह वाण गनगनाहट के साथ अत्यन्त वेग से जाते हुए वराह के शरीर को वेधित करके गिरा कर पृथिवी में घुस गया। अर्जुन ने भी उसी समय में वाण को छोड़ा। वह वाण भी सकल जीव-जन्तुओं को व्यथित करता हुआ अत्यन्त वेग से जाकर लक्ष्य को विद्धकर पार चला गया। बाद में दोनों के वाण लगते ही वह शूकर कटे वृक्ष की भाँति गिरकर धराशायी हो गया। तदनन्तर अर्जुन अपने वाण को लेने के लिये उस वराह की ओर चल पड़े। वहाँ जाकर मृत वराह को देखने के बाद शिवजी के द्वारा भेजे हुए अचानक उपस्थित एक वनेचर को देखा। उस वनेचर ने अपनी सभ्यता के अनुसार नम्रता पूर्वक अर्जुन को प्रणाम कर कहा—भगवन् ! आपका यह सौम्यवेश अत्यन्त रमणीय होकर मन को शान्त करने वाला प्रतीत हो रहा है। आपका तपोऽनुष्ठान अत्यन्त ऊजस्वल एवं प्रभाव से परिपूर्ण मालूम पड़ता है। तपस्वी होते हुए भी आप गुण-गण-गौरवों से पर्वतेन्द्र हिमालय की तरह स्थिर एवं महेन्द्र के समान सुन्दर राजेन्द्र मालूम पड़ रहे हैं। निर्जन में रहते हुए भी भृत्यों से घिरे हुए की तरह कान्तिमान् लक्षित हो रहे हैं। आप जैसे महात्माओं के लिये तो मोक्ष भी दुर्लभ नहीं है, विजय-प्राप्ति की तो बात ही क्या है। ऐसी दशा में इतनी ख्याति वाले आप वराह को भेदन करनेवाले मेरे स्वामी शिवजी के वाण को नहीं लें। मनु पर्यन्त सभी महात्मा सदाचार का पालन करते आये हैं, आप ही यदि उससे च्युत हो जायेंगे तो वह सदाचार ही रसातल में चला जायगा। मैं तो समझता हूँ कि धोखे से ही दूसरे के वाण को लेने के लिये आप प्रवृत्त हुए हैं। दूसरे के वाण से वेधित पशु को ही वेधित करके आप शर्माते नहीं हैं बल्कि चोरी करने के लिये ही उद्यत हो रहे हैं। धन्य आपका साहस है। मेरे स्वामी किरातपति के सिवाय दूसरा

कोई भी इस भयंकर कठोर वराह को नहीं मार सकता है। सब विपन्नप्राणियों के हित करने वाले किरातपति के साथ उत्पन्न विरोध, आपको ही समूल नष्ट कर देगा। इसलिये उनका वाण लौटाकर राम-सुग्रीव की भाँति उनसे आप मैत्री कर लीजिये। आप विनय के साथ उनसे याचना करें तो वाण को कौन पूछता है, सारी पृथिवी को ही जीतकर वे आपको दे सकते हैं। उनसे कोई भी याचक हताश होकर नहीं लौटता। इस तरह उस वनेचर ने अर्जुन को अनेकों प्रकार वाण लौटाने के लिये समझाकर कहा।

चतुर्दश सर्ग

वनेचर के प्रति अर्जुन के प्रत्युत्तर का वर्णन

उस वनेचर के गर्वीले वचन-प्रपञ्चों से अत्यन्त आहत होकर भी समुद्र की जल-तरङ्गों से ताड़ित पर्वत की तरह अर्जुन क्रोधित होकर गम्भीरता के कारण विकृत नहीं हुए। परन्तु बड़ी शान्ति से समयानुसार अक्षुभित होकर यथोचित उत्तर देने लगे—इस संसार में स्पष्टाक्षरों से युक्त प्रसाद गुणगुम्फित अत्यंत गंभीर श्रवणप्रिय शत्रुओं को भी रुचनेवाली मधुर वाणी पुण्यवान् व्यक्ति ही बोल सकते हैं। आपकी भी वाणी वैसी ही मनोहारिणी प्रतीत हो रही है। कोई तो केवल शब्दाडम्बर के ही प्रिय होते हैं। कोई वचनरचना में ही हृदयगत भाव को निविष्ट करने में चतुर होते हैं। कोई व्यक्ति तो गूढ़ार्थ को ही केवल व्यक्त करने में पटु होते हैं। परन्तु आप तो इन सब गुणों से युक्त मालूम पड़ते हैं। यह आप में एक विशेषता पायी जाती है। किरात होकर भी आप अपनी एक विलक्षण वोलने की छटा से सान्त्वनापूर्वक प्रलोभन देकर ठगना चाहते हैं जिससे अनुचित काय भी समुचित मालूम पड़ता है। यदि आप वड़े उचित वक्ता हैं तो जब आपके स्वामी फलविघातक मेरे ऊपर आक्रमणरूप अनुचित कार्य करना चाहते थे तब आपने उन्हें क्यों नहीं रोका। वास्तविक बात तो यह है कि आपके स्वामी का बाण कहीं छिप गया है उसके लिये तो वन पर्वत को ढूँढ़ना ही ठीक होगा। सज्जनों के सदाचारादि का भी मैं किसी तरह परित्याग नहीं करता, खाण्डववन को जलाते समय अग्नि द्वारा मेरे सारे बाणों के दग्ध हो जाने पर भी मैंने सुरेन्द्र के बाणों को भी लेने की इच्छा नहीं की, पर्वतीय किरात के वाण की तो बात ही क्या है। इस जंगल में रहनेवाले मृगादि पशु को मारने वाला ही उसका अधिकारी होता है, इस नियम से भी वराह को मारने वाले मुझको ही वराह मिलना चाहिये। इसमें आपके स्वामी को अपनेपन का मिथ्याभिमान छोड़ देना चाहिये अन्यथा उनका कल्याण नहीं होगा। अपने को बचाने के लिये जिघांसु को मारने में कोई दोष नहीं लगता है। इस शिकार को आपके स्वामी तथा मैंने एक साथ ही मारा है, इसलिये पहले उनके द्वारा ही मारे जाने में कोई युक्ति नहीं है। यदि मुझको बचाने के लिये ही उन्होंने बाण फेंका तो शत्रु का नाशमात्र होने से ही उनका उद्देश्य पूरा हो गया फिर उसको मेरे द्वारा ले लेने पर क्यों उनको शर का लोभ हो रहा है कुछ समझ में नहीं

आता। कृपा की पराकाष्ठा हो गयी। मनस्वी व्यक्तियों को दूसरे से माँगना शोभा नहीं देता। आपके स्वामी मिथ्या आरोप लगाकर कुछ अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। यदि वे अस्त्र ही लेना चाहते हैं तो मुझ से माँग लें, मैं उनको दूसरा ही अस्त्र दे सकता हूँ। महान् व्यक्ति नीचों के साथ वैर या मित्रता नहीं करना चाहते, इसी से मैंने उनके बहुत से तिरस्कार वचनों को सहन कर लिया है। यदि वे स्वयं वाण लेने के लिये यहाँ आयेंगे तो मैं अच्छी तरह उसका मजा चखा दूँगा, इस तरह अर्जुन के वचनों को सुनकर, 'यार ! हमको जीतकर कहाँ जाओगे' इस तरह अपने प्रताप एवं गर्वोक्ति से वह वनेचर अर्जुन को डराता हुआ महादेवजी के पास चल पड़ा। बाद में शिवजी की आज्ञा से किरात सेना गरजती हुई अर्जुन से लड़ने के लिये चल पड़ी। शिवजी भी अपने पिनाक धनुष को तानकर सेना का अधिपति होकर विराजमान होने लगे। बाद में वे प्रमथगण तपोऽनुष्ठान से अत्यन्त कृश होते हुए भी परम ओजस्वी एवं तूणीर से एक वाण को निकाल कर विजय की अभिलाषा से धारण किये हुए अर्जुन के पास पहुँचे। पहुँचते ही वे सब एक ही बार अर्जुन पर टूट पड़े। परन्तु उनके द्वारा अनेकों अस्त्र-शस्त्रों के प्रहार करने पर भी अर्जुन का एक भी बाल बाँका नहीं हुआ। बाद में अर्जुन गाण्डीव धनुष को संबद्ध कर प्रलय-कालिक घोर रूप धारण कर युद्ध करने के लिये प्रमथगणों पर टूट पड़े। उनके बाणवर्षणों से सारी किरात सेना ढँक कर मूर्च्छित हो गयी।

पञ्चदश सर्ग

शिव और अर्जुन का युद्ध-वर्णन

अत्यन्त क्रुद्ध वीर अर्जुन के वाणप्रहारों से सारे भूतवर्ग भयभीत हो गये। महादेवजी की सेना अपने आयुधों को छोड़कर भाग गयी, सामने में विद्यमान शिवजी को भी भय के मारे घबड़ा कर नहीं देख सकी। उसकी दुर्दशा देखकर धनञ्जय को भी दया आ गयी। महान् व्यक्ति को कमजोर शत्रु पर भी कृपा आ जाती है। तदनन्तर वह अर्जुन चाप संधान कर कार्तिकेय की ओर लड़ने के लिये आगे चल पड़े। भय के मारे भागते हुए कार्तिकेय के सैनिकों के पीछे वे भी चल पड़े। अर्जुन के बाणों से पीड़ित सैनिकगणों को देखकर कुछ घबड़ाकर कार्तिकेय जी तसल्ली देते हुए समझाने लगे—अये सेनापतियो ! आप लोग संग्रामभूमि से मत भागें। आपके वाणपातजन्य दुःखों को मैं खुद दूर कर देना चाहता हूँ। आप लोग घबड़ायें नहीं। कौनसी विपत्ति अभी आप लोगों पर आ पड़ी, जिसको दूर करने के लिये आप लोग युद्ध-भूमि को छोड़कर भागना चाहते हैं। यह तो एक साधारण मनुष्य है। इसको छोड़कर क्यों भागना चाहते हैं। इसके पास तो रथ, घोड़ा, हाथी, पैदल सेना आदि साधन भी नहीं है। इसलिये आपको यहाँ से नहीं भागना चाहिये। अन्यथा अपयश होगा। पूर्व जमाने में असुरों के साथ युद्ध करके प्राप्त सुयश को भी आप लोग इस समय क्यों लुप्त कर रहे हैं। इस तरह कार्तिकेय द्वारा समझाये

गये प्रमथ गणों को शिवजी ने अपनी मुस्कराहट से अभयवाक्य प्रदान करते हुए आश्वासन देकर संतुष्ट किया। बाद में शिव और अर्जुन में तुमुल संग्राम होने लगा। अर्जुन द्वारा प्रक्षिप्त बाणों को शिवजी ने बड़ी चतुराई से छिन्न-भिन्न कर दिया। अर्जुन भी शिवबाणों का निवारण करते हुए संग्राम-भूमि में विचरने लगे और गांडीव धनुष कँपाते हुए सूर्यवत् चमकने लगे। शिवजी ने कृपा से द्रवित होकर मर्मवेधी बाणों को नहीं फेंका। अर्जुन उनके अनेक बाणों से आहत होकर भी नहीं घबड़ाये, इस तरह इन दोनों के रोमाञ्चकारी संग्राम को देखकर महर्षि, देव और प्रमथादि गण सब चकित हो गये।

षोडश सर्ग

लीलामात्र से किरातवेश को धारण करने वाले शिवजी के समर-दर्शन से अर्जुन का वितर्क-वर्णन

तपस्वी अर्जुन किरातपति की संग्रामकुशलता को देखकर एवं चकित सा होकर अनेक प्रकार के तर्क वितर्क करने लगे—अहो ! इस संग्राम में मतवाले दिग्गज हाथी भी नहीं दिखाई पड़ते और अनेक पताकाओं से अलंकृत महारथ भी नहीं हैं। बड़े वेगशाली होकर दौड़ने वाले घोड़े भी नहीं हैं। न तो अत्यन्त लड़ाकू वीर भट योद्धागण ही दिखाई पड़ते हैं। वीरों के उत्साहवर्द्धक रणभेरी दुन्दुभि नगाड़े भी नहीं बजाये जा रहे हैं। रुधिर को नदियाँ भी शोणितों से भरपूर होकर नहीं बह रही हैं। फिर भी यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि—इस किरात-युद्ध में सकलवीरों को मथित करनेवाली मेरी शक्ति क्यों अव-कुण्ठित हो रही है ? क्या यह कोई माया है ? या मुझे ही मतिविभ्रम हो रहा है। या मैं वह अर्जुन ही नहीं हूँ ? जिससे कि मेरे गाण्डीव से निर्मुक्त अमोघ बाण भी लक्ष्य से टकराकर खण्ड-खण्ड हो जाता है। वास्तव में यह किरात नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि अपने धनुष की टङ्कार से आकाशमण्डल को ही विदारण करता हुआ सा लक्षित होता है और धनुष को खींचने, एवं प्रत्यञ्चा को तानने तथा बाणों का सन्धान और मोक्षण आदि में इसका हस्तलाघव अद्भुत प्रतीत होता है। जैसा इसमें दूसरों के छिद्र को ढूँढ़ने की पटुता और अपने विवरों के संरक्षण की कुशलता पाई जाती है, वैसी तो वीर शिरोमणि भीष्म-द्रोण में भी नहीं है। इसलिये इसके पराक्रम को दिव्यास्त्र प्रयोग द्वारा ही दूर करना चाहिये नहीं तो महान् अनर्थ होगा। यह सोचकर अर्जुन ने अपने गाण्डीव धनुष पर प्रस्तापन नामक महास्त्र को चढ़ाया। उसके प्रभाव से सारी शत्रुसेना घोर अन्धकारों से ढँक गयी और नशा में पड़कर मूर्च्छित सी हो गयी। किसी के हाथ से तलवार ही गिर पड़ी। उस समय किरात वेश से ढँके हुए चन्द्रशेखर महादेवजी के ललाट से क्रोध के मारे आग की चिनगारी निकलने लगी। उसके प्रकाश से अन्धकार-रहित होकर, प्रमथगण भी मूर्च्छा को त्यागकर फिर से तलवार धारण कर संनद्ध हो गये। दिशायें प्रसन्न हो गईं। सूर्यकिरणें चमकने लगीं। अर्जुन ने अपने प्रस्वापनास्त्र को विफल जानकर नागपाशों

को चढ़ाया। नागपाशों के प्रभाव से आकाशचारी पक्षीगण इधर-उधर भाग गये। बाद में भगवान् शंकर ने गारुड़ास्त्र से उन नागपाशों को दूर करने के लिये आकाशमण्डल को ही गरुड़मय बना दिया। गरुड़ के परों के कम्पन से उत्थित पवन अत्यन्त वेग से बहता हुआ वनवृक्षों को ही जड़ से उखाड़ कर आकाश में ले आया। सर्प-समूह भी सहसा शान्त हो गया। अर्जुन ने अपने नागास्त्रों को वैरी के प्रभाव से विफल समझकर क्रुद्ध होते हुए आग्नेयास्त्र को चलाया उससे चारों तरफ आग की लपटों से ज्वाला धधकने लगी। इस तरह अखिललोक को ग्रसने के लिये उद्यत होते हुए प्रलयकालिक महाप्रचण्ड ज्वल-ज्ज्वालावाली आग को देखकर भगवान् शंकर ने उसको शान्त करने के लिये वारुणास्त्र का प्रयोग किया। उससे तुरत ही आकाश में बादलों की घटा छा गयी। उससे मूसलाधार वर्षा होने लगी। बाद में आग की लपटें आपसे आप शान्त हो गयीं। आग के शान्त होने से आकाशभाग हरा भरा सा दीखने लगा। इस तरह वैरिवधार्थ अर्जुन ने जिन-जिन अस्त्रों का उपयोग किया, उन-उन अस्त्रों को महादेव जी ने व्यर्थ ही कर दिया। अन्त में अर्जुन ने अपने सारे अस्त्रों के विफल हो जाने पर महादेव जी के साथ बाहु युद्ध ही करने की इच्छा की।

सप्तदश सर्ग

हरसेना के साथ अर्जुन के युद्ध का वर्णन

बाद में अर्जुन सारे दिव्यास्त्रों के खतम हो जाने से शिवजी के साथ संग्राम से कुछ भयभीत होकर भी पुनः धैर्यधारण द्वारा अपने स्वाभाविक पराक्रम को प्राप्त कर विपक्ष पक्ष को जीतने के लिये सन्नद्ध हो गये। उस समय क्रोध के मारे उनकी आँखें लाल-लाल हो गयीं। मुख पर पसीने छा गये। भौंहें तन गईं। धनुष को तानकर बाणों के वर्षण से शत्रु सेना को पीड़ित कर-धनञ्जय चमकने लगे। किन्तु महादेव के प्रति उनके सारे बाणों के प्रयोग विफल होते गये। फिर भी शंकर भगवान् अर्जुन के पराक्रम को देखकर क्षुब्ध हो गये और अर्जुन को सराहने लगे—अहो! शत्रु से निगृहीत होकर भी परम उत्साह के साथ फिर से धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर बाण छोड़ने के लिये उद्यत होता हुआ अत्यन्त बहादुरी के साथ कीर्ति को प्राप्त करने के लिये पराक्रम दिखलाता हुआ यह लड़ने के वास्ते तैयार हो रहा है। बाद में अनेक तर्क-वितर्क करके स्वयं भी युद्धार्थ उद्यत हो गये। दोनों में फिर से घोर संग्राम होने लगा। अर्जुन के बाणों से आहत होकर शम्भु की सारी सेना थर्रा गई। बाद में शंकरजी अपनी सेना की दुर्दशा देखने से क्षुब्ध होकर साक्षात् यमराज की भाँति भयंकर रूप धारण कर धनुष की टंकार करने लगे। अर्जुन से प्रक्षिप्त सारे बाणों को शिवजी ने बीच में ही विध्वस्त कर डाला। इसको देखकर अर्जुन बहुत घबड़ा गये। फिर से होश में आकर अर्जुन हर सेना पर बाण-वृष्टि करने लगे। तदनन्तर भगवान् शंकर ने अपने स्वरूप को प्रकट कर अर्जुन के सारे बाणों को एक साथ ही नष्ट कर दिया। अर्जुन अपने सारे बाणों के नष्ट हो जाने से बहुत चिन्तित हो गये। इसी मध्य में शिवजी ने मर्मघाती बाणों से अर्जुन को अधिक व्यथित किया। बाद में प्रभु की माया से शरीर के कवच को भी

छोड़ कर अत्यन्त देदीप्यमान होने लगे। उसी समय उनके शरीर से दो तरकस अचानक निकल पड़े। बस तुरत ही फिर से अर्जुन रुधिर से लथ-पथ शरीर होकर भी बहादुरी के साथ शिवजी को पीड़ित करने लगे। महादेवजी से फिर छिन्न-भिन्न तलवार होकर अर्जुन बिलकुल खाली हो गये और पराभव पाकर भी वे पुनः शिलावृष्टि करने लगे। शिव द्वारा उसका भी निवारण कर देने पर अन्त में अर्जुन शिवजी के साथ बाहुयुद्ध करने के लिये ही तैयार हो गये।

अष्टादश सर्ग

शिव और अर्जुन के बाहुयुद्ध का वर्णन

बाहु युद्ध करने के लिये रणभूमि में आये हुये अर्जुन को लक्ष्य कर चाप-शर त्याग कर भगवान् शंकर ने मुष्टि उठाकर मारा। उस समय दोनों के बाहुयुद्ध से उत्पन्न ध्वनि पर्वतों की कन्दराओं को भी प्रतिध्वनित कर रही थी। दोनों के शरीर रुधिर से लथ-पथ हो गये, जिससे दोनों को पहचानने में भी प्रमथगण को धोखा होने लगा। हिमाचल काँपने लगा। पृथिवी डगमगाने लगी। गिरि नदियाँ संक्षुब्ध तरंगों से चलायमान होकर स्थलभाग को भी डुबाने लगीं। बाहुयुद्ध करते-करते अर्जुन ने आकाश में उठे हुए शिवजी के चरणों को पकड़ लिया। पाद-ग्रहण करते ही भगवान् आशुतोष शंकरजी ने तादृश दुष्कर कार्य के अनुष्ठान से प्रसन्न होकर अर्जुन को गले से लगा लिया। अनन्तर भगवान् शिवजी किरातवेश को छोड़कर स्वच्छ भस्म को रमाये हुए चन्द्रकला से शोभायमान भाल देश से सुशोभित कलेवर को धारण कर प्रकट हो गये। अर्जुन भी तादृश वास्तव शंकर मूर्ति को देखकर प्रणाम करते हुए उनके सामने नतमस्तक हो गये। उठकर अपने शरीर को बाण, कवच, चर्म आदि से शोभायमान देखकर अर्जुन चकित हो गये। दुन्दुभि की दिव्य ध्वनि होने लगी। आकाश से पृथिवी पर देव लोग फूलों की वर्षा करने लगे। इन्द्र प्रभृति लोकपाल विमान पर चढ़ कर आकाश को शोभित करते हुए अत्यन्त विराजमान होने लगे। शीतल मन्द सुगन्ध पवन बहते हुए भगवान् शङ्कर को आह्लादित करने लगे। अर्जुन भी तपस्या का फल प्राप्त कर अत्यन्त आनन्द से शङ्कर की स्तुति करने लगे। अन्त में शिव को वाणी और मन से भी अगोचर बतलाते हुए अनेकों प्रकार स्तुति कर अर्जुन ने भगवान् से अभीष्ट वर माँगा—हे प्रभो! जिस अस्त्र-प्राप्ति से धर्मात्मा मेरे बड़े भाइ युधिष्ठिर जी धर्मध्वंसी कृतापराधी शत्रुवर्ग पर विजय प्राप्त करें ऐसा साधन देकर मुझे कृतार्थ कीजिये। बाद में आशुतोष शिवजी ने नतमस्तक धनञ्जय को सान्त्वना देकर गुप्त रहस्य के साथ पाशुपतास्त्र और समग्र धनुर्वेद पढ़ाया। भगवान् धनुर्वेद, मूर्तिधारण कर शिवजी की प्रदक्षिणा कर उपस्थित हुए। इन्द्रादि ने भी अमोघ आशीर्वादपूर्वक अपने अपने अस्त्रों को देकर अर्जुन को प्रोत्साहित किया। अन्त में शिवजी से आदिष्ट होकर अर्जुन अपने घर आये।

विषयानुक्रमणिका

पात्र-परिचयः

वनेचर	(युधिष्ठिर का गुप्तचर)
युधिष्ठिर	(महाराज पाण्डु के प्रथम पुत्र धर्मराज)
भीम	(,, ,, द्वितीय ,,)
अर्जुन	(,, ,, तृतीय ,,)
नकुल	(,, ,, चतुर्थ ,,)
सहदेव	(,, ,, पञ्चम ,,)
द्रौपदी	(पञ्च पाण्डवों की धर्मपत्नी)
दुर्योधन	(कुरुदेशाधिप धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र)
राधेय-कर्ण	(कुन्तीपुत्र-सूर्य का औरस)
भीष्म	(महाराज शान्तनु के पुत्र-भीष्मपितामह)
जामदग्न्य	(परशुराम)
द्रोण	(पाण्डवों और कौरवों के गुरु-द्रोणाचार्य)
यक्ष	(इन्द्र का दूत ।
व्यास	(पराशर पुत्र—महाभारत के रचयिता)

॥ श्रीः ॥

किरातार्जुनीयम्

घण्टापथ-प्रकाश-व्याख्याद्वयोपेतम्

प्रथमः सर्गः

घण्टापथः (मल्लिनाथी)

अर्द्धाङ्गीकृतदाम्पत्यमपि गाढानुरागि यत् । पितृभ्यां जगतस्तस्मै कस्मैचिन्महसे नमः ॥
आलम्बेजगदालम्बं हेरम्बचरणाम्बुजम् । शुष्यन्ति यद्रजःस्पर्शात्सद्यः प्रत्यूहवार्धयः ॥
तद्दिव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे । यत्प्रकाशात्प्रलीयन्ते मोहान्धतमसश्छटाः ॥

वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासकी–
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाचकलद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥

मल्लिनाथकविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया ।
तत्किरातार्जुनीयाख्यं काव्यं व्याख्यातुमिच्छति ॥

नारिकेलफलसंमितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते ।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

नानानिबन्धविषमैकपदैर्नितान्तं साशङ्कचङ्क्रमणखिन्नधियामशङ्कम् ।
कर्तुं प्रवेशमिह भारविकाव्यबन्धे घण्टापथं कमपि नूतनमातनिष्ये ॥

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया । नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥

अथ तत्रभवान्भारविर्नामा कविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतर-क्षतये । सद्यःपरनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' ॥ इत्याद्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात्काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनतां, 'काव्यालापांश्च वर्जयेद्' इति निषेधशास्त्रस्यासत्काव्यविषयतां च पश्यन्किरातार्जुनीयाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनत्वाद् 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि

तन्मुखम्, इत्याद्याशीर्वादाद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वाच्च वनेचरस्य युधिष्ठिरप्राप्तिरूपं वस्तु निर्दिशन्कथामुपक्षिपति—

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् ।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥ १ ॥

श्रिय इति । आदितः श्रीशब्दप्रयोगाद्वर्णगणादिशुद्धिर्नात्रातीवोपयुज्यते । तदुक्तं–'देवतावाचकाःशब्दा ये च भद्रादिवाचकाः । ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा' ॥ इति । कुरूणां निवासाः कुरवो जनपदाः । 'तस्य निवासः' इत्यण्प्रत्ययः । जनपदे लुप् । तेषामधिपस्य दुर्योधनस्य संबन्धिनीम् । शेषे षष्ठी । श्रियो राज्यलक्ष्म्याः । 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठी । पाल्यतेऽनयेति पालनी ताम् । प्रतिष्ठापिकामित्यर्थः । प्रजारागमूलत्वात्सम्पद इति भावः । 'करणाधिकरणयोश्च' इति करणे ल्युट् । 'टिड्ढाणञ्—'इत्यादिना ङीप् । प्रजासु जनेषु विषये । 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः । वृत्तिं व्यवहारं वेदितुं ज्ञातुं तं वनेचरमयुङ्क्त नियुक्तवान् । वर्णः प्रशस्तिरस्यास्तीति वर्णी ब्रह्मचारी । तदुक्तं—'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥' एतदष्टविधमैथुनाभावः प्रशस्तिः । 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' इतीनिप्रत्ययः । तस्य लिङ्गं चिह्नमस्यास्तीति वर्णिलिङ्गी । ब्रह्मचारिवेषवानित्यर्थः । स नियुक्तः, वने चरतीति वनेचरः किरातः । 'भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः' इत्यमरः । 'चरेष्टः' इति टप्रत्ययः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्, इत्यलुक् । विदितं वेदनमस्यास्तीति विदितः । परवृत्तान्तज्ञानवानित्यर्थः । 'अर्श आदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्ययः । अथवा कर्तरि कर्मधर्मोपचाराद्विदितवृत्तान्तो विदित इत्युच्यते । उभयत्रापि 'पीता गावः', 'भुक्ता ब्राह्मणाः', 'विभक्ता भ्रातरः' इत्यादिवत्साधुत्वं, न तु कर्तरि क्तः, सकर्मकेभ्यस्तस्य विधानाभावात् । अत एव भाष्यकारः—'अकारो मत्वर्थीयः । विभक्तमेषामस्तीति विभक्ताः । पीतमेषामस्तीति पीताः' इति सर्वत्र । अथवोत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । विभक्तधना विभक्ताः, पीतोदकाः पीता इति । अत्र लोपशब्दार्थमाह कैयटः—'गम्यार्थस्याप्रयोग एव लोपोऽभिमतः । 'विभक्ता भ्रातरः' इत्यत्र च धनस्य यद्विभक्तत्वं तद् भ्रातृषूपचरितम् । 'पीतोदका गावः' इत्यत्राप्युदकस्य पीतत्वं गोष्वारोप्यते' इति तद्वदत्रापि वृत्तिगतं विदितत्वं वेदितरि वनेचर उपचर्यते । एतेन 'वनाय पीतप्रतिबद्धवत्साम्', 'पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु' एवमादयो व्याख्याताः । अथवा विदितः विदितवान् । सकर्मकादप्यविवक्षिते कर्मणि कर्त्तरि क्तः । यथा 'आशितः कर्त्ता' इत्यादौ । यथाऽऽहुः—'धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात् । प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥' इति । द्वैतवने द्वैताख्ये तपोवने यद्वा द्वे इते सते यस्मात्तद् द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं, तच्च तद्वनं च तस्मिन्, शोकमोहादिवर्जित इत्यर्थः । युधिष्ठिरं धर्मराजम् । 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' इत्यलुक् । 'गवि-

युधिभ्यां स्थिरः' इति षत्वम्। समाययौ सम्प्राप्तः। अत्र 'वने वनेचरः' इति द्वयोः स्वरव्यञ्जनसमुदाययोरेकदैवावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासो नामालङ्कारः। अस्मिन्सर्गे वंशस्थवृत्तं तल्लक्षणं—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति ॥ १ ॥

प्रकाशः

धरि शीश चरणरज गुरुवर के, करि विनय महेश गजानन का।
यह उठी लेखनी लिखने को, भाषानुवाद भारवि कृति का ॥ १ ॥

राजा कुरु के वंश में धृतराष्ट्र और पाण्डु दो भाई थें। धृतराष्ट्र के सौ लड़के थे। उन लड़कों का स्वभाव शैशव काल से ही क्रूर था। उनमें सबसे प्रधान सुयोधन था। पाण्डु के पाँच पुत्र थे। वे सत्य और सुजनता के अतिरिक्त क्रूरता और नीचता को अपने पास नहीं फटकने देते थे। बाल्य काल से ही वे होनहार थे। उनकी कला-कुशलता की समानता करने में सुयोधन अपने को असमर्थ पाकर उनसे द्वेष करने लगा जिसके परिणामस्वरूप उसने उन्हें तेरह वर्षों के लिए निर्वासित कर दिया। पाण्डु के पुत्र, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव के नाम से पुकारे जाते थे। लोग इन्हें पाण्डव कहा करते थे। जब ये पाण्डव निर्वासित कर दिये गये तब ऐसी विषमावस्था में उन लोगों को सुयोधन के शासन का पूर्णतया ज्ञान करना असम्भव सा था। सचमुच सबकी रक्षा परमेश्वर करता है। एक किरात युधिष्ठिर के समक्ष उपस्थित हुआ। युधिष्ठिर ने उसे सिखलाया पढ़ाया और वह ब्रह्मचारी का स्वरूप बनाकर हस्तिनापुर गया। वहाँ कुछ दिन रहकर उसने वहाँ की परिस्थितियों का गम्भीर अध्ययन किया और आकर सम्पूर्ण वृत्तान्त बिना किसी भय और संकोच के युधिष्ठिर से निवेदन किया। पहले ब्रह्मचारियों का सर्वत्र अबाध प्रवेश था इसीलिये वह ब्रह्मचारी के स्वरूप में ही वहाँ गया था। बस, यहीं से भारवि की कथा का श्रीगणेश है।

कुरु देश-निवासियों के स्वामी की राज्यश्री की रक्षा करने में समर्थ, प्रजा-वर्ग के साथ किये जाने वाले व्यवहार को समझने के लिये जो किरात ब्रह्मचारी के स्वरूप में भेजा गया था वह सम्पूर्ण वृत्तान्तों का यथावत् ज्ञान कर के युधिष्ठिर के पास द्वैतवन में (जहाँ वे वास करते थे) लौट कर आया ॥ १ ॥

सम्प्रति तत्कालोचितत्वमादेशयंस्तस्य तद्गुणसम्पन्नत्वमादर्शयन्नाह—

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः ॥ २ ॥

कृतप्रणामस्येति। कृतप्रणामस्य तत्कालोचितत्वात्कृतनमस्कारस्य सपत्नेन रिपुणा दुर्योधनेन। 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः। जितां स्वायत्तीकृतां महीं महीभुजे युधिष्ठिराय क्रियाग्रहणात्संप्रदानत्वम्। निवेदयिष्यतो ज्ञापयिष्यतः। 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः। तस्य वनेचरस्य मनो न विव्यथे। कथमीदृगप्रियं राज्ञे

विज्ञापयामीति मनसि न चचालेत्यर्थः। 'व्यथ भयचलनयोः' इति धातोर्लिट्। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयते—न हीति। हि यस्माद्। हितमिच्छन्तीति हितैषिणः स्वामिहितार्थिनः पुरुषा मृषा मिथ्याभूतं प्रियं प्रवक्तुं नेच्छन्ति, अन्यथा कार्यविघातकर्तया स्वामिद्रोहिणः स्युरिति भावः। 'अमौढ्यममान्द्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चेति चारगुणाः' इति नीतिवाक्यामृते ॥ २ ॥

(दूत का कर्तव्य है—वह अपने स्वामी से जब अलग होता है अथवा जब वह स्वामी के समक्ष होता है प्रणाम करे। अतः) उसने सर्वप्रथम युधिष्ठिर को प्रणाम किया, शत्रुओं के द्वारा अपहृत वसुन्धरा के तथ्य वृत्तान्त को पूर्णतया (चाहे वह स्वामी को प्रिय हो अथवा अप्रिय) निवेदन करने में उसके मन में किसी प्रकार की भावना उत्पन्न न हुई, क्योंकि किसी के कल्याण की कामना करने वाले पुरुष व्यर्थ की शोभाभिराम वाणी नहीं निकालते ॥ २ ॥

तथाऽपि प्रियार्हे राज्ञि कटुनिष्ठुरोक्तिर्न युक्तेत्याशङ्क्य स्वाम्यनुज्ञया न दुष्यतीत्याशयेनाह—

द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः।
स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे ॥ ३ ॥

द्विषामिति। रहस्येकान्ते स वनेचरो द्विषां शत्रूणाम्। कर्मणि षष्ठी। विघाताय विहन्तुमित्यर्थः। 'तुमर्थाच्च भाववचनाद्' इति चतुर्थी। 'भाववचनाच्च' इति तुमर्थे घञ्प्रत्ययः। अत्र तादर्थ्यमपि न दोषः। तथाऽपि प्रयोगवैचित्रीविशेषस्याप्यलङ्कारत्वादेवं व्याचक्षते। विधातुं व्यापारं कर्तुमिच्छतः। 'समानकर्तृकेषु तुमुन्'। द्विषो विहन्तुमुद्युक्तज्ञानस्येत्यर्थः। अत एव भूभृतो युधिष्ठिरस्यानुज्ञामधिगम्य। सुष्टु भावः सौष्ठवं शब्दसामर्थ्यम्। सुष्ठुशब्दादव्ययादुद्गात्रादित्वादञ्प्रत्ययः। उदारस्य भाव औदार्यमर्थसम्पत्तिः। तयोर्द्वन्द्वः सौष्ठवौदार्ये। अत्रौदार्यशब्दस्याजाद्यदन्तत्वेऽपि 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इत्यत्राल्पस्वरस्यापि हेतुशब्दस्य पूर्वनिपातमकुर्वता सूत्रकृतैव पूर्वनिपातस्यानित्यत्वज्ञापनान्न पूर्वनिपातः। उक्तश्च काशिकायाम्—'अयमेव लक्षणहेत्वोरिति निर्देशः पूर्वनिपातव्यभिचारचिह्नम्' इति। त एव विशेषः। तयोर्वा विशेषः। तेन शालते शोभत इति सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी ताम्। ताच्छील्ये णिनिः। विनिश्चितार्थां विशेषतः प्रमाणतो निर्णीतार्थामिति वक्ष्यमाणरूपां वाचमाददे स्वीकृतवान्। उवाचेत्यर्थः ॥ ३ ॥

एकान्त स्थान में उसने शत्रुओं के विच्छेद करने के अभिलाषी भूपति (युधिष्ठिर) से प्रिय अथवा अप्रिय संवाद सुनने की आज्ञा प्राप्त कर—सरसता और उदारता से विशेष महत्त्वपूर्ण और विशेष प्रमाणों से निर्णीत अर्थयुक्त वाणी में कहा अर्थात् श्रुति मधुर और स्पष्ट निवेदन किया ॥ ३ ॥

नोट—आददे = आङ् + दा + लिट् । दा धातु का अर्थ है देना परन्तु, आ उपसर्ग से 'कहना' अर्थ द्योतित होता है ।

प्रथमं तावदप्रियनिवेदकमात्मानं प्रत्यक्षोमं याचते—

क्रियासु युक्तैर्नृप ! चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः ।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥ ४ ॥

क्रियास्विति । हे नृप ! क्रियासु कृत्यवस्तुसु युक्तैर्नियुक्तैरनुजीविभिर्भृत्यैः । चारादिभिरित्यर्थः । चरन्तीति चराः । पचाद्यच् । त एव चाराः । चरेः पचाद्यजन्तात्प्रज्ञादित्वादणप्रत्ययः । त एव चक्षुर्येषां ते चारचक्षुषः । 'स्वपरमण्डले कार्याकार्यावलोकने चाराश्चक्षूंषि क्षितिपतीनाम्' इति नीतिवाक्यामृते । प्रभवो निग्रहानुग्रहसमर्थाः स्वामिनो न वञ्चनीया न प्रतारणीयाः । सत्यमेव वक्तव्या इत्यर्थः । चारापचारे चक्षुरपचारवद्राज्ञां पदे पदे निपात इति भावः । अतोऽप्रतार्यत्वाद्धेतोः । असाध्वप्रियं साधु प्रियं वा । मदुक्तमिति शेषः । क्षन्तुं सोढुमर्हसि । कुतः । हितं पथ्यं मनोहारि प्रियं च वचो दुर्लभम् । अतो मद्वचोऽपि हितत्वादप्रियमपि क्षन्तव्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

कार्य-सम्पादन करने के लिये नियुक्त किये गये भृत्यों का कर्तव्य है—'वे अपने स्वामी के साथ कपट-व्यवहार न करें' क्योंकि वे ही उनके नेत्र हैं (नौकरों के द्वारा स्वामी लोग सम्पूर्ण बातों का पता लगाते हैं) इसलिये यदि अप्रिय बात हो तो आप क्षमा करें । कारण यह है कि लाभप्रद और साथ ही साथ चित्ताकर्षक वचन का सर्वथा अभाव सा रहता है । किसी का कथन है—रोना और हँसना साथ-साथ नहीं होता 'दुइ इक संग न होंहिं भुआलू । हँसब ठठाइ फुलाइब गालू ॥' सच बात तो यह है कि मुझे अपना कर्तव्य पालन करने के लिये यथार्थ निवेदन करना ही होगा, चाहे वह आपको भला लगे या बुरा । यदि कदाचित् कुछ बात अप्रिय भी हो तो उसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ क्योंकि प्रिय और उपकारक वचनों का परस्पर सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

तर्हि तूष्णींभाव एव वरमित्याशङ्क्याह—

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभु ।
सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसंपदः ॥ ५ ॥

स इति । यः सखाऽमात्यादिरधिपं स्वामिनं साधु हितं न शास्ति नोपदिशति । 'ब्रुविशासि—' इत्यादिना शासेर्दुहादिपाठाद् द्विकर्मकत्वम् । स हितानुपदेष्टा । कुत्सितः सखा किंसखा । दुर्मन्त्रीत्यर्थः । 'किमः क्षेपे' इति समासान्तप्रतिषेधः । तथा यः प्रभुर्निग्रहानुग्रहसमर्थः स्वामी हितादाप्तजनाद्धितोपदेष्टुः सकाशाद् । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानात्पञ्चमी । न संशृणुते न शृणोति । हितमिति शेषः । 'समो गम्यृच्छि-'इत्यादिना सम्पूर्वाच्छृणोतेरकर्मकादात्मनेपदम् । अकर्मकत्वं वैवक्षिकम् । स हित-

मश्रोता प्रभुः किंप्रभुः कुत्सितस्वामी पूर्ववत्समासः। सर्वथा सचिवेन वक्तव्यं श्रोतव्यं स्वामिना। एवं च राजमन्त्रिणोरैकमत्यं स्यादित्यर्थः। ऐकमत्यस्य फलमाह—सदेति। हि यस्मान्नृपेषु स्वामिषु। अमा सह भवा अमात्यास्तेषु च। 'अव्ययात्त्यप्'। अनुकूलेषु परस्परानुरक्तेषु सत्सु सर्वसम्पदः सदा रतिमनुरागं कुर्वते। न जातु जहतीत्यर्थः। अतो मया वक्तव्यं त्वया च श्रोतव्यमिति भावः। अत्रैवं राजमन्त्रिणोर्हितानुपदेशतदश्रवणनिन्दासामर्थ्यसिद्धेरैकमत्यलक्षणकारणस्य निर्दिष्टस्य सर्वसम्पत्सिद्धिरूपकार्येण समर्थनात्कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। तदुक्तं—'सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः' इति ॥ ५ ॥

जो मित्र (कर्मचारी) स्वामी को सन्मन्त्रणा नहीं देता वह मित्र; मंत्री, राज-कर्मचारी दूत इत्यादि योग्य मित्र नहीं (मित्र का कर्तव्य है कि वह स्वामी को सत्पक्ष प्रदर्शन करे) और वह स्वामी, जो हितोपदेष्टा से हित की बात श्रवण करने में उपेक्षा करता है वह स्वामी होने योग्य नहीं। क्योंकि जब स्वामी (राजा) और अमात्यादिक परस्पर अनुराग करते हैं; एक दूसरे के विपरीत (विरुद्ध) नहीं जाते तो सम्पूर्ण सम्पत्तियाँ उनकी सहचारिणी बनकर रहती हैं ॥ ५ ॥

सम्प्रति स्वाहङ्कारं परिहरति—

निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः।
तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम् ॥ ६ ॥

निसर्गेति। निसर्गदुर्बोधं स्वभावदुर्ग्रहम्। 'ईषद्दुः—' इत्यादिना खल्प्रत्ययः। भूपतीनां चरितं क्व। अबोधविक्लवाः अज्ञानोपहता जन्तवः। मादृशाः पामरजना इत्यर्थः। क्व। नोभयं सङ्घटत इत्यर्थः। तथापि निगूढतत्त्वं संवृतयाथार्थ्यं विद्विषां नयवर्त्म षाड्गुण्यप्रयोगः 'संन्धिविग्रहयानानि संस्थाप्यासनमेव च। द्वैधीभावश्च विज्ञेयाः षड्गुणा नीतिवेदिनाम्' ॥ इत्यादिरूपो यन्मयाऽवेदि। ज्ञातमिति यावत्। विदेः कर्मणि लुङ्। अयम्। इदं वेदनमित्यर्थः। विधेयप्राधान्यात् पुंल्लिङ्गनिर्देशः। तवानुभावः सामर्थ्यम्। अनुगतो भावोऽनुभाव इति घञन्तेन प्रादिसमासः। न तूपसृष्टाद्घञ्प्रत्ययः। 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' इत्यनुपसर्गाद्भवतेर्धातोर्घञ्विधानात्। अत एव काशिकायाम्—'कथं प्रभावो राज्ञां प्रकृष्टो भाव इति प्रादिसमासः' इति। दोषपरिहारो सम्यग्ज्ञात्वैव विज्ञापयामि। न तु वृथा कर्णकठोरं प्रलपामीत्याशयः ॥ ६ ॥

राजाओं का चरित स्वभावतः दुर्ज्ञेय होता है। मैं भी मन्द-प्रज्ञ पामर जन्तु हूँ, धरणी आस्मान का अन्तर है। यह शत्रुओं के गुप्त-रहस्य-पूर्ण नीति का जो ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है वह आप ही की अनुकम्पा है। तात्पर्य्य यह कि राजाओं की नीति सुबुद्ध लोगों के ही समझ में आ सकती है दुर्बुद्ध लोग नहीं समझ सकते। यदि दुर्बुद्ध होते हुए भी मैं समझ सका हूँ तो वह केवल आपके अनुभाव से ॥ ६ ॥

सम्प्रति यद्वक्तव्यं तदाह—

विशङ्कमानो भवतः पराभवं नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः ।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः ॥ ७ ॥

विशङ्कमान इति । सुखेन युध्यते सुयोधनः । 'भाषायां शासियुधिदृशिधृषिमृषिभ्यो युज्वाच्यः' । नृपासनस्थः सिंहासनस्थोऽपि । वनमधिवसतीति वनाधिवासिनो वनस्थात् । राज्यभ्रष्टादपीत्यर्थः । भवतस्त्वत्तः पराभवं पराजयं विशङ्कमान उत्प्रेक्षमाणः सन् । दुष्टमुदरमस्येति दुरोदरं द्यूतम् । पृषोदरादित्वात्साधुः । 'दुरोदरो द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरम्' इत्यमरः । तस्य च्छद्मना मिषेण जितां लब्धां दुर्नयार्जितां जगतीं महीम् । 'जगती विष्टपे मह्यां वास्तुच्छन्दोविशेषयोः' इति वैजयन्ती । नयेन नीत्या जेतुं वशीकर्तुं समीहते व्याप्रियते । न तूदास्त इत्यर्थः । बलवत्स्वामिकमविशुद्धागमं च धनं भुञ्जानस्य कुतो मनसः समाधिरिति भावः । अत्र 'दुरोदरच्छद्मजिताम्' इति विशेषणद्वारेण पदार्थस्य चतुर्थपादार्थं प्रति हेतुत्वेनोपन्यासात् द्वितीयकाव्यलिङ्गमलङ्कारः । तदुक्तं—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' ॥ ७ ॥

सुयोधन राज्यासनाधिरूढ है और आप निर्वासित हैं तो भी वह आप से अपनी पराजय की आशङ्का करता हुआ, द्यूत (जुआ) के व्याज से जीती हुई पृथ्वी को अब नीतिपूर्वक जीतने की कामना कर रहा है । अभिप्राय यह है कि उसने अन्याय से राज्य प्राप्त किया है । इस बात का उसे खेद है अतः अब नीतिपूर्वक भी विजयी बनने के लिये यत्नशील है ॥ ७ ॥

'नयेन जेतुं जगतीं समीहते' इत्युक्तम् । तत्प्रकारमाह—

तथाऽपि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः ।
समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमाद् वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ॥ ८ ॥

तथाऽपीति । तथाऽपि साशङ्कोऽपि । जिह्मो वक्रः । वञ्चक इति यावत् । स दुर्योधनो भवज्जिगीषया । गुणैर्भवन्तमाक्रमितुमिच्छयेत्यर्थः । 'हेतौ' इति तृतीया । गुणसंपदा दानदाक्षिण्यादिगुणगरिम्णा । करणेन । शुभ्रं यशस्तनोति । स खलो गुणलोभनीयां त्वत्सम्पदमात्मसात्कर्तुं त्वत्तोऽपि गुणवत्तामात्मनः प्रकटयतीत्यर्थः । नन्वेवं गुणिनः सतोऽपि सज्जनविरोधो महानस्त्यस्य दोष इत्याशङ्क्य सोऽपि सत्संसर्गालाभे नीचसङ्गमाद्वरमुत्कर्षावहत्वादित्याह-समिति । तथा हि । भूतिं समुन्नयन्नुत्कर्षमापादयन् । 'लटः शतृशानचौ—' इत्यादिना शतृप्रत्ययः । पुनर्लड्ग्रहणसामर्थ्यात्प्रथमासामानाधिकरण्यम् । महात्मभिः समम् । सहेत्यर्थः । 'साकं सत्रा समं सह' इत्यमरः । अनार्यसङ्गमाद् दुर्जनसंसर्गात् । 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । विरोधोऽपि वरं मनाक्प्रियः । 'देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीवं मनाक्प्रिये' इत्यमरः । अत्र मैत्र्यपेक्षया मनाक्प्रियत्वं विरोधस्य 'भूतिं समुन्नयन्' इत्यस्य पूर्ववाक्यान्वये समा-

तस्य वाक्यार्थस्य पुनरादानात्समाप्तपुनरात्ताख्यदोषापत्तिः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'समाप्तपुनरादानात्समाप्तपुनरात्तकम्' इति। न च वाक्यान्तरमेतत्। येनोक्तदोषपरिहारः स्यात्। अर्थान्तरन्यासालङ्कारः। स च भूतिसमुन्नयनस्य पदार्थविशेषणद्वारा विरोधवत्त्वं प्रति हेत्वभिधानरूपकाव्यलिङ्गानुप्राणित इति ॥ ८ ॥

सशङ्क है तो भी कुटिल, वह (सुयोधन) श्रीमान् को जीतने की अभिलाषा से दान, दाक्षिण्यादि गुणों से अपने विमल यश की अभिवृद्धि कर रहा है। क्योंकि ऐश्वर्य की वृद्धि करते हुए दुष्टों के सम्पर्क की अपेक्षा सज्जनों के साथ वैमनस्य करना भी कुछ अच्छा है ॥८॥

'ननु कातर्यं केवला नीतिः' इत्याशङ्क्य नीतियुक्तं पौरुषमस्येत्याह—

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना।
विभज्य नक्तंदिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम् ॥ ९ ॥

कृतेति। षण्णां वर्गः षड्वर्गः। अरीणामन्तःशत्रूणां षड्वर्गोऽरिषड्वर्गः। शिवभागवतवत्समासः। तस्य जयः कृतो येन तेन तथोक्तेन। विनीतेनेत्यर्थः। विनीताधिकारं प्रजापालनमिति भावः। अगम्यरूपां पुरुषमात्रदुष्प्राप्याम्। मनोरिमां मानवीम्। मनूपदिष्टसदाचारक्षुण्णामित्यर्थः पदवीं प्रजापालनपद्धतिं प्रपित्सुना प्रपत्तुमिच्छुना। प्रपद्यतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः 'सनिमीमा'—इत्यादिनेसादेशः। 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः। अस्ता तन्द्रिरालस्यं यस्य तेनास्ततन्द्रिणा। अनलसेनेत्यर्थः। तदिस्सौत्रो धातुः। तस्मात्। 'वङ्क्यादयश्च' इत्यौणादिकः। क्रिन्प्रत्ययः कृदिकारादक्तिनो वा ङीष् वक्तव्यः' इति। 'वन्दीघटीतरीतन्द्रीतिङीषस्तोऽपि' इति क्षीरस्वामी। तथा रामायणे प्रयोगः—'निस्तन्द्रिरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित्' इति। तेन दुर्योधनेन। पुरुषस्य कर्म पौरुषं पुरुषकारः, उद्योग इति यावत्। युवादित्वादण् प्रत्ययः। 'पौरुषं पुरुषस्योक्ते भात्रे कर्मणि तेजसि' इति विश्वः। नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम्। अहोरात्रयोरित्यर्थः। 'अचतुर' इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्त्योरव्यययोर्द्वन्द्वनिपातेऽच्समासान्तः, विभज्यास्तां वेलायामिदं कर्मेति विभागं कृत्वा नयेन नीत्या वितन्यसे विस्तार्यते ॥ ९ ॥

वह (सुयोधन) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और अहंकार ये जो प्राणी के छः शत्रु हैं इन्हें जीतकर, मनुष्यमात्र के लिये दुर्ज्ञेय (दुष्प्राप्य), मनु के द्वारा उपदिष्ट जो शासनपद्धति है उसे कार्य्यक्रम में लाने की (प्राप्त करने की) इच्छा रखकर और आलस्य को दूर भगाकर, समय–विभागानुकूल नीति-पथ का आधार लेकर अपने पुरुषार्थ को विस्तृत कर रहा है ॥९॥

सम्प्रति भृत्याद्यनुरागमाह—

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥ १० ॥

सखीनिति । गतस्मयो निरहङ्कारोऽत एव स दुर्योधनः । सन्ततमनारतं साधु सम्यक् । अकपटमित्यर्थः । अनुजीविनो भृत्यान् । प्रीतियुजः स्निग्धान्सखीनिव मित्राणीव । दर्शयते । लोकस्येति शेषः । 'हेतुमति च' इति णिच् । 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदम् । शोभनं हृदयं येषां तान्सुहृदो मित्राणि च । 'सुहृद्दुहृदौ मित्रामित्रयोः' इति निपातः । बन्धुभिर्भ्रात्रादिभिः समानमानांस्तुल्यसत्कारान् दर्शयते बन्धूनां समूहो बन्धुता ताम् ॥ 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्' । कृतमाधिपत्यं स्वाम्यं यस्यास्तां कृताधिपत्यामिव दर्शयते । बन्धूनधिपतीनिव दर्शयतीत्यर्थः । यथा भृत्यादिषु सख्यादिबुद्धिर्जायते लोकस्य तथा तान्संभावयतीत्यर्थः । अनुजीव्यादीनां, 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इति कर्मत्वम् । पूर्वे त्वस्मिन्नेव पदान्वये वाक्यार्थमित्थं वर्णयन्ति—स राजाऽनुजीव्यादीन्सख्यादीनिव दर्शयते । सख्यादय इव ते तु तं पश्यन्ति । सख्यादिभावेन पश्यतस्तांस्तथा दर्शयते । स्वयमेव छन्दानुवर्त्तितया स्वदर्शनं तेभ्यः प्रयच्छतीत्यर्थः । अर्थात्तस्येप्सितकर्मत्वम् । अणि कर्तुरनुजीव्यादेः 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदमुपसंख्यानम्' इति पाक्षिकं कर्मत्वम् । एवं चात्राण्यन्तकर्मणो राज्ञो ण्यन्ते कर्तृत्वेऽपि 'आरोहयते हस्ती स्वयमेव' इत्यादिवदश्रूयमाणकर्मान्तरत्वाभावान्नायं णेरणादिसूत्रस्य विषय इति मत्वा 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदं प्रतिपेदिरे । भाष्ये तु णेरणादिसूत्रविषयत्वमप्यस्योक्तम् । यथाऽऽह—'पश्यन्ति भृत्या राजानं', 'दर्शयते भृत्यान् राजा', 'दर्शयते भृत्यै राजा' अत्रात्मनेपदं सिद्धं भवति' इति । अत्राह कैयटः—'ननु कर्मान्तरसद्भावादत्रात्मनेपदेन भाव्यम् उच्यते—अस्मादेवोदाहरणाद्भाष्यकारस्यायमेवाभिप्राय उह्यते—'अण्यन्तावस्थायां ये कर्तृकर्मणी तद्व्यतिरिक्तकर्मान्तरसद्भावादात्मनेपदं न भवति । यथा—'स्थलमारोहयति मनुष्यान्' इति । इह त्वण्यन्तावस्थायां कर्तॄणां भृत्यानां णौ कर्तृत्वमिति भवत्येवात्मनेपदमि'ति ॥ १० ॥

यह (सुयोधन) अहङ्कार से पृथक् रहकर अपने कर्मचारियों के साथ सर्वदा प्रीति-पात्र मित्रों की तरह, मित्रों का आदर (सत्कार) ठीक निजी गोत्र-कुटुम्बियों की तरह और जो उसके सगे कुटुम्ब के लोग हैं उनका साक्षात् राज्याधिकारी की भाँति आदर करता है । तात्पर्य्य यह कि उसके व्यवहार से सब लोग सन्तुष्ट हैं ॥ १० ॥

न चायं त्रिवर्गात्प्रमाद्यतीत्याह—

असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया ।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान् न बाधतेऽस्य त्रिगणःपरस्परम् ॥ ११ ॥

असक्तमिति । यथायथं यथास्वं विभज्य, असङ्कीर्णरूपं विविच्येत्यर्थः । 'यथास्वे यथायथम्' इति निपातनाद् द्विर्भावो नपुंसकत्वं च । 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वम् । पक्षे पातः पक्षपातः आसक्तिविशेषः समस्तुल्यो यस्यां तया समपक्षपातया । भक्त्याऽनुरागविशेषेण । पूज्येष्वनुरागो भक्तिरित्युपदेशः ।

पूज्यश्चायं त्रिवर्ग इति। असक्तमनासक्तम्। अव्यसनितयेति यावत्। आराधयतः सेवमानस्यास्य दुर्योधनस्य त्रयाणां धर्मार्थकामानां गणस्त्रिगणस्त्रिवर्गः। 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः' इत्यमरः। गुणानुरागात्तदीयगुणेष्वनुरागात्। गुणवदाश्रयलोभादित्यर्थः। सख्यं मैत्रीं 'सख्युर्यः' इति यप्रत्यः। ईयिवानुपगतवानिवेत्युत्प्रेक्षा। 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः। 'नात्रोपसर्गस्तन्त्रम्' इति काशिकाकार आह स्म। परस्परं न बाधते। समवर्तित्वादस्य 'धर्मार्थकामाः परस्परानुपमर्देन वर्धन्त इत्यर्थः। उक्तं च—'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः' इति ॥ ११ ॥

वह दुर्योधन अनासक्त होकर किसी में विशेष पक्षपात न करके यथोचित विभाग करते हुये जिन धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्गों का सेवन करता है; वे त्रिवर्ग परस्पर में संघर्ष को नहीं प्राप्त होते हैं प्रत्युत उसके अभ्युदय में सहकारी होते हैं। ऐसा मालूम होता है कि वे परस्पर मित्र बन गये हैं। (जैसे—जब वह धर्म करता है उस समय अर्थ और काम उसके मार्ग में रोड़ा नहीं अटकाते। या जब वह अर्थोपार्जन का व्यवसाय करता है तो उसमें धर्म और काम विघ्न नहीं डालते और जब वह काम का सेवन करता है तब उसके लिए धर्म और अर्थ बाधक नहीं बनते) ॥ ११ ॥

अथ श्लोकत्रयेणोपायकौशलं दर्शयन्नादौ सामदाने दर्शयति—

निरत्ययं साम न दानवर्जितं न भूरि दानं विरहय्य सत्क्रियाम्।
प्रवर्त्तते तस्य विशेषशालिनी गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया ॥ १२ ॥

निरत्ययमिति। तस्य दुर्योधनस्य निरत्ययं निर्बाधम्। अमायिकमित्यर्थः। अन्यथा जनानां दुर्ग्रहत्वादिति भावः। साम सान्त्वम् 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमरः। दानवर्जितं न प्रवर्त्तते। अन्यथा लुब्धाद्यावर्जनस्य शुष्कप्रियैर्वाक्यैर्दुष्करत्वादिति भावः। उक्तं च—लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्साधुमञ्जलिकर्मणा। मूर्खं छन्दानुरोधेन तत्त्वार्थेन च पण्डितम्' ॥ इति। तथा भूरि प्रभूतं न तु कदाचित्स्वल्पमित्यर्थः। दानं धनत्यागः। सदित्यादरार्थेऽव्ययम्। 'आदरानादरयोः सदसती' इति निपातसंज्ञास्मरणात्। तस्य क्रियां सत्क्रियां विरहय्य विहाय। 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशः। न प्रवर्त्तते। अनादरे दानवैफल्यादिति भावः। न चैवं सर्वत्र, येनाविवेकित्वं कोशहानिश्च स्यादित्याह—प्रेति। विशेषशालिन्यतिशययोगिनी सत्क्रियाऽऽदरक्रिया गुणानुरोधेन गुणानुरागेण विना न प्रवर्त्तते। 'पृथग्विना—'इत्यादिना तृतीया। गुणेष्वेवादरो भूरि दानं चेति नोक्तदोषावकाश इत्यर्थः। अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषतया स्थापनादेकावल्यलङ्कारः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'स्थाप्यतेऽपोह्यते वाऽपि यथापूर्वं परं परम्! विशेषणतया वस्तु यत्र सैकावली द्विधा ॥' इति ॥ १२ ॥

साम, दाम, दण्ड और भेद यह चार प्रकार की राजाओं की नीति है। इनमें साम का

प्रयोग जो सुयोधन के द्वारा किया जाता है दान के बिना नहीं किया जाता (क्योंकि लोभी पुरुष को वश में लाने के लिये दान की आवश्यकता पड़ती है)। और जो वह प्रचुर मात्रा में दान करता है वह सत्कारपूर्वक करता है और उसका विशेष सत्कार गुण के बिना नहीं होता अर्थात् वह योग्य व्यक्तियों का ही सत्कार करता है ॥ १२ ॥

अथ दण्डप्रकारमाह—

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम् ॥ १३ ॥

वसूनीति। वशी स दुर्योधनो वसूनि धनानि वाञ्छन्न। लोभान्नेत्यर्थः। 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती। निहन्तीति शेषः। तथा मन्युना कोपेन न च। 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः : 'धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः' इति स्मरणादित्यर्थः। किन्तु निवृत्तकारणो निवृत्तलोभादिनिमित्तः सन्स्वधर्म इत्येव। स्वस्य राज्ञः सतो ममायं धर्मो ममेदं कर्त्तव्यमित्यस्मादेव हेतोरित्यर्थः। 'अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति'। इति स्मरणादिति भावः। गुरूपदिष्टेन प्राड्विवाकोपदिष्टेन। 'धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः। समाहितमतिः पश्येद् व्यवहाराननुक्रमात्' ॥ इति नारदस्मरणात्। दण्डेन दमेन। शिक्षयेदित्यर्थः। रिपौ सुतेऽपि वा। स्थितमिति शेषः। एतेनास्य समदर्शित्वमुक्तम्। धर्मविप्लवं धर्मव्यतिक्रमम्। अधर्ममिति यावत्। निहन्ति निवारयति। दुष्ट एवास्य शत्रुः शिष्ट एव बन्धुर्न तु सम्बन्धनिबन्धनः पक्षपातोऽस्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥

वह जितेन्द्रिय होकर, न तो धन की लालच से, न क्रोध से किसी को दण्ड देता है या अपराध-मुक्त करता है; किन्तु वह क्रोध-लोभ से निवृत्त होकर गुरूपदिष्ट धर्मशास्त्रानुकूल शत्रु और पुत्र में भेद न समझकर, दण्ड के द्वारा धर्म-विप्लव को शमन करना अपना कर्तव्य समझता है, क्योंकि जो दण्डार्ह न हों उन्हें दण्ड देना तथा दण्डनीयों को अपराध-मुक्त करना राजा को अपयश का भागी बनाता है और पश्चात् नरक में झोंक देता है ॥ १३ ॥

सम्प्रति भेदकौशलं दर्शयति—

विधाय रक्षान्परित परेतरानशङ्किताकारमुपैति शङ्कितः।
क्रियाऽपवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः ॥ १४ ॥

विधायेति। शङ्का सञ्जातास्य शङ्कितोऽविश्वस्तः सन् परितः सर्वत्र स्वपरमण्डले परेतरानात्मीयान्। अवञ्चकानिति यावत्। यद्वा परानितरयन्ति भेदेनात्मसात्कुर्वन्तीति परेतरान्। तत्करोति ण्यन्तात्कर्मण्यण्प्रत्ययः। रक्षन्तीति रक्षान् रक्षकान्। मन्त्रगुप्तिसमर्थानित्यर्थः। 'नन्दिग्रहि—' इत्यादिना पचाद्यच्। विधाय कृत्वा नियुज्येत्यर्थः। अशङ्किताकारमुपैति स्वयमविश्वस्तोऽपि विश्वस्तवदेव व्यवहरन्परमुखे-

नैव परान्मिनत्तीत्यर्थः । न च तान् रक्षानुपेक्षते येन तेऽपि विकुर्वीरन्नित्याह-क्रियेति । क्रियाऽपवर्गेषु कर्मसमाप्तिष्वनुजीविसात्कृता भृत्याधीनाः कृताः । अपरावर्त्तितया दत्ता इत्यर्थः । 'देये त्रा च' इति सातिप्रत्ययः । सम्पदोऽस्य राज्ञः कृतज्ञतामुपकारित्वं वदन्ति । प्रीतिदानैरेवास्य कृतज्ञत्वं प्रकाश्यते, न तु वाङ्मात्रेणेत्यर्थः । कृतज्ञे राजन्यनुजीविनोऽनुरज्यन्तेऽनुरक्ताश्च तं रक्षन्तीति भावः ॥ १४ ॥

सुयोधन स्वराष्ट्र, परराष्ट्र, सब जगह मन्त्र-गोपन-समर्थ आत्मीय कर्मचारियों को कार्य्यभार सौंप कर स्वयं उनका विश्वास न कर निःशङ्कता का भावप्रदर्शनमात्र करता है। कार्य्य-समाप्ति के पश्चात् भृत्यों को वेतन के रूप में प्रदान की गयी सम्पत्तियाँ इसकी कृतज्ञता सूचित करती हैं ॥ १४ ॥

अथोपायप्रयोगस्य फलवत्तां दर्शयति—

अनारतं तेन पदेषु लम्भिता विभज्य सम्यग्विनियोगसत्क्रियाः ।
फलन्त्युपायाः परिबृंहितायतीरुपेत्य संघर्षमिवार्थसम्पदः ॥ १५ ॥

अनारतमिति । तेन राज्ञा पदेषूपादेयवस्तुषु । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । सम्यगसङ्कीर्णमव्यस्तं च विभज्य विविच्य । विनियोग एव सत्क्रियाऽनुग्रहः सत्कार इति यावद । येषां ते लम्भिताः । स्थानेषु सम्यक्प्रयुक्ता इत्यर्थः । उपायाः सामादयः । सङ्घर्षं परस्परस्पर्धामुपेत्येवेत्युत्प्रेक्षा । परिबृंहितायतीः प्रचितोत्तरकाला स्थिरा इत्यर्थः । अर्थसम्पदोऽनारतमजस्रं फलन्ति प्रसुवत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

उसने (दुर्योधन ने) यथा-योग्य पात्र में जिन साम, दान; दण्ड और भेद नीतियों का प्रयोग किया है वे समुचित नियुक्ति से सत्कृत होकर, एक दूसरे से परस्पर स्पर्धा करती हुई, उत्तरोत्तर वृद्धिकारिणी, ऐश्वर्य राशि का सर्वकाल प्रसव करती हैं ॥ १५ ॥

अर्थसम्पदमेवाह—

अनेकराजन्यरथाश्वसंकुलं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम् ।
नयत्ययुग्मच्छदगन्धिरार्द्रतां भृशं नृपोपायनदन्तिनां मदः ॥ १६ ॥

अनेकेति । अयुग्मच्छदस्य सप्तपर्णपुष्पस्य गन्ध इव गन्धो यस्यासावयुग्मच्छदगन्धिः । 'सप्तम्युपमान—' इत्यादिना बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च । 'उपमानाच्च' इति समासान्त इकारः । नृपाणामुपायनान्युपहारभूता ये दन्तिनस्तेषां मदः । 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः । राज्ञामपत्यानि पुमांसो राजन्याः क्षत्रियाः । 'राजश्वशुराद्यत्' इति यत्प्रत्ययः । राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणान्न । रथाश्चाश्वाश्च रथाश्वम् । सेनाङ्गत्वादेकवद्भावः । अनेकेषां राजन्यानां रथाश्वेन सङ्कुलं व्याप्तं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरं सभामण्डपाङ्गणं भृशमत्यर्थमार्द्रतां पङ्किलत्वं नयति । एतेन महासमृद्धिरस्यो-

क्ता । अत एवोदात्तालङ्कारः । तथा चालङ्कारसूत्रम्—'समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तः' इति ॥

सुयोधन के सभामण्डप का प्राङ्गण (आँगन) अनेक राजाओं के रथ और घोड़ों से व्याप्त रहता है । उसे राजाओं से उपहार में आये हुये मत्त हाथियों का मद, जिसमें विषमच्छद (छितौन) के गन्ध सदृश गन्ध होता है, आर्द्र बनाये रहता है । (इससे सुयोधन की अर्थ-सम्पत्ति का परिचय मिलता है) ॥ १६ ॥

नोट—छितौन-इसमें सात-सात पत्ते एक-एक डंठल में होते हैं अतः इसे विषमच्छद कहते हैं ।

सम्प्रति जनपदक्षेमकरत्वमाह—

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव सस्यसंपदः ।
वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन्कुरवश्चकासति ॥ १७ ॥

सुखेनेति । चिराय तस्मिन् दुर्योधने क्षेमं वितन्वति क्षेमङ्करे सति । देवः पर्जन्य एव माता एषां ते देवमातृका वृष्ट्यम्बुजीविनो देशाः । ते न भवन्तीत्यदेवमातृका नदीमातृका इत्यर्थः । 'देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः । स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम् ॥' इत्यमरः । एतेनास्य कुल्याऽऽदिपूर्त्तप्रवर्तकत्वमुक्तम् । कुरूणां निवासाः कुरवो जनपदविशेषाः । कृष्टेन पच्यन्त इति कृष्टपच्याः । 'राजसूय—' इत्यादिना कर्मकर्त्तरि क्यप्प्रत्ययान्तो निपातः । तद्विपरीता अकृष्टपच्या इव । कृषिर्येषामस्तीति तैः कृषीवलैः, कर्षकैरित्यर्थः । रजःकृषि—'इत्यादिना वलच्प्रत्ययः । 'वले' इति दीर्घः । सुखेनाक्लेशेन लभ्या लब्धुं शक्याः सस्यसम्पदो दधतो धारयन्तः । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेधः । चकासति । सर्वोत्कर्षेण वर्तन्त इत्यर्थः । 'अदभ्यस्तात्' इति झेरदादेशः । 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसञ्ज्ञा । सम्पन्नजनपदत्वादसन्तापकरत्वाच्च दुःसाध्योऽयमिति भावः ॥ १७ ॥

(सुयोधन) चिरकाल से प्रजा के अभ्युदय के निमित्त यत्नशील रहता है । उसका राष्ट्र वृष्ट्यम्बुजीवी नहीं है किन्तु उसने आवश्यकतानुसार जगह-जगह पर कुवें, तालाब और नहरों का निर्माण कराया है । कृषकों को विना अधिक परिश्रम किये ही अन्न का ढेर सुलभ है जिससे उसके देश के निवासी हरे-भरे हैं । तात्पर्य यह कि उसके सुप्रबन्ध से उसकी प्रजा दुष्काल का अनुभव कभी नहीं करती ॥ १७ ॥

नन्वेवं जनपदानुवर्त्तिनः कथमर्थलाभ इत्यत आह—

उदारकीर्त्तेरुदयं दयावतः प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया ।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ॥ १८ ॥

उदारेति । उदारकीर्त्तेर्महायशसः । 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः । दयावतः परदुःखप्रहाणेच्छोः । अत एव प्रशान्तबाधं प्रशमितोपद्रवं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् । उदयविशेषणं वा । 'वा दान्तशान्त—' इत्यादिना शमिधातोर्ण्यन्तान्निष्ठान्तो निपातः । अभिरक्षया सर्वतस्त्राणेनोदयं वृद्धिं दिशतः सम्पादयतो वसूपमानस्य कुबेरोपमस्य । 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति विश्वः । अस्य दुर्योधनस्य गुणैर्दया-

दाक्षिण्यादिभिरुपस्नुता द्राविता मेदिनी वसूनि धनानि । 'वसु तोये धने मणौ इति वैजयन्ती । स्वयं प्रदुग्धे । अक्लेशेन दुह्यत इत्यर्थः । दुहेः कर्मकर्त्तरि लट् । 'न दुह-स्नुनमां यक्चिणौ' इति यक्प्रतिषेधः । यथा केनचिद्विदग्धेन नवप्रसूता रक्षिता च गौः स्वयं प्रदुग्धे तद्वदिति भावः । अलङ्कारस्तु–'विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः' इति सर्वस्वकारः । अत्र प्रतीयमानया गवा सह प्रकृताङ्गया मेदिन्या भेदेऽभेदलक्षणातिशयोक्तिवशाद्दोह्यत्वेनोक्तिरिति सङ्क्षेपः ॥ १८ ॥

परम यशस्वी और दयालु, चारों तरफ से रक्षा की सुव्यवस्था से निर्विघ्न, अभ्युदय का सम्पादन करते हुए और कुवेरसदृश उस सुयोधन के राज्य की वसुन्धरा उसके गुणों से प्रसन्न होकर विना परिश्रम सम्पत्ति प्रदान करती है ॥ १८ ॥

वीरभटानुकूल्यमाह—

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्त्तयः ।
नसंहतास्तस्य नभिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥ १९ ॥

महौजस इति । महौजसो महाबलाः । अन्यथा दुर्बलानामनुपकारित्वादिति भावः । मानः कुलशीलाद्यभिमान एव धनं येषां ते मानधनाः । अन्यथा कदाचिद् बलदर्पाद्विकुर्वीरन्निति भावः । धनार्चिताः धनैरर्चिताः सत्कृताः । अन्यथा दारिद्र्यादेनं जह्युरिति भावः । संयति सङ्ग्रामे लब्धकीर्त्तयः । बहुयशस इत्यर्थः । अन्यथा कदा-चिन्मुह्येयुरिति भावः । संहता मिथः सङ्गताः स्वार्थनिष्ठा न भवन्तीति नसंहताः । नञर्थस्य नशब्दस्य 'सुप्सुपे'ति समासः । भिन्नवृत्तयो मिथो विरोधात्स्वामिकार्यकरा न भवन्तीति नभिन्नवृत्तयः । पूर्ववत्समासः । अन्यथा स्वामिकार्यविघातकतया स्वामि-द्रोहिणः स्युरित्युभयत्रापि तात्पर्यार्थः । धनुर्भृतो धानुष्काः । आयुधीयमात्रोपलक्षण-मेतत् । प्राधान्याद्धनुर्ग्रहणम् । तस्य दुर्योधनस्यासुभिः प्राणैः प्रियाणि समीहितुं कर्तुं वाञ्छन्ति । आनृण्यार्थं प्राणान्दातुमिच्छन्ति । अन्यथा दोषस्मरणादिति भावः । अत्र महौजसादिपदार्थानां प्राणदानकर्तव्यतां प्रति विशेषणगत्या हेतुत्वाभिधानात्का-व्यलिङ्गमलङ्कारः । लक्षणं तूक्तम् । तथा साभिप्रायविशेषणत्वात्परिकरालङ्कार इति द्वयोस्तिलतण्डुलवद् विभक्ततया स्फुरणात्संसृष्टिः ॥ १९ ॥

(उसकी सेना के) धनुर्धर जो महाबलिष्ठ हैं, जिन्हें अपनी कुलीनता का गर्व है, द्रव्यादि से सत्कृत हैं, समराङ्गण में लब्धप्रतिष्ठ हैं, घूसखोरी में एक दूसरे से मिले हुये भी नहीं रहते हैं, और अवसर पर अपनी-अपनी खीर नहीं पकाते; ऐसे उसके योद्धा अपने प्राणों से उसके कल्याण की कामना करते रहते हैं ॥ १९ ॥

सम्प्रति स्वराष्ट्रवत्परराष्ट्रवृत्तान्तमपि वेत्तीत्याह—

महीभृतां सच्चरितैश्चरैः क्रियाः स वेद निश्शेषमशेषितक्रियः ।
महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः ॥ २० ॥

महीभृतामिति । अशेषितक्रियः समापितकृत्यः । आफलोदयकर्मेत्यर्थः । स

दुर्योधनः सच्चरितैः शुद्धचरितैः। अवञ्चकैरित्यर्थः। चरन्तीति चरास्तैश्चरैः। प्रणिधिभिः। पचाद्यच्। महीभृतां क्रियाः प्रारम्भान्निःशेषं वेद वेत्ति। 'विदो लटो वा' इति णलादेशः। स्वरहस्यं तु न कश्चिद्वेदेत्याह—महोदयैरिति। धातुरिव तस्य दुर्योधनस्येहितमुद्योगो महोदयैर्महावृद्धिभिः। हितमनुबध्नन्त्यनुरुन्धन्तीति हितानुबन्धिभिः। स्वन्तैरित्यर्थः। फलैः कार्यसिद्धिभिः प्रतीयते ज्ञायते। फलानुमेयास्तस्य प्रारम्भा इत्यर्थः॥ २०॥

वह (सुयोधन) जिस कार्य का आरम्भ करता है उसे समाप्त करके ही छोड़ता है, वह अपने शुद्ध व्यवहार करने वाले गुप्तचरों से राजाओं का सम्पूर्ण वृत्तान्त जानता है। उसके शुभेच्छु लोग भी, ईश्वरीय इच्छा के समान क्रियाजनित प्रचुर फलसिद्धि से उसके कार्य्य का अनुमान कर सकते हैं। सारांश यह कि कार्य्य निष्पन्न होने पर ही उसका भेद खुलता है॥ २०॥

मित्रबलमाह—

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम्॥ २१॥

नेति। तेन राजा क्वचित्कुत्रापि। सह ज्यया मौर्व्या सज्यम्। 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः। 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः। धनुर्नोद्यतं नोर्व्वीकृतम्। आननं च कोपविजिह्मं कोपकुटिलं न कृतम्। यस्य कोप एव नोदेति कुतस्तस्य युद्धप्रसक्तिरिति भावः। कथं तर्ह्याज्ञां कारयति राज्ञ इत्यत्राह—गुणेति। गुणेषु दयादाक्षिण्यादिष्वनुरागेण प्रेम्णा। माल्यपक्षे सूत्रानुषङ्गेण। यद्वा सौरभ्यगुणलाभेन। नराधिपैरस्य शासनमाज्ञां। मालेव माल्यं तदिव। 'चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्' इति क्षीरस्वामी। शिरोभिरुह्यते धार्यते। 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति यकि सम्प्रसारणम्। अत्रोपमा स्फुटैव॥ २१॥

उसने धनुष पर प्रत्यञ्चा (डोरी) आरोपित करके किसी को युद्ध के लिये आह्वान नहीं किया और न तो क्रोध से भ्रूभङ्ग ही किया तथापि राजन्यवर्ग उसके दान-दाक्षिण्यादि गुणों से आकृष्ट होकर पुष्पमाला की भाँति उसकी आज्ञा शिरोधार्य करता हैं॥ २१॥

संप्रत्यस्य धार्मिकत्वमाह—

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं निधाय दुःशासनमिद्धशासनः।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम्॥ २२॥

स इति। इद्धशासनोऽप्रतिहताज्ञः स दुर्योधनो नवयौवनोद्धतं प्रगल्भम्। धुरन्धरमित्यर्थः। दुःखेन शास्यत इति दुःशासनस्तम्। 'भाषायां शासियुधि—' इत्यादिना खलर्थे युच्प्रत्ययः। यौवराज्ये युवराजकर्मणि। ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्। निधाय। नियुज्येत्यर्थः। पुरोधसा पुरोहितेनानुमतोऽनुज्ञातः। तस्मिन्याजके सतीत्यर्थः। यदुल्लङ्घने दोषस्मरणादिति भावः। 'निष्ठा' इति भूतार्थे क्तः। न तु 'मति-

बुद्धि' इत्यादिना वर्त्तमानार्थे। अन्यथा 'पुरोधसा' इत्यत्र 'क्तस्य च वर्त्तमाने' इति षष्ठी स्यात्। अखिन्नोऽनलसो मखेषु क्रतुषु हव्येन हविषा। हिरण्यं रेतो यस्य तं हिरण्यरेतसमनलं धिनोति प्रीणयति। धिन्वेः प्रीणनार्थाद्'धिन्विकृण्व्योर च' इत्युप्रत्ययः। अकारश्चान्तादेशः॥ २२॥

सुयोधन का आशाभङ्ग कभी नहीं होता। वह अभिनव युवावस्था से धृष्ट दुश्शासन को युवराज बनाकर, पुरोहित की आज्ञा से, (सर्वथा) आलस्य का परित्याग करके यज्ञ में अग्निदेव को हव्यादि प्रदान द्वारा प्रसन्न करता है॥ २२॥

न चेतावता निरुद्योगैर्भाव्यमित्याशङ्क्याशां दर्शयति—

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता॥ २३॥

प्रलीनेति। स दुर्योधनः प्रलीनभूपालम्। निःसपत्नमित्यर्थः। स्थिरायति। चिरस्थायीत्यर्थः। भुवोमण्डलमावारिधिभ्य आवारिधि। 'आङ्मर्यादाऽभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः। प्रशासदाज्ञापयन्नपि। 'जक्षित्यादयः षट्'इत्यभ्यस्तसंज्ञा। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेधः। त्वत् त्वत्त एष्यतीरागमिष्यतीः। धातूनामनेकार्थत्वादुक्तार्थसिद्धिः। अथवाऽऽङ्पूर्वः पाठः। 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धिः। 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः। 'उगितश्च' इति ङीप्। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः। भियो भयहेतून्। विपद इत्यर्थः। चिन्तयत्यालोचयत्येव। स एवाह—अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता दुष्टावसाना। सार्वभौमस्यापि प्रबलैः सह वैरायमाणत्वमनर्थपर्यवसाय्येवेति तात्पर्यम्। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ २३॥

वह समुद्र-पर्य्यन्त भूमण्डल का शासन करता है। शत्रु नष्ट हो गये हैं। राज्य भी स्थिर हो चला है। तथापि आपसे (युधिष्ठिर-से) आने वाले भय की चिन्ता करता ही रहता है। यह बात ठीक ही है कि प्रबलों के साथ विरोध करने का फल अमङ्गलकारी होता है॥ २३॥

ननु गूढाकारेङ्गितस्य तस्य भयं त्वया कथं निरधारीत्यत्राह—

कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
तवाभिधानाद् व्यथते नताननः स दुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः॥ २४॥

कथेति। कथाप्रसङ्गेन गोष्ठीवचनेन जनैः। अन्यत्र कथाप्रसङ्गेन विषवैद्येन। 'कथाप्रसङ्गो वार्त्तायां विषवैद्येऽपि वाच्यवत्' इति विश्वः। एकवचनस्यातन्त्रत्वाज्जनविशेषणम्। उदाहृतादुच्चारितात्तवाभिधानान्नामधेयात्स्मारकाद्धेतोः। 'हेतौ' इति पञ्चमी। 'आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च' इत्यमरः। अन्यत्र तवाभिधानात्। 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्' इति न्यायात्तश्च वश्च तवौ तार्क्ष्यवासुकी तयोरभिधानं यस्मिन्पदे तस्मात्। यद्वा कथाप्रसङ्गे इनाश्च ते जनाश्चेत्येकं पदम्।

अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः स्मृतार्जुनपराक्रमः सुदुःसहादतिदुःसहान्मन्त्रपदान्मन्त्रशब्दात्स्मारकाद्धेतोः। आखण्डलसूनुरिन्द्रानुजः। उपेन्द्रो विष्णुरिति यावत्। 'सूनुः पुत्रेऽनुजे रवौ' इति विश्वः। तस्य विः पक्षी। गरुड इत्यर्थः। तस्य क्रमः पादविक्षेपः। सोऽनुस्मृतो येन स तथोक्तः, स्मृतगरुडमहिमा। उरग इव नताननः सन्। व्यथते दुःखायते। 'पीडा बाधा व्यथा दुःखम्' इत्यमरः। अत्युत्कटमयदोषादिविकारा दुर्वाराइति भावः। 'सर्वतो जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' इति न्यायादर्जुनोत्कर्षकथनं युधिष्ठिरस्य भूषणमेवेति सर्वमवदातम् ॥ २४ ॥

जिस तरह भुजङ्गम (सर्प) मन्त्रवेत्ता से उच्चारित गरुड़ और वासुकी के नामयुक्त असह्य मन्त्रपद से गरुड़ के पराक्रम का स्मरण करके नतमस्तक हो जाता है; ठीक वही दशा सुयोधन की हो जाती है। जब कभी जनसमूह की चर्चा में आपका नाम किसी के मुँह से निकल जाता है तो वह उसे सहन करने में असमर्थ हो जाता है और अर्जुन के बल का संस्मरण कर सिर झुका लेता है अर्थात् उसका हृदय प्रतिक्षण सन्तप्त हुआ करता है ॥ २४ ॥

निगमयति—

तदाशु कर्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते विधीयतां तत्र विधेयमुत्तरम्।
परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः॥ २५ ॥

तदिति। तत्तस्मात्त्वयि जिह्मं कपटं कर्तुमुद्यते। त्वां जिघांसावित्यर्थः। तत्र तस्मिन्दुर्योधने विधेयं कर्त्तव्यमुत्तरं प्रतिक्रियाऽऽशु विधीयतां क्रियताम्। ननु कर्त्तव्यमपि त्वयैवोच्यतामिति चेत्तत्राह—परेति। परप्रणीतानि परोक्तानि वचांसि चिन्वतां गवेषयतां मादृशाम्। वार्त्ताहारिणामित्यर्थः। गिरः प्रवृत्तिसारा वार्तामात्रसाराः खलु। 'वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः। वार्त्तामात्रवादिनो वयम्, न तु कर्त्तव्यार्थोपदेशसमर्थाः। अतस्त्वयैव निर्धार्यं कार्यमिति भावः। सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासः ॥ २५ ॥

इसलिये, आपको चाहिये कि आपके समूल निर्मूलन करने की चेष्टा में लगे हुए दुर्योधन की प्रतिक्रिया शीघ्रताशीघ्र करें (यदि आप कहें कि जिस तरह वृत्तान्त बतलाते हो उसी तरह उपाय भी बतलाओ तो यह हो नहीं सकता, क्योंकि) हम लोग दूसरे के आधार पर समाचार के संग्रह करने वाले हैं, वार्त्तामात्र के संग्रह का कार्य्य हम लोगों से कराना चाहिए ॥ २५ ॥

इतीरयित्वा गिरमात्तसत्क्रिये गतेऽथ पत्यौ वनसन्निवासिनाम्।
प्रविश्य कृष्णासदनं महीभुजा तदाचचक्षेऽनुजसन्निधौ वचः॥ २६ ॥

इतीति। वनसंनिवासिनां पत्यौ वनेचराधिप इति गिरमीरयित्वोक्त्वाऽऽत्तसत्क्रिये गृहीतपारितोषिके गते सति। 'तुष्टिदानमेव चाराणां हि वेतनम्। ते हि तल्लोभात्

स्वामिकार्येष्वतीव त्वरयन्ते' इति नीतिवाक्यामृते। अथ महीभुजा राज्ञा कृष्णा-सदनं द्रौपदीभवनं प्रविश्यानुजसन्निधौ तद्वनेचरोक्तं वचो वाक्यमाचचक्ष आख्यातम्। अथवा कृष्णेति पदच्छेदः। सदनं प्रविश्यानुजसन्निधौ तद्वचः कृष्णाऽऽचचक्ष आख्याता। चक्षिङो दुहादेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि लिट्॥ २६॥

पूर्वोक्त संदेशों को निवेदित कर तथा पुरस्कार प्राप्त कर, वनचरराज के चले जाने पर महाराज युधिष्ठिर पाञ्चाली (द्रौपदी) के कुटीर में गये और वहाँ भाइयों के समीप द्रौपदी से सारा वृत्तान्त कह सुनाये॥ २६॥

निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृतीस्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा।
नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः॥ २७॥

निशम्येति। अथ द्रुपदात्मजा द्रौपदी द्विषतां सिद्धिं वृद्धिरूपां निशम्य ततस्तदनन्तरम्। ततो द्विषद्भ्य आगतास्ततस्त्याः। 'अव्ययात्त्यप्' इति त्यप्। अपाकृतीर्विकारान्विनियन्तुं निरोद्धुमक्षमा सती नृपस्य युधिष्ठिरस्य मन्युव्यवसाययोः क्रोधोद्योगयोर्दीपिनीः संवर्धिनीर्गिरो वाक्यान्युदाजहार। जगादेत्यर्थः॥ २७॥

द्रौपदी शत्रुओं के अभ्युदय की वार्ता सुन, उनसे किये गये अपकारों का स्मरण कर अपने आपको रोक न सकी और महाराज के क्रोध तथा उद्योग का उद्बोधक वाक्य बोली॥ २०॥

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम्।
तथाऽपि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः॥ २८॥

भवादृशेष्विति। भवादृशो भवद्विधाः। पण्डिता इत्यर्थः। तेषु विषये। 'त्यदादिषु—' इत्यादिना कञ्। 'आ सर्वनाम्नः' इत्याकारादेशः। प्रमदाजनोदितं स्त्रीजनोक्तम्। वदेः क्तः। 'वचिस्वपि—' इत्यादिना सम्प्रसारणम्। अनुशासनं नियोगवचनमधिक्षेपस्तिरस्कार इव भवति। अतो न युक्तं वक्तुमित्यर्थः। तथाऽपि वक्तुमनुचितत्वेऽपि निरस्तनारीसमयास्त्याजितशालीनतारूपस्त्रीसमाचाराः। 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। दुराधयः समयोल्लंघनहेतुत्वाद् दुष्टा मनोव्यथाः। 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः। मां वक्तुं व्यवसाययन्ति प्रेरयन्ति। न किञ्चिदयुक्तं दुःखिनामिति भावः॥ २८॥

महाराज के सदृश व्यक्ति के विषय में स्त्री जाति का नियोग वचन निन्दा की तरह होता है। पर क्या करूँ, मेरी प्रबल मानसिक वेदना स्त्रियों की कर्तव्य-मर्य्यादा का उल्लङ्घन कर कहने के लिए बाध्य करती है। व्यथित हृदय व्यक्ति जो कुछ कहें, सब थोड़ा है॥ २८॥

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः।
त्वयाऽऽत्महस्तेन मही मदच्युता मतङ्गजेन स्रागिवापवर्जिता॥ २९॥

अखण्डमिति । आखण्डलतुल्यधामभिरिन्द्रतुल्यप्रभावैः स्ववंशजैर्भूपतिभिर्भरतादिभिश्चिरमखण्डमविच्छिन्नं धृता मही । त्वया । मदं च्योततीति मदच्युत् । क्विप् । तेन मदस्राविणा मतङ्गजेन स्रगिवात्महस्तेन स्वकरेण स्वचापलेनेत्यर्थः । अपवर्जिता परिहृता त्यक्ता । स्वदोषादेवायमनर्थागम इत्यर्थः ॥ २९ ॥

इन्द्र के सदृश तेजस्वी आपके पूर्वजों ने (भरतादिकों ने) इस वसुन्धरा का अविच्छिन्न उपभोग किया है जिसमे आप स्वयं इतनी सरलतापूर्वक हाथ धो बैठे, जितनी सरलता से एक मदस्रावी गजराज सुमनोग्रथित माल्य को स्वयं अपनी सूँड़ से ध्वस्त कर देता है अर्थात् पूर्वजों की सञ्चित सम्पत्ति को आपने विना किसी प्रयास के ही खो दिया है ॥ २९ ॥

'स्वदोषादेवायमनर्थागम' इत्युक्तम् । स च दोषः कुटिलेष्वकौटिल्यमेवेत्याह—

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ॥ ३० ॥

व्रजन्तीति । मूढधियो निर्विवेकबुद्धयस्ते पराभवं व्रजन्ति, ये मायाविषु मायावत्सु विषये । 'अस्मायामेधा—' इत्यादिना विनिप्रत्ययः मायिनो मायावन्तः । व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः । न भवन्ति अत्रैवार्थान्तरं न्यस्यति—प्रविश्येति । शठा अपकारिणो धूर्तास्तथाविधानकुटिलानसंवृताङ्गानवर्मितशरीरान्निशिता इषव इव प्रविश्य प्रवेशं कृत्वाऽऽत्मीया भूत्वा घ्नन्ति हि । 'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीति'रिति भावः ॥ ३० ॥

वे अविवेकी पुरुष (सर्वदा) पराजित होते हैं जो मायावियों के समक्ष मायावी नहीं बनते अर्थात् 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' इस नीति का अवलम्बन नहीं करते । मायावी (वञ्चक) सरलचित्त व्यक्तियों के अन्तःकरण की बातें जानकर इस प्रकार गला घोंटते हैं जैसे तीक्ष्ण धार वाले बाण कवच-रहित शरीर में प्रवेश कर घातक बन जाते हैं ॥ ३० ॥

न च लक्ष्मीचाञ्चल्यादयमनर्थागमः, किन्तु स्वोपेक्षादोषमूलत्वादित्याशयेनाह—

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः ।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् ॥ ३१ ॥

गुणेति । अनुरक्तसाधनोऽनुकूलसहायवान् । उक्तं च कामन्दकीये—'उद्योगादनिवृत्तस्य ससहायस्य धीमतः । छायेवानुगता तस्य नित्यं श्रीः सहचारिणी ॥' इति । कुलाभिमानी क्षत्रियत्वाभिमानी कुलीनत्वाभिमानी च त्वदन्यस्त्वत्तोऽन्यः । 'अन्यारात्—' इत्यादिना पञ्चमी । क इव नराधिपो गुणैः सन्ध्यादिभिः सौन्दर्यादिभिश्चानुरागिणीं कुलजां कुलक्रमादागतां कुलीनां च मनोरमां श्रियमात्मवधूमिव स्वभार्यामिव 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमरः । परैः शत्रुभिरन्यैश्चापहारयेत् । स्वयमेवापहारं कारयेदित्यर्थः । कलत्रापहारवल्लक्ष्म्यपहारोऽपि राज्ञा मानहानिकरत्वादनुपेक्षणीय इति भावः ॥ ३१ ॥

आपके अतिरिक्त इस वसुधातल में कौन ऐसा राजा है जो अनुकूल सहायक सामग्रियों के रहते हुये, तथा जिसको क्षत्रिय होने का गर्व है, सन्धि आदि तथा सौन्दर्य आदि राजोचित गुणों से अनुरक्त, वंश-परम्परा से रक्षित राज्यश्री को अपनी मनोरमा प्रियतमा की भाँति (देखते हुये) अपहृत होने देगा ॥ ३१ ॥

अथ दशभिः कोपोद्दीपनं करोति—

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्त्तमानं नरदेव ! वर्त्मनि ।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ॥३२॥

भवन्तमिति । नरदेव ! हे नरेन्द्र ! एतर्हीदानीम् , अस्मिन्नापत्कालेऽपीत्यर्थः । 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । 'इदमो र्हिल्' इति र्हिल्प्रत्ययः । 'एतेतौ रथोः' इत्येतादेशः । आपदमेवाह—मनस्विगर्हिते शूरजनजुगुप्सिते वर्त्मनि मार्गे विवर्त्तमानम् , शत्रुकृतां दुर्दशामनुभवन्तमित्यर्थः । भवन्तं त्वामुदीरित उद्दीपितो मन्युः क्रोधः । शुष्कं नीरसम् । 'शुषः कः' इति निष्ठातकारस्य ककारः । शमी चासौ तरुश्चेति विशेषणसमासः तम् । शमीग्रहणं शीघ्रज्वलनस्वभावात्कृतम् । उच्छिख उद्गतज्वालः 'घृणिज्वाले अपि शिखे' इत्यमरः । वह्निरिव । कथं न ज्वलयति । ज्वलयितमुचितमित्यर्थः । 'मितां ह्रस्वः' ॥ ३२ ॥

महाराज ! सम्प्रति आप शूरवीरों से गर्हित पद का अनुसरण कर रहे हैं । प्रखर ज्वाला-युक्त अग्नि जिस तरह नीरस शमी वृक्ष को जला कर भस्म कर देता है उसी तरह आपका प्रबल क्रोध आपको क्यों नहीं उत्तेजित करता ? ॥ ३२ ॥

नन्वन्तःशत्रुत्वादयं क्रोधस्त्याज्य एवेत्याशङ्क्याह—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥ ३३ ॥

अवन्ध्येति । अवन्ध्यः कोपो यस्य तस्यावन्ध्यकोपस्यात एवापदां विहन्तुर्निग्रहानुग्रहसमर्थस्येत्यर्थः । पुंस इति शेषः । देहिनो जन्तवः स्वयमेव वश्या वशंगता भवन्ति । 'वशं गतः' इति यत्प्रत्ययः । अतस्त्वया कोपिना भवितव्यमित्यर्थः । व्यतिरेके त्वनिष्टमाचष्टे—अमर्षशून्येन निष्कोपेन जन्तुना । कन्यया शोक इतिवद् 'हेतौ' इति तृतीया । हृदयस्य कर्म हार्दं स्नेहः । 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इत्यमरः । युवादित्वादण् । हृदयस्य 'हृल्लेखयदण्लासेषु' इति हृदादेशः । जातहार्देन जातस्नेहेन सता जनस्यादरो न । विद्विषा द्विषता च सतादरो न । अमर्षहीनस्य रागद्वेषावकिञ्चित्करत्वादगण्यावित्यर्थः । अथवा विद्विषं सता दरो भयं न । 'दरोऽस्त्रियां भये श्वभ्रे' इत्यमरः । एतस्मिन्नेव प्रयोगे सन्धिवशाद् द्विधा पदच्छेदः । पुंवाक्येषु न दोषः । अतः स्थाने कोपः कार्यस्त्याज्यस्त्वस्थाने कोप इति भावः ॥ ३३ ॥

जिसका क्रोध कुछ न कुछ करके दिखा देता है और जो आपत्तियों को दूर भगाता है ऐसे पुरुष की पराधीनता लोग स्वयं स्वीकार कर लेते हैं। क्रोध से रहित मित्र का कोई आदर भी नहीं करता और क्रोधविहीन शत्रु से कोई भय भी नहीं खाता ॥ ३३ ॥

परिभ्रमँल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषितः।
महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः॥ ३४ ॥

परिभ्रमन्निति। लोहितचन्दनोचित उचितलोहितचन्दनः। "वाऽऽहिताग्न्यादिषु' इति साधुः। अभ्यस्तरक्तचन्दन इत्यर्थः। 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः। महारथो रथचारी। उभयत्रापि प्रागिति शेषः। अद्य तु रेणुरूषितो धूलिच्छुरितः पादाभ्यामतति गच्छतीति पदातिः पादचारी 'अज्यतिभ्यां च' इत्यनुवृत्तौ 'पादे' च' इत्यौणादिक इण्प्रत्ययः। 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' इति पदादेशः। अन्तर्गिरि गिरिष्वन्तः। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'गिरेश्च सेनकस्य' इति विकल्पात्समासान्ताभावः। परिभ्रमन्नयं वृकोदरो भीमः। सत्यधनस्येति सोल्लुण्ठनवचनम्। अद्यापि त्वया सत्यमेव रक्ष्यते, न तु भ्रातर इति भावः। तवेति शेषः। मानसं नो दुनोति कच्चिन्न परितापयति किम्। 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः। स्वाभिप्रायाविष्करणं कामप्रवेदनम् ॥ ३४ ॥

पहिले तो यह भीम रक्तचन्दन के अभ्यासी थे और उत्तम रथ पर बैठ कर भ्रमण करते थे, इदानीं वही रजकण से व्याप्त होकर पैदल पर्वत-पथ पर विचरण करते हैं। तो क्या उनकी यह दशा देख कर सत्य-पूजक (युधिष्ठिर) का मन सन्तप्त नहीं होता ? ॥ ३४ ॥

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान्कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्कवासांसि तवाधुनाऽऽहरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः॥ ३५ ॥

विजित्येति। वासव इन्द्र उपमा उपमानं यस्य स वासवोपम इन्द्रतुल्यो यो धनञ्जयः, उत्तरान्कुरून्मेरोरुत्तरान्मानुषान्देशविशेषान्विजित्य प्राज्यं प्रभूतम्। 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः। कुप्यादन्यदकुप्यं हेमरूप्यात्मकम्। 'स्यात्कोशश्च हिरण्यं च हेमरूप्यं कृताकृते। ताभ्यां यदन्यत्तत्कुप्यम्' इत्यमरः। वसु धनमयच्छद् दत्तवान्। 'पाघ्रा—'इत्यादिना दाणो यच्छादेशः। स धनं जयतीति धनञ्जयोऽर्जुनः। 'संज्ञायां भृतृवृजि—'इत्यादिना खच्प्रत्ययः। 'अरुर्द्विषद्—'इत्यादिना मुमागमः। अधुनाऽस्मिन्काले। 'अधुना' इति निपातनात्साधुः। तव वल्कवासांस्याहरन्कथं तव मन्युं क्रोधं दुःखं वा न करोति ॥ ३५ ॥

देवेश के समान पराक्रमशाली जिस अर्जुन ने सुमेरु के उत्तरनिवासियों पर विजयपताका आरोपित कर सम्पत्ति लाकर समर्पित किया था, आज वही अर्जुन वल्कल वस्त्रधारी बने हुये हैं क्या उनकी इस दयनीय दशा को देखकर भी आपका क्रोध जागृत नहीं होता ? ॥ ३५ ॥

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम् ॥ ३६ ॥

वनान्तेति । वनान्तो वनभूमिरेव शय्या तथा कठिनीकृताकृती कठिनीकृतदेहौ । 'आकारो देह आकृतिः' इति वैजयन्ती । विष्वक्समन्तात् । 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमरः । कचाचितौ कचव्याप्तौ । विशीर्णकेशावित्यर्थः । अत एवागजौ गिरिसम्भवौ गजाविव स्थितावेतौ यमौ युग्मजातौ, माद्रीपुत्रावित्यर्थः । 'यमो दण्डधरे ध्वाङ्क्षे संयमे यमजेऽपि च' इति विश्वः । विलोकयंस्त्वं कथं धृतिसंयमौ सन्तोषनियमौ । 'धृतिर्योगान्तरे धैर्ये धारणाध्वरतुष्टिषु' इति विश्वः । बाधितुं नोत्सहसे न प्रवर्त्तसे । 'शकधृ-'इत्यादिना तुमुन् । अहो ते महद्धैर्यमिति भावः ॥ ३६ ॥

बलिहारी है आपके इस धैर्य्य की ! ये सहजात नकुल और सहदेव वनैले हाथियों के सदृश हो गये हैं । वनस्थली पर शयन करने से इनके शरीर में घट्ठे पड़ गये हैं । इनके केशपाश बिखरे हुये हैं । इन्हें देखकर क्या आप धैर्य्य और नियम का परित्याग करने के लिये तैयार नहीं हो रहे हैं ॥ ३६ ॥

अथ राज्ञो दुर्दशां दर्शयितुमुपोद्घातमाह । प्रकृतार्थं वर्णयितुमर्थान्तरवर्णनमुपोद्घातः ।

इमामहं वेद न तावकीं धियं विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः ।
विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः ॥ ३७ ॥

इमामिति । इमां वर्त्तमानाम् । तवेमां तावकीं त्वदीयाम् । 'तस्येदम्' इत्यण्प्रत्ययः । 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः । धियं त्वदापद्विषयां चित्तवृत्तिमहं न वेद कीदृशी वा न वेद्मि । परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वादिति भावः । 'विदो लटो वा' इति लटो णलादेशः । न चात्मदृष्टान्तेनापन्नत्वाद् दुःखित्वमनुमातुं शक्यते । धीरादिष्वनेकान्तिकत्वादित्याशयेनाह—चित्तवृत्तयो विचित्ररूपा धीराधीराद्यनेकप्रकाराः खलु । किन्तु परामुत्कृष्टां भवदापदं विचिन्तयन्त्या भावयन्त्या मम चेतश्चित्तम् । आधयो मनोव्यथाः । 'उपसर्गे घोः किः' इति किप्रत्ययः । प्रसभं प्रसह्य रुजन्ति भञ्जन्ति । 'रुजो भङ्गे' इति धातोर्लट् । पश्यतामपि दुःसहा दुःखजननी त्वद्विपत्तिरनुभवितारं त्वां न विकरोतीति महच्चित्रमित्यर्थः । चेत इति 'रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः' इति षष्ठी न भवति । तत्र शेषाधिकाराच्छेषत्वस्य विवक्षितत्वादिति ॥ ३७ ॥

मुझे आपकी इस बुद्धि का परिचय नहीं मिलता । लोगों की चित्तवृत्तियाँ विलक्षण होती हैं । आपकी इन असीम आपत्तियों का स्मरण कर मेरे हृदय में खलबली मच जाती है अर्थात् आपकी विपत्तियों के देखने वालों को तो प्रबल वेदना होती है परन्तु न जाने क्यों आप पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता ? ॥ ३७ ॥

तदापदमेव श्लोकत्रयेणाह—

पुराऽधिरूढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः॥ ३८॥

पुरेति। यस्त्वं महाधनं बहुमूल्यं श्रेष्ठम्। 'महाधनं महामूल्ये' इति विश्वः। शयनं शय्यामधिरूढः सन् स्तुतयो गीतयश्च ता एव मङ्गलानि तैः करणभूतैः पुरा विबोध्यसे वैतालिकैरिति शेषः। पूर्वं बोधित इत्यर्थः। 'पुरि लुङ् चास्मे' इति भूतार्थे लट्। स त्वमदभ्रदर्भां बहुकुशाम् 'अस्त्री कुशं कुशो दर्भः' इति। 'अदभ्रं बहुलं बहु' इति चामरः। स्थलीमकृत्रिमभूमिम्। 'जानपद—' इत्यादिना कृत्रिमार्थे ङीष्। एतेन दुःसहस्पर्शत्वमुक्तम्। 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म' इति कर्मत्वम्। अधिशय्य शयित्वा। 'अयङ् यि क्ङिति' इत्ययङादेशः। अशिवैरमङ्गलैः शिवारुतैः क्रोष्टुवासितैः। 'शिवा हरीतकी क्रोष्ट्री शमी नद्यामलक्युभे' इति वैजयन्ती। निद्रां जहासि। अद्येति शेषः॥ ३८॥

(ऐ नरेन्द्र!) पहले आप बहुमूल्य शय्या पर विश्राम करते थे और वैतालिकों के द्वारा स्तुति और गायन रूप माङ्गलिक पाठ से निद्रा त्याग करते थे। वही (आप) कुशबहुला भूमि पर शयन करते हैं और अमङ्गल-सूचक शृगालियों के शब्द से उद्बोधित होते हैं॥ १८॥

पुरोपनीतं नृप! रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः॥ ३९॥

पुरेति। हे नृप! यदेतत्पुरोवर्त्ति वपुः पुरा द्विजातिशेषेण द्विजभुक्तावशिष्टेनान्धसाऽन्नेन। 'भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नम्' इत्यमरः। रमणीयस्य भावो रामणीयकं मनोहरत्वमुपनीतं प्रापितम्। नयतेर्द्विकर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि क्तः। 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति वचनात्। अद्य वन्यफलाशिनस्ते तव तद्वपुर्यशसा समं परमतिमात्रं कार्श्यं परैति प्राप्नोति। उभयमपि क्षीयत इत्यर्थः। अत्र सहोक्तिरलङ्कारः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्' इति॥ ३९॥

ऐ राजन्! पहले आपका वह शरीर ब्राह्मणभुक्तावशिष्ट अन्न से परिवर्धित होकर रमणीय था, वही (शरीर) आज जङ्गली फलों के आहार से अत्यन्त दुर्बल होता जा रहा है और साथ-साथ यश को भी क्षीण बना रहा है। यहाँ एक लोकोक्ति है 'बाण गये चार हाथ पगहा भी लेते गये'॥ ३९॥

अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरःस्रजां रजः।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम्॥ ४०॥

अनारतमिति। अनारतमजस्रं मणिपीठशायिनो मणिमयपादपीठशायिनो यौ

चरणौ राजशिरःस्रजां नमद्भूपालमौलिस्रजां रजः परागोऽरञ्जयत्, तौ ते चरणौ मृगैर्द्विजैश्च तपस्विभिरालूनशिखेषु छिन्नाग्रेषु बर्हिषां कुशानाम् । 'बर्हिः कुशहुताशयोः' इति विश्वः । वनेषु निषीदतस्तिष्ठतः ॥ ४० ॥

जो (महाराज के) युगल चरण रत्न-जटित सिंहासन पर विश्रान्ति प्राप्त करते थे और अभिवादन के लिये झुकने वाले राजाओं की मौलिमालाओं के पुष्परज से रञ्जित होते थे आज दिन वही चरण हिरणों और ब्राह्मणों के द्वारा छिन्न कुशों पर विश्राम पाते हैं । यह कष्ट की बात नहीं है क्या ? ॥ ४० ॥

ननु सर्वप्राणिसाधारण्यामापदि का परिदेवनेत्यत्राह—

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः ।
परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ॥ ४१ ॥

द्विषदिति । यद्यतः कारणादियं दशाऽवस्था । 'दशा वर्त्तावस्थायाम्' इति विश्वः । द्विषन्तो निमित्तं यस्याः सा । 'द्विषोऽमित्रे' इति शतृप्रत्ययः । अतो मे मनः समूलं साशयमुन्मूलयतीवोत्पाटयतीव । दैविकी त्वापन्न दुःखायेत्याह—परैरिति । परैः शत्रुभिरपर्यासिताऽपर्यावर्त्तिता वीर्यसंपद्येषां तेषां मानिना मानहानिर्दुःसहा, न त्वापदिति भावः ॥ ४१ ॥

आपकी यह वर्तमान दशा शत्रु के कारण हुई है इसीलिये मेरे अन्तःकरण में बेकली की प्रतीति होती है । ऐसे मानियों का, जिसके बल और पराक्रम को शत्रु तिरस्कृत नहीं कर सकता, पराभव भी उत्साहवर्धक ही होता है अर्थात् पराभव सह्य है और मानहानि नहीं ॥ ४१ ॥

विहाय शान्तिं नृप ! धाम तत्पुनः प्रसीद संधेहि वधाय विद्विषाम् ।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहा शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ॥ ४२ ॥

विहायेति । हे नृप ! शान्तिं विहाय तत्प्रसिद्धं धाम तेजो विद्विषां वधाय पुनः सन्धेह्यङ्गीकुरु प्रसीद । प्रार्थनायां लोट् । ननु शमेन कार्यसिद्धौ किं क्रोधेनेत्यत्राह— व्रजन्तीति । निःस्पृहा मुनयः शत्रूनवधूय निर्जित्य शमेन क्रोधवर्जनेन सिद्धिं व्रजन्ति । भूभृतस्तु न । कैवल्यकार्यवद्राजकार्यं न शान्तिसाध्यमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

महाराज ! क्षमा को दूर भगाइये, रिपुओं का दमन करने के लिये फिर उस प्रचण्ड प्रताप का आश्रय लीजिये, और प्रसन्नता को स्थान दीजिये । कामना-रहित महर्षि लोग काम-क्रोधादि शत्रुओं का दमन करने से ही सिद्धि प्राप्त करते हैं, किन्तु राजा नहीं ॥ ४२ ॥

पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम् ।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त ! हता मनस्विता ॥ ४३ ॥

पुर इति । किं च धामवतां तेजस्विनाम् । परनिकारासहिष्णूनामित्यर्थः । पुरः सरन्तीति पुरःसरा अग्रेसराः । 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः' इति टप्रत्ययः । यशोधरा भवादृशाः सुदुःसहमतिदुःसहमीदृशमुक्तप्रकारं निकारं परामवं प्राप्य रतिं सन्तोषमधिकुर्वते चेत्तर्हि हन्त इति खेदे । मनस्विताऽभिमानिता निराश्रया सती हता । तेजस्विजनैकशरणत्वान्मनस्वितायाः इत्यर्थः । अतः पराक्रमितव्यमिति भावः । यद्यप्यत्र प्रसहनस्यासङ्गतेरधिपूर्वात्करोतेः 'अधेः प्रसहने' इत्यात्मनेपदं न भवति 'प्रसहनं परिभवः' इति काशिका, तथाऽप्यस्याः कर्त्रभिप्रायविवक्षायामेव प्रजोजकत्वात्कर्त्रभिप्राये 'स्वरितञितः—' इत्यात्मनेपदं प्रसिद्धम् ॥ ४३ ॥

आप जैसे कीर्तिसर्वस्व तेजस्वियों के अधिनायक, यदि इस प्रकार के असह्य पराभव को प्राप्त होकर सन्तोष कर जाते हैं तो मनस्विता निरालम्ब होकर इस दुनिया से चल बसेगी ॥ ४३ ॥

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम् ।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम् ॥ ४४ ॥

अथेति । अथ पक्षान्तरे निरस्तविक्रमः सन् । चिराय चिरकालेनापि क्षमां क्षान्तिमेव । 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमा' इत्यमरः । सुखस्य साधनं पर्येष्यवगच्छसि तर्हि लक्ष्मीपतिलक्ष्म राजचिह्नं कार्मुकं विहाय । धरतीति धरः । पचाद्यच् । जटानां धरो जटाधरः सन्निह वने पावकं जुहुधि । पावके होमं कुर्वित्यर्थः । अधिकरणे कर्मत्वोपचारः । विरक्तस्य किं धनुषेत्यर्थः । 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' ॥ ४४ ॥

यदि शौर्य्य का परित्याग कर केवल क्षमा को ही चिरकाल के लिए सुख की सामग्री मानना अभीष्ट हो तो राजाओं के चिह्न स्वरूप धन्वा को फेंक दीजिये और जटा बढ़ाकर इसी जगह (द्वैत वन में) अग्निदेव में आहुति प्रक्षेप कीजिए ॥ ४४ ॥

अथ समयोल्लङ्घनाद् बिभेषि तदपि न किञ्चिदित्याह—

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः ।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि ॥४५॥

नेति । परेषु शत्रुषु । निकृतिः परं प्रधानं येषु तेषु । तथोक्तेष्वपकारतत्परेषु सत्सु भूरिधाम्नोः महौजसः प्रतीकारक्षमस्य ते तव समयस्त्रयोदशसंवत्सरान्वने वत्स्यामीत्येवंरूपा संवित् । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । तस्य परिरक्षणं प्रतीक्षणं न क्षमं न युक्तम् । 'युक्ते क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः । हि यस्माद्विजयार्थिनो विजिगीषवः । क्षितीशा अरिषु विषये सोपधि सकपटं यथा तथा । 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः । सन्धिदूषणानि विदधति केनचिद् व्याजेन दोषमापाद्य संधिं दूषयन्ति । विघटयन्तीत्यर्थः । शक्तस्य हि

विजिगीषोः सर्वथा कार्यसाधनं प्रधानमन्यत्समयरक्षणादिकमशक्तस्येति भावः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ४५॥

आपका पराक्रम असीम है। उपद्रवी शत्रुओं के साथ समय (संधि) की प्रतीक्षा करना युक्त नहीं। विजयाकांक्षी भूमिपाल किसी न किसी बहाने शत्रु के साथ किये हुए सन्धि-नियमों को भङ्ग कर डालते हैं ॥ ४५॥

उक्तमर्थमाशीर्वादपूर्वकमुपसंहरति—

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये प्रथमः सर्गः॥ १॥

विधीति। विधिर्दैवम्। 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। समयः कालस्तयोर्नियोगान्नियमनाद्धेतोः। तयोर्दुरतिक्रमत्वादिति भावः। अगाधे दुस्तरे। आपत्पयोधिरिवेत्युपमितसमासः। दिनकृतमिवेति वक्ष्यमाणानुसारात्तस्मिन्नापत्पयोधौ मग्नम्। 'सूर्योऽपि सायं सागरे मज्जति परेद्युरुन्मज्जती'त्यागमः। दीप्तिः प्रताप आतपश्च तस्याः संहारेण जिह्ममप्रसन्नम्। शिथिलवसुं शिथिलधनम्, अन्यत्र शिथिलरश्मिम्। 'वसुर्देवेऽग्नौ रश्मौ च वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती। 'शिथिलबलम्' इति पाठे तूभयत्रापि शिथिलशक्तिकमित्यर्थः। रिपुस्तिमिरमिवेति रिपुतिमिरमुदस्य निरस्योदीयमानमुद्यन्तम्। 'इङ् गतौ' इति धातोर्दिवादिकात्कर्त्तरि शानच्। त्वां दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीर्भूयः समभ्येतु भजतु। 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लोट्। चमत्कारितया मङ्गलाचरणरूपतया च सर्गान्त्यश्लोकेषु लक्ष्मीशब्दप्रयोगः। यथाऽऽह भगवान्भाष्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाण्यायुष्मत्पुरुषकाणि च भवन्त्यध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति' इति। पूर्णोपमेयम्। मालिनीवृत्तम्, सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः। यथाऽऽह दण्डी—'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसंधिभिः। सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम्'॥ इति॥

अथ कविः काव्यवर्णनीयाख्यानपूर्वकं सर्गपरिसमाप्तिं कथयति—इतीत्यादि। इतिशब्दः परिसमाप्तौ। भारविकृताविति कविनामकथनम्। महाकाव्य इति महच्छब्देन लक्षणसम्पत्तिः सूचिता। किरातार्जुनीय इति काव्यवर्णनीययोः कथनम्। प्रथमः सर्गः समाप्त इति शेषः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। किरातार्जुनावधिकृत्य कृतो ग्रन्थः किरातार्जुनीयम् 'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः' इति द्वन्द्वाच्छप्रत्ययः। राघवपाण्डवीयमितिवत्। तथा ह्यर्जुन एवात्र नायकः। किरातस्तु तदुत्कर्षाय प्रतिभटतया वर्णितः। यथाऽऽहदण्डी—'वंशवीर्यप्रतापादि वर्णयित्वा रिपोरपि

तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः' ॥ इति । अथायं संग्रहः—'नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजस्तस्योत्कर्षकृते त्ववर्ण्यततरां दिव्यः किरातः पुनः । शृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरः प्रधानो रसः शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम् ॥ इति ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां प्रथमः सर्गः समाप्तः ॥ १ ॥

सूर्य भगवान् जिस प्रकार भाग्य और समय के हेर-फेर से आतप के विनष्ट होने से निष्प्रभ तथा क्षीणरश्मि होकर सायंकाल को विपत्ति के सदृश (अपार) समुद्र में अस्त हो जाते हैं और पुनः दिन के आदिम भाग में शत्रुरूप अन्धकार को विनष्ट कर उदय होते हैं। उनकी दिनश्री पूर्ववत् उनका आलिङ्गन करने लग जाती है उसी प्रकार इस समय आप भी भाग्य और समय के कुचक्र में पड़कर प्रताप के नष्ट होने से अप्रसन्न हो गये हैं। आप अकिञ्चन (निर्धन) हो गये हैं। इदानीं आप विपत्ति के सागर में गोते खा रहे हैं। अन्धकार के सदृश शत्रुओं का नाश कर अपने भाग्योदय के प्रथम भाग में वर्तमान आपका राज्यश्री पुनः स्वागत करेगी ॥ ४६ ॥

इस प्रकार 'प्रकाश' व्याख्या में प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

विहितां प्रियया मनःप्रियामथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम् ।
उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदरः ॥ १ ॥

विहितामिति । अथ वृकोदरो भीमः प्रियया द्रौपद्या । प्रियाग्रहणमस्या हितोपदेशतात्पर्यसूचनार्थम् । विहिताम्, अभिहितामित्यर्थः । विपूर्वस्य दधातेः क्रियासामान्यवाचिनो योग्यविशेषपर्यवसानात् । मनःप्रियामभिमतार्थयोगान्मनोहरां, विशेषणद्वयेनापि गिरो ग्राह्यत्वमुक्तं, गिरं गरीयसीं सारवत्तरां निश्चित्य नृपं धर्मराजमुपपत्तिमद् युक्तियुक्तमूर्जिताश्रयमुदारार्थं वचनमूचे उक्तवान् । कर्तरि लिट् । ब्रुवो वचिरादेशः । 'ब्रुविशासि—'इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । 'अकथितं च' इति नृपस्य कर्मत्वम् ॥

तदनन्तर भीम ने प्रियतमा द्रौपदी के द्वारा उक्त वचन को हितोपदेशक तथा सारगर्भित मानकर युधिष्ठिर के समक्ष युक्तियुक्त तथा उदाराभिप्राय-पूर्ण वचनों में उसका समर्थन करते हुए कहा ॥ १ ॥

किं तद्वचनं तदाह—

यदवोचत वीक्ष्य मानिनी परितः स्नेहमयेन चक्षुषा।
अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचनं तद्विदधीत विस्मयम् ॥ २ ॥

यदिति। मानिनी क्षत्रियकुलाभिमानवती द्रौपदी स्नेहमयेन स्नेहप्रचुरेण। 'तत्प्रकृतवचने मयट्'। चक्षुषा ज्ञानचक्षुषा। एतेनाप्तत्वमुक्तम्। परितो वीक्ष्य समन्ततो विविच्य यद्वचनमवोचत। ब्रुवो वक्तेर्वा लुङ्। 'वच उम्' इत्युमागमः। वागधिपस्य बृहस्पतेरपि दुर्वचं वक्तुमशक्यम्। शेषे षष्ठीयं, न कृद्योगलक्षणा। अतो 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधो नास्ति। तद्वचनं विस्मयं विदधीत। सर्वस्यापीति शेषः। अथवा वागधिपस्यापि विस्मयं विदधीतेति सम्बन्धः। दुर्वचम्। केनापीति शेषः। यतः क्षणमपि शास्त्रमनुरुणद्धि हितं चानुबध्नाति। अतो विस्मयकरं ग्राह्यं चैतद्वचनमिति तात्पर्यार्थः ॥ २ ॥

कुल मर्य्यादा की पालिका श्रीमती (द्रौपदी) ने ज्ञानदृष्टि से प्रत्येक बातों पर ध्यान रख कर जो कुछ कहा है बृहस्पति भी उसे नहीं कह सकते, उसके वचन सबको आश्चर्य्य में डाल देते हैं अथवा जैसी बात श्रीमती ने कही है वैसी बात कोई भी कहने में समर्थ नहीं हो सकता, यहाँ तक कि देवगुरु भी आश्चर्यचकित हो गए हैं ॥ २ ॥

विस्मयकरत्वे हेतुमाह—

विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः ॥ ३ ॥

विषम इति। विषमोऽपि दुर्बोधोऽपि। अन्यत्र दुष्प्रवेशोऽपि। नयो नीतिशास्त्रम् पयसामाशयो ह्रद इव। कृततीर्थः कृताभ्यासाद्युपायः सन्। 'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु' इति विश्वः। अन्यत्र कृतजलावतारः सन्। 'तीर्थं योनौ जलावतारे च' इति हलायुधः। विगाह्यते गृह्यते प्रविश्यते च। किंतु तत्र नये जलाशये च स तादृशः पुरुषो विशेषदुर्लभोऽत्यन्तदुर्लभो यः कृत्यं संधिविग्रहादि कार्यं स्नानादिकं च तस्य वर्त्म सत् साधु देशकालाद्यविरुद्धं यथा तथा। अन्यत्र गर्तग्राहपाषाणादिरहितम्। यथा तथोपन्यस्यत्युदाहरति। 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्। उपोद्घात उदाहारः' इत्यमरः। यथा केनचित्कृततीर्थे पयसि गम्भीरेऽपि प्रवेष्टारः सन्ति। तीर्थकरस्तु विरलः। तद्वन्नीतावपि गूढमपि तत्त्वं वक्तरि सति बोद्धारः सन्ति, वक्ता तु न सुलभः। अत इयमपठिताऽपि साधु वक्तीति युज्यते विस्मय इत्यर्थः ॥३॥

नीति शास्त्र बड़ा गहन है। जिस तरह दुर्गम जलाशय में तैरने का अभ्यास कर लेने पर अथवा सीढ़ियों के बन जाने के बाद प्रवेश करना सुगम होता है, परन्तु उस गम्भीर जलाशय में खड्ड, पत्थर और ग्राहादिकों का निदर्शनकारी तथा सोपान-निर्माण-दक्ष पुरुष

बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं; उसी तरह इसमें (नीति शास्त्र में) गुरुओं से शास्त्रों का अध्ययन करके भली भाँति प्रवेश हो सकता है, परन्तु ऐसा पुरुष—जो सन्धि, विग्रह, यान द्वैधीभावादि कार्य का पथप्रदर्शक हो—विरल होता है। तात्पर्य यह कि शास्त्रादि का अध्ययन और अभ्यास करके नीति शास्त्र का रहस्य सरलतापूर्वक उद्घाटन किया जा सकता है, परन्तु, महारानी ने जो यह विषय आपके समक्ष उपस्थित किया है, बिल्कुल आश्चर्यकर है॥ ३॥

अथ ग्राह्यत्वे हेतुमाह—

परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन्वचसि क्षतौजसाम्।
अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः॥ ४॥

परिणामेति। परिणामः फलकालः परिपाकावस्था च। तत्र सुखे हिते। 'शस्तं चाथ त्रिषु द्रव्ये पापं पुण्यं सुखादि च' इति सुखशब्दस्य विशेष्यलिङ्गत्वम्। गरीयसि भूयिष्ठे श्रेष्ठे च। क्षतौजसामुभयत्रापि क्षीणशक्तीनां व्यथके युद्धोपोद्बलकत्वाद्भयङ्करे। अन्यत्रादौ संशयादिदुःखजनके। अल्पीयस्यल्पाक्षरेऽल्पमात्रे च। उक्तं च—'स्वल्पा च मात्रा बहुलो गुणश्च' इति। अस्मिन्वचसि द्रौपदीवाक्ये। अतिवीर्यवत्यत्यन्तसामर्थ्यवति भेषज औषध इव। 'भेषजौषधभैषज्यम्' इत्यमरः। बहुरनेको गुणो मानत्राणराज्यलाभादिरारोग्यबलपोषादिश्च दृश्यते। अतो ग्राह्यमस्या वचनमिति भावः॥

परिणाम में लाभप्रद, श्रेष्ठ, क्षीणबल रोगियों को पाचन शक्ति की न्यूनता के कारण कष्टप्रद और उत्तम रासायनिक अल्प मात्रा की ओषधि में जिस प्रकार आरोग्य, बल, पोषणादिरूप अनेक प्रकार के गुण दिखलाई पड़ते हैं; उसी तरह श्रीमती के द्वारा कही गई वाणी में जो परिणाम में हितकर, सारगर्भित, क्षीण-शक्ति व्यक्तियों के लिये सन्तापकारिणी, अत्यन्त ओजस्विनी और अल्पाक्षरा है, इसमें मर्य्यादा की रक्षा, राज्य-लाभादि अनेक प्रकार के गुण पाये जाते हैं॥ ४॥

सत्यमेवं तथाऽपि मह्यं न रोचते किं करोमीत्यत्राह—

इयमिष्टगुणाय रोचतां रुचिरार्था भवतेऽपि भारती।
ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः॥ ५॥

इयमिति। रुचिरार्था महितार्थसम्पन्नेति रुचिहेतूक्तिः। इयं भारती द्रौपदीवाक्यमिष्टगुणाय, गुणग्राहिण इत्यर्थः। भवते तुभ्यमपि। 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। रोचतां स्वदताम्। विध्यर्थे लोट्। हितवचने बलादपीच्छां कुर्यादौषधवदिति भावः। तथाऽपि स्त्रैणे वचसि का श्रद्धा तत्राह—नन्विति। गुणानां गृह्या गुणगृह्याः, गुणपक्षपातिन इत्यर्थः। 'पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च' इति ग्रहेः क्यप्। विपश्चितो विद्वांसः। 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः' इत्यमरः। वचने विषये वक्तृविशेषे

स्त्रीपुंसादिलक्षणे निःस्पृहा ननु निरास्थाः खलु। 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्' इति न्यायादिति भावः ॥ ५ ॥

ये श्रीमती (द्रौपदी) के कहे हुये सुन्दर अभिप्रायपूर्ण वाक्य आप को अच्छे लगने चाहिये, आप गुणग्राही हैं। यदि आप कहें कि स्त्री की बात नहीं सुननी चाहिये तो इसकी बात जाने दीजिये। विद्वान् लोग केवल वाक्य के गुणों को ग्रहण कर लेते हैं और यह ध्यान में भी नहीं लाते कि वक्ता स्त्री है या पुरुष ॥ ५ ॥

सम्प्रति स्वयमुपालभते—

चतसृष्वपि ते विवेकिनी नृप ! विद्यासु निरूढिमागता।
कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी पङ्कमिवावसीदति ॥ ६ ॥

चतसृष्विति। हे नृप ! चतसृष्वपि विद्यास्वान्वीक्षिक्यादिषु। 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती। विद्याश्चैताश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः' इति कामन्दकः। निरूढिमागता प्रसिद्धिं गता। अत एव विवेकिनी सदसद्विवेकवती। यथाऽऽह मनुः—'आन्वीक्षिक्यां तु विज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ। अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ॥' इति। ते मतिः कथं करिणी पङ्कमिव विपर्ययं वैपरीत्यमविवेकरूपमेत्यावसीदति नश्यति, तन्न युक्तमिति भावः ॥ ६ ॥

लोक की संस्थापना के लिये आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये चार तरह की विद्यायें हैं उनमें आपकी बुद्धि सत् और असत् की विवेचना करती हुई ख्याति प्राप्त कर चुकी है। फिर क्या कारण है कि वही बुद्धि विचारविपर्य्यय को प्राप्त होकर दलदल में फँसी हुई हथिनी की भाँति कराह रही है ॥ ६ ॥

किं नश्छिन्नमिदानीं येनेत्थमुपालभ्येमहीत्यत्राह—

विधुरं किमतः परं परैरवगीतां गमिते दशामिमाम्।
अवसीदति यत्सुरैरपि त्वयि सम्भावितवृत्ति पौरुषम् ॥ ७ ॥

विधुरमिति। त्वयि परैः शत्रुभिरिमामीदृशीमवगीतां गर्हिताम्। 'अवगीतं तु निर्वादे मुहुर्दृष्टे च गर्हिते' इति विश्वः। दशां गमिते प्रापिते सति। सुरैरपि संभावितवृत्ति बहुकृतसारम्। अथवा निश्चितसद्भावम्। पौरुषं पुरुषकारः। युवादित्वादण्प्रत्ययः। अवसीदति नश्यतीति यत्। अतः परम् अतोऽन्यदधिकं किं विधुरं किं कष्टम्। न किञ्चिदित्यर्थः। 'विधुरं प्रत्यवाये स्यात्कष्टविश्लेषयोरपि' इति वैजयन्ती। अस्तीति शेषः। 'अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्ति' इति भाष्यकारः। भवन्तीति लटः पूर्वाचार्याणां संज्ञा। यद्वा—पुरुषाधिकारस्य दुर्दशा सा च शत्रुकृता। तदुपरि महत्कष्टं तच्च त्वदुपेक्षयेत्युपालभ्यः स इत्यर्थः ॥ ७ ॥

शत्रुओं के द्वारा आपके इस अवस्था को प्राप्त होने पर (आपका) पुरुषार्थ, जिसकी प्रशंसा देवता लोग मुक्तकण्ठ से करते हैं, विफल हो रहा है; इससे बढ़कर कष्ट और क्या हो सकता है ? ॥ ७ ॥

अथोपेक्षाकालत्वादियमुपेक्षेत्याशङ्क्य नायमुपेक्षाकाल इति वक्तुं तदेव तावच्छ्लोकद्वयेन विविनक्ति—

द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरः सुमर्षणः ।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः ॥ ८ ॥

द्विषतामिति । भूतिमुदयमिच्छता । शोभना मेधा यस्य तेन सुमेधसा सुधिया । 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' इत्यसिच्प्रत्ययः । गुरुर्महानप्यस्वन्ततरोऽत्यन्तदुरन्तः । क्षयोन्मुख इत्यर्थः । द्विषतामुदयो वृद्धिः । सुखेन मृष्यत इति सुमर्षणः सुसहः । उपेक्ष्य इत्यर्थः । स्वन्तश्चेत् दुर्मर्षण इति भावः । 'भाषायां शासि—'इत्यादिना खलर्थे युच्प्रत्ययः । महानपि फलसम्पत्प्रवणः फलसम्पदुन्मुखः । 'प्रनिरन्तर—' इत्यादिना णत्वम् । परिक्षयो न सुमर्षणः, नोपेक्ष्य इत्यर्थः । अन्यथा तूपेक्ष्य इति भावः । न ह्युदय एव प्रतीकार्यो न च क्षय इत्येवोपेक्ष्यः । किन्तु स्वन्तत्वास्वन्तत्वाभ्यामुभावपि प्रतीकार्यावुपेक्ष्यौ च भवत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

ऐश्वर्य्य की कामना वाले मेधावी (बुद्धिमान्) पुरुष शत्रु के महान् अभ्युदय की जो क्रमशः अवनति को प्राप्त होने वाला है, उपेक्षा कर देते हैं; किन्तु यदि वह (शत्रु) महान् अभ्युदय की तरफ अग्रसर होता हो और वर्तमान परिस्थिति में भले ही अवनति में पड़ा हो तो कदापि उपेक्ष्य नहीं ॥ ८ ॥

अथोभयोरपि मध्य एकतरस्योदयक्षययोर्गतिमुक्त्वेदानीं युगपत्परिक्षयागमे गतिमाह—

अचिरेण परस्य भूयसीं विपरीतां विगणय्य चात्मनः ।
क्षययुक्तिमुपेक्षते कृती कुरुते तत्प्रतिकारमन्यथा ॥ ९ ॥

अचिरेणेति । कृतमनेनेति कृती । कुशल इत्यर्थः । 'इष्टादिभ्यश्च' इतीनिप्रत्ययः परस्य शत्रोः क्षययुक्तिं क्षययोगमचिरेणाशुभाविनीं भूयसीं दुरन्तां च, तथाऽऽत्मनः क्षययुक्तिं विपरीतां चिरभाविनीमल्पीयसीं च विगणय्य विचार्य । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशः । उपेक्षते । अन्यथोक्तवैपरीत्ये । परस्य क्षययुक्तावल्पीयस्यां, स्वस्य भूयस्यां च सत्यामित्यर्थः । तत्प्रतिकारं तस्याः क्षययुक्तेः प्रतिकारमचिरेणाशु कुरुते । एवं सति यदा शत्रोरभ्युदयः स्वस्य चातिपरिक्षयो यथाऽस्माकं, तदा किं वक्तव्यम् । सद्यः प्रतिकुरुत इत्यर्थात्सिद्धमनुसन्धेयम् ॥ ९ ॥

चतुर व्यक्ति, शत्रु की विपत्ति प्रचुर परिमाण में आशुभाविनी और अपनी चिरकाल में

अल्प आनेवाली समझ उपेक्षा कर देते हैं, इसके विपरीत अर्थात् शत्रु की अधिक समय में कम और अपनी अल्पकाल में अधिक होने वाली विपत्ति को समझ कर उसकी उपेक्षा नहीं करते, किन्तु प्रतिकार करने के लिये तैय्यार हो जाते है ॥ ९ ॥

तथाऽप्युपेक्षायामनिष्टमाचष्टे—

अनुपालयतामुदेष्यतीं प्रभुशक्तिं द्विषतामनीहता।
अपयान्त्यचिरान्महीभुजां जननिर्वादभयादिव श्रियः ॥ १० ॥

अनुपालयतामिति। उदेष्यतीं वर्द्धिष्यमाणाम्। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः। द्विषतां प्रभुशक्तिं कोशदण्डजं तेजः। 'स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः। अनीहयाऽनुत्साहेनानुपालयतामुपेक्षमाणानां महीभुजां श्रियः सम्पदो जननिर्वादभयान्निकृष्टपुरुषानुरागोत्थलोकापवादभयादिवेति हेतूत्प्रेक्षा। अचिरादपयान्त्यपसरन्ति। यथाऽऽह कामन्दकः—'स्त्रीभिः षण्ढ इव श्रीभिरलसः परिभूयते' इति। अतः पराक्रमितव्यमित्यर्थः ॥ १० ॥

जो राजन्यवर्ग अनुत्साहपूर्वक, शत्रुओं की क्रमशः वर्धिष्णु, राजकीय शक्तियों की उपेक्षा करते हैं, ऐसे राजाओं की राज्यश्री शीघ्र ही उनसे अलग हो जाती है, मानो उसने लोकापवाद के भय से ऐसा किया है ॥ १० ॥

ननु परिक्षीणः कथं प्रलयेनाभियुज्यत इत्यत्राह—

क्षययुक्तमपि स्वभावजं दधतं धाम शिवं समृद्धये।
प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम् ॥ ११ ॥

क्षयेति। क्षययुक्तमपि तथा क्षीणमपि सन्तं स्वभावजं सहजं शिवं सर्वलोकाह्लादकं धाम क्षात्रं तेज प्रकाशं च दधतं समृद्धये वृद्ध्यर्थमुत्थितमुद्युक्तम्। वर्द्धिष्णुमित्यर्थः। नृपं। प्रजाः। प्रतिपच्चन्द्रं द्वितीयाचन्द्रमिवेत्यर्थः। प्रतिपच्छब्देन द्वितीयाग्रहणम्, प्रतिपदि तस्यादृश्यत्वादिति। प्रणमन्ति। प्रह्वीभावेन वर्त्तन्ते इति भावः। चन्द्रं तु नमस्कुर्वन्ति। क्षीणस्याप्युत्साहः कार्यसिद्धेर्निदानमित्यर्थः। 'जयं हि सततोत्साही दुर्बलोऽपि समश्नुते' इति कामन्दकः ॥ ११ ॥

जिस तरह लोग निसर्गज नेत्रानन्दकर तेजके धारी, उत्तरोत्तर वर्धिष्यमाण द्वितीया के चन्द्रमा को क्षीण होने पर भी नमस्कार करते हैं (पूर्णिमा के चन्द्र को पूर्ण होने पर भी वैसे नमस्कार नहीं करते), उसी तरह स्वभावतः प्रजा के कल्याणकारक तेज के धारी क्षीणबल, उत्तरोत्तर शक्तिसञ्चयकारी उत्साही राजा का अभिवादन करते हैं। तात्पर्य्य यह कि यदि दुर्बल हो पर उत्साही हो तो जनता उसका स्वागत करती है और वह विजयी होता है ॥ ११ ॥

ननु प्रभुशक्तिशून्यस्योत्साहः कुत्रोपयुज्यत इत्यत्राह—

प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नयः ।
स विधेयपदेषु दक्षतां नियतिं लोक इवानुरुध्यते ॥ १२ ॥

प्रभव इति । कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पद्, देशकालविभागो, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गानि । यथाऽऽह कामन्दकः—सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः । विनिपातप्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते' ॥ इति । पञ्चानामङ्गानां विनिर्णयः पञ्चाङ्गनिर्णयः । 'तद्धितार्थ—'इत्यादिनोत्तरपदसमासः । कृतः पञ्चाङ्गविनिर्णयो यस्य येन वा स तथोक्तः । नयो नीतिः । मन्त्र इति यावद् । कोशोऽर्थराशिः । 'कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधानेऽर्थौघदिव्ययोः' इत्यमरः । दण्डश्चतुरङ्गसैन्यम् । 'दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञां हिंसायां लगुडे यमे । यात्राऽऽज्ञायां सैन्यभेदे' इति वैजयन्ती । तयोः कोशदण्डयोः । प्रभुशक्तेरित्यर्थः । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम् । ऋदोरप् । स नयो विधेयपदेषु कार्यवस्तुषु । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । दक्षतां क्षिप्रकारित्वम् । उत्साहमित्यर्थः । लोकः कृष्यादिप्रवृत्तो जनः । नियतिं दैवमिव । 'नियतिर्नियमे दैवे' इति विश्वः । अनुरुध्यते अनुसरति । रुधेर्दैवादिकात्कर्त्तरि लट् । 'मंत्रस्यापि मूलमुत्साहस्तन्मूलायाः प्रभुशक्तेर्मूलमिति किमु वक्तव्यम् । अतः स एवाश्रयणीयः । यतो नक्तंदिवं मन्त्रयतस्तस्यापि प्रभोर्निरुत्साहस्य न किञ्चित्सिद्धयतीति ॥ १२ ॥

कार्यसिद्धि के पाँच अङ्ग हैं—(१) सहायक, (२) कार्य-साधन के उपाय, (३) देश-विभाग, (४) काल-विभाग और (५) विपत्तिप्रतिकार । सिद्धि के पाँचों अङ्गों का निर्णय करने वाली, प्रभुशक्ति की उत्पादिका नीति कृषकों को दैवानुसरण की भाँति उत्साह की अपेक्षा करती है अर्थात् उत्साह के विना कोई सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १२ ॥

ननु नोत्साहस्यासहायस्य कथमर्थसिद्धिरित्यत्राह—

अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षतः ।
विनिपातनिवर्त्तनक्षमं मतमालम्बनमात्मपौरुषम् ॥ १३ ॥

अभिमानवत इति । अभिमानवतो मानधनस्य प्रियमिष्टमुच्चैरुन्नतं पदं स्थानं राज्यादिकमारुरुक्षत आरोढुमिच्छतः प्राप्तुकामस्य मनस्विनो धीरस्यात्मपौरुषं स्वपुरुषकार एव विनिपातनिवर्त्तनक्षममनर्थप्रतीकारसमर्थमालम्बनं सहकारि मतमिष्टम् । यथा कस्यचितुङ्गमारोहतः किञ्चित्पतनप्रतिबन्धकमनुचरहस्तादिकमालम्बनं तद्वदिति ध्वनिः । किं पौरुषादन्यैः सहायैः शूराणामिति भावः ॥ १३ ॥

उन्नत पद पर आरोहण करने के लिये इच्छुक, मानशाली धीर पुरुष, आपत्ति-निवारण

करने में समर्थ अपने पुरुषार्थ का आश्रय लेना उचित मानते हैं। शूरवीरों का पुरुषार्थ ही सच्चा सहायक है ॥ १३ ॥

पौरुषानङ्गीकारे दोषमाह—

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः ।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ॥ १४ ॥

विपद इति । अविक्रमं पौरुषहीनं विपदोऽभिभवन्त्याक्रामन्ति । आपदुपेतं विपन्नमायतिरुत्तरकालः । 'उत्तरः काल आयतिः' इत्यमरः । रहयति त्यजति । निरायतेः आसन्नक्षयस्येत्यर्थः । लघुताऽगौरवं नियताऽवश्यम्भाविनी । न किञ्चिदेनमाद्रियत इत्यर्थः । अगरीयांल्लघीयान्नृपश्रियो राजलक्ष्म्याः पदमास्पदं न भवति । यद्वा—नृपेति पदच्छेदः । तस्मात्पौरुषं कर्त्तव्यमेवेत्यर्थः । अत्र पूर्वपूर्वस्याविक्रमत्वादेरुत्तरोत्तरविपदादिकं प्रति कारणत्वात् कारणमालाऽऽख्योऽलङ्कारः । तथा च सूत्रम्—पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला ॥ १४ ॥

पुरुषार्थ से हीन पुरुष को विपत्तियाँ आक्रान्त कर लेती हैं। विपत्तियों से आक्रान्त होने पर उसकी भाविनी उन्नति रुक जाती है। फिर उसका गौरव नष्ट हो जाता है। गौरव नष्ट होने पर राजश्री के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता, जिसका वह आश्रय ले सके ॥ १४ ॥

फलितमाह—

तदलं प्रतिपक्षमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम् ।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः ॥ १५ ॥

तदिति । तत्तस्माद्, उपेक्षायां दोषसम्भवादित्यर्थः । उन्नतेरभ्युदयस्य प्रतिपक्षमन्तरायं व्यवसायवन्ध्यतामुद्योगशून्यतामवलम्ब्यालम्, अवलम्बनेनालमित्यर्थः । 'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इति क्त्वाप्रत्ययः । तस्य ल्यबादेशः । तथा हि । पराक्रम आश्रयः कारणं यासां तास्तथोक्ताः समृद्धयः सम्पदो विषादेन सममनुत्साहेन सह न निवसन्ति । पौरुषसाध्याः सम्पदो नानुत्साहसाध्याः । उभयोः सहावस्थानविरोधादित्यर्थः । वैधर्म्येण कार्यकारणरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १५ ॥

उन्नति के पथ में बाधक अनुत्साह का अवलम्बन करके पड़े रहना ठीक नहीं, क्योंकि समृद्धियाँ पराक्रमशाली (उत्साही) पुरुष का आश्रय लेती हैं और अनुत्साही का परित्याग कर देती हैं ॥ १५ ॥

ननु समयः प्रतीक्ष्यते, किं वेगेनेत्यत्राह—

अत्र चेदवधिः प्रतीक्ष्यते कथमाविष्कृतजिह्मवृत्तिना ।
धृतराष्ट्रसुतेन सुत्यजाश्चिरमास्वाद्य नरेन्द्रसम्पदः ॥ १६ ॥

अथेति । अथावधिः कालः प्रतीक्ष्यते चेद् । 'अवधिस्त्ववधाने स्यात्सीम्नि काले बिलेऽपि च' इति विश्वः । आविष्कृतजिह्मवृत्तिना प्रकटितकपटव्यवहारेण धृतराष्ट्रसुतेन दुर्योधनेन नरेन्द्रसम्पदो राज्यसम्पदः । नरेन्द्रेति वा पदच्छेदः । चिरं त्रयोदशवर्षाण्यास्वाद्यानुभूय कथं सुत्यजाः । ज्ञातास्वादेन तेन पश्चादपि सुखेन युद्धक्लेशं विना न त्यक्ष्यन्त एवेत्यवधिप्रतीक्षणं व्यर्थमित्यर्थः ॥ १६ ॥

यदि आप तेरह वर्ष की अवधि की प्रतीक्षा करते हैं तो (आप स्वयं समझिये धृतराष्ट्रपुत्र सुयोधन जो प्रत्यक्ष कपट का व्यवहार करता है) वह अधिक काल पर्य्यन्त राज-लक्ष्मी का उपभोग कर क्यों कर उसमे पृथक् हो सकता है ॥ १६ ॥

अथवा तदा दैववशात्स्वयमेव सम्पदो दास्यति चेत्तथाऽपि तत्कथं रोचयेमहीत्याह—

द्विषतां विहितं त्वयाऽथवा यदि लब्धा पुनरात्मनः पदम् ।
जननाथ ! तवानुजन्मनां कृतमाविष्कृतपौरुषैर्भुजैः ॥ १७ ॥

द्विषतेति । अथवा द्विषता विहितं पुनः प्रत्यर्पितमात्मनः पद राज्यं त्वया लब्धा लप्स्यते यदि । लभेः कर्मणि लुट् । हे जननाथ ! तवानुजन्मनामनुजानामाविष्कृतपौरुषैः प्रकटितपराक्रमैर्भुजैः कृतमलम् । अस्मद्भुजैर्न किञ्चित्साध्यमीत्यर्थः । राज्यदानादानयोर्द्विषतामेव स्वातन्त्र्येऽस्मद्भुजवैफल्यात् । 'क्षत्रियस्य विजेतव्यम्' इति शास्त्रात्क्षात्रेणैव राज्यं ग्राह्यमिति भावः । कृतमिति प्रतिषेधार्थमव्ययं चादिषु पठ्यते । 'कृतमिति निवारणनिषेधयोः' इति गणव्याख्याने । भुजैरिति गम्यमानसाधनक्रियाऽपेक्षया करणत्वात्तृतीया । उक्तं च न्यासोद्द्योते—'न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं कारकभावस्यापि तु गम्यमानाऽपि' इति ॥ १७ ॥

प्रजानाथ ! यदि शत्रु पुनः राज्य लौटा दे और वह आपके करतल में हो जाय तो आपके भाइयों की पराक्रमशाली भुजायें फिर कब और कहाँ सफल होंगी ॥ १७ ॥

ननु साम्नैव कार्यसिद्धौ किं क्षात्रेण । यथाऽऽह मनुः—'साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् । विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन' ॥ इति । तत्किमाग्रहेणेत्याशङ्क्याह—

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्त्तयते स्वयं हतैः ।
लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥ १८ ॥

मदेति । मृगाधिपः सिंहो मदसिक्तमुखैः, मदवर्षिभिरित्यर्थः । स्वयं स्वेनैव हतैः करिभिर्वर्त्तयते वृत्तिं करोति । तैरेव जीवतीत्यर्थः । चौरादिकाद् वृत्तेर्लट् । भौवादिकस्य तु 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' इति परस्मैपदनियमादिति । तथाहि—तेजसा प्रभावेण । 'तेजो बले प्रभावे च ज्योतिष्यर्चिषि रेतसि' इति वैजयन्ती । जगल्लघयं

ल्लघूकुर्वन्महांस्तेजस्व्यन्यतोऽन्यस्मात्पुरुषाद् भूतिं वृद्धि नेच्छति खलु। नहि तेजस्विनः परायत्तवृत्तित्वं युक्तम्। मनुवचनं त्वशूरविषयमिति भावः। विशेषेण वक्ष्यमाण-सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ १८॥

जैसे मृगेन्द्र (सिंह) अपने मारे हुये मदस्रावी दन्तियों (हाथियों) के द्वारा अपना आहार सम्पादन (निर्वर्तन) करता हैं, उसी तरह महान् व्यक्ति संसार को अपने प्रताप से अभिभूत करता हुआ किसी अन्य की सहायता से अपने अभ्युदय की अभिलाषा नहीं करता॥ १८॥

ननु युद्धात्पाक्षिको लाभः, उपायान्तरैस्तु न तथेत्याशङ्क्याह—

अभिमानधनस्य गत्वरैरसुभिः स्थास्नु यशश्चिचीषतः।
अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम्॥ १९॥

अभिमानेति। अभिमानधनस्य वैरनिर्यातनमात्रनिष्ठस्य। अत एव गत्वरैर्गमनशीलैरस्थिरैः। 'गत्वरश्च' इति क्वरबन्तो निपातः। असुभिः प्राणैः। करणः। 'पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः' इत्यमरः। स्थास्नु स्थिरम्। 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' इति ग्स्नुप्रत्ययः। यशश्चिचीषतश्चेतुं संग्रहीतुमिच्छतः। चिनोतेः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः। अचिरमंशवो यस्याः साऽचिरांशुर्विद्युत्तस्या विलासः स्फुरणं तद्वच्चञ्चला, क्षणिकेत्यर्थः। लक्ष्मीः सम्पद्, अनुषङ्गादागतमानुषङ्गिकमन्वाचयशिष्टमल्पं फलम्। मानत्राणजं यश एव मुख्यं फलमभ्युच्चयस्तु लक्ष्मीरिति मानिनामिदमेव श्लाघ्यमित्यर्थः। अत्रास्थिरप्राणत्यागेन स्थिरयशःस्वीकाराभिधानान्न्यूनाधिकविनिमयाख्यः परिवृत्त्यलङ्कारः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः' इति॥ १९॥

जाति, कुल और मर्य्यादा की रक्षा को अपना सर्वस्व मानने वाले पुरुष अस्थिर प्राणों के द्वारा स्थायी यश के एकत्रीकरण की इच्छा करते हैं, कदाचित् उसके साथ-साथ विद्युल्लता के परिस्फुरण सदृश चपल लक्ष्मी भी प्राप्त हो जाय तो वह उनके लिये आनुषङ्गिक फल है अर्थात् उनका लक्ष्य तो यश है। यदि लक्ष्मी भी मिल जाती है तो क्या कहना॥ १९॥

नन्वल्पस्य मानस्य हेतोः कथं प्राणत्यागः शक्यते कर्त्तुं, यतः—'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येद्' इत्याशङ्क्याह—

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः॥ २०॥

ज्वलितमिति। जनो भस्मनां चयं पुञ्जमास्कन्दति पादादिनाऽऽक्रामति। अदाहकत्वादिति भावः। ज्वलन्तम्। कर्त्तरि क्तः। 'मतिबुद्धि—' इत्यादिसूत्रे चकाराद्वर्त्तमानार्थत्वम्। हिरण्यं रेतो यस्य तं हिरण्यरेतसमग्निं नास्कन्दति। दाहकत्वादिति भावः। अतो हेतोर्मानिनोऽभिभूतिभयात्प्राणलाभेन तेजस्त्यागे परिभवो भविष्यतीति भयाद-

सूनेव सुखमक्लिष्टमुज्झन्ति । मानहानिकराज्जीवनात्स्वतेजसा मरणमेव वरमित्यर्थः । पूर्वतरश्लोकवदर्थान्तरन्यासः ॥ २० ॥

लोग राख के ढेर को पदाक्रान्त करते हैं; परन्तु जाज्वल्यमान अग्नि को पदाक्रान्त नहीं करते । मानी मानहानि की आशङ्का से सुखपूर्वक प्राण विसर्जित कर देते हैं, पर अपनी मान-मर्य्यादा तथा तेज को धक्का नहीं लगने देते ॥ २० ॥

अथवा किमत्र प्रयोजनचिन्तया, किन्तु तेजस्विनामयं स्वभाव एव यज्जिगीषुत्व-मित्याशयेनाह—

किमपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः ।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया ॥ २१ ॥

किमिति । मृगाधिपः सिंहः किं फलं प्रयोजनमपेक्ष्य ध्वनतो गर्जतः । धरन्तीति धराः । पचाद्यच् । पयसां धरास्तान्पयोधरान्मेघान्प्रार्थयतेऽभियाति, 'याच्ञायामभि-याने च प्रार्थना कथ्यते बुधैः' इति केशवः । यद्वा—अवरुणद्धीत्यर्थः । प्रा अर्थयते । 'प्रा स्याद् याच्ञावरोधयोः' इत्यभिधानात्प्रा अवरोधेन । प्रा इति तृतीयान्तस्य प्रा शब्दस्य योगविभागाद् 'आतो धातोः' इत्यालोपः । तथा हि—महीयसो महत्त-रस्य सा प्रकृतिः खलु यया प्रकृत्याऽन्यसमुन्नतिं न सहते । महतः परभञ्जनमेव पुरुषार्थं इत्यर्थः । पूर्ववदलङ्कारः ॥ २१ ॥

सिंह किस फल की आशा से गरजते मेघों को देख ऊपर को उछलता है, बड़े लोगों का यह स्वभाव ही हैं जिसके कारण किसी के अभ्युदय को वे सहन नहीं कर सकते ॥ २१ ॥

सम्प्रत्युक्तप्रयोजनं निगमयति—उक्तार्थोपसंहरणं निगम उच्यते—

कुरु तन्मतिमेव विक्रमे नृप ! निर्धूय तमः प्रमादजम् ।
ध्रुवमेतदवेहि विद्विषां त्वदनुत्साहहता विपत्तयः ॥ २२ ॥

कुरु तदिति । हे नृप ! तत्तस्मादुक्तरीत्या पराक्रमोत्साहयोर्हेतुत्वाद्धेतोः, 'यत्तद्यतस्ततो हेतौ' इत्यमरः । प्रमादजं तमो मोहं निर्धूय निरस्य विक्रमे पौरुषे एव मतिं कुरु, न तूपायान्तरमित्यर्थः । न च विक्रमवैफल्यशङ्का कार्येत्याह—ध्रुव-मिति । विद्विषां विपत्तयस्त्वदनुत्साहहतास्तवानुत्साहेनाव्यवसायेन हताः प्रतिबद्धाः । अन्यथा प्रागेव विपद्येरन्निति भावः । इत्येतद् ध्रुवं निश्चितमवेहि विद्धि । 'ध्रुवं नित्ये निश्चिते च' इति शाश्वतः ॥ २२ ॥

उत्साह और पराक्रम ही प्रधान है; अतः हे महाराज, अनवधानता के अन्धकार को मार भगाइये, पराक्रमावलम्बी होने का विचार कीजिये । इस बात को अटल मानिये कि शत्रुओं की विपत्ति केवल आपके अनुत्साह के कारण दूर है, अगर आप उत्साही हो जाँय तो शत्रु शीघ्र ही विपद्ग्रस्त हो जाँय ॥ २२ ॥

न च नः पराजयशङ्का कार्येत्याह—

द्विरदानिव दिग्विभावितांश्चतुरस्तोयनिधीनिवायतः ।
प्रसहेत रणे तवानुजान् द्विषतां कः शतमन्युतेजसः ॥ २३ ॥

द्विरदानिति । दिग्विभावितान्दिक्षु प्रसिद्धांस्तानायत आगच्छतः । आङ्पूर्वादिण्धातोः शतृप्रत्ययः । चतुरो द्विरदान्दिग्गजानिव, तथोक्तविशेषणांश्चतुरस्तोयनिधीनिव, रण आयतो दिग्विभाविताञ्छतमन्युतेजस इन्द्रविक्रमांश्चतुरस्तवानुजान्द्विषतां मध्ये कः प्रसहेत । सोढुं शक्नुयादित्यर्थः । 'शकि लिङ् च' इति शक्यार्थे लिङ् । अतो निःशङ्कं प्रवर्त्तस्वेति भावः ॥ २३ ॥

(यदि आप कहे कि ऐसा करने में पराजय की आशङ्का है तो कदापि नहीं—) सम्पूर्ण दिशाओं में विदित, मतङ्गजों और चारों समुद्रों की भाँति, समराङ्गण की ओर प्रस्थान करते हुये इन्द्र के सदृश पराक्रमशाली आपके कनिष्ठ भ्राताओं के पराक्रम को, शत्रुओं में ऐसा कौन है जो सह सकता है ? ॥ २३ ॥

आशीर्वादव्याजेन फलितमाह—

ज्वलतस्तव जातवेदसः सततं वैरिकृतस्य चेतसि ।
विदधातु शमं शिवेतरा रिपुनारीनयनाम्बुसन्ततिः ॥ २४ ॥

ज्वलत इति । तव चेतसि, सततं ज्वलतो वैरिकृतस्य जातवेदसः । क्रोधाग्नेरित्यर्थः । शिवेतराऽशिवाऽमङ्गला । वैधव्यदुःखजनकत्वादिति भावः । रिपुनारीनयनाम्बुसन्ततिर्वैरिवनिताऽश्रुप्रवाहः शमं विदधातु । वैरिकृतस्य क्रोधस्य वैरिवधमन्तरेण शान्त्यसम्भवादवश्यं तद्वधस्त्वया कर्त्तव्य इत्यर्थः । क्रोधस्य विषयस्य निगरणेन विषयिणो जातवेदस एवोपनिबन्धादतिशयोक्तिरलङ्कारः । तदुक्तं—'विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते । यत्र साऽतिशयोक्तिः स्यात्कवेः प्रौढोक्तिजीविता' ॥ इति । तत्रापि क्रोधस्य जातवेदसो भेदेऽप्यभेदाध्यवसायाद् भेदेऽभेदरूपा । तत एवाम्बुनिर्वाप्यत्वोक्तिश्च घटते । तथा च—यथाऽम्बुसेकेनाग्निः शाम्यति तथा शत्रुवधेन क्रोध इत्यौपम्यं गम्यते ॥ २४ ॥

शत्रु के कारण आपके अन्तःकरण में सतत जाज्वल्यमान क्रोधाग्नि को, अमङ्गलसूचक रिपुरमणियों के नेत्र की अश्रुधारा शमन करे अर्थात् आपके शत्रु मारे जाँय, उनकी विधवा स्त्रियाँ उनके वियोग में करुण रुदन करें, जिससे आपके हृदय की ज्वाला शान्त हो ॥ २४ ॥

इति दर्शितविक्रियं सुतं मरुतः कोपपरीतमानसम् ।
उपसान्त्वयितुं महीपतिर्द्विरदं दुष्टमिवोपचक्रमे ॥ २५ ॥

इतीति । इत्युक्तरीत्या दर्शिता विक्रिया विकारो वागारम्भात्मको येन तं कोप-

परीतमानसं कोपाक्रान्तचित्तम् । इदं विशेषद्वयं द्विरदेऽपि योज्यम् । मरुतः सुतं भीमं महीपतिर्युधिष्ठिरो दुष्टं द्विरदमिव । एतेन भीमस्य शौर्यमेव, न बुद्धिरस्तीति गम्यते । उपसान्त्वयितुमनुनेतुमुपचक्रमे प्रवृत्तः 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' इत्यात्मनेपदम् । राज्ञा तावदुपकारविशेषापेक्षया कथञ्चिदवशो जनः शनैः शनैर्द्विरदवद्वशीकरणीया, न तु त्याज्य इति भावः ॥ २५ ॥

भूपति (युधिष्ठिर), उपर्युक्त प्रकार के विकारोत्पादनकर्ता क्रोध से आक्रान्तचित्त, वायुनन्दन भीमसेन को, दुष्ट मतवाले दन्ती (हाथी) की तरह वश में करने का प्रयत्न करने लगे ॥ २५ ॥

प्रथमं तावत्स्तुत्यादिभिः प्रसादयति—

अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे ।
विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते ॥ २६ ॥

अपवर्जितेति । विप्लवः प्रमाणबाधः । अन्यत्र बाह्यमलसंक्रमः सोऽपवर्जितो यस्य तस्मिन्नपवर्जितविप्लवे । शुचौ । सौशब्द्यं लोहशुद्धिश्च शुचित्वम् । तद्वतीत्यर्थः । अत एव हृदयग्राहिणि मनोरमे मङ्गलास्पदे । एकत्र हितार्थप्रतिपादकत्वादन्यत्र मङ्गलवस्तुत्वाच्च श्रेयस्करे । 'रोचनं चन्दनं हेम मृदङ्गं दर्पणं मणिम् । गुरूनग्निं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत्सदा बुधः' ॥ इति पुराणवचनात् । तव गिरां विस्तरे वाक्प्रपञ्चे । 'प्रथने वावशब्दे' इति घञ्प्रतिषेधाद् 'ऋदोरप्' इत्यप् । अत एव विस्तारो विग्रहो व्यासः स तु शब्दस्य विस्तरः' इत्यमरः । मतिस्त्वद्बुद्धिरादर्शे दर्पण इव 'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः । विमला विशदाऽभिदृश्यते । वाग्वैशद्यादेव मतिवैशद्यमनुमीयते । तत्पूर्वकत्वात्तस्येत्यर्थः ॥ २६ ॥

महाराज युधिष्ठिर ने कहा—'जिस तरह ऊपरी मलिनता से मुक्त (निर्मल), लौह काष्ठादि सामग्रियों से सुनिर्मित, चित्ताकर्षक और मङ्गलकारी दर्पण में रूप का प्रतिबिम्ब स्वच्छ दृष्टिगोचर होता है; उसी तरह प्रमाणयुक्त, सुन्दर शब्द योजनायुक्त प्रिय और हितकर वाक्प्रपञ्च में तुम्हारी सुबुद्धि स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होती है ॥ २६ ॥

अथ युग्मेनाह—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥ २७ ॥

स्फुटतेति । पदैः सुप्तिङन्तशब्दैः स्फुटता विशदार्थता नापाकृता न त्यक्ता । अर्थगौरवमर्थभूयस्त्वं च न न स्वीकृतम् । स्वीकृतमेवेत्यर्थः । वैशद्यप्रसक्तार्थगौरवाभावनिवर्तनार्थं नञ्द्वयम् । 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्त्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति वामनः । गिरां पदानामवान्तरवाक्यानां च पृथगर्थता भिन्नार्थता । अपुनरुक्तार्थतेति यावत् । रचिता कृता तथा

क्वचिदपि सामर्थ्यं गिरामन्योऽन्यसाकाङ्क्षत्वं नापोहितं न वर्जितम्। अन्यथा दशदाडिमादिशब्दवदेकवाक्यता न स्याद्। यथाऽऽहुः—'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं सापेक्षे चेद्विभागे स्याद्' इति। नन्वर्थगौरवमित्यत्र कथं षष्ठीसमासः, 'पूरणगुण—' इत्यादिना प्रतिषेधात्। नैष दोषः। ये शुक्लादयः शब्दा गुणे गुणिनि च वर्त्तन्ते यथा पटस्य शौक्ल्यं शुक्लः पट इति च तेषामेवात्र निषेधात्। ये पुनः स्वतो गुणमात्रवचनो यथा—गौरवं प्राधान्यं रसो गन्धः स्पर्श इत्येवमादयः, तेषामनिषेधात्। तथा 'तत्स्थैश्च गुणैः षष्ठी समस्यते' इति वचनाद् बहुलमभियुक्तप्रयोगदर्शनाच्च। बलाकायाः शौक्ल्यमित्यादौ तु भाष्यकारवचनादसमासः। अत एवाह वामनः—'पत्रपीतिमादिषु गुणवचनसमासो बालिश्याद्' इति॥ २७॥

तुमने सुबन्त और तिङन्त पदों से पदविन्यास में न्यूनता नहीं की है, अर्थगाम्भीर्य को स्थान न दिया हो सो भी नहीं, वाक्यों में परस्पर विरुद्ध भावों का भी संघर्ष नहीं होने पाया है तात्पर्य यह कि पुनरुक्त दोष से भी मुक्त है और परस्पर शब्दों की आकांक्षा का भी परित्याग नहीं होने पाया है अर्थात् व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियाँ भी तुम्हारी वाक्यरचना में नहीं होने पायी हैं॥ २७॥

उपपत्तिरुदाहृता बलादनुमानेन न चागमः क्षतः।
इदमीदृगनीदृगाशयः प्रसभं वक्तुमुपक्रमेत कः॥ २८॥

उपपत्तिरिति। किञ्च बलाद् बलमाश्रित्य। कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी वक्तव्या। उपपत्तिर्युक्तिरुदाहृता। पराक्रमपक्ष एव श्रेयानिति युक्तिरुक्तेत्यर्थः। उचितं चैतन्महावीरस्येति भावः। तथाऽनुमानेन युक्त्याऽऽगमः शास्त्रं च न क्षतो न हतः। किन्त्वागमाविरुद्धमेवोक्तम्। अन्यथा—तद्विरोधानुमानस्यैव प्रामाण्यभङ्गादिति भावः। ईदमित्थं क्षात्रयुक्तमिदं वचनमविद्यमान इदृगाशय इत्थं क्षात्रयुक्ताभिप्रायो यस्य सोऽनीदृगाशयः। 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः। कः प्रसभं हठाद्वक्तुमुपक्रमेत। न कोऽपीत्यर्थः। इत्थं वक्तुमुपक्रमितैव नास्ति। वक्ता तु दूरापास्त एवेति भावः। केचिदेतच्छ्लोकत्रयं निन्दापरत्वेनापि योजयन्ति। तदसत्। हितोपदेशमात्रतत्परस्यातिवत्सलस्य राज्ञो मत्सरिण इव महावीरे भ्रातरि विधेये सर्वानर्थमूलभूतनिन्दातात्पर्यकल्पनाऽनौचित्यादिति॥ २८॥

तुमने जिन युक्तियों का उदाहरण दिया है सब पुरुषार्थ का अवलम्बन करती हैं और तर्क से जिन युक्तियों को सिद्ध किया है वे नीतिशास्त्र-विरुद्ध नहीं हैं। कौन ऐसा पुरुष है जो इस विचार से सहमत न हो और बलात् इस प्रकार कहने के लिये तय्यार हो॥ २८॥

यदि साधूक्तं तर्हि तथैव क्रियतामित्याशङ्क्याह—

अवितृप्ततया तथाऽपि मे हृदयं निर्णयमेव धावति।
अवसाययितुं क्षमाः सुखं न विधेयेषु विशेषसम्पदः॥ २९॥

अवितृप्ततयेति । तथाऽपि त्वया सम्यङ्निर्णीतेऽपि मे हृदयमवितृप्ततयाऽसन्तुष्टतया । अद्यापि संशयगतत्वेनेत्यर्थः । निर्णयमेव धावत्यनुसरति । अपेक्षत इति यावद् । अद्यापि निर्णयस्यानुदयादिति भावः । निर्णयानुदये हेतुमाह—अवेति । विधेयेषु सन्धिविग्रहादिकर्त्तव्यार्थेषु या विशेषसम्पदोऽवान्तरभेदभूमानस्ताः सुखमक्लेशेनावसाययितुम् । पुरुषान्प्रत्यानुकूल्येन स्वस्वरूपं स्वयमेव शीघ्रं प्रत्याययितुमित्यर्थः । स्यतेर्ण्यन्तादणिकर्मकर्तृकात्तुमुन् । णेरणादिसूत्रस्यायं विषयः । क्षमन्त इति क्षमाः । पचाद्यच् । शक्ता न भवन्ति । 'क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः । विधेयमात्रस्य सुगमत्वेऽपि तद्विशेषाणां सौक्ष्म्याद्बाहुल्याच्च दुर्ज्ञेयत्वादद्यापि निर्णयाकाङ्क्षेति तात्पर्यार्थः । अत्र निर्णयधावनं प्रत्युत्तरवाक्यार्थस्य हेतुत्वाभिधानाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तदुक्तं—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति ॥ २९ ॥

यद्यपि उचित प्रतिपादन किया गया है तथापि मेरे मन को सन्तोष न हुआ, अतः वह कर्तव्यानुष्ठान के निर्णय की ओर अग्रसर हो रहा है। विशेष सम्पत्तियाँ सन्धि, विग्रहादि कर्तव्यानुष्ठान के विषय में अपने स्वरूप को सरलतापूर्वक प्रकट करने में असमर्थ होती है ॥

वस्तुविशेषावधारणमन्तरेणैव प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥ ३० ॥

सहसेति । क्रियत इति क्रिया कार्यं सहसा । अविमृश्येत्यर्थः । 'सहसेत्याकस्मिकाविमर्शयोः' इति गणव्याख्याने स्वरादिपाठादव्ययम् । न विदधीत न कुर्वीत । कुतः अविवेकोऽविमृश्यकारित्वं परमत्यन्तमापदां पदं स्थानम् । कारणमित्यर्थः । व्यतिरेकेणोक्तमर्थमन्वयेनाह—वृणत इति । गुणलुब्धा गुणगृध्नव इति स्वयंवरहेतूक्तिः । सम्पदः श्रियः । विमृश्य करोतीति विमृश्यकारी । 'उपपदमतिङ्' इति समासः । तं स्वयमेव वृणते भजन्ते हि । 'वृङ् संभक्तौ' इति धातुः । तस्माद्विमृश्यैव प्रवर्त्तितव्यमित्यर्थः । अत्र सहसाविधाननिषेधलब्धविमृश्यकारित्वरूपकारणस्यापद्रूपव्यतिरेककार्येण समर्थनाद्वैधर्म्येणार्थान्तरन्यासः । द्वितीयार्धेन च स एव साधर्म्येणेति ज्ञेयम् ॥ ३० ॥

एकाएक (विवेचना किये बिना) किसी कार्य का आरम्भ नहीं करना चाहिये। सम्यक् विचार न करना परम आपत्ति का उत्पादक होता है। गुण के ऊपर अपने आपको समर्पण करने वाली सम्पत्तियाँ विचारवान् पुरुष को स्वयं मनोनीत करती हैं अर्थात् जो कुछ किया जाय उसके आगे पीछे की सब बातों का विचार कर लेना चाहिये ॥ ३० ॥

ननु साहसिकस्यापि फलसिद्धिर्दृश्यत एव । तत्किं विवेकेनेत्यत्राह—

अभिवर्षति योऽनुपालयन्विधिबीजानि विवेकवारिणा ।
स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदं लोक इवाधितिष्ठति ॥ ३१ ॥

अभीति । यः पुमान् । विधीयन्त इति विधयः कृत्यवस्तूनि बीजानीवेत्युपमितसमासः । शरदं लोक इवेति वाक्यगतोपमाऽनुसारात् । तानि विधिबीजानि । विवेको वारीव तेन विवेकवारिणा । पूर्ववत्समासः । अनुपालयन्प्रतीक्षमाणः संरक्षन्नभिवर्षति सिञ्चति । स पुमान् । फलं साधननिष्पाद्योऽर्थः, सस्यं च 'सस्ये हेतुकृते फलम्' इत्युभयत्राप्यमरः । तच्छालिनीं क्रियां कर्म लोको जनः । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । शरदमिव सदा नित्यमधितिष्ठति । सदा क्रियाफलं प्राप्नोत्येव । न कदाचिद्व्यभिचरतीत्यर्थः । साहसिकस्य काकतालीयन्यायेन फलसिद्धिर्विवेकिनस्तु नियतेति भावः । अत्र फलशब्देन सस्यहेतुकृतयोरर्थयोरभेदाध्यवसायाच्छ्लेषमूलातिशयोक्तिस्तदनुगृहीता चोपमेत्यनुसन्धेयम् ॥ ३१ ॥

जो विवेकी पुरुष कर्तव्य विषयों को बीज के समान मान कर उसे सम्यक् विचार रूप जल से सिञ्चन करते हैं; वे (पुरुष) सर्वदा उसी तरह फलसिद्धि प्राप्त करते हैं जिस तरह कृषक सस्यों का सिञ्चन करते हुए शरत्काल में उसके फल से सुशोभित सस्य-सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं ॥ ३१ ॥

नियता विवेकिनः फलसिद्धिरित्युक्तम् । सम्प्रति तामेव रुच्यर्थं स्तौति—

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया ।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः ॥ ३२ ॥

शुचीति । शुचिसंप्रदायशुद्धं श्रुतं शास्त्रश्रवणं कर्तृवपुर्भूषयति । अन्यथा विद्वान्पुरुषः शोच्य इति भावः । तस्य श्रुतस्य प्रशमः क्रोधोपशान्तिरलंक्रियाभूषणं भवति । अन्यथा श्रुतवैफल्यादिति भावः । पराक्रमः सत्यवसरे शौर्यं प्रशमस्याभरणं भवति । अन्यथा सर्वैः परिभूयत इति भावः । स पराक्रमः । नयापादिता नीतिसम्पादिता । विवेकपूर्विकेति यावत् । सा चासौ सिद्धिश्च सैव भूषणं यस्य स तथोक्तः । अन्यथा साहसिकस्य सिद्धिः काकतालीयत्वेन पक्षे पराक्रमवैयर्थ्यं स्यादिति भावः । 'वपुषो भूष्यतैवात्र सिद्धेर्भूषणतैव तु । उभयं मध्यमानां तु तेषां पूर्वोत्तरेच्छया' ॥ इति विवेकः । एवं विशिष्टसिद्धेरनन्यभूषिताया एव भूषणत्वोक्त्या सर्वोत्तरतया स्तुतिर्गम्यते । अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणत्वादेकावल्यलङ्कारः । तदुक्तं—'यत्र विशेषणभावं पूर्वं पूर्वं प्रति क्रमेणैव । भजति परं परमेषाऽलङ्कृतिरेकावली कथिता' ॥ इति ॥ ३२ ॥

गुरुसम्प्रदाय से शुद्ध शास्त्राभ्यास शरीर की शोभा बढ़ाता है । क्रोध का उपशमन करना उस शास्त्र का अलङ्कार होता है । अवसर प्राप्त होने पर शौर्य (पराक्रम)

क्रोधोपशान्ति का भूषण होता है और नीतिसम्पादित विवेकपूर्विका सिद्धि पराक्रम का आभरण होती है। तात्पर्य यह है कि विवेकी पुरुष की कार्य्यसिद्धि अवश्यम्भाविनी है और साहसियों की फलसिद्धि सन्देह रूप झूले पर झूलती रहती है ॥ ३२ ॥

'विमृश्य कुर्यादि'ति स्थितम्। तत्र विमर्शोपायः कः ? इत्युक्ते शास्त्रमेवेत्याह—

मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम्।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम्॥ ३३॥

मतीति। मतिभेदः कार्यविप्रतिपत्तिः। मतिभेदस्तम इवेत्युपमितसमासः। दीप इवेत्युपमाऽनुसारात्। तेन तिरोहित आच्छन्नेऽत एव गहने दुरवगाहे कृत्यविधौ कार्यानुष्ठाने विवेकिनां सुकृतः सदभ्यस्तोऽत एव परिशुद्धो निश्चितोऽन्यत्र सुविहितिः प्रवातादिदोषरहितश्च। आगमः शास्त्रम्। 'आगमः शास्त्र आयतौ' इति विश्वः। दीप-इवार्थदर्शनम् कार्यज्ञानम् वस्तुप्रतिभासनं च कुरुते ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार वातादिक विघ्नों से सुरक्षित और सुव्यवस्थित प्रदीप अन्धकाराच्छन्न वस्तु के प्रदर्शन करने में समर्थ होता है उसी तरह जब विवेकी पुरुष कर्तव्यानुष्ठान के समय संकल्प और विकल्प में पड़ जाता है, उस समय सम्यक् अभ्यस्त और परिशुद्ध शास्त्रज्ञान उसके कर्तव्यपथ का प्रदर्शक होता है ॥ ३३ ॥

एवं विमृश्य कुर्वतो दैवादनर्थागमोऽपि न कश्चिदपराध इत्याह—

स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिश्चरिते वर्त्मनि यच्छतां मनः।
विधिहेतुरहेतुरागसां विनिपातोऽपि समः समुन्नतेः॥ ३४॥

स्पृहणीयेति। स्पृहणीयगुणैर्लोकश्लाघ्यगुणैर्महात्मभिः सज्जनैश्चरितेऽनुष्ठिते। वर्त्मन्याचारे मनो यच्छतां निदधताम्। सन्मार्गेण व्यवहरतामित्यर्थः। विधिहेतु-र्दैवनिमित्तकः। 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। अत एवागसामपराधानामहेतुर्वि-निपातो दैविकानर्थोऽपि। 'विनिपातोऽवपाते स्याद् दैवादिव्यसनेऽपि च' इति विश्वः। समुन्नतेरतिवृद्धेः समस्तुल्यः। दैविकेषु पुरुषस्यानुपालभ्यत्वादिति भावः। यथाऽऽह कामन्दकः—'यत्तु सम्यगुपक्रान्तं कार्यमेति विपर्ययम्। पुरुषस्त्वनुपालभ्यो दैवान्तरित-पौरुषः' ॥ इति ॥ ३४ ॥

प्रशस्त गुणशाली महापुरुषों के द्वारा आचरित पथ के अवलम्बनकर्ता व्यक्ति को आपत्ति (अवनति) किन्हीं भी अपराधों का कारण नहीं होती और अदृष्ट ही उसका कारण होता है; तथा वह भी उन्नति के समान ही है ॥ ३४ ॥

शिवमौपयिकं गरीयसीं फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम्।
विगणय्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः॥ ३५॥

शिवमिति। जिगीषवो विजयेच्छवो नृपा विजितक्रोधरया जितक्रोधवेगाः सन्तो गरीयसीं प्रभूतामदूषितायतिमक्षतोत्तरकालाम्। स्वन्तामित्यर्थः। फलनिष्पत्तिं फलसिद्धिं विगणय्य। फलवत्त्वं निश्चित्येत्यर्थः। पौरुषं पुरुषकारं शिवमनुकूलमौपयिकमुपायम्। विनयादित्वात्स्वार्थे ठक्। उपायाद्ध्रस्वत्वं च। नयन्ति प्रापयन्ति। पौरुषमुपायेन योजयन्तीत्यर्थः। नानिश्चितफलं कर्म कुर्वत इति भावः। यथाऽऽह कामन्दकः—'निष्फलं क्लेशबहुलं सन्दिग्धफलमेव च। न कर्म कुर्यान्मतिमान्सदा वैरानुबन्धि च'॥ इति। नयतिः प्रापणार्थे द्विकर्मकः। अत्र पौरुषस्य कर्तृस्थकर्मत्वेऽप्युपायस्यातथात्वात्क्रोधं विनयत इत्यादिवत् 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यात्मनेपदं न भवति॥ ३५॥

विजयेच्छु पुरुष क्रोध के आवेग को जीत कर, फलसिद्धि की बहुलता और उत्तर काल में उसकी स्थिरता का सम्यक विचार करके पौरुषकार को उपाय से युक्त करते हैं॥ ३५॥

यदुक्तं 'विजितक्रोधरया' इति तदावश्यकमित्याह—

अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः।
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताऽप्युदीयते॥ ३६॥

अपनेयमिति। उदेतुमभ्युदेतुमिच्छता राज्ञा पुरः प्रथमं रोषमयं रोषादागतम्। 'मयट् च' इति मयट्। तिमिरमज्ञानं धिया विवेकबुद्ध्या करणेनापनेयमपनोद्यम्। तथा हि—अंशुमताऽपि कर्त्रा प्रभया तेजसा करणेन निशाकृतं तमो ध्वान्तमविभिद्य नोदीयते। किन्तु विभिद्यैवेत्यर्थः। सूर्यस्याप्येवं किमुतान्येषामित्यपिशब्दार्थः। इणो भावे लट्॥ ३६॥

उदयाभिलाषी पुरुष को चाहिये कि सर्वप्रथम बुद्धि से अज्ञान को मार भगावे। अंशुमाली (सूर्य) भी रात्रिजनित अन्धकार को नष्ट किये बिना उदित नहीं होते॥ ३६॥

ननु दुर्बलस्यैवमस्तु, बलीयसस्तु क्रोधादेव कार्यसिद्धिरित्यत आह—

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः।
क्षयपक्ष इवैन्दवीः कलाः सकलाः हन्ति स शक्तिसम्पदः॥ ३७॥

बलवानिति। बलवाञ्छूरोऽपि यः कोपाज्जन्म यस्य तस्य कोपजन्मनः। 'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणे जन्माद्युत्तरपदः' इति वामनः। तमसो मोहस्य। कृद्योगात्कर्तरि षष्ठी। अभिभवमक्रान्तिं न रुणद्धि न निवारयति। स नृपः। क्षयस्य पक्षः क्षयपक्षः कृष्णपक्ष ऐन्दवीरिन्दुसम्बन्धिनीः कला इव। 'कला तु षोडशो भागः' इत्यमरः। सकलाः समग्राः शक्तिसम्पदः प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तीस्तिस्रोऽपि हन्ति नाशयति। अन्धस्य जङ्घाबलमिव क्रोधान्धस्य लोकोत्तरमपि सामर्थ्यं व्यर्थमेवेत्यर्थः।

अत्र कालस्य सर्वकारणत्वात्क्षयपक्षस्य कलाक्षयकारित्वमस्त्येव । तमसस्तु तत्कालविजृम्भणात्तथा व्यपदेशः ॥ ३७ ॥

शूर होता हुआ भी जो पुरुष क्रोध से उत्पन्न होने वाले मोह की आक्रान्ति का अवरोध नहीं करता, वह कृष्णपक्षीय चन्द्रमा की कलाओं की भांति अपनी प्रभु, मन्त्र और उत्साह इन तीनों शक्तियों से हाथ धो बैठता है ॥ ३७ ॥

विमृश्य कुर्वतः क्रियाप्रकारमाह—

समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम् ।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः ॥ ३८ ॥

समेति । यः समा नातिमृदुर्नातितिग्मा वृत्तिर्यस्य स समवृत्तिः सन् समये सत्यवसरे मार्दवं मृदुवृत्तित्वमुपैति तिग्मतां तीक्ष्णवृत्तित्वं च तनोति । स मेदिनीपतिर्विवस्वानिव, ओजसा तेजसा लोकमधितिष्ठत्याक्रामति । सूर्योऽपि, ऋतुभेदेन समवृत्तिरित्यादि योज्यम् ॥ ३८ ॥

वह भूमिपाल, जो न तो अत्यन्त सरलता और न अत्यन्त क्रूरता का अवलम्बन करता है, यथासमय और यथावसर कोमलता और क्रूरता दोनों का व्यवहार करता रहता है, वह सूर्य के समान अपने प्रताप से समग्र संसार पर आधिपत्य स्थिर रखता है ॥ ३८ ॥

उक्तान्यथाकरणेऽनिष्टमाह—

क्व चिराय परिग्रहः श्रियां क्व च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता ।
शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्षा हि बहुच्छलाः श्रियः ॥ ३९ ॥

क्वेति । श्रियां संपदां चिराय बहुकालं परिग्रहः स्वायत्तीकरणं क्व ? इन्द्रियाणि वाजिन इवेत्युपमितसमासः । दुष्टानाममार्गधाविनामिन्द्रियवाजिनां वश्यो वशङ्गतस्तस्य भावस्तत्ता क्व ? नोभयमेकत्र तिष्ठतीत्यर्थः । कुतः । हि यस्माच्छरदभ्रवच्चलाश्चलाः । किञ्च बहुच्छला बहुव्याजाः । बहुरन्ध्रा इति यावद् । 'छलं तु स्खलिते व्याजे' इति विश्वः । श्रियः संपदः । चलेन्द्रियैरजितेन्द्रियैरसुरक्षा रक्षितुमशक्याः । कथञ्चित्प्राप्ता अपि श्रियो नाविनीतेषु तिष्ठन्तीत्यर्थः । वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥

चिर काल तक सम्पत्तियों का वशीकरण कहाँ और उन्मार्गगामी घोड़ों की भाँति दुष्ट इन्द्रियों को अपने वश में करना कहां ? (क्योंकि) सम्पत्तियाँ शरत्कालीन मेघ की तरह चञ्चल और अनेक छिद्रों से पूर्ण हैं । चंचलेन्द्रिय पुरुषों के द्वारा उनकी रक्षा होना सामर्थ्य के बाहर है ॥ ३९ ॥

क्रोधस्य दुष्टतामुक्त्वा तस्य त्यागमुपदिशति—

किमसामयिकं वितन्वता मनसः क्षोभमुपात्तरंहसः।
क्रियते पतिरुच्चकैरपां भवता धीरतयाऽधरीकृतः॥ ४०॥

किमिति। उपात्तरंहसः, प्राप्तत्वरस्य मनसः समयोऽस्य प्राप्तः सामयिकः। 'समयस्तदस्य प्राप्तम्' इति ठञ्। स न भवतीत्यसामयिकस्तमप्राप्तकालं क्षोभं वितन्वता भवता धीरतया धैर्यगुणेन। 'मनसो निर्विकारत्वं धैर्यं सत्स्वपि हेतुषु' इति रसिकाः। अधरीकृतस्तिरस्कृतः। प्रागिति शेषः। अपां पतिः समुद्रः किं किमर्थमुच्चकैरधिकः क्रियते। न पराजितं पुनरुच्चकैः कुर्यादिति भावः। अत्र वितन्वतेति भीमविशेषणत्वेन, अपाम्पतिपदार्थस्योच्चैःकरणे हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कारः॥ ४०॥

आपने अपने धैर्य्य के कारण जलराशि समुद्र को जीत लिया है, फिर वेगवान् मन में असामयिक क्षोभ उत्पन्न करके उसे बढ़ने का अवसर क्यों प्रदान करते हैं? अभिप्राय यह कि समुद्र अनन्त जलराशि प्राप्त करने पर भी अपनी मर्य्यादा का उल्लंघन नहीं करता और भीमसेन ने भी अनेकानेक विपत्तियों से आक्रान्त होने पर भी धैर्य्य का परित्याग नहीं किया था, अतः समुद्र पर आप विजयी बने थे, अब असामयिक क्षोभ के कारण धैर्य्य परित्याग करने से फिर समुद्र को ही विजयी बनने का गौरव प्राप्त होता है॥ ४०॥

श्रुतमप्यधिगम्य ये रिपून् विनयन्ते न शरीरजन्मनः।
जनयन्त्यचिराय सम्पदामयशस्ते खलु चापलाश्रयम्॥ ४१॥

श्रुतमिति। किञ्च। ये श्रुतं शास्त्रमधिगम्यापि शरीरजन्मनः शरीरप्रभवान् रिपून्कामक्रोधादीन्न विनयन्ते न नियच्छन्ति। 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यात्मनेपदम्। ते खल्वचिराय सम्पदां चापलाश्रयमस्थैर्यनिबन्धनमयशो दुष्कीर्तिं जनयन्ति। आश्रयदोषादस्थैर्यं सम्पदां न स्वदोषादित्यर्थः। अजितारिषड्वर्गस्य कुतः सम्पद इति भावः॥ ४१॥

जो लोग शास्त्र के ज्ञाता होकर भी अपने शरीर से प्रादुर्भूत काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और अहंकार इन शत्रुओं को अपने वश में नहीं करते, वे शीघ्र चञ्चला सम्पत्तियों की अपकीर्ति के भागी होते हैं अर्थात् अल्पकाल में ही उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का अवसान हो जाता है॥ ४१॥

तथा क्रोधात्कार्यहानिरित्याशयेनाह—

अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी।
जनवन्न भवन्तमक्षमा नयसिद्धेरपनेतुमर्हति॥ ४२॥

अतिपातितेति। अतिपातितान्यतिक्रान्तानि कालः समयोऽनुरूपः साधनानि सहायादीनि यया सा तथोक्ता। तापयतीति तापनी। कर्त्तरि ल्युट्। टित्त्वान्ङीप्। स्वस्य यच्छरीरमिन्द्रियवर्गश्च तयोस्तापन्यक्षमा क्रोधो भवन्तं जनवत्पृथग्जनमिव। 'तेन तुल्यम्—'इति वतिप्रत्ययः। तेनेवार्थो लक्ष्यते। 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययम्। नयसिद्धेर्नयसाध्यफलादपनेतुं पृथक्कर्तुं नार्हति। असमयक्रोधस्यात्मसन्तापातिरिक्तं फलं नास्तीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

समय और साहाय्य की अतिक्रमकारिणी और अपने ही इन्द्रियवर्गों की कष्टप्रदायिनी, असहिष्णुता सामान्य व्यक्ति की भाँति तुम्हें न्याय के साध्यफल की सिद्धि से दूर करने में समर्थ नहीं हो सकती ॥ ४२ ॥

'दुष्टः क्रोध' इत्युक्तम्। अत्र क्षमाया गुणानाह—

उपकारकमायतेर्भृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः।
अनपायि निवर्हणं द्विषां न तितिक्षासममस्ति साधनम् ॥ ४३ ॥

उपकारकमिति। आयतेरुत्तरकालस्य भृशमत्यन्तमुपकारकं स्थिरफलहेतुरित्यर्थः। भूरिणः प्रभूतस्य कर्मफलस्य। प्रसूयतेऽनेनेति प्रसवः कारणम्। अपायि न भवतीत्यनपायि स्वयमविनश्यदेव द्विषां निबर्हणं विनाशकमेवंगुणकं साधनं तितिक्षासमं क्षमातुल्यं नास्ति। 'शान्तिः क्षमा तितिक्षा च' इत्यमरः। 'तिज निशाने' इति धातोः 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' इति क्षमार्थे सन्प्रत्ययः। तितिक्षासममित्युक्तोपमेयासमास आर्थी लुप्तोपमा, भृशायत्यनपायिशब्दैः साधनान्तरवैलक्षण्याद् व्यतिरेकश्च व्यज्यते। भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये च व्यतिरेकः ॥ ४३ ॥

भविष्य के लिये अत्यन्त उपकारिका और प्रचुर परिमाण में कर्मफल की जनयित्री शान्ति के सदृश स्वयं अविनाशी और शत्रुओं का विनाशकारी कोई अन्य साधन नहीं हैं ॥

ननु तितिक्षया कालक्षेपे दुर्योधनः सर्वान्राज्ञो वशीकुर्यादित्यत्राह—

प्रणतिप्रवणान्विहाय नः सहजस्नेहनिबद्धचेतसः।
प्रणमन्ति सदा सुयोधनं प्रथमे मानभृतां न वृष्णयः ॥ ४४ ॥

प्रणतीति। सहजस्नेहेनाकृत्रिमप्रेम्णा निबद्धचेतसोऽस्मासु गाढं लग्नचित्ताः। सुयोधने तु न तथेति भावः। किं च। मानभृतामहङ्कारिणां प्रथमेऽग्रेसराः। सुयोधनस्तु ततोऽपीति भावः। वृष्णयो यादवाः प्रणतिप्रवणान्प्रणामपरान्। सुयोधनस्तु न तथेति भावः। नोऽस्मान्विहाय सुयोधनं सदा न प्रणमन्ति न नमन्ति नानुसरन्ति। किन्तु कार्यकाले त्यक्ष्यन्त्येवेत्यर्थः। सति यादवविग्रहे न किञ्चिदस्माकमसाध्यं भवेदिति भावः। अनेकपदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४४ ॥

यदुवंशी लोग अहङ्कारियों में सर्वप्रथम हैं, इनका चित्त हम लोगों के स्वाभाविक प्रेम-पाश में उलझा हुआ है, हम लोग उनसे सर्वदा विनम्र रहते हैं। अतः वे हम लोगों के सिवा-सुयोधन का अनुसरण सर्वदा नहीं करते रहेंगे। तात्पर्य यह कि अहङ्कार में सुयोधन उनसे बढ़कर है। वे लोग जितना हम लोगों से प्रेम करते हैं उतना उससे नहीं, इसलिये वे लोग हमी लोगों की सहायता करेंगे ॥ ४४ ॥

सुहृदः सहजास्तथेतरे मतमेषां न विलङ्घयन्ति ये।
विनयादिव यापयन्ति ते धृतराष्ट्रात्मजमात्मसिद्धये ॥ ४५ ॥

सुहृद इति। किं चैषां वृष्णीनां ये सहजाः सहजाताः। मातृपितृपक्षा इत्यर्थः। 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः। सुहृदो मित्राणि तथेतरे कृत्रिमसुहृदश्च मतं वृष्णि-पक्षं न विलङ्घयन्ति नातिक्रामन्ति। ते द्वयेऽपि नृपाः। दुर्योधनोपजीविनोऽपीति भावः। आत्मजीवनार्थी धृतराष्ट्रात्मजं दुर्योधनं विनयादानुकूल्यादिव यापयन्ति कालं गमयन्ति। कार्यकाले तु वृष्णिपक्षप्रवेशिन एवेत्यर्थः। यातेर्ण्यन्ताल्लट्। 'अर्तिह्री—' इत्यादिना पुगागमः ॥ ४५ ॥

तथा और जो इन यदुवंशियों के मित्रवर्ग हैं और जो इनके मातृ–पितृपक्षीय हैं, वे भी इनके मत के विरुद्ध नहीं जा सकते। वे केवल अपने समय को टालने के लिये धृतराष्ट्र के पुत्र सुयोधन के सामने विनम्र की तरह रहते हैं ॥ ४५ ॥

किञ्च नायमभियोगकाल इत्याशयेनाह—

अभियोग इमान्महीभुजो भवता तस्य कृतः कृतावधेः।
प्रविघाटयिता समुत्पतन् हरिदश्वः कमलाकरानिव ॥ ४६ ॥

अभियोग इति। कृतावधेः परिभाषितकालस्य। 'अवधिस्त्ववधाने स्यात्सीम्नि काले बिलेऽपि च' इति विश्वः। तस्य सुयोधनस्य। कर्मणि षष्ठी। भवता कृतः। अवधितः प्रागिति शेषः। अभियोगः। आर्द्राभिभव इति यावत्। 'अभियोगस्तु शपथे स्यादार्द्रे च पराभवे' इति विश्वः। इमान्पूर्वोक्तान्महीभुज राज्ञो हरिदश्व-उष्णरश्मिः कमलाकरानिव समुत्पतन्नुद्यन्नेव प्रविघाटयिता भेत्स्यति। घाटयतेर्भौवा-दिकाल्लट् चौरादिकस्य तु 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वं स्यात् ॥ ४६ ॥

सुयोधन ने जो त्रयोदश वर्ष की अवधि निश्चित की है, उससे यदि आप विग्रह करेंगे तो वह अभियोग यदुवंशियों को इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर देगा जिस तरह हरे रंग के घोड़े वाले सूर्य्य कमलसमूह की पंखुड़ियों को उद्भिन्न कर देता है ॥ ४६ ॥

अथ न ये वृष्णिपक्षास्तान्प्रत्याह—

उपजापसहान्विलङ्घयन् स विधाता नृपतीन्मदोद्धतः।
सहते न जनोऽप्यधः क्रियां किमुलोकाधिकधाम राजकम् ॥ ४७ ॥

उपजापेति । मदोद्धतः स दुर्योधनो नृपतीनन्यान्नृपान्विलङ्घयन्मदादवमानयन् । सहन्त इति सह्याः पचाद्यच् । उपजापस्य सह्यान्भेदयोग्यान् । 'समौ भेदोपजापौ' इत्यमरः । विधाता विधास्यति । दधातेर्लुट् । अवमानितो जनः सुभेद्य इति भावः । न च ते सहिष्णव इत्याह—जनः प्राकृतोऽप्यधःक्रियामपमानं न सहते । लोकाधिकधाम लोकोत्तरप्रतापं राजकं राजसमूहः । 'गोत्रोक्षोष्ट्र—'इत्यादिना वुञ्प्रत्ययः । किमु । न सहत इति किं वक्तव्यमित्यर्थः । तथा सति कृत्स्नमेव राजमण्डलमस्मानेवावलम्बिष्यत इति भावः ॥ ४७ ॥

अहङ्कार से उद्दण्ड दुर्योधन राजाओं की अवमानना करके भेद योग्य बना देगा । एक साधारण व्यक्ति भी अपना तिरस्कार सहन करने में असमर्थ होता है तो जो लोकत्तर प्रतापशाली राजन्यवर्ग है, उसकी कथा क्या कहना ? अर्थात् वह अपमान कदापि नहीं सहन कर सकता ॥ ४७ ॥

ननु 'सखीनिवे' त्यादिवनेचरोक्त्या यस्य मदसंभावनाऽपि कथमित्यत्राह—

असमापितकृत्यसम्पदां हृतवेगं विनयेन तावता ।
प्रभवन्त्यभिमानशालिनां मदमुत्तम्भयितुं विभूतयः ॥ ४८ ॥

असमापितेति । असमापितकृत्यसम्पदामकृतकृत्यानामतोऽभिमानशालिनामहङ्कारिणां विभूतयः सम्पद एव तावता स्वल्पेन विनयेन । कार्यवशादारोपितेनेति शेषः । हृतवेगं प्रतिबद्धवेगं न तु स्वरूपतो हृतं मदमुत्तम्भयितुं वर्धयितुं प्रभवन्ति । सर्वथा दुर्जनसम्पदो विकारयन्तीति भावः ॥ ४८ ॥

कार्य्य को अधूरा छोड़ने वाले अहङ्कारियों की सम्पत्तियाँ कार्य्यवश कृत्रिम विनम्रता से, न्यूनवेग होने वाले अभिमान की वृद्धि करने में सहकारिणी होती हैं अर्थात् वह स्वार्थसाधन के लिये बगुला भगत बना रहता है और अहङ्कार पर अधिक समय तक आवरण डालने में असमर्थ रहता है, अन्ततोगत्वा उसका अहङ्कार अपना रूप धारण कर ही लेता है ॥ ४८ ॥

अथ मदस्यानर्थहेतुतां युग्मेनाह—

मदमानसमुद्धतं नृपं न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता ।
अतिमूढ उदस्यते नयान्नयहीनादपरज्यते जनः ॥ ४९ ॥

मदेति । मदमानाभ्यां दर्पाहङ्काराभ्यां समुद्धतं नृपं मूढता कार्यापरिज्ञानं नियमेनावश्यं न वियुङ्क्ते न विमुञ्चति । अतिमूढो नयान्नीतिमार्गादुदस्यत उत्क्षिप्यते । कर्मकर्त्तरि लट् । नयहीनाज्जनोऽपरज्यतेऽपरक्तो भवति । 'स्वरितञित—'इत्यादिनाऽऽत्मनेपदम् ॥ ४९ ॥

अज्ञानता गर्व और अहङ्कार के कारण उद्दण्ड नरपति का कभी परित्याग नहीं करती । अत्यन्त अज्ञानी पुरुष नीतिपक्ष से भ्रष्ट हो जाता है । नीतिपथ से पराङ्मुख होने पर जनता भी उससे अलग हो जाती है ॥ ४९ ॥

अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः ।
सुकरस्तरुवत्सहिष्णुना रिपुरुन्मूलयितुं महानपि ॥ ५० ॥

अपरागेति । अपरागोऽप्रीतिः । द्वेष इति यावत् । समीरण इव । तेनेरितश्चोदितः । अत एव क्रमेण शीर्णीभूताऽऽकुला चला च मूलसन्ततिः प्रकृत्यादिस्वजनवर्गः शिफासङ्घातश्च यस्य स तथोक्तः । 'मूलं वशीकृते स्वीये शिफातारान्तिकादिषु' इति वैजयन्ती । रिपुर्महानपि तरुवद् वृक्ष इव सहिष्णुना क्षमावतोन्मूलयितुमुद्धर्तुं सुकरः सुसाध्यः, सुकरोन्मूलन इत्यर्थः । अत्र मदादेः पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वात्कारणमाला, तरुवदित्युपमा चेति द्वयोः संसृष्टिः ॥ ५० ॥

जैसे भीषण आँधी के सञ्चार से कम्पित होने के कारण वृक्ष की जड़ें जर्जरित हो जाती हैं और वे वृक्ष अनायास ही उन्मूलित हो जाते हैं, उसी तरह द्वेष से विचलित महान् शत्रु जिसके अमात्य वर्ग उसके विरुद्ध हो जाते हैं वह विना परिश्रम के ही क्षमाशील पुरुष के द्वारा पदच्युत किया जा सकता है ॥ ५० ॥

नन्वन्तर्भेदमात्रेण कथं सुसाध्यस्तत्राह—

अणुरप्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तःप्रकृतिप्रकोपजः ।
अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखाऽन्तनिघर्षजोऽनलः ॥ ५१ ॥

अणुरिति । अणुरल्पोऽप्यन्तःप्रकृतिप्रकोपजोऽन्तरङ्गामात्याद्यपरागसमुत्थः । 'प्रकृतिः पञ्चभूतेषु स्वभावे मूलकारणे । छन्दःकारणगुह्येषु जन्त्वमात्यादिकेष्वपि' ॥ इति वैजयन्ती । विग्रहो वैरं प्रभुमुपहन्ति नाशयति । अत्र दृष्टान्तमाह—तरुशाखाऽन्तानां निघर्षो घर्षणं तज्जोऽनलोऽग्निः । भूधरं गिरिमखिलं साकल्येन हिनस्ति हि, दहतीत्यर्थः । अत्रोपमानोपमेयसमानधर्माणां प्रतिबिम्बतया निर्देशेन दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५१ ॥

अन्तरङ्ग अमात्यादिकों के क्रोध से प्रादुर्भूत अल्पमात्र भी विरोध (विग्रह) राजा का नाश कर देता है; जैसे वृक्ष की शाखाओं के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न दावानल समस्त पर्वत-प्रदेश को भस्म कर डालता है ॥ ५१ ॥

तथाऽपि कथं वर्द्धमानं शत्रुमुपेक्षेतेत्याशङ्क्य दुर्विनीतत्वादित्याह—

मतिमान्विनयप्रमाथिनः समुपेक्षेत समुन्नतिं द्विषः ।
सुजयः खलु तादृगन्तरे विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः ॥ ५२ ॥

मतिमानिति । मतिमान्प्राज्ञः । विनयं प्रमथ्नातीति विनयप्रमाथिनो दुर्विनीतस्य द्विषः समुन्नतिं वृद्धिं समुपेक्षेत । उपेक्षायाः फलमाह—तादृगविनीतोऽन्तरे क्वचिद्रन्ध्रे सुजयः सुखेन जेतुं शक्यः खलु । हि यस्मादविनीतसम्पदो विपदन्ता विपन्मर्यादकाः । अनर्थोदर्का इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

बुद्धिमान् को चाहिये कि दुर्विनीत शत्रु के अभ्युदय को उपेक्षा कर दे। अतः ऐसे शत्रु किसी न किसी दोष से सुजय होते हैं, क्योंकि दुर्विनीत मनुष्यों की सम्पत्ति का अवसान विपत्ति में होता है ॥ ५२ ॥

कथं दुर्विनीतस्य शत्रोः सुजयत्वमित्याशङ्क्य भेदजर्जरितत्वादित्याह—

लघुवृत्तितया भिदां गतं बहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम् ।
अभिभूय हरत्यनन्तरः शिथिलं कूलमिवापगारयः ॥ ५३ ॥

लघ्विति । लघुवृत्तितया स्वस्य दुर्वृत्तरूपतया बहिर्मित्रादिजनपदेष्वन्तरमात्यादिषु च भिदां भेदं गतम् । 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः । नृपस्य मण्डलं राष्ट्रमनन्तरः सन्निहितो जिगीषुरापगारयो नदीवेगः शिथिलमन्तर्भेदजर्जरं कूलमिवाभिभूयाक्रम्य हरति ॥ ५३ ॥

जैसे अन्तर्भेद से जर्जरित तट को नदी का प्रवाह नष्ट कर देता है, वैसे ही शत्रु के दुर्व्यवहार से मित्रादि प्रजावर्ग और अन्तरङ्ग मन्त्रिवर्ग भेद को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में समीपवर्त्ती राष्ट्र उस पर आक्रमण कर विजयी बन जाता है ॥ ५३ ॥

अनुशासतमित्यनाकुलं नयवर्त्माकुलमर्जुनाग्रजम् ।
स्वयमर्थ इवाभिवाञ्छितस्तमभीयाय पराशरात्मजः ॥ ५४ ॥

अन्विति । इतीत्थमाकुलमरिनिकारस्मरणात्क्षुभितमर्जुनाग्रजं भीमसेनं नयवर्त्म नीतिमार्गमनाकुलमसङ्कीर्णं यथा तथाऽनुशासतमुपदिशन्तम् । 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्ताच्छतुर्नुमभावः । तं युधिष्ठिरं पराशरात्मजो वेदव्यासः स्वयमभिवाञ्छितोऽर्थ इव । साक्षान्मनोरथ इवेत्युत्प्रेक्षा । अभीयाय प्राप्तः ॥ ५४ ॥

शत्रु से किये गये अपकारों का स्मरण कर विक्षोभ को प्राप्त अर्जुन के ज्येष्ठ भ्राता भीमसेन को इस तरह विवेचनापूर्वक नीति-मार्ग का उपदेश करते हुये युधिष्ठिरके पास, स्वयं अभिलषित मनोरथ-सिद्धि के सदृश पराशरपुत्र श्रीवेदव्यासजी का आगमन हुआ ॥ ५४ ॥

अथ युग्मेनाह—

मधुरैरवशानि लम्भयन्नपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः ।
परितः पटु बिभ्रदेनसां दहनं धाम विलोकनक्षमम् ॥ ५५ ॥
सहसोपगतः सविस्मयं तपसां सूतिरसूतिरापदाम् ।
ददृशे जगतीभुजा मुनिः स वपुष्मानिव पुण्यसञ्चयः ॥ ५६ ॥

मधुरैरिति । मधुरैः शान्तैर्निरीक्षितैरवलोकनैः । नपुंसके भावे क्तः । न विद्यते वशमायत्तत्वं येषां तान्यवशानि प्रतिकूलानि । 'वशमायत्ततायां च' इति विश्वः ।

तिर्यञ्चि मृगपक्ष्यादीनि शमं शान्तिं लम्भयन्प्रापयन्। 'लभेश्च' इति नुमागमः। 'गत्यर्थ—' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम्। परितः पटूज्ज्वलमेनसाम्। दह्यतेऽनेनेति दहनं निवर्तकं तथाऽपि विलोकनक्षमं दर्शनीयम्। वह्न्यादिविलक्षणमिति भावः। धाम तेजो बिभ्रत् ॥ ५५ ॥

सहसेति। पुनः सहसोपगतोऽकस्मादागतस्तपसां सूतिः प्रभव आपदामसूतिरप्रभवः। निवर्तक इति यावत्। स मुनिर्व्यासो वपुष्मान्देहधारी पुण्यसञ्चयः पुण्यराशिरिवेत्युत्प्रेक्षा। जगतीभुजा राज्ञा सविस्मयं ददृशे दृष्टः ॥ ५६ ॥

श्रीवेदव्यासजी सौम्य निरीक्षण से स्वच्छन्द पशु—पक्षियों के हृदय में शान्ति स्थापित करते थे। उनका तेजःपुञ्ज अत्यन्त समुज्ज्वलन्त तथापि अवलोकन योग्य एवं दुष्कृतों का नाशक था। विपन्निवारक, तपश्चर्या के उत्पादक, अकस्मात् आये हुये वेदव्यास को राजा ने साक्षात् शरीरी सुकृत-पुञ्ज की भाँति देखा ॥ ५५–५६ ॥

अथोच्चकैरासनतः पराघ्यार्दुद्यन्स धूतारुणवल्कलाग्रः।
रराज कीर्णाकपिशांशुजालः शृङ्गात्सुमेरोरिव तिग्मरश्मिः ॥ ५७ ॥

अथेति। अथ दर्शनानन्तरम्। उच्चकैरुन्नतात्पराध्यार्च्छ्रेष्ठाद्। 'अर्घ्याद्यत्'। 'परावराधमोत्तमपूर्वाच्च' इति यत्प्रत्ययः। आसनतः सिंहासनादुद्यन्नुत्तिष्ठन्नत एव धूतानि कम्पितान्यरुणानि वल्कलाग्राणि यस्य स तथोक्तः। स नृपः कीर्णं विस्तृतमाकपिशमंशुजालं यस्य स तथोक्तः। सुमेरोः शृङ्गादुद्यंस्तिग्मरश्मिरिव। रराज ॥ ५७ ॥

दर्शनोत्तर श्रेष्ठ और उन्नत आसन से (स्वागतार्थ) उठते हुये युधिष्ठिर के लाल रंग के भूर्जवस्त्र कम्पित हो रहे थे। उस क्षण उनकी शोभा, कपिश वर्ण की किरणपुञ्ज को फैलाने वाले, सुमेरुशिखर से उदय होते हुये भगवान् भास्कर की सी प्रतीत होती थी ॥ ५७ ॥

अवहितहृदयो विधाय सोऽर्हामृषिवदृषिप्रवरे गुरूपदिष्टाम्।
तदनुमतमलञ्चकार पश्चात् प्रशम इव श्रुतमासनं नरेन्द्रः ॥ ५८ ॥

अवहितेति। स नरेन्द्रोऽवहितहृदयोऽप्रमत्तचित्तः सन्। ऋषिप्रवरे मुनिश्रेष्ठे। ऋषिवदृष्यर्हाम्। अर्हार्थे वतिप्रत्ययः। गुरूपदिष्टाम्। शास्त्रीयामित्यर्थः। अर्हां पूजाम्। 'गुरोश्च हलः' इत्यकारप्रत्ययः। विधाय पश्चादनन्तरं तदनुमतं तेनानुज्ञातमासनम्। प्रशमः शान्तिः श्रुतं शास्त्रश्रवणमिव। अलञ्चकार। उक्तं च—'प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया' इति। मुन्याज्ञयोपविष्टवानित्यर्थः ॥ ५८ ॥

युधिष्ठिर महाराज ने, शान्तचित्त होकर, शास्त्रीय विधि के अनुसार, मुनिश्रेष्ठ व्यास-

देव की ऋषियों के योग्य पूजा की। पुनः जिस तरह शम, शास्त्र को सुशोभित करता है, उसी तरह उन्होंने मुनि की आज्ञा से अपने आसन को सुशोभित किया॥ ५८॥

व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठ-
स्तिष्ठन्मुनेरभिमुखं स विकीर्णधाम्नः।
तन्वन्तमिद्धमभितो गुरुमंशुजालं
लक्ष्मीमुवाह सकलस्य शशाङ्कमूर्त्तेः॥ ५९॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये द्वितीयः सर्गः॥ २॥

व्यक्तेति। व्यक्तोदितैः स्फुटोद्गतैः स्मितमयूखैर्विभासितावोष्ठौ यस्य स तथोक्तः। विकीर्णधाम्नो विस्तीर्णतेजसो मुनेरभिमुखं तिष्ठन् स नृपः। इद्धं दीप्तमंशुजालं तन्वन्तं गुरुं गीष्पतिम्। 'गुरुर्गीष्पतिपित्रादौ' इत्यमरः। 'अभितः परितः—'इत्यादिना द्वितीया। अभितोऽभिमुखम्। तिष्ठत इति शेषः। सकलस्य संपूर्णस्य शशाङ्का मूर्त्तिर्यस्य तस्येन्दोर्लक्ष्मीमुवाह वहति स्म। अत्रोपमेयस्य राज्ञ उपमानेन्दुधर्मेण लक्ष्म्याः साक्षात्सम्बन्धासम्भवात्तत्सदृशीं लक्ष्मीमिवेति प्रतिबिम्बकरणाक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धात्पदार्थवृत्तिर्निदर्शनालङ्कारः। तदुक्तम्—'प्रतिबिम्बस्याकरणं सम्भवता यत्र वस्तुयोगेन। तत्साम्यमसम्भवता निदर्शना सा द्विधाऽभिमता॥ इति ५९॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
किरातार्जुनीयमहाकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां
द्वितीयः सर्गः समाप्तः॥ २॥

मुनि का तेज सर्वत्र फैल रहा था। उनके समीप बैठे हुए युधिष्ठिर, जिनके अधर (ओठ) मन्द हास के समय दशनपंक्तियों से विस्पष्ट परिस्फुरणकारी किरणपुञ्जों से उद्भासित हो रहे थे, चतुर्दिक् अपने प्रभापुञ्ज को बिखेरते हुए वृहस्पति के समीप समागत सम्पूर्ण कलासम्पन्न शशलाञ्छन (चन्द्रमा) की शोभा को प्राप्त हुए॥ ५९॥

इस प्रकार 'प्रकाश' व्याख्या में द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ॥ २॥

तृतीयः सर्गः

अथ त्रिभिर्मुनिं विशिषंश्चतुर्भिः कलापकमाह । तदुक्तं—'द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् । कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम्' ॥ इति ।

ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैरुत्सर्पिभिः प्रांशुमिवांशुजालैः ।
बिभ्राणमानीलरुचं पिशङ्गीर्जटास्तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम् ॥ १ ॥

तत इति । तत उपवेशानन्तरं धर्मात्मजो युधिष्ठिरः शरच्चन्द्रकराभिरामैः । आह्लादकैरित्यर्थः । उत्सर्पिभिरूर्ध्वं प्रसारिभिरंशुजालैः प्रांशुमुन्नतमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा । पुनरानीलरुचं कृष्णवर्णं पिशङ्गीः पिङ्गलवर्णाः । गौरादित्वान्ङीष् । जटा बिभ्राणं धारयन्तमत एव तडित्वन्तं विद्युद्युक्तमम्बुवाहमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा ॥ १ ॥

व्यासजी आसनासीन होने पर (बैठ जाने पर) शरद् ऋतु के चन्द्रमा की किरणों के समान मनोहर, ऊर्ध्वप्रसरणकारी तेजःसमूह से उन्नत (डील डौल में बड़े) मालूम पड़ते थे । उनके शरीर का रङ्ग हल्का नीला था । उनके शिर पर पीले वर्ण की जटा थी । अतः वे बिजली से युक्त मेघ के समान दिखलाई पड़ते थे ॥ १ ॥

प्रसादलक्ष्मीं दधतं समग्रां वपुःप्रकर्षेण जनातिगेन ।
प्रसह्य चेतःसु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम् ॥ २ ॥

प्रसादेति । पुनः समग्रां सम्पूर्णां प्रसादः सौम्यता तस्य लक्ष्मीं संपदं दधतम् । अत एव जनमतिगच्छतीति जनातिगेन लोकातिशायिना । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः । वपुःप्रकर्षेणाकारसम्पदाऽसंस्तुतानामपरिचितानामपि । व्यासोऽयमित्यजानतामपीत्यर्थः । 'संस्तवः स्यात्परिचयः' इत्यमरः । चेतःसु चित्तेष्वार्द्रंभावमभिप्रायं प्रसह्य बलात्समासजन्तम् । लगयन्तमिति यावत् । 'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि' इत्युपधाया लोपः । प्रसन्नाकारेषु सर्वोऽपि स्निह्यतीति भावः ॥ २ ॥

उनमें प्रसन्नता की सम्पूर्ण सामग्रियाँ पाई जाती थीं । वे शरीर की स्थूलता में सबसे बढ़े-चढ़े थे । जिसके कारण अपरचित लोगों के हृदय में भी अपने विषय में श्रद्धा और भक्ति का भाव स्थापित करा देते थे ॥ २ ॥

अनुद्धताकारतया विविक्तां तन्वन्तमन्तःकरणस्य वृत्तिम् ।
माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा कृतोपसंभाषमिवेक्षितेन ॥ ३ ॥

अनुद्धतेति । पुनरनुद्धताकारतया शान्ताकारत्वेन लिङ्गेनान्तःकरणस्य वृत्तिं विविक्तां पूताम् । शान्तामिति यावत् । "विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः । तन्वन्तं प्रकटयन्तम् । आकृतिरेवास्य चित्तशुद्धिं कथयतीत्यर्थः । पुनर्माधुर्यं निसर्गसौम्यता

विस्रम्भो विश्वासः। 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः। तयोर्विशेषमतिशयं भजतीति तथोक्तेनेक्षितेन दर्शनेनेव कृतोपसंभाषा संभाषणं येन तमिवेत्युत्प्रेक्षा। दृष्टिविशेषेणैवोपसंभाषमाणमिव स्थितमित्यर्थः। काशिकायां तु 'उपसम्भाषणमुपसान्त्वनम्' इति भासनादिसूत्रे ॥ ३ ॥

उनका आकार शान्त था, जिससे उनके अन्तःकरण की सौम्यता के भाव स्पष्ट झलक रहे थे। सौम्यता और विश्वासपूर्ण अवलोकन से प्रतीत होता था कि इनसे कभी सम्भाषण हो चुका है ॥ ३ ॥

धर्मात्मजो धर्मनिबन्धिनीनां प्रसूतिमेनःप्रणुदां श्रुतीनाम्।
हेतुं तदभ्यागमने परीप्सुः सुखोपविष्टं मुनिमाबभाषे ॥ ४ ॥

धर्मेति। पुनर्धर्मं निबध्नन्तीति धर्मनिबन्धिनीनामग्निहोत्रादिधर्मप्रतिपादिकानाम्। एनःप्रणुदामघच्छिदाम्। क्विप्। श्रुतीनां वेदानाम्। 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' इत्यमरः। प्रसूतिं प्रभवं सुखेनोपविष्टं मुनिं तदभ्यागमने तस्य मुनेरागमने हेतुं परीप्सुर्जिज्ञासुः। आप्नोतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' इतीकारः। 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः। आबभाषे उवाच ॥ ४ ॥

वे अग्निहोत्रप्रभृति जो धार्मिक कृत्य हैं उनके प्रतिपादक और दुष्कृतों के विनाशक शास्त्रों के निर्माणकर्ता (रचयिता) थे। ऐसे मुनि के आगमन का कारण जानने की इच्छा से धर्मपुत्र (युधिष्ठिर) ने मुनि से कहा ॥ ४ ॥

अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा फलस्य निर्धूतरजाः सवित्री।
तुल्या भवद्दर्शनसंपदेषा वृष्टेर्दिवो वीतवलाहकायाः ॥ ५ ॥

अनाप्तेति। अनाप्तपुण्योपचयैरकृतपुण्यसंग्रहैर्दुरापा दुर्लभा फलस्य सवित्री श्रेयस्करी निर्धूतरजा हृतरजोगुणा, अन्यत्र निरस्तधूलिः। 'रजो रजोगुणे धूलौ परागार्त्तवयोरपि' इति शाश्वतः। एषा भवद्दर्शनसंपत्संपत्तिः। लाभ इति यावत्। संपदादिभ्यः क्विपो भावार्थत्वात्। वीतवलाहकाया गतमेघाया दिव आकाशस्य संबन्धिन्या वृष्टेस्तुल्येत्युपमाऽलंकारः। अनभ्रवृष्टिवदतर्कितोपनतं भवद्दर्शनं सर्वथा कस्यचिच्छ्रेयसो निदानमित्यर्थः। वारि वहतीति वलाहकः। पृषोदरादित्वात्साधुः ॥ ५ ॥

आपकी यह दर्शन-सम्पत्ति, बिना पुण्य सञ्चय किए पुरुषों के लिये दुष्प्राप्य है, यह रजोगुण से रहित है, और अभिलाषाओं को सफल बनाने में समर्थ है। यह मेघनिर्मुक्त आकाश की वर्षा के सदृश है। मुझ—जैसे व्यक्ति के लिये आपका दर्शन असम्भावित था ॥ ५ ॥

अद्य क्रियाः कामदुघाः क्रतूनां सत्याशिषः संप्रति भूमिदेवाः।
आ संसृतेरस्मि जगत्सु जातस्त्वय्यागते यद् बहुमानपात्रम् ॥ ६ ॥

अद्येति । अद्य क्रतूनां क्रिया अनुष्ठानानि कामान् दुहन्तीति कामदुघाः । फलदा इत्यर्थः । 'दुहः कब्घश्च' इति कप्प्रत्ययो घादेशश्च । संप्रत्यद्य भूमिदेवा ब्राह्मणाः । 'द्विजात्यग्रजन्मभूदेववाडवा विप्रश्च ब्राह्मणः' इत्यमरः । सत्याशिषो जाताः । ब्राह्मणाशिषोऽद्य फलिता इत्यर्थः । यद्यतः कारणात्त्वय्यागते सति । त्वदागमनेन निमित्तेनेत्यर्थः । अस्मीत्यहमर्थेऽव्ययम् । 'अस्मीत्यस्मदर्थानुवादेऽहमर्थेऽपि' इति प्रयोगाच्च । आ संसृतेरा संसाराद । यावत्संसारमित्यर्थः । अभिविधावाङ्विकल्पादसमासः । जगत्सु बहुमानपात्रं बहुयोग्यताभाजनम् । जातः । सकलसत्कर्मफलभूतं त्वदागमनं येन मे जगन्मान्यतेति भावः ॥ ६ ॥

आज आपके शुभागमन से मेरे किए हुए यज्ञानुष्ठान सम्पूर्ण कामनाओं के पूरक हुये। इस समय ब्राह्मणों का आशीर्वाद सत्य हो गया। जब से सृष्टि की रचना हुई है, तब से मैं ही आज इस संसार में सबसे अधिक सम्मान का पात्र हुआ ॥ ६ ॥

श्रियं विकर्षत्यपहन्त्यघानि श्रेयः परिस्नौति तनोति कीर्तिम् ।
संदर्शनं लोकगुरोरमोघं तवात्मयोनेरिव किं न धत्ते ॥ ७ ॥

श्रियमिति । आत्मयोनेर्ब्रह्मण इव लोकगुरोस्तवामोघमविफलं संदर्शनं श्रियं विकर्षत्याकर्षति । अघानि दुःखान्यपहन्ति । 'अहोदुःखव्यसनेष्वघम्' इत्यमरः । श्रेयः पुरुषार्थं परिस्नौति स्रवति । कीर्तिं च तनोति किं बहुना किं न धत्ते किं न करोति । सर्वं करोतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

जगत्पूज्य, आपका दर्शन, स्वयम्भू (ब्रह्मा) के समान विफल नहीं हो सकता, वह श्री की वृद्धि करता है, पापों को निर्मूल करता है, कल्याण की वर्षा करता है और कीर्ति का विस्तार करता है ॥ ७ ॥

श्च्योतन्मयूखेऽपि हिमद्युतौ मे न निर्वृतं निर्वृतिमेति चक्षुः ।
समुज्झितज्ञातिवियोगखेदं त्वत्सन्निधावुच्छ्वसितीव चेतः ॥ ८ ॥

श्च्योतदिति । हे भगवन् ! श्च्योतन्मयूखे सुधास्राविकरे हिमद्युताविन्दावपि विषये ननिर्वृतम् । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । मे चक्षुस्त्वत्सन्निधौ निर्वृतिं सुखमेति । तथा चेतश्च समुज्झितज्ञातिवियोगखेदं त्यक्तबन्धुविरहदुःखं समुच्छ्वसितीवानुपरोधेन प्राणितीवेत्युत्प्रेक्षा । पूर्वार्द्धे तु निर्वृतिकारणे सत्यपीन्दावनिर्वृतिकथनाद्विशेषोक्तिः । तदुक्तं—'तत्सामग्र्यामनिर्वृतिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते' इति ॥

अमृतमयी किरणों के परिस्रवणकारी और शीतल ज्योतिःसम्पन्न चन्द्रमा के दर्शन से मेरे नेत्र (तृप्त) नहीं होते थे, वे (आज) आपके दर्शन से तृप्त हो गये। इस समय बान्धवों के वियोगजनित दुःख का परित्याग कर मेरा हृदय पुनः जीवित हो उठा है ॥ ८ ॥

निरास्पदं प्रश्नकुतूहलित्वमस्मास्वधीनं किमु निःस्पृहाणाम् ।
तथापि कल्याणकरीं गिरं ते मां श्रोतुमिच्छा मुखरीकरोति ॥ ९ ॥

निरास्पदमिति । प्रश्नकुतूहलित्वं निरास्पदम् । त्वदागमनप्रयोजनप्रश्नो निरास्पद इत्यर्थः । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । प्रश्नानवकाशे हेतुमाह— निःस्पृहाणाम् । युष्मादृशामित्यर्थः । अस्मास्वधीनमायत्तं किमु । न किञ्चिदस्मत्तो लभ्यमित्यर्थः । आधारत्वविवक्षायां सप्तमी । तथाऽपि कल्याणकरीम् । अस्मद्धितैकहेतुमित्यर्थः । निःस्पृहवृत्तेः पारार्थ्यादिति भावः । 'कृञो हेतु–' इति टप्रत्यये ङीप् । अतस्ते गिरं श्रोतुमिच्छा माम् । मुखं वागस्यास्तीति मुखरो निरन्तरभाषी । 'रप्रकरणे रमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्' इति रः । 'दुर्मुखे मुखराबद्धमुखौ' इत्यमरः । ततश्च्विप्रत्ययः मुखरीकरोति । व्याहारयतीत्यर्थः । निःस्पृहस्यापि ते वाक्यमस्मद्धितकरत्वाच्छ्रोतव्यमिति भावः ॥ ९ ॥

आपके आगमन के प्रयोजन की वार्ता सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि जिन्हें किसी तरह की इच्छा नहीं है उनका हम लोगों के साथ प्रयोजन ही क्या हो सकता है ? । यह होते हुए भी आपके आगमनप्रयोजन की वार्ता जानने के लिए मेरी इच्छा मुझे प्रेरित करती है ॥ ९ ॥

इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं मनः समाधाय जयोपपत्तौ ।
उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः ॥ १० ॥

इतीति । इतीत्थमुक्तिविशेषरम्यामुक्तिवैचित्र्यचारु यथा तथोक्तवान् । उदारचेता महामना नरेन्द्रो द्वैपायनेन व्यासेन । द्वीपमयनं स्थानं जन्मभूमिर्यस्य स द्वीपायनः । स एव द्वैपायनस्तेन । 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । नापत्यार्थे । 'नडादिभ्यः फक्' । तेष्वेव पाठाद्बाधितार्थत्वाच्च । जयोपपत्तौ मनः समाधाय । जयसिद्धिमपेक्ष्येत्यर्थः । इति वक्ष्यमाणप्रकारामुदारामर्थवतीं गिरमभिदध उक्तः । दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि लिट् । 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् । अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्त्तुश्च कर्मणः' ॥ इति वचनात् ॥ १० ॥

उदार अभिप्राय वाले युधिष्ठिर ने पूर्वोक्त प्रकार की उक्ति के वैचित्र्य से सुन्दर वचन कहे । फिर उनके विजय लाभ का ध्यान रखते हुये व्यासजी ने उदार वचनों में महाराज से कहा ॥ १० ॥

आदौ तावत्तस्य माध्यस्थ्यभङ्गदोषं युग्मेन परिहरति—

चिचीषतां जन्मवतामलघ्वीं यशोऽवतंसामुभयत्र भूतिम् ।
अभ्यर्हिता बन्धुषु तुल्यरूपा वृत्तिर्विशेषेण तपोधनानाम् ॥ ११ ॥

चिचीषतामिति । अलघ्वीं गुर्वीम् । 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीष् । यशो-

ऽवतंसां कीर्तिभूषणाम् । उभयत्रेह चामुत्र च भूतिं श्रेयश्चिचीषतां चेतुं सङ्ग्रहीतुमिच्छताम्, चिनोतेः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः । जन्मवतां शरीरिणां बन्धुषु विषये तुल्यरूपैकविधा वृत्तिर्व्यवहारोऽभ्यर्हितोचिता । तपोधनानां त्वस्मत्सदृशां विशेषेण नियमेनाभ्यर्हिता ॥ ११ ॥

इस लोक तथा परलोक में कीर्ति और शोभा से युक्त महान् ऐश्वर्य्य की कामना करने वाले शरीरधारियों के लिये कुटुम्बियों के समक्ष समान व्यवहार करना उचित है, तथा तपस्वियों के लिये तो विशेष प्रकार से समान व्यवहार करना उचित है ॥ ११ ॥

तथापि निघ्नं नृप ! तावकीनैः प्रह्वीकृतं मे हृदयं गुणौघैः ।
वीतस्पृहाणामपि भुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः ॥ १२ ॥

तथापीति । तथापि तुल्यवृत्त्यौचित्येऽपि । हे नृप ! तावकीनैस्त्वदीयैः । 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च' इति खञ्प्रत्ययः । 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः । गुणौघैः प्रह्वीकृतमावर्जितं मे हृदयं निघ्नं त्वदायत्तम् । 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः । ननु निःस्पृहस्य कोऽयं पक्षपात इत्यत्राह—वीतेति । वीतस्पृहाणां विरक्तानां मुक्तिभाजाम् । मुमुक्षूणामपीत्यर्थः । भवन्तीति भव्याः साधवः । 'भव्यगेय—' इत्यादिना कर्त्तरि निपातः । तेषु पक्षपाताः स्नेहा भवन्ति । न तु साध्वनुग्रहो महतां माध्यस्थ्यभञ्जक इति भावः ॥ १२ ॥

यद्यपि हमें दोनों को समान दृष्टि से देखना चाहिए तो भी हे राजन् ! आपकी गुणराशि से आकृष्ट होकर मेरा हृदय आपके वश में हो गया है । कामनारहित, मुक्ति के चाहने वाले महात्माओं का भी सज्जनों के प्रति पक्षपात हो ही जाता है ॥ १२ ॥

अथ नृपस्य गुणवत्तां प्रकटयितुं धृतराष्ट्रस्य दुश्चेष्टामुद्घाटयति—

सुता न यूयं किमु तस्य राज्ञः सुयोधनं वा न गुणैरतीताः ।
यस्त्यक्तवान्वः स वृथा बलाद्वा मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः ॥ १३ ॥

सुता इति । यूयं तस्य राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सुताः पुत्रा न किमु । अपि तु सुता एवेत्यर्थः । गुणैः शान्तिदानदाक्षिण्यादिभिः । सुयोधनं नातीता नातिक्रान्ता वा । अतीता एवेत्यर्थः । कर्त्तरि क्तः । असुतत्वमगुणत्वं च त्यागे हेतुः । युष्मासु तन्नास्तीत्यर्थः । उपालम्भे कारणमाह—य इति । यो धृतराष्ट्रो वो युष्मान् वृथा निष्कारणमेव त्यक्तवान् । यदि वयं सुता गुणाधिकाश्च तर्हि कथमत्याक्षीत्तत्राह—बलादिति । स विषयाभिलाषो भोगतृष्णा बलाद्वा बलादिव । 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थेऽपि समुच्चये' इति विश्वः । मोहमविवेकं विधत्ते । विषयाभिलाषातिरिक्तो न कश्चिद्युष्मत्त्यागहेतुरस्तीत्यर्थः । अत्र कार्यकारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १३ ॥

क्या आप लोग उस धृतराष्ट्र के पुत्रों में से नहीं हैं? अथवा आप लोगों ने गुणों से सुयोधन को नहीं जीता है क्या? जिसने आप लोगों को व्यर्थ निर्वासित किया है, वे विषयेच्छुक धृतराष्ट्र हठपूर्वक अविवेकी बने हुए हैं ॥ १३ ॥

अथ राज्ञ उत्साहवर्द्धनाय शत्रोर्हानिं सूचयति—

जहातु नैनं कथमर्थसिद्धिः संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः।
असाधुयोगा हि जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि ॥ १४ ॥

जहात्विति। एनं धृतराष्ट्रमर्थसिद्धिः कथं न जहातु। जहात्वेवेत्यर्थः। 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' इति प्राप्तकाले लोट्। तस्य हानिकालः प्राप्त इत्यर्थः। कुतः। यो धृतराष्ट्रः संशय्य संदिह्य कर्णादिषु तिष्ठते। 'कर्णादीन्दुर्मन्त्रिण' सन्दिग्धार्थे निर्णेतृत्वेनावलम्बत इत्यर्थः। 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इति स्थेयाख्यायामात्मनेपदम्। तिष्ठतेऽस्मिन्निति स्थेयो विवादपदनिर्णेता। तथा हि। असाधुयोगा दुर्जनसंसर्गा जयान्तराया जयविघातकाः। किञ्च प्रमाथिनीनामुन्मूलनशीलानां विपदां पदानि स्थानानि। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। न केवलं जयघातिनः किन्त्वनर्थकारिणश्चेत्यर्थः। धृतराष्ट्रोऽपि दुर्जनविधेयत्वाद्विनङ्क्ष्यतीति भावः ॥ १४ ॥

अर्थ-सिद्धि (प्रयोजन-सिद्धि) इस धृतराष्ट्र से, जो सन्देहग्रस्त विषयों का निर्णय करने के लिये कर्ण प्रभृति दुर्मन्त्रियों का आश्रय लेता है, क्यों नहीं अलग हो जाती? क्योंकि दुष्टों का संपर्क विजय में बाधक होता है और सर्वनाशक विपत्तियों का स्थान होता है ॥ १४ ॥

एवं शत्रोरनर्थं सूचयित्वा राज्ञोऽर्थसिद्धिं सूचयति—

पथश्च्युतायां समितौ रिपूणां धर्म्यां दधानेन धुरं चिराय।
त्वया विपत्स्वप्यविपत्तिरम्यमाविष्कृतं प्रेम परं गुणेषु ॥ १५ ॥

पथ इति। रिपूणां समितौ सभायाम्। 'सभासमितिसंसदः' इत्यमरः। पथश्च्युतायां मार्गाद् भ्रष्टायाम्। दुरात्मनो दुःशासनस्य स्त्रीग्रहणसाहसमङ्गीकृतवत्यामित्यर्थः। चिराय धर्म्यां धर्मादनपेताम्। 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः। धुरं भारं दधानेन। कृच्छ्रेष्वपि धर्मादचलतेत्यर्थः। त्वया विपत्स्वपि, अविपत्त्यविनाश्यत एव रम्यं गुणेषु शान्त्यादिषु विषये परमुत्कृष्टम् प्रेमाविष्कृतम् प्रकटीकृतम्। दुःसहमपि सोढवता त्वया साधु कृतमिति भावः ॥ १५ ॥

जब आपके शत्रुओं की सभा पथभ्रष्ट हो चुकी (जिसके फलस्वरूप दुःशासन ने द्रौपदी के वस्त्रापहरण की चेष्टा की) थी, उस समय भी आप लोग बहुत कालतक धर्मपूर्वक

कार्य्यभार वहन करते रहे। आपने विपत्ति के समय भी गुणों के प्रति स्थायी एवं प्रशंसनीय प्रेम प्रदर्शन किया है ॥ १५ ॥

विधाय विध्वंसमनात्मनीनं शमैकवृत्तेर्भवतश्छलेन ।
प्रकाशितत्वन्मतिशीलसाराः कृतोपकारा इव विद्विषस्ते ॥ १६ ॥

विधायेति। किं च शम एवैका मुख्या वृत्तिर्यस्य तस्यापरोपतापिनो भवतश्छलेन कपटेन। आत्मने हितं आत्मनीनः। स न भवतीत्यनात्मनीनः। स्वस्यैवानर्थहेतुरित्यर्थः। तम्। 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः' इति खप्रत्ययः। विध्वंसमपकारं विधाय कृत्वा। प्रकाशितः प्रख्यापितस्त्वन्मतिशीलयोस्तव प्रज्ञासद्वृत्तयोः सारः प्रकर्षो यैस्ते तथोक्ताः। ते तव विद्विषः कृतोपकारा इवोपकृतवन्त इव। अपकारोऽप्युपकारायैव संवृत्तः। यदेषां दौर्जन्यं युष्मत्सौजन्यं च जगति सुव्यक्तमासीदित्यर्थः। विद्यमानस्यापि सुजनस्य चन्दनदारुण इव गुणाः परिभव एव प्रचुरीभवन्तीति भावः ॥ १६ ॥

आपके शत्रुओं ने, शान्ति के उपासक आपका अपकार, जो उनके स्वयं अनर्थ का कारण है, करके आपकी बुद्धि और शील का प्रकर्ष दिखलाते हुये मानों आपका उपकार ही किया है, क्योंकि उन लोगों के किये हुये दुर्व्यवहार से उनके और आपके गुणों का यथार्थ परिचय मिल गया है ॥ १६ ॥

अथ प्रयोजनान्तरमाह—

लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः ।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः ॥ १७ ॥

लभ्येति। तव। त्वयेत्यर्थः। 'कृत्यानां कर्त्तरि वा' इति षष्ठी। धरित्री विक्रमेण लभ्या प्राप्तव्या। न च सुलभ्या तं विनेत्याह—विपक्षश्च शत्रुरपि। वीर्यं शौर्यमस्त्राण्याग्नेयादीनि बलानि सैन्यानि तैर्ज्यायान्प्रशस्यतरः। अधिकतर इति यावत्। ज्येष्ठस्य 'ज्यादादीयसः' इति ज्यादेशः। अतः प्रकर्षायाधिक्याय विधिरुपायो विधेयः कर्त्तव्यः। कुतः। हि यस्माद्रणे जयश्रीः प्रकर्षतन्त्रा प्रकर्षप्रधाना। प्रकर्षायत्तेत्यर्थः। 'तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते' इत्यमरः। बलिन एव जयः, न तु दुर्बलस्येति भावः ॥ १७ ॥

पराक्रम का आश्रय लेकर ही आपको पृथ्वी पर अधिकार प्राप्त करना होगा। आपका शत्रु बल और शस्त्र में आपसे बढ़ा-चढ़ा है। अतः शत्रु से बढ़ने के लिये उपाय करना होगा, क्योंकि युद्धक्षेत्र में विजयलक्ष्मी प्रकर्षाधीन रहती है ॥ १७ ॥

अथ 'त्रिः—' इत्यादिना श्लोकचतुष्टयेन विपक्षज्यायस्त्वं वर्णयति—

त्रिःसप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः।
वीर्यावधूतः स्म तदा विवेद प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम् ॥ १८ ॥

त्रिःसप्तेति। त्रिरावृत्तान्सप्तवारांस्त्रिःसप्तकृत्वः। एकविंशतिकृत्व इत्यर्थः। त्रिः–सप्तशब्दयोः 'सुप्सुपे'ति समासः। 'संख्यायाः क्रियाऽभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' इति कृत्वसुच्प्रत्ययः। जगतीपतीनां महीपतीनां हन्ता नाशको गुरुरस्त्रवेदोपदेष्टा। सः प्रसिद्ध इत्यर्थः। अत एव यच्छब्दानपेक्षत्वम्। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते' इति। जमदग्नेरपत्यं पुमान् जामदग्न्यः। 'गर्गादिभ्यो यञ्' इति यञ्प्रत्ययः। यस्य भीष्मस्य वीर्यावधूतो विक्रमाभिभूतः। अम्बिकास्वयंवर इत्यर्थः। तदा भङ्गप्राप्तिसमये गुणानां शौर्यादीनां प्रकर्षमतिशयमाधारवशमाश्रयाधीनं विवेद जज्ञे। स्म। स्वविद्यायाः स्वशिष्ये भीष्मे स्वस्मादपि प्रकर्षाधानदर्शनादिति भावः। 'स्म पादपूरणे भूतेऽर्थे च' इति विश्वः॥ १८ ॥

परशुराम जमदग्नि ऋषि के पुत्र थे, उन्होंने इक्कीस बार राजाओं का वध कर डाला था तथा शस्त्रविद्या के वे आचार्य थे। वे भी अपने शिष्य भीष्म से पराजित हो गये (हार गए) तब उन्होंने समझा कि जैसा पात्र होगा वैसा ही गुणों का प्रकर्ष होगा॥ १८॥

यस्मिन्ननैश्वर्यकृतव्यलीकः पराभवं प्राप्त इवान्तकोऽपि।
धुन्वन्धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणं स भीष्मः॥ १९ ॥

यस्मिन्निति। यस्मिन्भीष्मे विषये अनीश्वरस्य भावोऽनैश्वर्यमसामर्थ्यम्। नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम्' इति विकल्पान्नञः पूर्वपदवृद्ध्यभावः। तेन कृतव्यलीको जनितवैलक्ष्यः। 'दुःखे वैलक्ष्ये व्यलीकम्' इति यादवः। 'अन्तकोऽपि यमोऽपि पराभवं प्राप्त इव। भीष्मस्येच्छामरणत्वादन्तकोऽपि पराजित इवास्ते, किमुतान्य इति भावः स भीष्मो रणे धनुर्धुन्वन्कम्पयन्कस्य मनो भयैकप्रवणं भय एकप्रवणमेकोन्मुखम्। शिवभागवतवत्समासः न कुर्यात्। सर्वस्यापि मनसि भयं कुर्यादेवेत्यर्थः॥ १९ ॥

जिन भीष्मपितामह के विषय में यमराज भी असामर्थ्य से दुखी होकर पराजित सा हो गया, वही भीष्म युद्धस्थल में धनुष्प्रकम्पन करते हुए किसके मन में भय उत्पन्न नहीं करेंगे अर्थात् सभी लोग भय से व्याप्त हो जायेंगे अर्थात् भीष्म ऐसे वीर सुयोधन के सहायक हैं, इसलिये वह आपसे बल में बढ़ कर है॥ १९॥

सृजन्तमाजाविषुसंहतीर्वः सहेत कोपज्वलितं गुरुं कः।
परिस्फुरल्लोलशिखाग्रजिह्वं जगज्जिघत्सन्तमिवान्तवह्निम्॥ २०॥

सृजन्तमिति। आजौ रण इषुसंहतीर्बाणसङ्घान् सृजन्तं वर्षन्तं कोपज्वलितमत एव परिस्फुरन्त्यो लोलाश्च शिखाग्राण्येव जिह्वा यस्य तं तथोक्तम्। जगल्लोकं जिघत्सन्तमत्तुमिच्छन्तम्। अदेः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः। 'लुङ्सनोर्घस्लृ' इति घस्लादेशः। अन्तर्वाह्न' कालाग्निमिव स्थितं गुरुं द्रोणं वो युष्माकं मध्ये कः सहेत सोढुं शक्नुयात्। न कोऽपीत्यर्थः। 'शकि लिङ् च' इति शक्यार्थे लिङ्॥ २०॥

जिस तरह प्रलयाग्नि अपने प्रचण्ड ज्वाला से संसार को जलाने के लिये उत्पन्न होता है, उस समय उसकी ज्वाला में सब लोग आहुति बन जाते हैं, ठीक उसी तरह द्रोणाचार्य लड़ाई के मैदान में बाणों की वर्षा करते हुए क्रोध में आकर सम्मुख उपस्थित हो जायेंगे उस समय आप लोगों में से कौन व्यक्ति उनका सामना कर सकता है?॥ २०॥

निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम्।
असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपातः॥ २१॥

निरीक्ष्येति। संरम्भेण कोपेन निरस्तं त्याजितं धैर्यं निर्विकारचित्तत्वं येन तं तथोक्तम्। आटोपेनैव परधैर्यापहारिणमित्यर्थः। आराधितजामदग्न्यं शुश्रूषितभार्गवम्। जामदग्न्यादधिगतास्त्ररहस्यमित्यर्थः राधेयं राधासुतं कर्णम्। 'स्त्रीभ्यो ढक्'। निरीक्ष्य मृत्योरप्यसंस्तुतेष्वपरिचितेषु। 'संस्तवः स्यात्परिचयः' इत्यमरः। भयेषु प्रसभं पक्षपातः परिचयो जायेत। मृत्युरप्यस्माद्बिभीयात्किमुतान्य इति भावः। संभावनायां लिङ्। अत्र जनिक्रियाऽपेक्षया समानकर्तृकत्वाभावेऽपि पक्षपातक्रियाऽपेक्षया तत्सम्भवान्निरीक्ष्येति ल्यब्निर्देशः समर्थनीयः। 'प्रधानोपसर्जनभावस्त्वप्रयोजकः' इति व्यक्तिविवेककारः। अत्र भयसम्बन्धरहितस्य मृत्योर्भयसम्बन्धाभिधानादसम्बन्धे सम्बन्धरूपाऽतिशयोक्तिरलङ्कारः॥ २१॥

जिस अधिरथ-पुत्र कर्ण के कोपमात्र से धैर्य का भी धैर्य्य छूट जाता है। जिन्होंने जमदग्नि-कुमार परशुराम की अच्छी तरह शुश्रूषा की है अर्थात् उनकी सेवा करके सरहस्य शस्त्रों को पाया है, ऐसे कर्ण को देखकर मृत्यु को ऐसा भय आ दबोचता है जिसका स्वरूप उनको स्वप्न में दिखलाई न पड़ा होगा॥ २१॥

अथानन्तरं करणीयमागमनप्रयोजनं च युग्मेनाह—

यया समासादितसाधनेन सुदुश्चरामाचरता तपस्याम्।
एते दुरापं समवाप्य वीर्यमुन्मूलितारः कपिकेतनेन॥ २२॥

ययेति। यया विद्यया करणेन सुदुश्चरामतिदुष्करां तपस्यां तपश्चर्याम्। 'कर्म्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोः' इति क्यङ्। 'अप्रत्ययात्' इति स्त्रियामप्रत्ययः। आचरता। पशुपतिं प्रति तपः कुर्वतेत्यर्थः। अत एव समासादितं प्राप्तं साधनं पाशुप-

तास्त्ररूपं येन तेन । कपिर्हनूमान्केतनं चिह्नं यस्य तेन । अर्जुनेनेत्यर्थः । दुरापमन्यस्य दुर्लभं वीर्यं तेजः समवाप्य । एते पूर्वोक्ता भीष्मादय उन्मूलितार उन्मूलयिष्यन्ते । उन्मूलयतेर्ण्यन्तात्कर्मणि लट् । अत्र चिण्वदिडागमेऽपि तस्य 'असिद्धवदत्राभाद' इत्यसिद्धत्वाद् 'णेरनिटि' इति णिलोपः । तन्निमित्तस्यैव 'अनिटि' इति निषेधात् । उक्तं च—'चिण्वद् वृद्धिर्युक्च हन्तेश्च घत्वं, दीर्घश्चोक्तो यो मितां वा चिणीति । इट् चासिद्धस्तेन मे लुप्यते णिर्नित्यश्चायं वल्निमित्तो विघाती ॥' इति ॥ २२ ॥

जिस मन्त्रविद्या के अनुसार अर्जुन उग्र तपश्चर्या करके पाशुपतास्त्र रूप साधन प्राप्त करेंगे और जिसके कारण दुष्प्राप्य पराक्रम प्राप्त करके वह इन भीष्म, द्रोण और कर्ण प्रभृति वीरों का नाश करने में समर्थ होंगे ॥ २२ ॥

महत्त्वयोगाय महामहिम्नामाराधनीं तां नृप ! देवतानाम् ।
दातुं प्रदानोचित ! भूरिधाम्नीमुपागतः सिद्धिमिवास्मि विद्याम् ॥२३॥

महत्त्वेति । हे नृप ! महत्त्वयोगाय प्रकर्षलाभाय महामहिम्नां महानुभावानां देवतानामिन्द्रादीनाम् । आराध्यतेऽनयेत्याराधनी ताम् । प्रसादयित्रीमित्यर्थः । करणे ल्युट् ङीप् । भूरिधाम्नीं महाप्रभावाम् । 'धाम देशे गृहे रश्मौ स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति विश्वः । 'अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्' इति वा ङीप् । तां विद्यामिन्द्रमन्त्ररूपां सिद्धिं साक्षात्कार्यसिद्धिमिवेति विद्याया अमोघत्वोक्तिः । हे प्रदानोचित ! दानपात्रभूत ! फलभोक्तृत्वादस्य पात्रत्वोक्तिः । दातुमुपागतोऽस्मि ॥ २३ ॥

ऐ प्रदानपात्र ! वह मन्त्रविद्या—जिसके द्वारा महामहिमशाली इन्द्रादिक देवताओं का आराधन किया जाता है; जिनका पराक्रम अतुल है और जो साक्षात् अणिमा, महिमा, लघिमा इत्यादि सिद्धि स्वरूपा हैं; उसी मन्त्रविद्या का प्रदान करने के लिये आपके यहाँ उपस्थित हुआ हूँ । उससे आप लोगों के प्रकर्ष (बल और पराक्रम) की अभिवृद्धि होगी ॥ २३ ॥

इत्युक्तवन्तं व्रज साधयेति प्रमाणयन्वाक्यमजातशत्रोः ।
प्रसेदिवांसं तमुपाससाद वसन्निवान्ते विनयेन जिष्णुः ॥ २४ ॥

इतीति । इत्युक्तवन्तं प्रसेदिवांसं प्रसन्नम् । 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुः । तं मुनिं जिष्णुर्जयनशीलोऽर्जुनः । 'ग्लाजिस्थश्च—' इति ग्स्नुप्रत्ययः । व्रज साधयानुतिष्ठेत्येवंरूपम् । अजातशत्रोर्धर्मराजस्य । स्वयमविद्वेषणशीलत्वादियं संज्ञा । वाक्यं प्रमाणयन् । तदादिष्टः सन्नित्यर्थः । अन्ते वसंश्छात्र इव 'छात्रान्तेवासिनौ शिष्ये' इत्यमरः । विनयेनानौद्धत्येनोपाससाद समीपं प्राप ॥ २४ ॥

अर्जुन, विद्यार्थी की तरह (ज्येष्ठ भ्राता) युधिष्ठिर की 'जाओ, तपस्या करो' इस आज्ञा को स्वीकार कर विनम्र भाव से, विद्या का माहात्म्य समझाते हुये तथा प्रसन्नमुख वेदव्यास के समक्ष उपस्थित हुये ॥ २४ ॥

निर्याय विद्याऽथ दिनादिरम्याद्बिम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षेः ।
पार्थाननं वह्निकणावदाता दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे ॥ २५ ॥

निर्यायेति । अथ वह्निकणावदाता स्फुलिङ्गवदुज्ज्वला । देवतासान्निध्यादिति भावः । विद्येन्द्रमन्त्ररूपा । दिनादिरम्यादर्कस्य प्रभातभास्करस्य बिम्बादिव महर्षेर्व्यासस्य मुखान्निर्याय निर्गत्य । 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' । दीप्तिरर्कदीधितिः । स्फुरद्विकसत्पद्ममिव । पार्थाननमर्जुनस्य मुखमभिपेदे प्रविष्टा ॥ २५ ॥

जैसे दिन के प्रथम भाग में भगवान् भास्कर के विम्ब से निकल कर दीप्ति विकसित कमलों का आश्रय ग्रहण करती है, वैसे ही अग्नि की चिनगारियों के समान अत्यन्त प्रकाशमान विद्या ने महर्षि व्यास के मुख से निकल कर अर्जुन के मुख का आश्रय प्राप्त किया ॥

योगं च तं योग्यतमाय तस्मै तपःप्रभावाद्वितताार सद्यः ।
येनास्य तत्त्वेषु कृतेऽवभासे समुन्मिमीलेव चिराय चक्षुः ॥ २६ ॥

योगं चेति । योग्यतमायार्हतमाय तस्मै पार्थाय तं वक्ष्यमाणमहिमानं योगं ध्यानविधिं च । 'योगः संनहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः । तपःप्रभावात् सद्यो वितताार ददौ । चिरकालग्राह्यमपीति भावः । येन योगेन तत्त्वेषु प्रकृतिमहदादिषु । तथा च—मलप्रकृतिर्महानहङ्कारो मनश्च पञ्च तन्मात्राणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानीति चतुर्विंशति तत्त्वानि । तत्रावभासे साक्षात्कारे कृते सत्यस्यार्जुनस्य चक्षुरक्षि चिराय समुन्मिमीलेवोन्मिषितमिवेत्युत्प्रेक्षा । तदा तस्य कोऽपि महानखिलाज्ञानभञ्जनंस्तत्त्वावभासश्चिरादन्धस्य दृष्टिलाभ इवाभवदिति भावः ॥ २६ ॥

व्यासजीने अपने तपोबल से उचित पात्र अर्जुन को शीघ्र ही योगविधि को बतला दिया, जिससे चौबीसों तत्त्वों के ज्ञान में इनकी आँख बहुत समय के बाद खुली हुई की भाँति हो गई ॥ २६ ॥

आकारमाशंसितभूरिलाभं दधानमन्तःकरणानुरूपम् ।
नियोजयिष्यन्विजयोदये तं तपःसमाधौ मुनिरित्युवाच ॥ २७ ॥

आकारमिति । आशंसित आख्यातो भूरिलाभोऽनेकश्रेयःप्राप्तिर्येन तं तथोक्तम् । महाभाग्यसूचकमित्यर्थः । अन्तःकरणशब्देन तद्वृत्तिरुत्साहो लक्ष्यते । तदनुरूपं तदनुकूलम् । उत्साहानुगुणव्यापारक्षममित्यर्थः । आकारं मूर्त्ति दधानं तमार्जुनं मुनिर्विजयोदये विजयफलके तपःसमाधौ तपोनियमे । 'समाधिर्नियमे ध्याने नीवाके च समर्थने' इति विश्वः । नियोजयिष्यन् नियोजयितुमिच्छन्नित्यर्थः । 'लृट् शेषे च' इति लृट् । 'लृटः सद्वा' इति सत्प्रत्ययः । इति वक्ष्यमाणमुवाच ॥ २७ ॥

अर्जुन के अन्तःकरण में उत्साह झलक रहा था। उनकी आकृति महान् लाभ की सूचना दे रही थी। उन्हें विजयलाभ दिलाने वाले तपोनियम में लगाते हुये व्यासजी ने कहा—

अनेन योगेन विवृद्धतेजा निजां परस्मै पदवीमयच्छन् ।
समाचराचारमुपात्तशस्त्रो जपोपवासाभिषवैर्मुनीनाम् ॥ २८ ॥

अनेनेति । अनेन स्वोपदिष्टेन योगेन विवृद्धतेजा निजां पदवीं परस्मा अयच्छन् । परस्य प्रवेशमयच्छन्नित्यर्थः । उपात्तशस्त्रो निगृहीतायुधः सन् । जपोपवासाभिषवैः स्वाध्यायानशनस्नानैर्मुनीनामाचारं समाचरानुतिष्ठ ॥ २८ ॥

तुम (मेरे द्वारा उपदिष्ट इस) योग से अपने तेज और पराक्रम को वृद्धि करके, अपने मार्ग को किसी को प्रदर्शन न कराते हुए (अर्थात् गुप्त रूप से) हाथ में शस्त्र धारण कर मन्त्र जप, आहार परित्याग और अभिषेक पूर्वक ऋषियों की वृत्ति को धारण करो ॥ २८ ॥

क्षेत्रविशेषे तपःसिद्धिरित्याशयेन तं निदर्शयन्नाह—

करिष्यसे यत्र सुदुश्चराणि प्रसत्तये गोत्रभिदस्तपांसि ।
शिलोच्चयं चारुशिलोच्चयं तमेष क्षणान्नेष्यति गुह्यकस्त्वाम् ॥ २९ ॥

करिष्यस इति । यत्र शिलोच्चये गोत्रभिद इन्द्रस्य प्रसत्तये प्रसादाय सुदुश्चराणि तपांसि करिष्यसे. चारुशिलोच्चयं रम्यशिखरं तं शिलोच्चयं गिरिमिन्द्रकीलरूपम् । 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः' इत्यमरः । त्वामेष गुह्यको यक्षः । अनन्तरमेवास्य पुरःप्रादुर्भावादेष इति निर्देशः । क्षणान्नेष्यति प्रापयिष्यति ॥ २९ ॥

जिस पर्वत पर इन्द्र के प्रसन्नतार्थ तुम्हें उग्र तपश्चर्या करनी हैं, उस रम्य शिखर युक्त पर्वत पर यह यक्ष तुम्हें क्षणमात्र में पहुँचा देगा ॥ २९ ॥

इति ब्रुवाणेन महेन्द्रसूनुं महर्षिणा तेन तिरोबभूवे ।
तं राजराजानुचरोऽस्य साक्षात् प्रदेशमादेशमिवाधितष्ठौ ॥ ३० ॥

इतीति । इतीत्थं महेन्द्रसूनुमर्जुनं ब्रुवाणेनोक्तवता । 'वर्त्तमानसामीप्ये' इति भूते वर्त्तमानवत्प्रत्ययस्तिरोधानस्याविलम्बसूचनार्थः । तेन महर्षिणा तिरोबभूवेऽन्तर्दधे । भावे लिट् । राजराजो यक्षराजः । 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः' इति विश्वः । तस्यानुचरः पूर्वोक्तयक्षोऽस्य मुनेरादेशं साक्षादिव तं प्रदेशमर्जुनाधिष्ठितस्थानमधितष्ठौ । प्राप्त इत्यर्थः । 'स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य' इति षत्वम् ॥ ३० ॥

व्यासजी, इन्द्रपुत्र अर्जुन से पूर्वोक्त प्रकार का वार्तालाप समाप्त कर अन्तर्हित हो गये। इसके पश्चात् कुबेर का अनुचर (यक्ष) मुनि के मूर्त्तिधारी आदेश की तरह अर्जुन के पास आ खड़ा हुआ ॥ ३० ॥

कृतानतिर्व्याहृतसान्त्ववादे जातस्पृहः पुण्यजनः स जिष्णौ ।
इयाय सख्याविव सम्प्रसादं विश्वासयत्याशु सतां हि योगः ॥ ३१ ॥

कृतेति । स पुण्यजनो यक्षः कृतानतिः कृतप्रणामः सन्, व्याहृतसान्त्ववादे उक्तप्रियवचने । 'व्याहार उक्तिर्लपितम्' इत्यमरः । जिष्णावर्जुने जातस्पृहो जातानुरागः सन् । सख्यौ सुहृदीव । 'अथ मित्रं सखा सुहृद्' इत्यमरः । संप्रसादं विस्रम्भमियाय प्राप । तथा हि—सतां साधूनां योगः संगतिराशु विश्वासयति विश्वासं जनयति हि । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३१ ॥

यक्ष ने प्रणाम किया और मधुरभाषी अर्जुन में प्रेम उत्पन्न कर मित्र की तरह विश्वास किया, क्योंकि सुजनों का सम्पर्क शीघ्र ही विश्वास उत्पन्न करा देता है ॥ ३१ ॥

अथोष्णभासेव सुमेरुकुञ्जान्विहीयमानानुदयाय तेन ।
बृहद्द्युतीन्दुःखकृतात्मलाभं तमः शनैः पाण्डुसुतान्प्रपेदे ॥ ३२ ॥

अथेति । अथोष्णभासा सूर्येणोदयाय पुनरुद्गमाय विहीयमानांस्त्यज्यमानानिति तमःप्राप्तिकारणोक्तिः । बृहद्द्युतीन् सौवर्णत्वाद्दीप्यमानानित्यर्थः । इति तमसः संकोचकारणोक्तिः । सुमेरुकुञ्जानिव । अत्र सुमेरुग्रहणं कुञ्जानां सौवर्णत्वद्योतनार्थम् । तेनार्जुनेनोदयाय श्रेयसे विहीयमानान्बृहद्द्युतीननेकबुद्धिप्रकाशान् । पूर्ववद्विशेषणद्वययोजनमनुसंधेयम् । पाण्डुसुतान् । चतुर इति शेषः । दुःखेन कृच्छ्रेण कृत उपपादित आत्मलाभ उत्पत्तिर्यस्य तत्तथोक्तम् । तेषां विवेकित्वात्कथंचिल्लब्धोदयमित्यर्थः । तमः शोकोऽन्धकारश्च । 'तमोऽन्धकारे स्वर्भानौ तमः शोके गुणान्तरे' इत्युभयत्रापि विश्वः । शनैर्मन्दं प्रपेदे । तेषां विवेकित्वाद्भीतमीतमिवेति भावः । अत्र तमःशब्दस्य श्लिष्टत्वाच्छ्लेषानुप्राणितेयमुपमा ॥ ३२ ॥

जिस तरह सूर्य्य उदय होने के लिये, प्रकाशभाग सुमेरु के शिखरों को पीछे छोड़ देता है, फिर क्रमशः अन्धकार उन्हें व्याप्त कर लेता है—ठीक उसी तरह अर्जुन अभ्युदय के लिये अनेकविध बुद्धिचातुर्य से प्रसन्न रहने वाले अपने चारों भाई पाण्डुपुत्रों से जिस समय अलग होने लगे; उस समय दुःख के द्वारा उत्पन्न होने वाले शोक ने धीरे-धीरे उन्हें घेर लिया ॥३२॥

असंशयालोचितकार्यनुन्नः प्रेम्णा समानीय विभज्यमानः ।
तुल्याद्विभागादिव तन्मनोभिर्दुःखातिभारोऽपि लघुः स मेने ॥ ३३ ॥

असंशयेति । असंशयमसंदिग्धं यथा तथाऽऽलोचितं विवेचितं यत्कार्यं तेन नुन्नो निरस्त इति लघुत्वहेतूक्तिः 'नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्' इति निष्ठात्वम् । कार्यगौरवमालोच्य निरस्त इत्यर्थः । तथाऽपि प्रेम्णा भ्रातृवात्सल्येन कर्त्रा समानीय पुनराकृष्य विभज्यमानः समशोकभाणी क्रियमाणः । तुल्येन प्रेम्णा तुल्य-

दुःखत्वं भवतीति भावः। स पूर्वोक्तो दुःखमेवातिभारोऽपि। अतिभारभूतमपि दुःखमित्यर्थः। तन्मनोभिस्तेषां चतुर्णां पार्थानां मनोभिस्तुल्याद्विभागादिव पूर्वोक्तात्प्रेमकृतात् समविभागादिवेत्यर्थः। वस्तुतस्तु विवेकादेवेति भावः। पुनर्विभागग्रहणं तस्य हेतुत्वोत्प्रेक्षार्थमनुवाददोषः। लघुर्मेने मतः। यथैकोऽनेकधा विभज्य बहुभिरुह्यमानो महानपि भारो लघुर्मन्यते तद्वदित्यर्थः॥ ३३॥

चारों भाइयों ने चित्त से संशय का परित्याग करके कार्य्य भार के ऊपर विचार किया था, अतः दुःख का भार दूर हो गया था; परन्तु भ्रातृप्रेम के कारण फिर से उन्होंने एकत्रित करके मन से समान भागों में मानों विभक्त कर लिया, जिसके कारण वह हल्का मालूम पड़ने लगा॥ ३३॥

अथैवं प्रेम्णाऽऽकृष्यमाणमपि शोकं विवेको निर्जिगायेत्याह—

धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेस्तीव्रादरातिप्रभवाच्च मन्योः।
वीर्यं च विद्वत्सु सुते मघोनः स तेषु न स्थानमवाप शोकः॥ ३४॥

धैर्येणेति। धैर्येण तेषां निसर्गतो निर्विकारचित्तत्वेन तथा महर्षेर्व्यासस्य। प्रवर्तकस्येति शेषः। विश्वास्यतया। श्रद्धेयवचनत्वेनेत्यर्थः। अरातिप्रभवादरातिहेतुकात्तीव्राद् दुःसहान्मन्योः क्रोधाद्धेतोस्तथाऽर्जुनप्रभावपरिज्ञानाच्चेति हेत्वन्तरं विशेषणमुखेनाह—मघोनः सुतेऽर्जुने वीर्ये च। 'न लोके—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। विद्वत्सु। ज्ञानवत्स्वति यावत्। 'विदेः शतुर्वसुः' इति वैकल्पिको वस्वादेशः। तेषु पार्थेषु स शोकः स्थानं स्थितिं नावाप न प्राप॥ ३४॥

ये चारों भ्राता स्वाभाविक धैर्य्यशाली थे, महर्षि वेदव्यास के वचनों में श्रद्धा रखते थे; शत्रु-दुर्व्यवहार से उनके क्रोध की मात्रा भी बहुत बढ़ी चढ़ी थी, और इन्द्र के पुत्र अर्जुन के शौर्य्य को वे जानते थे; अतएव उन पाण्डवों के पास शोक ठहर न सका॥ ३४॥

तान् भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि दूरं विहाय यामानिव वासरस्य।
एकौघभूतं तदशर्म कृष्णां विभावरीं ध्वान्तमिव प्रपेदे॥ ३५॥

तानिति। तत्पार्थांस्त्यक्तवच्छर्म सुखम्। 'शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः। तद्विरुद्धमशर्म दुःखम्। 'नञ्' इति नञ्समासः। भूरिधाम्नोऽतितेजस्विन इति हानिहेतुत्वोक्तिः। चतुरस्तान्पार्थानपि वासरस्य भूरिधाम्नश्चतुरो यामान्प्रहरानिव। दूरं विहाय त्यक्त्वैकौघभूतमेकराशिभूतं सत्। 'श्रेण्यादयः कृतादिभिः' इत्यर्थे कर्मधारयः' 'श्रेण्यादिराकृतिगणः' इति शाकटायनः। कृष्णां विभावरीं कृष्णपक्षरात्रिं ध्वान्तमिव। कृष्णां द्रौपदीं प्रपेदे प्राप॥ ३५॥

जैसे अन्धकार परम प्रकाशमान दिन के चारों प्रहरों का अतिक्रमण कर एकत्र होकर

कृष्णपक्ष की रात्रि के पास पहुँच जाता है, उसी तरह अर्जुन के विरह से उत्पन्न शोक प्रतिभाशाली चारों भाइयों का अतिक्रमणकर एक राशि बनकर द्रौपदी के पास पहुँचा ॥३५॥

तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी मङ्गलभङ्गभीरुः ।
अगूढभावाऽपि विलोकने सा न लोचने मीलयितु विषेहे ॥ २६ ॥

तुषारेति । द्रौपदी विलोकनेऽर्जुनावलोकनेऽगूढभावाऽगूढाभिप्रायाऽपि । स्फुटाभिलाषिणीति यावत् । 'भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्याभिप्रायजन्तुषु' इति वैजयन्ती । मङ्गलभङ्गभीरुर्मङ्गलहानेर्भीता सती । पर्यश्रुणी परिगताश्रुके । बाष्पावृते इत्यर्थः । अतएव तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे हिमबिन्दुसहितेन्दीवरसंनिभे इत्युपमाऽलङ्कारः । लोचने मीलयितुं न विषेहे न शशाक । अश्रुणो दृष्ट्यावरकत्वेऽपि तन्निपातस्यामङ्गलत्वात्तन्निवर्त्तकं निमीलनं सा न चकारेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अर्जुन के अवलोकन के लिये द्रौपदी का अभिलाप व्यक्त था तो भी उसने हिमकण से युक्त कमल के सदृश अश्रुपूर्ण अपने नेत्रों को, अपशकुन हो जाने के डर से निमीलन करने में अपने को असमर्थ पाया (उन्हें ज्यों का त्यों ही रक्खा । यात्रा के समय स्त्री का आँसू बहाना यात्रा को विफल कर देता है) ॥ ३६ ॥

अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं रामार्पितं दृष्टिविलोभि दृष्टम् ।
मनःप्रसादाञ्जलिना निकामं जग्राह पाथेयमिवेन्द्रसूनुः ॥ ३७ ॥

अकृत्रिमेति । इन्द्रसूनुरर्जुनः । क्रियया निर्वृत्तः कृत्रिमः । 'ड्वितः क्त्रिः' इति क्त्रिः । 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति मप्प्रत्ययः । तद्विरुद्धम् । प्रेमैवरसः । अकृत्रिमेण प्रेमरसेनाभिरामम् । अन्यत्र—प्रेमरसेन मधुरादिना चाभिरामम् । रामया रमण्याऽर्पितम् । दृष्टिं विलोभयतीति दृष्टिविलोभि । दृष्टिप्रियमित्यर्थः । दृष्टं दर्शनं 'नपुंसके भावे क्तः' । मनःप्रसादः । प्रसन्नं मन इत्यर्थः । सोऽञ्जलिरिवेत्युपमितसमासः । तेन मनःप्रसादाञ्जलिना । पथि साधु पाथेयं शम्बलमिव । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' निकाममतिशयेन जग्राह । रामाऽर्पितं पाथेयं पथि क्षेमाय भवतीत्यागमः ॥ ३७ ॥

इन्द्रनन्दन अर्जुन ने, अञ्जलि से स्त्री के द्वारा अर्पण किये गये शम्बल (रास्ते का कलेवा) की तरह; स्वाभाविक प्रेम रस से मनोहर, दृष्टिविलोभी दर्शन को प्रसन्न मन से ग्रहण किया अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक देखा ॥ ३७ ॥

धैर्यावसादेन हृतप्रसादा वन्यद्विपेनेव निदाघसिन्धुः ।
निरुद्धबाष्पोदयसन्नकण्ठमुवाच कृच्छ्रादिति राजपुत्री ॥ ३७ ॥

धैर्येति । वन्यद्विपेन । वन्यग्रहणमुच्छृङ्खलत्वद्योतनार्थम् । निदाघसिन्धुर्ग्रीष्मनदीव । निदाघग्रहणं दौर्बल्यद्योतनार्थम् । धैर्यावसादेन धैर्यभ्रंशेन कर्त्रा हृतप्रसादा

हृतनैर्मल्या । क्षोमं गमितेत्यर्थः । राजपुत्री क्षत्त्रियसुता द्रौपदी । अतः क्षात्त्रयुक्तमेव वक्ष्यतीति भावः । निरुद्धबाष्पोदयं संरुद्धरोदनं सन्नकण्ठं हीनस्वरम् । अथ तयोरुभयोः कृतबहुव्रीह्योः क्रियाविशेषणयोर्विशेषणसमासः । कृच्छ्रात्कथंचिदिति वक्ष्यमाणमुवाच ॥

जिस तरह जङ्गली हाथी ग्रीष्म काल में नदियों की निर्मलता का अपहरण कर लेता है, उसी तरह धैर्य्य की न्यूनता ने राजकुमारी की प्रसन्नता का अपहरण कर लिया । अश्रुवेग के निरोध से उनका स्वर क्षीण हो गया था, इसलिये वह कष्ट के साथ बोली—॥ ३८ ॥

मग्नां द्विषच्छद्मनि पङ्कभूते सम्भावनां भूतिमिवोद्धरिष्यन् ।
आधिद्विषामा तपसां प्रसिद्धेरस्मद्विना मा भृशमुन्मनीभूः ॥ ३६ ॥

मग्नामिति । पङ्कभूते पङ्कोपमिते । 'भूतं क्ष्माऽऽदौ पिशाचादौ न्याय्ये सत्योपमानयोः' इति विश्वः । द्विषच्छद्मनि शत्रुकपटे मग्नाम् दुरुद्धरामित्यर्थः । सम्भावनां योग्यताम् । गौरवमिति यावत् । भूतिं संपदमिव । 'भूतिर्भस्मनि संपदि' इत्यमरः । उद्धरिष्यन् । उद्धारकस्त्वमिति शेषः । आधिद्विषां दुःखच्छिदां तपसामाप्रसिद्धेः सम्यक्सिद्धिपर्यन्तमस्मद्विना । अस्माभिर्विनेत्यर्थः । 'पृथग्विना–' इत्यादिना विकल्पात्पञ्चमी । भृशं मोन्मनीभूः । अस्मद्विरहाद् दुर्मना मा भूरित्यर्थः । दौर्मनस्यस्य तपःपरिपन्थित्वादिति भावः । 'माङि–' इत्याशीरर्थे लुङ् । 'न माङ्योगे' इत्याडागमप्रतिषेधः । अनुन्मना उन्मनाः सम्पद्यमान उन्मनीभूः । अभूततद्भावे च्विः । 'अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च' इति सकारलोपः । 'अस्य च्वौ' इतीकारः ॥ ३९ ॥

शत्रु के कपटरूप कीचड़ में फँसे हुये सम्पत्तिरूप गौरव के आप ही उद्धारकर्ता हैं, इसलिये मानसिक व्यथा के दूर करने में समर्थ तपस्या की सिद्धि पर्य्यन्त हम लोगों के विरह से आप व्यथित न हों ॥ ३९ ॥

अथानौत्सुक्यदार्ढ्यार्थं तस्य सर्वार्थसिद्धिनिदानत्वमाह—

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्त्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥ ४० ॥

यश इति । यशोऽधिगन्तुम् । कीर्तिं लब्धुमित्यर्थः । सुखस्य लिप्सया लब्धुमिच्छया वा । मनुष्यसंख्यां मनुष्यगणनामतिवर्त्तितुमतिक्रमितुं वा अमानुषं कर्म कर्त्तुं त्रेत्यर्थः । अभियोगभाजामभिनिवेशवतां निरुत्सुकानामनुत्सुकानाम् । अदुर्मनायमानानामित्यर्थः । सिद्धिः पूर्वोक्तं यशःसुखाद्यर्थसिद्धिश्च । समुत्सुकेवानुरक्तकान्तेवाङ्कमुत्सङ्गमन्तिकं चोपैति । तस्मादस्मद्विरहदुःखमा तपःसिद्धेः सोढव्यमिति भावः ॥ ४० ॥

कीर्तिलाभ करने के लिये, सुख को पाने की तथा मनुष्य की संख्या का उल्लंघन करने (सबसे बढ़कर कहे जाने) की इच्छा से कार्य्य करने के लिये उद्यत जो पुरुष उत्कण्ठा का परित्याग कर देते हैं, उनको सिद्धि उत्कंठित रमणी की तरह अङ्कस्थ हो जाती है ॥ ४० ॥

अथास्य मन्यूद्दीपनद्वारा तपःप्रवृत्तिं प्रथयितुमरिनिकारं तावच्चतुर्भिरुद्घाटयति—

लोकं विधात्रा विहितस्य गोप्तुं क्षत्त्रस्य मुष्णन् वसु जैत्रमोजः।
तेजस्विताया विजयैकवृत्तेर्निघ्नन्प्रियं प्राणमिवाभिमानम् ॥ ४१ ॥

लोकमिति। विधात्रा ब्रह्मणा लोकं गोप्तुं विहितस्य सृष्टस्य क्षत्त्रस्य क्षत्त्रियजातेः सम्बन्धि। जयनशीलं जेतृ तदेव जैत्रम्। जेतृशब्दात्तृन्नन्तात् 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः। ओजो बलं दीप्तिर्वा। 'ओजो बले च' इति विश्वः। तदेव वसु धनमिति रूपकालङ्कारः। मुष्णन्नपहरन्। अरिनिराकृतस्य कुतः क्षात्त्रं तेज इति भावः। किञ्च विजयैकवृत्तेर्विजयैकजीवितायाः। 'क्षत्त्रियस्य विजितव्यम्' इति स्मरणादिति भावः। 'वृत्तिर्वर्तनजीवने' इत्यमरः। तेजस्वितायाः, तेजस्विनामित्यर्थः। तेजःप्राधान्यद्योतनार्थं भावप्रधाननिर्देशः। प्रियं प्राणसममित्यर्थः। अभिमानमहङ्कारं निघ्नन् खण्डयन्। तेजस्विनां प्राणहानिप्राया मानहानिरिति भावः ॥ ४१ ॥

(आगे श्लोक ४१ से लेकर ४४ तक का सम्बन्ध एक दूसरे में लगा हुआ है, प्रधान क्रिया श्लोक सं० ४४ तीसरे चरण में 'नवीकरिष्यत्' पद है और इसका कर्ता श्लोक सं० ४४ के अन्तिम चरण में 'निकार' पद है)। ब्रह्मा ने लोक की रक्षा के लिये क्षात्रतेज की रचना की है। विजयशील पराक्रम इसका सर्वस्व है। इस तरह के क्षात्रतेज की सम्पत्ति अपहरण करता हुआ, शत्रुकृत पराभव क्षत्रिय जाति के उस अहङ्कार का, जो प्राणों से भी बढ़ कर है, नाश करता है ॥ ४१ ॥

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि न त्याज्यमित्याह—

व्रीडानतैराप्तजनोपनीतः संशय्य कृच्छ्रेण नृपैः प्रपन्नः।
वितानभूतं विततं पृथिव्यां यशः समूहन्निव दिग्विकीर्णम् ॥ ४२ ॥

व्रीडेति। पुनश्च। आप्तजनेनोपनीतः साधितः। प्रापित इत्यर्थः तथाऽपि संशय्य संदिह्य। असंभावितबुद्ध्येति भावः। व्रीडानतैः। जुगुप्सितवृत्तान्तश्रवणादिति भावः। नृपैर्देशान्तरस्थैः कृच्छ्रेण प्रपन्नः। आप्तोक्तत्वात्कथंचिद्विश्वस्त इत्यर्थः। यः शृण्वतामपि दुःसहः किमुतानुभवतामिति भावः। इत्येषा पूर्वेषां व्याख्या। अन्यथा च व्याख्यायते—आप्तजनोपनीतो ज्ञातिकृतः संशय्य कथमिदमन्याय्यमुपेक्ष्यमिति विचार्य व्रीडानतैः। जुगुप्सितकर्मदर्शनादिति भावः। नृपैस्तत्रत्यैः कृच्छ्रेण प्रपन्नोऽङ्गीकृतः। गोत्रकलहेषु मध्यस्थैरुदासितव्यमिति बुद्ध्योपेक्षित इत्यर्थः। पक्षद्वयेऽपि प्रपन्नः इत्यत्राप्तजनोपनीतत्वस्य पदार्थभूतस्य विशेषणगत्या हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलंकारः। पृथिव्यां वितानभूतमुल्लोचोपमितम्। यद्वा वितानभूतं वितानसमम्। उल्लोचतुल्यमिति यावत्। 'युक्ते क्ष्माऽऽदावृते भूते प्राण्यतीते समे त्रिषु' इत्यमरः। 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः। दिग्विकीर्णं दिगन्तलग्नम्।

वितानमपि दिगन्तलग्नमिति भावः। विततं प्रथितं यशः समूहन्निव संकोचयन्निवेत्युत्प्रेक्षा। अरातिपरिभूतस्य कुतः कीर्तिरिति भावः॥ ४२॥

(सुयोधन के समक्ष दुश्शासन के द्वारा जो मेरा केशाकर्षणरूप निन्दित कर्म किया गया है) उससे और देशान्तर स्थित राजाओं ने पहले तो विश्वास नहीं किया फिर आप लोगों के मुख से निकलने के कारण किसी तरह विश्वास कर लज्जा से शिर झुका लिया। तथा उस सभा में उपस्थित जातीय और सम्बन्धी राजाओं ने इस कुत्सित कर्म को देख लज्जित होकर किसी तरह उसकी उपेक्षा की—इस तरह का जो शत्रुकृत पराभव है, वह पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक चँदोवे की तरह फैले हुए आपके यश को सङ्कुचित करते हुए की तरह है॥ ४२॥

वीर्यावदानेषु कृतावमर्षस्तन्वन्नभूतामिव सम्प्रतीतिम्।
कुर्वन्प्रयामक्षयमायतीनामर्कत्विषामह्न इवावशेषः॥ ४३॥

वीर्येति। पुनश्च। वीर्याण्येवावदानानि तेषु कृतावमर्षः कृतास्कन्दनः। पुराकृतपराक्रमजातान्यपि प्रमृजन्नित्यर्थः। 'अवदानं कर्म वृत्तम्' इत्यमरः। अत एव सम्प्रतीतिं ख्यातिम्। 'प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञानविश्रुताः' इत्यमरः। अभूतामविद्यमानामिवेत्युत्प्रेक्षा। सतोऽप्यसत्त्वमुत्प्रेक्ष्यते—तन्वन्कुर्वन्। पुनश्चाह्नोऽवशेषो दिनान्तोऽर्कत्विषामिवायतीनामुत्तरकालानां प्रयामक्षयं दैर्घ्यनाशं कुर्वन्निति श्रौती पूर्णोपमा। अरिनिराकृतस्य कुतश्चिरावस्थानमिति भावः॥ ४३॥

यह शत्रुकृत पराभव, आप लोगों के पूर्वकृत पराक्रम के कार्य्य पर परदा डालता हुआ, 'आपने पराक्रम का कार्य्य कभी किया ही नहीं है' इस तरह की प्रसिद्धि (ख्याति) लोगों के बीच में फैलाता है और जैसे दिन का अवशिष्ट भाग दिशाओं में फैली हुई सूर्य की किरणों का संहार कर डालता है वैसे ही यह निकार (पराभव) आपके उत्तर काल की स्थिरता का संहार कर रहा है॥ ४३॥

प्रसह्य योऽस्मासु परैः प्रयुक्तः स्मर्तुं न शक्यः किमुताधिकर्तुम्।
नवीकरिष्यत्युपशुष्यदार्द्रः स त्वद्विना मे हृदयं निकारः॥ ४४॥

प्रसह्येति। पुनश्च। परैः शत्रुभिरस्मासु प्रसह्य प्रयुक्त आचरितो यो निकारः परिभवः केशाकर्षणरूपः स्मर्तुं न शक्यः। अधिकर्तुमनुभवितुं किमुत। यस्य स्मरणमपि दुःसहमनुभवस्तु दुःसह इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः। स निकारस्त्वद्विना त्वया विना 'पृथग्विना—' इत्यादिना पञ्चमी। आर्द्रः सन्कुतश्चिदभिभूतात्पुराणप्रहार इव। त्वद्विरहदुःखात्पुनर्नवीकरयिष्यति। नवीभविष्यतीत्यर्थः। उपशुष्यत्। त्वया विना शुष्कमिति भावः। दुःखस्तम्भनं शोषपदार्थो मे हृदयं नवीकरिष्यत्यार्द्रीकरिष्यति।

व्रणमिवेति भावः । दुःखितस्य पुनर्दुःखोपचयः प्रशान्तप्रायमपि दुःखहेतुं पुनरुद्धाटयतीत्यर्थः । अत्र शोषादिविशेषणसाम्याद् व्रणाद्यप्रस्तुतार्थप्रतीतेः समासोक्तिरलंकारः ॥

बलपूर्वक शत्रुओं ने हम लोगों पर जो अत्याचार किया है उसकी स्मृति ही असह्य है फिर उसकी अनुभूति के विषय में कहना ही क्या ! वह आपकी अनुपस्थिति में सूखते हुये घाव की तरह हृदय का दुःख जो भूल-सा गया था फिर याद करा देगा ॥ ४४ ॥

प्राप्तोऽभिमानव्यसनादसह्यं दन्तीव दन्तव्यसनाद्विकारम् ।
द्विषत्प्रतापान्तरितोरुतेजाः शरद्घनाकीर्ण इवादिरह्नः ॥ ४५ ॥

प्राप्त इति । अभिमानस्य व्यसनाद् भ्रंशाद् 'व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे, कामजकोपजे' इत्यमरः । दन्तव्यसनाद् दन्तभङ्गाद्दन्तीवासह्यं विकारं वैरूप्यं प्राप्तः । अतो न प्रत्यभिज्ञायत इति भावः । एवमुत्तरत्राप्यनुसन्धेयम् । पुनश्च । द्विषत्प्रतापेन शत्रुतेजसाऽन्तरितं तिरस्कृतमुरुतेजः प्रतापो यस्य स तथोक्तः । अत एव शरद्घनाकीर्णः शरन्मेघच्छन्नोऽह्न आदिः प्रत्यूष इव स्थितः । तद्वदेवाप्रत्यभिज्ञायमान इत्यर्थः । मध्याह्नस्तु मेघावरणेऽपि कथंचित्प्रत्यभिज्ञायत एवेत्याशयेनोक्तमादिरिति ॥ ४५ ॥

दाँतों के टूट जाने से जिस तरह गजराज विरूप हो जाता है, उसी तरह (आज काल) मान मर्य्यादा के नष्ट हो जाने से आप भी विरूप से हो गये हैं। आपका प्रताप शत्रु के प्रताप से आच्छादित हो गया है, अतः आप शरत्काल के मेघ द्वारा आच्छन्न प्रत्यूप काल की तरह हतप्रभ हो रहे हैं ॥ ४५ ॥

सव्रीडमन्दैरिव निष्क्रियत्वान्नात्यर्थमस्त्रैरवभासमानः ।
यशःक्षयक्षयक्षीणजलार्णवाभस्त्वमन्यमाकारमिवाभिपन्नः ॥ ४६ ॥

सव्रीडेति । पुनश्च । निष्क्रियत्वादर्थक्रियाशून्यत्वात्सव्रीडमन्दैरिव सव्रीडैरत एव मन्दैरपटुभिरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः' इत्यमरः । अस्त्रैरत्यर्थं नावभासमानो न प्रकाशमानः । पूर्वं तु नैवमिति भावः । किं तु यशःक्षयाद्धेतोः क्षीणजलो योऽर्णवस्तदाभस्तत्सदृशस्त्वमन्यमाकारमभिपन्नः प्राप्त इव स्थित इवेत्युत्प्रेक्षा । तस्य क्षीणजलार्णवाभ इत्युपमासंसृष्टिः ॥ ४६ ॥

कार्य्य में न लाने के कारण ये अस्त्र लज्जित की तरह कुण्ठित हो गये हैं, इनसे आपका तेज मन्द पड़ गया है । आप यश के ह्रास हो जाने के कारण बिना जल के अर्थात् सूखे हुये समुद्र की तरह सुन्दर नहीं दिखलाई पड़ रहे हैं, प्रत्युत मालूम पड़ता है कि आपने अपना स्वरूप बदल दिया है ॥ ४६ ॥

दुःशासनामर्षरजोविकीर्णैरेभिर्विनाथैरिव भाग्यनाथैः ।
केशैः कदर्थीकृतवीर्यसारः कच्चित्स एवासि धनञ्जयस्त्वम् ॥ ४७ ॥

दुःशासनेति। पुनश्च। दुःशासनस्य कर्त्तुरामर्षं आमर्षणमाकर्षणं स एव रजो धूलिः। मालिन्यहेतुत्वादिति भावः। तेन विकीर्णैर्विक्षिप्तैरत एव विनाथैरिव स्थितवतां युष्माकमसत्त्वप्रायत्वादनाथैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा। अन्यथा कथमियं दुर्दशेति भावः। किन्तु भाग्यनाथैर्दैवमात्रशरणैः। अन्यथा स्वरूपमपि लुप्येतेति भावः। एभिः परिदृश्यमानैः। असंयमितैरिति भावः। केशैः शिरोरुहैः कुत्सितोऽर्थो वस्तु कदर्थः। 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः। 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' इति कुशब्दस्य कदादेशः। कदर्थीकृतौ गर्ह्यार्थीकृतौ वीर्यसारौ शौर्यबले यस्य स तथोक्तः। इत्थं पूर्वविलक्षणस्त्वं स एव धनञ्जयोऽसि कच्चित्। 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः। स एव चेत्त्वं नैनमस्मानुपेक्षस इति भावः॥ ४७॥

दुःशासन के क्रोधरूप (घसीटे जाने के कारण) धूल से भरे हुये, असहाय की तरह ईश्वर के भरोसे रहने वाले इन मेरे केशपाशों में जिस आपका पराक्रम और बल—दोनों जुगुप्सा को प्राप्त हुए हैं, क्या आप वही अर्जुन हैं ?॥ ४७॥

अथाप्युपेक्षणे दोषमाह—

स क्षत्रियस्त्राणसहः सतां यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्तिः।
वहन् द्वयीं यद्यफलेऽर्थजाते करोत्यसंस्कारहतामिवोक्तिम्॥ ४८॥

स इति। क्षतात्त्रायत इति क्षत्त्रं क्षत्त्रियकुलम्। 'सुपि' इति योगविभागात्कप्रत्ययः। पृषोदरादित्वात्पूर्वपदस्यान्त्यलोपः। अथवा क्षदिति क्विबन्तोपपदात्कप्रत्ययः। क्षत्त्रे जातः क्षत्त्रियः। 'क्षत्त्राद् घः' इति घप्रत्ययः। कर्मणे प्रभवतीति कार्मुकम्। 'कर्मण उकञ्' इत्युकञ्प्रत्ययः। एवं स्थिते वाक्यार्थः कथ्यते। यः सतां साधूनाम्। सहत इति सहः। पचाद्यच्। त्राणस्य सहस्त्राणसहो रक्षणक्षमः स एव क्षत्त्रियशब्दवाच्यः। तथा यस्य कार्मुकस्य कर्मसु रणक्रियासु शक्तिः। अस्तीति शेषः। तदेव कार्मुकशब्दवाच्यम्। अत्रैवैतौ शब्दौ मुख्यौ। नान्यत्रेत्यर्थः। एवं स्थिते द्वयीं द्विविधामुक्तिम्। द्वाविमौ क्षत्त्रियकार्मुकशब्दावित्यर्थः। अफले। पूर्वोक्तावयवार्थशून्ये, अर्थजाते। स्वाभिधेयसामान्यजातिमात्र इत्यर्थः। 'जातं जात्योघजन्मसु' इति विश्वः। वहन्वर्त्तयन्। असंस्कारहतामव्युत्पत्तिदूषितामिव करोतीत्युत्प्रेक्षा। तस्मात्त्वमस्मद्रक्षणेनोक्तदोषादात्मानं मोचयस्वेत्यर्थः॥ ४८॥

जो सज्जनों की रक्षा करने में समर्थ हो, वह क्षत्त्रिय है। जिसकी कर्म (कार्य्य) करने में अर्थात् संग्राम में कार्य्य करने की शक्ति हो, उसी का नाम कार्मुक है यदि इन दोनों प्रकार की व्युत्पत्तियों के होते हुये भी व्युत्पत्ति का अर्थ सुसंघटित नहीं होता अर्थात् ये दोनों (क्षत्त्रिय और कार्मुक) अपने अवयवार्थ के अनुकूल कार्य्य करने में असमर्थ पाये जाते हैं तो व्याकरण शास्त्र के अनुसार इन शब्दों की व्युत्पत्ति करके इनका साधन

करना व्यर्थ है अर्थात् क्षत्रिय को सज्जनों की रक्षा करनी चाहिये और धनुष को समर में कार्य्य-कुशलता का प्रदर्शन करना चाहिये ॥ ४८ ॥

अथ त्वद्गुणा अपि नोज्जीवयेयुरित्याह—

वीतौजसः सन्निधिमात्रशेषा भवत्कृतां भूतिमपेक्षमाणाः ।
समानदुःखा इव नस्त्वदीयाः सरूपतां पार्थ ! गुणा भजन्ते ॥ ४९ ॥

वीतेति । हे पार्थ ! वीतौजसो निष्प्रभाः सन्निधिमात्रशेषाः सत्तामात्रावशिष्टा भवत्कृतां भवता करिष्यमाणाम् । 'आशंसायां भूतवच्च' इति भूतवत्प्रत्ययः । भूतिमभ्युदयमपेक्षमाणास्त्वदीया गुणाः समानदुःखाः समदुःखभाज इव नोऽस्माकं सरूपतां वीतौजस्त्वादिसाधर्म्यं भजन्त इत्युपमा । सा च समानदुःखा इवेत्युत्प्रेक्षया वीतौजस्त्वादिसम्भावितयाऽनुप्राणितेत्यनुसन्धेयम् ॥ ४९ ॥

हे अर्जुन ! जिस तरह हम लोग पराक्रमहीन हो गये हैं। सब कुछ नष्ट हो गया है केवल 'हम लोग एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं' (अर्थात् एक साथ निवास करते हैं) यही अवशेष रह गया है। हम लोग आपके द्वारा विहित अभ्युदय की अपेक्षा (प्रतीक्षा) कर रहे हैं इसी तरह आपके शमादिक गुण भी निस्तेज होकर सत्तामात्र अवशिष्ट हैं, वे आपके द्वारा होने वाली उन्नति की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वे हम लोगों की ही तरह दुःखी भी हो रहे हैं। इन सब बातों से हम लोगों की बराबरी करते हुये की तरह आपके वे गुण हैं ॥ ४९ ॥

तथाऽपि ममैव कोऽयं भार इत्यत आह—

आक्षिप्यमाणं रिपुभिः प्रमादान्नागैरिवालूनसटं मृगेन्द्रम् ।
त्वां धूरियं योग्यतयाऽधिरूढा दीप्त्या दिनश्रीरिव तिग्मरश्मिम् ॥५०॥

आक्षिप्येति । प्रमादात्प्रज्ञाहीनत्वात् । न तु दौर्बल्यादिति भावः । रिपुभिराक्षिप्यमाणमभिक्षिप्यमाणमत एव प्रमादात । नागैर्गजैः 'ग्रहेभाहिगजा नागाः' इति वैजयन्ती । आलूनसटमाक्षिप्तकेसरम् । 'सटा जटाकेसरयोः' इत्यमरः । मृगेन्द्रं सिंहमिव स्थितम् । त्वामियं धूः कार्यभारः । तिग्मरश्मिं सूर्यं दीप्त्या दिनश्रीरिव योग्यतया निर्वाहकतयाऽधिरूढाऽऽरूढवती । कर्त्तरि क्तः । त्वदधीनेत्यर्थः ॥ ५० ॥

असावधानी के कारण हाथियों के द्वारा गर्दन के बाल नोचने वाले सिंह की भाँति शत्रुओं से आप अपमानित हुए हैं। जिस तरह दिनश्री अपनी कान्ति से प्रखर किरणशाली सूर्य का आश्रय प्राप्त करती है; उसी तरह शत्रुकृत सम्पूर्ण दुर्दशा के दूर करने का भार आपको योग्य समझ कर आप पर निर्धारित है। (हम लोगों की इस विपत्ति का नाश करने में आप ही समर्थ हैं) ॥ ५० ॥

पूर्वं निर्व्यवसायस्य 'स क्षत्रियः' इत्यादिना दोष उक्तः। संप्रति व्यवसायिनां गुणमाह—

करोति योऽशेषजनातिरिक्तां सम्भावनामर्थवतीं क्रियाभिः।
संसत्सु जाते पुरुषाधिकारे न पूरणी तं समुपैति संख्या ॥ ५१ ॥

करोतीति। यः पुमान् अशेषजनादितरजनादतिरिक्तामधिकाम्। सर्वातिशायिनीमित्यर्थः। सम्भावनां योग्यतां क्रियाभिश्चरितैरर्थवतीं सफलां करोति। तं पुमांसं संसत्सु सभासु 'सभासमितिसंसदः' इत्यमरः। पुरुषाधिकारे योग्यपुरुषगणनाप्रस्तावे जाते सति पूर्यतेऽनयेति पूरणी संख्या। द्वित्वादिसंख्या। न समुपैति न गच्छति। अद्वितीयो भवतीत्यर्थः। तस्मादसाधारणलाभाय त्वयाऽपि महानुत्साह आस्थेय इति भावः ॥ ५१ ॥

जो व्यक्ति, अपने कर्तव्यों से (अपनी) सब श्रेष्ठ योग्यता को सफल बनाता है; सभा में योग्य पुरुष की गणना का प्रस्ताव उपस्थित हो जाने पर उस पुरुष की समानता के लिये फिर दूसरी संख्या उसके पास नहीं आती अर्थात् वह एक (अद्वितीय) गिना जाता है (सर्वप्रथम होता) है ॥ ५१ ॥

अथ द्वाभ्यां सुलभविपक्षस्य प्रोषितस्यार्जुनस्य कर्तव्यमुपदिशति—

प्रियेषु यैः पार्थ ! विनोपपत्तेर्विचिन्त्यमानैः क्लममेति चेतः।
तव प्रयातस्य जयाय तेषां क्रियादघानां मघवा विघातम् ॥ ५२ ॥

प्रियेष्विति। हे पार्थ ! प्रियेष्वस्मासु विषये। उपपत्तेः कारणाद्विनैव विचिन्त्यमानैर्यैरघैश्चेतः क्लमं खेदमेति। जयाय प्रयातस्य तव सम्बन्धिनां तेषामघानां व्यसनानाम्। 'दुःखेनोव्यसनेष्वघम्' इत्यमरः। मघवेन्द्रः योऽस्माभिरुपास्यत इति भावः। विघातं निवारणं क्रियात्करोतु। आशिषि लिङ्। तस्मादस्मच्चिन्तया न चेतः खेदयितव्यं जयार्थिना त्वया। अन्यथा तदसंभवादिति भावः ॥ ५२ ॥

ऐ पृथापुत्र ! विजयार्थ प्रस्थान करने वाले आपके उन दुःखों का नाश देवराज इन्द्र करें, जो प्रिय लोगों के विषय में बिना किसी कारण के होते हुए भी चिन्तन किये जाते हैं, जिनसे चित्त व्यथित होता है ॥ ५२ ॥

मा गाश्चिरायैकचरः प्रमादं वसन्नसम्बाधशिवेऽपि देशे।
मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि ॥ ५३ ॥

मा गा इति। असंबाधोऽसङ्कटः। विजन इत्यर्थः। 'संकटं ना तु सम्बाधः' इत्यमरः। शिवो निर्बाधः। द्वयोरन्यतरस्य विशेष्यत्वविवक्षायां विशेषणसमासः। अस्मिन्नसम्बाधशिवेऽपि देशे चिराय चिरमेकश्चासौ चरश्चेत्येकचर एकाकी वसन्

प्रमादं दौर्बल्यं मा गाः। 'इणो गा लुङि' इति गाऽऽदेशः। ननु निःस्पृहस्य ममाकिञ्चित्करः प्रमाद इति वाच्यमित्याशङ्क्याह—मात्सर्येति। मत्सर एव मात्सर्यं द्वेषो रागः स्नेहस्ताभ्यामुपहतात्मनां रागद्वेषदूषितस्वभावानां मानसानि मनांसि साधुषु सज्जनेष्वपि विषये स्खलन्ति विकुर्वते हि। अत्र प्रमादनिषेधलब्धाप्रमादरूपकारणेनार्थप्राप्तिरूपकार्यस्य व्यतिरेककारणसमर्थनाद्वैधर्म्येण कार्यकारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ ५३॥

जनसम्पर्करहित (एकान्त) और विघ्नबाधा शून्य स्थान में अधिक दिन तक अकेले निवास करते हुए भी आप असावधानी न करना अर्थात् सतर्क रहना, क्योंकि राग-द्वेष से आकृष्ट व्यक्तियों के चित्त महात्माओं के विषय में भी विकृत हो जाते हैं॥ ५३॥

तदाशु कुर्वन्वचनं महर्षेर्मनोरथान्नः सफलीकुरुष्व।
प्रत्यागतं त्वाऽस्मि कृतार्थमेव स्तनोपपीडं परिरब्धुकामा॥ ५४॥

तदिति। तत्तस्मात्कारणात्। आशु शीघ्रं महर्षेर्वचनं कुर्वन्। तपस्यन्नित्यर्थः। नोऽस्माकं मनोरथान्सफलीकुरुष्व। अरिनिर्यातनेनास्मान्प्रतिष्ठापयेत्यर्थः। प्रार्थनायां लोट्। किञ्च, कृतार्थं कृतकृत्यं प्रत्यागतमेव त्वा त्वाम्। 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति त्वाऽऽदेशः। स्तनयोरुपपीड्य स्तनोपपीडम्। 'सप्तम्यां चोपपीडरुधोः' इति णमुल्। परिरब्धुं कामो यस्याः सा परिरब्धुकामाऽस्मि। आलिङ्गितुमिच्छामीत्यर्थः। 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः। प्राक्कार्यसिद्धेः प्रमदाऽऽलिङ्गनमपि न प्रीतिदमिति भावः॥ ५४॥

अतः व्यास जी के आदेश का पालन करते हुए शीघ्र ही हम लोगों के मनोरथ को सफल बनाइये। कार्यसिद्धि करके लौट आने पर तुम्हें गाढ़ आलिङ्गन करने की मैं अभिलाषुक हूँ॥ ५४॥

उदीरितां तामिति याज्ञसेन्या नवीकृतोद्ग्राहितविप्रकाराम्।
आसाद्य वाचं स भृशं दिदीपे काष्ठामुदीचीमिव तिग्मरश्मिः॥ ५५॥

उदीरितामिति। सोऽर्जुन इतीत्थं यज्ञसेनस्यापत्येन स्त्रिया याज्ञसेन्या द्रौपद्योदीरितामुक्ताम्। नवीकृतः पुनरुद्घाटनेन तथा प्रत्यायितोऽत एवोद्ग्राहितो मनसि निधापितश्च विप्रकारः परिभवो यया सा तां वाचमासाद्य आकर्ण्येत्यर्थः। उदीचीं काष्ठां दिशम्। 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः। तिग्मरश्मिरिव। भृशं दिदीपे जज्वाल। चुक्रोधेत्यर्थः॥ ५५॥

द्रौपदी के कहे हुए वाक्य, जो नवीन से होकर शत्रुकृत अपकार को अर्जुन के हृदय में जमा दिये थे, सुनकर अर्जुन उत्तर दिशा में प्राप्त सूर्य की तरह प्रकाशित होने लगे॥ ५५॥

अथाभिपश्यन्निव विद्विषः पुरः पुरोधसाऽऽरोपितहेतिसंहतिः ।
बभार रम्योऽपि वपुः स भीषणं गतः क्रियां मन्त्र इवाभिचारिकीम् ॥५६॥

अथेति । अथ विद्विषः शत्रून्पुरोऽभिपश्यन्निव स्थितस्तथा पुरोधसा धौम्येनारोपिता समन्त्रमाहिता हेतिसंहतिरायुधकलापो यस्य स तथोक्तः । 'हेतिर्ज्वालाऽङ्कुरायुधे' इति वैजयन्ती । सोऽर्जुनो रम्यः सौम्यः सन्नपि । अभिचारः परहिंसा प्रयोजनं यस्याः साऽऽभिचारिकी । 'प्रयोजनम्' इति ठञ् । तां क्रियां गतः । अभिचारकर्मणि नियुक्त इत्यर्थः । मन्त्र इव रम्यः प्रकृत्या रमणीयः । भीषयत इति भीषणम् । नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः । वपुर्बभार । शान्तो मन्त्रः प्रयोगभेदादिव सोऽप्यवस्थाभेदाद्भीषणो बभूवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

शत्रुओं को सम्मुख उपस्थित की भाँति देखते हुये अर्जुन के समीप पुरोधा (धौम्य) ने समन्त्र आहित शस्त्रों को स्थापित कर दिया । उस (अर्जुन) ने, स्वाभाविक सौम्य मूर्ति होने पर भी मारण क्रिया में प्रयुक्त सुरम्य मन्त्र की तरह भयङ्कर आकृति को धारण किया ॥ ५६ ॥

अविलङ्घ्यविकर्षणं परैः प्रथितज्यारवकर्म कार्मुकम् ।
अगतावरिदृष्टिगोचरं शितनिस्त्रिंशयुजौ महेषुधी ॥ ५७ ॥

अविलङ्घ्येति । परैः शत्रुभिरविलङ्घ्यमनतिक्रमणीयं यस्य तत् । अमोघाकर्षणमित्यर्थः । किञ्च प्रथितो ज्यारवो गुणध्वनिः कर्म बाणमोक्षणादिकं च यस्य तत्कार्मुकं चोद्वहन्नित्यन्वयः तथाऽरीणां दृष्टिगोचरं दृष्टिपथमगतौ । आहवेष्वनिवर्तित्वादस्येति भावः । निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः । डप्रत्यये संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानात्समासान्तः । तेन शितेन तीक्ष्णेन युङ्क्त इति शितनिस्त्रिंशयुजौ । 'सत्सूद्विष–'इत्यादिना क्विप् । महेषुधी महानिषङ्गौ । इषवो धीयन्तेऽनयोरिति विग्रहः । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति क्विप्प्रत्ययः । 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः । 'तूण्यां खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः' इत्यमरः ॥ ५७ ॥

यशसेव तिरोदधन्मुहुर्महसा गोत्रभिदायुधक्षतीः ।
कवचं च सरत्नमुद्वहञ्ज्वलितज्योतिरिवान्तरं दिवः ॥ ५८ ॥

यशसेति । किञ्च । गोत्रभिद इन्द्रस्यायुधक्षतीर्वज्रप्रहाररन्ध्राणि । खाण्डवदाहसम्भवादिति भावः । महसा स्वकान्त्या यशसेव मूर्तया कीर्त्येव मुहुस्तिरोदधदाच्छादयन् । सरत्नं रत्नसहितमत एव ज्वलितज्योतिर्दीप्ततारकम् । 'ज्योतिस्ताराऽग्निभाज्वालादृक्पुत्रात्मधरासु च' इति वैजयन्ती । दिवोऽन्तरं नभो मध्यमिवावस्थितम् । 'अन्तरं परिधानीये बाह्ये स्वीयेऽन्तरात्मनि । क्लीबे मध्ये प्रकाशे च' इति वैजयन्ती । कवचं चोद्वहन् ॥ ५८ ॥

जब अर्जुन ने गाण्डीव धनुष, दो तरकस और कवच को (यथास्थान) धारण कर लिया उस समय वे आकाशान्तरालवर्ती प्रदीप्त नक्षत्र (तारा) की तरह प्रकाशित हो उठे। शत्रुओं के लिये उनका धनुष अमोघ था। उसकी टङ्कार विश्वविदित थी। उनके तरकस शत्रु की दृष्टि में नहीं आते थे (अर्थात् गुप्त रूप से पीछे की तरफ धारण किये जाते थे जिसमे उन पर शत्रुओं की निगाह नहीं पहुँच पाती थी) प्रत्येक निषङ्ग में तीक्ष्ण खड्ग भी रखा गया था। वे बाणों से कभी रिक्त होने वाले नहीं थे। कवच उनका रत्नों से जड़ा हुआ था। अर्जुन, खाण्डववन-दाह के समय इन्द्र के वज्र से होने वाले क्षत को बार-बार अपने तेज से आच्छादित कर रहे थे जैसे कोई अपनी कीर्त्ति से आच्छादित कर देता हो ॥ ५७–५८ ॥

अलकाऽधिपभृत्यदर्शितं शिवमुर्वीधरवर्त्म संप्रयान् ।
हृदयानि समाविवेश स क्षणमुद्बाष्पदृशां तपोभृताम् ॥ ५९ ॥

अलकेति। सोऽर्जुनोऽलकाऽधिपभृत्येन यक्षेण दर्शितमनः शिवं निर्बाधमुर्वीधर-वर्त्मं हिमवन्मार्गं प्रति सम्प्रयान् गच्छन् क्षणमुद्बाष्पदृशां वियोगदुःखात्साश्रुनेत्राणां तपोभृतां द्वैतवननिवासिनां तपस्विनां हृदयानि समाविवेश। खेदयामासेत्यर्थः ॥५९॥

कुबेर के भृत्य (यक्ष) से दिखलाए जाते हुये, निष्कण्टक हिमालय के मार्ग का अवलम्बन करते हुए अर्जुन ने, अश्रुपूर्णनेत्रधारी तपस्वियों (द्वैतवननिवासियों) के हृदय को क्षण भर के लिये दुःखित कर दिया अर्थात् अर्जुन के वियोग से वे सब दुःखी हुए ॥ ५९ ॥

अनुजगुरथ दिव्यं दुन्दुभिध्वानमाशाः
सुरकुसुमनिपातैर्व्योम्नि लक्ष्मीर्वितेने ।
प्रियमिव कथयिष्यन्नालिलिङ्ग स्फुरन्तीं
भुवमनिभृतवेलावीचिबाहुः पयोधिः ॥ ६० ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये तृतीयः सर्गः ।

अनुजगुरिति। अथाशा दिशः। दिवि भवं दिव्यम्। 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्'। दुन्दुभिध्वानमनुजगुरनुदध्वनुः। गायतेर्लिट्। व्योम्नि सुरकुसुमनिपातैर्लक्ष्मीर्वितेने। पुष्पवृष्टिश्चाजनिष्टेत्यर्थः। किञ्च। अनिभृताश्चञ्चला वेलायां कूले या वीचयस्ता एव बाहवो यस्य स तथोक्तः। 'वेला कूलविकारयोः' इति शाश्वतः। पयोधिः स्फुरन्तीं हर्षात्स्पन्दमानां च भुवं प्रियमिष्टं भारावतारणरूपं कथयिष्यन्निव। कथयितुमिवे-त्यर्थः। 'लृट् शेषे च' इति चकारात्क्रियार्थायां क्रियायां लृट्। आलिलिङ्ग। सर्वं चेदं शिवं देवकार्यप्रवृत्तत्वादस्तेति भावः। अत्र विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्य-त्वात्समासोक्तिरलङ्कारः। तत्र चाप्रस्तुतयोर्भूमिसमुद्रयोः प्रतिपन्नाभ्यां नायकाभ्यां

भेदेऽभेदलक्षणातिशयोक्तिवशादालिङ्गनोक्तिरिति रहस्यम् । एवमतिशयोक्त्यनुप्राणिता समासोक्तिः । प्रियकथनात्स्नेहमुज्जीवयति तदङ्गभावं भजत इत्युभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर इति विवेचनीयम् ॥ ६० ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां तृतीयः सर्गः समाप्तः ॥

अर्जुन के प्रस्थानकाल में स्वर्ग में देवताओं ने दुंदुभि बजायी, जिससे सम्पूर्ण दिशायें गूँज (झंकृत हो) उठीं । देवताओं ने पुष्पवृष्टि की, जिससे आकाशमंडल अलंकृत हो उठा । समुद्र ने अपनी चञ्चल तरङ्ग रूप भुजाओं से शुभ सन्देश सुनाते हुए की तरह उल्लास से भरी पृथ्वी का आलिङ्गन किया अर्थात् समुद्र में भी तूफान आ गया ॥ ६० ॥

इस प्रकार 'प्रकाश' व्याख्या में तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

ततः स कूजत्कलहंसमेखलां सपाकसस्याहितपाण्डुतागुणाम् ।
उपाससादोपजनं जनप्रियः प्रियामिवासादितयौवनां भुवम् ॥ १ ॥

तत इति । ततः प्रस्थानान्तरं जनप्रियः सोऽर्जुनः । कलहंसा मेखला इवेत्युपमितसमासः । अन्यत्र कलहंसा इव मेखलेति विशेषणसमासः । कूजन्ती कलहंसमेखला यस्यास्ताम् । सह पाकेन वर्तन्त इति सपाकानि सस्यानि तैः सस्यैराहितः संपादितः पाण्डुतेव गुणो यस्यास्तां भुवमासादितयौवनां प्राप्तयौवनां प्रियामिव । उपजनं जनसमीपे । अन्यत्र सखीसमक्षम् । समीपार्थेऽव्ययीभावः । उपाससादोपगतवान् । उपमालङ्कारः ॥ १ ॥

प्रस्थान के बाद लोकप्रिय (अर्जुन) सखियों के समक्ष कलकूजन करते हुये राजहंस की तरह निस्वन (शब्द) कारिणी मेखला (करधनी) धारण की हुई, तथा (युवावस्था को प्राप्त) प्रौढा रमणी की भाँति, मेखला की तरह कलकूजन करने वाले राजहंस जहाँ विचर रहे थे, ऐसी और परिपाक दशा को प्राप्त धान्यराशि के कारण गौरवर्णा भूमि के पास पहुँचे, जहाँ कृषक निवास करते थे ॥ १ ॥

विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीरपेतपङ्काः ससरोरुहाम्भसः ।
ननन्द पश्यन्नुपसीम स स्थलीरुपायनीभूतशरद्गुणश्रियः ॥ २ ॥

विनम्रेति । सोऽर्जुनो विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीरवनतशालिफलस्तोमशोभि-नीरपेतपङ्का निष्पङ्काः ससरोरुहाण्यम्भांसि यासु तास्तथोक्ताः उपायनीभूता अर्जुनं प्रत्युपहारीभूताः शरद्गुणश्रियः पूर्वोक्ताः शरद्धर्मसंपदो यासु ताः । उपसीम ग्रामसी-मासु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । समासान्तविधेरनित्यत्वात् 'अनश्च' इति समासान्तो न भवति । केचित्तु-'अप्यन्येषां कठिनवपुषा दुर्गमे ग्रामसीम्नि' इत्यादौ नपुंसकप्रयोग-दर्शनाद् 'नपुंसकादन्यतरस्याम्' इति विकल्पात्साधुरित्याहुः । स्थलीरकृत्रिमा भुवः । 'जानपद-' इत्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीष् । पश्यन्ननन्द जहर्ष । अत्र शरद्गुणेषु तादात्म्येनारोप्यमाणस्योपायनस्य प्रकृते नन्दनक्रियोपयोगित्वात्परिणामालङ्कारः ॥२॥

ग्राम की सीमा के समीप के भूमिखंड झुके हुए धान की बालों से सुशोभित हो रहे थे। वहाँ कीचड़ नाममात्र को भी नहीं था। जहाँ कहीं जल था भी वहाँ जल में कमल सुशोभित हो रहे थे। अर्जुन उन सम्पूर्ण शरद् ऋतु की सम्पत्तियों को अपने प्रति उपहार की हुई के समान देखकर प्रसन्न हुए ॥ २ ॥

निरीक्ष्यमाणा इव विस्मयाकुलैः पयोभिरुन्मीलितपद्मलोचनैः ।
हृतप्रियादृष्टिविलासविभ्रमा मनोऽस्य जह्रुः शफरीविवृत्तयः ॥ ३ ॥

निरीक्ष्यमाणा इति । विस्मयाकुलैराश्चर्यरसाविष्टैरत एवोन्मीलितानि पद्मानीव लोचनानि येषां तैः पयोभिरम्भोभिर्निरीक्ष्यमाणा इव स्थिताः । हृतः प्रियादृष्टिवि-लासानां विभ्रमः शोभा यामिस्तास्तथोक्ता इति मनोहरणे हेतूक्तिः । 'विभ्रमः संशये भ्रान्तौ शोभायां च' इति वैजयन्ती । शफरीविवृत्तयो मत्स्यीस्फुरितान्यस्यार्जुनस्य मनो जह्रुः ॥ ३ ॥

कहीं-कहीं जलाशयों में मछलियाँ चिलक रही थीं। सरोवर आश्चर्य में पड़कर, विकसित कमल रूप नेत्रों से मानों उसे देख रहा था। (मछलियों की चिलकें) युवतियों के भ्रूविक्षेप-पूर्वक दृष्टिपात के विलास का अपहरण कर रही थीं। उन्होंने अर्जुन के मन का भी अपहरण कर लिया ॥ ३ ॥

तुतोष पश्यन्कलमस्य सोऽधिकं सवारिजे वारिणि रामणीयकम् ।
सुदुर्लभे नार्हति कोऽभिनन्दितुं प्रकर्षलक्ष्मीमनुरूपसंगमे ॥ ४ ॥

तुतोषेति । सोर्जुनः सवारिजे साम्बुजे वारिणि कमलस्य शालिविशेषस्य । 'शालयः कलमाद्याश्च षष्टिकाद्याश्च पुंस्यमी' इत्यमरः । रमणीयस्य भावो रामणीयकम् । 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद् वुञ्' । तत्पश्यन्नधिकं तुतोष । अनुरूपसंगमादिति भावः । तथाहि । सुदुर्लभेऽनुरूपसंगमे योग्यसमागमे लब्धे सतीति शेषः । प्रकर्षलक्ष्मीं योग्य-समागमननिमित्तामुत्कर्षसम्पदमभिनन्दितुं स्तोतुं को नार्हति । सर्वोऽप्यभिनन्दत्येवे-त्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४ ॥

अर्जुन कमलयुत जल में धान की शोभा का अवलोकन करते हुये इतना प्रसन्न हुए जितना हो सकते थे। दुष्प्राप्य तथा योग्य सम्बन्ध प्राप्त होने पर कौन ऐसा मनुष्य होगा जो उत्कृष्ट सम्पत्ति का स्वागत न करे?॥ ४॥

नुनोद तस्य स्थलपद्मिनीगतं वितर्कमाविष्कृतफेनसंतति।
अवाप्तकिञ्जल्कविभेदमुच्चकैर्विवृत्तपाठीनपराहतं पयः॥ ५॥

नुनोदेति। आविष्कृता प्रकटीकृता फेनसन्ततिर्डिण्डीरसमूहो यस्य तत्तथोक्तम्। 'डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः' इत्यमरः। अवाप्तः किञ्जल्कविभेदः केसरोपगमा येन तत्तथोक्तम्। कुतः। उच्चकैरुच्चकं यथा तथा विवृत्तेन लुठितेन पाठीनेन मत्स्यविशेषेण पराहतं ताडितम्, 'सहस्रदंष्ट्रः पाठीनः' इत्यमरः। पयः कर्तृ तस्यार्जुनस्य स्थलपद्मिनीगतम्। तद्गोचरमित्यर्थः। वितर्कं संशयं नुनोद चिच्छेद। पाठीनपराहत्या किञ्जल्कापायेन जलदर्शनात्स्थलपद्मिनीशङ्का निवृत्तेत्यर्थः। अत्र निश्चयोत्तरसंदेहालङ्कारः॥

कहीं-कहीं सरोवरों के जल, जिनमें विकचारविन्द (खिले हुए कमल) सुशोभित हो रहे थे, फेन और कमलपराग से आच्छादित थे जिन्हें देखकर अर्जुन को पृथ्वी पर खिले हुए गुलाब के पुष्प का भ्रम हो रहा था। ऊपर की ओर उल्लुण्ठन करते हुये पाठीन (हजार दाँत वाली मछली) से अभिताडित होकर पुष्पपराग और फेनराशि के हट जाने से जल दिखलाई पड़ने लगता था, जिससे अर्जुन का संशयविच्छेद हो गया॥ ५॥

कृतोर्मिरेखं शिथिलत्वमायता शनैः शनैः शान्तरयेण वारिणा।
निरीक्ष्य रेमे स समुद्रयोषितां तरङ्गितक्षौमविपाण्डुसैकतम्॥ ६॥

कृतेति। सोऽर्जुनः शिथिलत्वमायता गच्छता। दिने दिने क्षीयमाणेनेत्यर्थः। अत एव शनैः शनैः शान्तरयेण। अन्यथोर्मिरेखानुदयादिति भावः। वारिणा कृता ऊर्मयः पर्वाण्येव रेखा राजयो यस्य यत्तथोक्तम्। तरङ्गा अस्य संजातास्तरङ्गितं भङ्गितम्। 'तदस्य संजातं--' इतीतच्। यत्क्षौमं दुकूलं तद्वद्विपाण्डु शुभ्रमित्युपमालङ्कारः। समुद्रयोषितां नदीनाम्। सिकतास्यास्तीति सैकतं पुलिनम्। 'सिकताशर्कराभ्यां च' इत्यण्प्रत्ययः। 'तोयोत्थितं तत्पुलिनं सैकतं सिकतामयम्' इत्यमरः। निरीक्ष्य रेमे तुतोष॥ ६॥

क्रमशः क्षीणोन्मुख वेगरहित, जलसे विरहित तरङ्गरेखान्वित और भङ्गिमायुक्त क्षौम वस्त्र के सदृश शुभ्र, सिकताराशि (बालू की ढेर) को देख अर्जुन बहुत प्रसन्न हुए॥ ६॥

ततस्त्रिभिः शालिगोप्त्रीं वर्णयति—

मनोरमं प्रापितमन्तरं भ्रुवोरलंकृतं केसररेणुनाणुना।
अलक्तताम्राधरपल्लवश्रिया समानयन्तीमिव बन्धुजीवकम्॥ ७॥

मनोरममिति । अणुना सूक्ष्मेण केसरेषु किञ्जल्केषु । 'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । यो रेणुः परागस्तेनालंकृतमत एव मनोरमयतीति मनोरमम् 'कर्मण्यण्' इत्यण् । भ्रुवोरन्तरं प्रापितं भ्रूमध्ये निवेशितं बन्धुजीवकं बन्धूकपुष्पम् । 'बन्धूको बन्धुजीवकः' इत्यमरः । अलक्तताम्रस्य लाक्षारागरक्तस्याधरपल्लवस्य श्रिया शोभया समानयन्तीं समीकुर्वतीमिव । साम्यपरीक्षां कुर्वतीमिवेत्यर्थः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥७॥

(कवि आगे आये हुए तीन श्लोकों से धान की रक्षा करने वाली स्त्रियों का वर्णन करता है :–) धान की रक्षा में लगी हुई स्त्रियों ने सूक्ष्म केशरकिञ्जल्क (पराग) से जपापुष्प को विभूषित करके भौंहों के मध्य में चिपका दिये थे, वे मनोभिराम दिखलाई पड़ते थे । उसे यावक (महावर) की लालिमा से रञ्जित अधर पल्लव की शोभा से मानों वे तुलना कर रही हैं (ऐसा मालूम पड़ता था) ॥ ७ ॥

नवातपालोहितमाहितं मुहुर्महानिवेशौ परितः पयोधरौ ।
चकासयन्तीमरविन्दजं रजः परिश्रमाम्भःपुलकेन सर्पता ॥ ८ ॥

नवेति । महान्निवेशः स्थानं ययोस्तौ महानिवेशौ । पीवरावित्यर्थः । पयोधरौ परितः । स्तनयोः समन्तादित्यर्थः । 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया । मुहुराहितं नवातपालोहितं बालातपताम्रमरविन्दजं रजः परागं सर्पता प्रसरता परिश्रमाम्भःपुलकेन स्वेदोद्भेदेन चकासयन्तीं शोभयन्तीम् । चकास्तेर्ण्यन्ता-च्छतरि ङीप् अलङ्करणं कुर्वतीम् । तत्रापि विकृततेति भावः ॥ ८ ॥

वे (शालिगोप्त्री) स्त्रियाँ अपने पीन पयोधरों (स्तनों) में प्रातःकालीन आतप के समान किञ्चित् लालिमा लिये कमलपुष्पपराग लगाये हुई थीं । वे उस पुष्पधूलि को बहते हुए स्वेद-विन्दुओं से सुशोभित कर रही थीं ॥ ८ ॥

कपोलसंश्लेषि विलोचनत्विषा विभूषयन्तीमवतंसकोत्पलम् ।
सुतेन पाण्डोःकलमस्य गोपिकां निरीक्ष्य मेने शरदः कृतार्थता ॥ ९ ॥

कपोलेति । पुनः कपोलसंश्लेषि यदवतंसकोत्पल कर्णोत्पलं तद्विलोचनत्विषा विभूषयन्तीम् । आभरणस्याप्याभरणमिति भावः । कलमं गोपायतीति गोपिकां शालिगोप्त्रीम् । ण्वुल्प्रत्ययः । निरीक्ष्य पाण्डोः सुतेनार्जुनेन । शरदः कृतार्थाया भावः कृतार्थता साफल्यम् । शरदः स्वगुणसम्पत्सिद्धिनियोगलाभादिति भावः । 'त्वतलोर्गुण-वचनस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः' । मेनेऽमानि । मन्यतेः कर्मणि लिट् ॥ ९ ॥

वे (शस्यपालिकायें) अपने नेत्र की कान्ति से कपोल (गाल) तक लटकते हुये कर्णो-त्पलों को अलंकृत करती थीं (भूषण को भूपित करती थीं) शस्य क्षेत्र की रक्षा करने वाली उन स्त्रियों को देखकर, पाण्डव ने (अर्जुन ने) शरद् ऋतु को सफल माना ॥ ९ ॥

उपारताः पश्चिमरात्रिगोचरादपारयन्तः पतितुं जवेन गाम् ।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं गवां गणाः प्रस्नुतपीवरौघसः ॥ १० ॥

उपारता इति । पश्चिमा चासौ रात्रिश्चेति विशेषणसमासः । अपररात्र इत्यर्थः । 'पूर्वा दिक्पश्चिमं नभः' इत्यादिवदेकदेशिशब्दस्यैकदेशशब्दसामानाधिकरण्यादेकदेशे पर्यवसानम्, नतु पश्चिमं रात्रेरित्येकदेशिसमासः । तद्विधायके पूर्वापरादिसूत्रे पश्चिमशब्दाग्रहणात् । अत एव 'अहः सर्वैकदेश–' इत्यादिना न समासान्तोऽपि । तस्यापि पूर्वापरादिसूत्रोक्तसमासविषयत्वादिति । प्रकाशवर्षस्तु एकदेशिसमासमेवाश्रित्य समासान्तमाह, तन्मृग्यम् । गावश्चरन्त्यत्रेति गोचरो गवां जग्धिस्थानं वनम् । पश्चिमरात्रौ यो गोचरस्तस्मादुपारताःसंनिवृत्ता जवेन गां भुवं पतितुं धावितुमपारयन्तोऽशक्नुवन्तः प्रस्नुतपीवरौघसो वत्ससमरणात्स्रवत्पीनापीनाः । 'ऊधस्तुक्लीवमापीनम्'इत्यमरः । 'ऊधसोऽनङ्' इति स्त्रीग्रहणं कर्तव्यमिति नियमान्नानङादेशः । उत्सुका वत्सेषूत्कण्ठिता गवां गणास्तमर्जुनमवेक्षणोत्सुकं दर्शनलालसं चक्रुः । 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्टया स्त्रियां पुंसि गौः' इत्युभयत्राप्यमरः । अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः 'स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥ १० ॥

गायें रात के पिछले पहर में चरागाह से लौटते समय, वेग से पृथ्वी पर दौड़ नहीं सकती थीं क्योंकि वे अपने-अपने बच्चों का स्मरण करके उत्कण्ठित हो गई थीं जिसके कारण उनके पीन पयोधरों से (बड़े-बड़े थनों से) क्षीर बह रहे थे । वे अर्जुन को अपनी तरफ देखने में समुत्कण्ठित कर दीं (अर्थात् उन्हें देखने के लिये अर्जुन को प्रबल लालसा हुई) ॥ १० ॥

परीतमुक्षावजये जयश्रिया नदन्तमुच्चैः क्षतसिन्धुरोधसम् ।
ददर्श पुष्टिं दधतं स शारदीं सविग्रहं दर्पमिवाधिपं गवाम् ॥ ११ ॥

परीतमिति । सोऽर्जुन उक्षावजये उक्षान्तरभङ्गे सति जयश्रिया परीतं वेदितमुच्चैर्नदन्तं क्षतसिन्धुरोधसं रुग्णसरित्तटं शरदि भवां शारदीं पुष्टिमवयवोपचयं दधतं गवामधिपं महोक्षं सविग्रहं मूर्तिमन्तम् । 'कायो देहः क्लीबपुंसोऽशरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः । दर्पमिवेत्युत्प्रेक्षा । ददर्श ॥ ११ ॥

अर्जुन ने देखा—एक महान् वृषभ अन्य वृषभ के साथ युद्ध करके उसे पराजित कर, विजय लाभ कर गम्भीर गर्जन करता हुआ नदी के तट को ढाह रहा था । वह गायों का राजा अत्यन्त हृष्टपुष्ट मानों साक्षात् दर्प ही महोक्ष के रूप में उपस्थित हुआ था ॥ ११ ॥

विमुच्यमानैरपि तस्य मन्थरं गवां हिमानीविशदैःकदम्बकैः ।
शरन्नदीनां पुलिनैः कुतूहलं गलद्दुकूलैर्जघनैरिवादधे ॥ १२ ॥

विमुच्यमानैरिति । हिमानीविशदैर्हिमसंघातशुभ्रैः । 'हिमानी हिमसंहतिः' इत्यमरः 'इन्द्रवरुण—' इत्यादिना ङीष् । तत्संनियोगादानुगागमश्च । गवां कदम्बकैः कर्तृभिः । 'कदम्बकं समूहे श्रीफले पुष्पविशेषके' इत्यमरः । मन्थरं मन्दं विमुच्यमानैरपि किमुताविमुच्यमानैरिति भावः । शरन्नदीनां सम्बन्धिभिः । शरद्ग्रहणं प्रावृण्निवृत्यर्थम्, तत्र पुलिनादर्शनादिति भाव. । पुलिनैः कर्तृभिः गलद्दुकूलैर्जघनैरिव तस्यार्जुनस्य कुतूहलं कौतुकमादध आहितम् ॥ १२ ॥

बरफ की चट्टान के समान सफेद गायों के झुण्ड धीरे-धीरे शरद काल की नदी के बालुकामय ढेर को छोड़ते हुये चले जा रहे थे, उन्हें देखकर अर्जुन को ऐसा कुतूहल उत्पन्न हुआ जैसा कि रमणी के जघन प्रदेश से सरकती हुई सारी के समय किसी (कामुक) व्यक्ति को होता है ॥ १२ ॥

गतान्पशूनां सहजन्मबन्धुतां गृहाश्रयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः ।
ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डवः कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे ॥ १३ ॥

गतानिति । पाण्डवोऽर्जुनः पशूनां गवाम् । सह जन्म येषां ते सहजन्मानः सोदरास्त, एव बन्धवस्तेषां भावस्तत्ता तां गतान् । पशुषु सोदराभिमानवत इत्यर्थः । गृहाश्रयं गृहविषयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः । वनेषु गृहाभिमानिन इत्यर्थः । आर्जवे विधेयत्वे गोभिः पशुभिः कृतानुकाराननुकृतानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा । ततो विधेयानित्यर्थः । गाः पान्तीति गोपा गोपालकाः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । तानुपधेनु धेनुसमीपे । समीपार्थेऽव्ययीभावः । ददर्श । अत्रोत्प्रेक्षानुप्राणिता स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १३ ॥

अर्जुन ने गायों के पास अहीरों (गोपालकों) को देखा । ये साथ-साथ जन्म लेने के कारण गायों के (उनके) कुटुम्बी बन गये थे । उन्हें वन घर से भी अधिक प्यारा था । स्वभाव की कोमलता (भोलापन) तो वे मानों गायों से सीख रहे थे ॥ १३ ॥

अथ चतुर्भिर्वल्लवीर्नर्तकीसाम्येन वर्णयति—

परिभ्रमन्मूर्धजषट्पदाकुलैः स्मितोदयादर्शितदन्तकेसरैः ।
मुखैश्चलत्कुण्डलरश्मिरञ्जितैर्नवातपामृष्टसरोजचारुभिः ॥ १४ ॥

परिभ्रमदिति । मूर्धजाः षट्पदा इवेत्युपमितसमासः । सरोजचारुभिरित्युपमानुसारात् । परिभ्रमद्भिश्चलद्भिर्मूर्धजैः षट्पदैराकुलानि तैः । दन्ताः केसरा इवेति पूर्ववत्समासः । स्मितोदयेनादर्शिता ईषत्प्रकाशिता दन्तकेसरा येषां तैस्तथोक्तैः । चलत्कुण्डलरश्मिरञ्जितैश्चलत्कनककर्णवेष्टनप्रभानुलिप्तैरत एव नवतपामृष्टं बालातपस्पृष्टं यत्सरोजं तद्वच्चारुभिर्मुखैरुपलक्षिताः ॥ १४ ॥

अर्जुन नृत्त करती हुई वारवधूटियों की भाँति गोपिकाओं को निर्निमेष दृष्टि से देखने

लगे। उन गोपियों के मुखमण्डलपर बिखरे (बिथुरे) हुए केशकलाप भ्रमरों की तरह दिखलाई पड़ते थे। मन्द हास से पुष्प पराग की तरह दशन पंक्तियाँ दिखलाई पड़ती थीं, हिलते हुए कानके कुण्डलों की दीप्ति से उनका मुख मण्डल चमक रहा था और प्रभात काल के सूर्य की किरणों से विकसित कमल की शोभा को प्राप्त हो रहा था। (इस श्लोक में मुख की उपमा कमल से दी गई है। दाँत को कमल का केशर माना गया है। ग्वालिनियों के केश को कमल पर घूमने वाले भ्रमर की उपमा दी गई है)॥ १४॥

निवद्धनिःश्वासविकम्पिताधरा लता इव प्रस्फुरितैकपल्लवाः।
व्यपोढपार्श्वैरपवर्तितत्रिका विकर्षणैः पाणिविहारहारिभिः॥ १५॥

निवद्धेपि। निवद्धेनानुरुद्धेन निःश्वासेन विकम्पिता अधरा यासां तास्तथोक्ताः। अत एव प्रस्फुरितैकपल्लवाः। प्रचलितैकपल्लवाः इत्यर्थः। 'क्वचित्संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिवत्' इति कैयटः। लता इव स्थिताः। देवादेकपल्लवस्फुरणस्यापि लोके सम्भवादुपमैवेयं नोत्प्रेक्षा। किं च। व्यपोढानि विपरीतानि पार्श्वानि येषु तैः पाणिविहारहारिभिः पाणिविक्षेपमनोहरैः। 'अङ्गहारोऽङ्गविक्षेपः' इत्यमरः। विकर्षणैर्मन्थगुणाकर्षणैरपवर्तितत्रिकाः संचलितनितम्बाः। यद्यपि 'पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्' इत्यमरः, तथाप्यत्र नितम्बो लक्ष्यते तन्नैकटयादिति भावः॥ १५॥

दधि मन्थन कार्य्य में लगी हुई उन ग्वालिनियों के होठ (अधर) श्वास के रुक जाने से प्रकम्पित हो रहे थे: उससे वे, उस लता के सदृश मालूम पड़ती थीं जिसका एक ही पत्ता किसी तरह हिल गया हो। हाथों से मन्थन के दण्ड के सञ्चालन से उनका पार्श्व प्रदेश विवृत दिखलाई पड़ रहा था। और उनके नितम्ब भी ढुलक रहे थे॥ २५॥

व्रजाजिरेष्वम्बुदनादशङ्किनीः शिखण्डिनामुन्मदयत्सु योषितः।
मुहुः प्रणुन्नेषु मथां विवर्तनैर्नदत्सु कुम्भेषु मृदङ्गमन्थरम्॥ १६॥

व्रजेति। व्रजाजिरेषु गोष्ठप्राङ्गणेषु। अधिकरणे सप्तमी। 'व्रजो गोष्ठाध्ववृन्देषु' इति विश्वः। अम्बुदनादशङ्किनीर्गर्जितभ्रमवतीरिति भ्रान्तिमदलङ्कारः। शिखण्डिनां योषितो मयूराः। योषिद्ग्रहणं मौग्ध्यातिशयार्थम्। उन्मदयत्सून्मादाः कुर्वत्सु। 'तत्करोति—' इति ण्यन्ताच्छतृप्रत्ययः। मथां मन्थनदण्डानाम्। 'वैशाखमन्थमन्थानमन्थानो मन्थदण्डके' इत्यमरः। विवर्तनैः परिभ्रमणैर्मुहुः प्रणुन्नेषु कम्पितेष्विति स्वभावोक्तिः। कुम्भेषु कलशेषु मृदङ्गवन्मन्थरं मन्दं नदत्सु सत्स्विति वाद्यसाम्योक्तिः। भावलक्षणे सप्तमीयम्॥ १६॥

अहीर टोलियों में मन्थनदण्डों के घूमने से (वे घड़े, जिनमें दधि विलोडन की जाती थी) दधि भाण्ड मृदङ्ग के सदृश मधुर ध्वनि करते हुए, मयूरियों को मेघ गर्जन का भ्रम उत्पन्न कर उन्मादित कर रहे थे॥ १६॥

स मन्थरावल्गितपीवरस्तनीः परिश्रमक्लान्तविलोचनोत्पलाः ।
निरीक्षितुं नोपरराम वल्लवीरभिप्रनृत्ता इव वारयोषितः ॥ १७ ॥

स इति । मन्थरं मन्दमावल्गिताश्चञ्चलाः पीवराः स्तना यासां तास्तथोक्ताः । 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इति ङीष् । परिश्रमेण क्लान्तानि ग्लानानि विलोचनोत्पलानि यासां तास्तथोक्ता वल्लवीर्गोपीः । 'गोपे गोपालगोसख्यगोधुगाभीरवल्लवाः' इत्यमरः । अभिप्रनृत्ता नृत्यन्तीः । 'गत्यर्थाकर्मक—' इत्यादिना कर्तरि क्तः । 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति चकाराद्वर्तमानार्थत्वम् । वारयोषितो वेश्या इव । 'वारस्त्री गणिका वेश्या' इत्यमरः । सोऽर्जुनो निरीक्षितुम् । ईक्षतेस्तुमुन् । नोपरराम न विरमति स्म । 'उपाच्च' । 'विभाषाकर्मकात्' इति परस्मैपदम् । अत्र चतुःश्लोक्यामुपमास्वभावोक्त्योः संसृष्टिः ॥ १७ ॥

गोपिकाओं के स्थूल स्तन (दधिमन्थन करते समय) थिरक रहे थे परिश्रम से थक कर उनकी आँखें अलसा रही थीं । ऐसी गोपललनाओं को नृत्य क्रिया में लीन वेश्याओं की तरह देखने में अर्जुन का मन निवृत्त न हुआ ॥ १७ ॥

पपात पूर्वां जहतो विजिह्मतां वृषोपभुक्तान्तिकसस्यसम्पदः ।
रथाङ्गसीमन्तितसान्द्रकर्दमान्प्रसक्तसंपातपृथक्कृतान्पथः ॥ १८ ॥

पपातेति । सोऽर्जुनः पूर्वां प्रावृषेण्यां विजिह्मतां वक्रतां जहतस्त्यजतः । शरदि निष्पङ्कत्वेन समरेखस्यैव सुगमत्वादिति भावः । जहातेः शतृप्रत्ययः । वृषोपभुक्तान्तिकसस्यसंपदो वृषभचर्वितप्रान्तसस्यसमृद्धीन् । 'सुकृते वृषभे वृषः' इत्यमरः । सीमन्ता इव सीमन्ताश्चक्राङ्कपद्धतयः सीमन्तवन्तः कृताः सीमन्तिताः । मत्वन्तात् 'तत्करोति' इति णिचि क्तः । णाविष्ठवद्भावान्मतुपो लुक् । रथाङ्गैश्चक्रैः सीमन्तिताः सान्द्राः कर्दमा घनीभूताः पङ्का येषु तान्प्रसक्तसंपातेन संततसञ्चारेण पृथक्कृतान्पथो मार्गान्पपात जगामेति स्वभावोक्तिः ॥ १८ ॥

अर्जुन जिन-जिन मार्गों का अवलम्बन करके आ रहे थे वे सम्पूर्ण मार्ग जो वर्षा के कारण टेढ़-मेढ़े हो गये थे सीधे और सुगम बन गये थे । उनके दोनों बगल के धान्यों को बैलों ने भक्षण कर डाला था । गाड़ियों के पहियों के चलने से मार्ग में कहीं-कहीं कीचड़ जम गये थे । लोगों के सतत आने-जाने से सब मार्ग स्पष्ट दिखलाई पड़ते थे ॥ १८ ॥

जनैरुपग्राममनिन्द्यकर्मभिर्विविक्तभावेङ्गितभूषणैर्वृताः ।
भृशं ददर्शाश्रममण्डपोपमाः सपुष्पहासाः स निवेशवीरुधः ॥ १९ ॥

जनैरिति । सोऽर्जुन उपग्रामं ग्रामेषु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अनिन्द्यकर्मभिरनिषिद्धवृत्तिभिः । वृत्तिश्चैकत्र कृष्यादिरन्यत्र शिलोञ्छादिः । विविक्तान्येकाग्राणि भावोऽभिप्राय इङ्गितं चेष्टा भूषणमलङ्कारश्च येषां तैस्तथोक्तैर्जनैर्वृताः । अधिष्ठिता

इत्यर्थः । अत एवाश्रमेषु मुनिस्थानेषु ये मण्डपास्तदुपमाः । 'मण्डपोऽस्त्री जनाश्रयः' इत्यमरः । सपुष्पहासाः पुष्पविकाससहिताः । 'तेन सह—' इत्यादिना बहुव्रीहिः । निवेशवीरुधो गृहगुल्मिनीः । 'वीरुध्वौ वल्लिगुल्मिन्यौ' इति वैजयन्ती । भृशं सादरं ददर्श । उपमाऽलङ्कारः ॥ १९ ॥

जाते समय मार्ग में जो-जो ग्राम पड़ते थे, अर्जुन ने सबका निरीक्षण किया । गाँव के प्रत्येक घरों के लताकुञ्ज, जिनमें पुष्प विकसित हो रहे थे और लताकुञ्ज ग्रामनिवासियों से, (जिनके, आचार; विचार, वेशभूषा तथा हाव और भाव सब व्यक्त थे), अधिष्ठित होकर मण्डप के समान सुन्दर प्रतीत होते थे ।

ग्राम निवासियों से अधिष्ठित वे, आश्रम में बने हुए मंडप की शोभा धारण कर रहे थे । उन (ग्राम निवासियों) के कर्म शुद्ध थे । उनके भाव, चेष्टा और आभरणादि उनके कर्म के द्योतक थे, उन्हें अर्जुन ने बार-बार अवलोकन किया ॥ १९ ॥

ततः स संप्रेक्ष्य शरद्गुणश्रियं शरद्गुणालोकनलोलचक्षुषम् ।
उवाच यक्षस्तमचोदितोऽपि गां न हीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति ॥ २० ॥

तत इति । ततः स पूर्वोक्तो यक्षः शरद्गुणश्रियं संप्रेक्ष्य । दर्शनीयां वर्णनीयां च विचार्येत्यर्थः । शरद्गुणालोकने लोलचक्षुषं सतृष्णदृष्टिम् । 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः । तमर्जुनमचोदितोऽप्यपृष्टोऽपि गां वाचमुवाच । तथाहि । इङ्गितज्ञो भावज्ञः । 'इङ्गितं हृद्गतो भावः' इति विश्वः । अवसर उक्तियोग्ये काले नावसीदति न वाचं यच्छति । 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' इति निषेधस्त्वनाकाङ्क्षितोक्तिविषय इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २० ॥

उस यक्षने शरत्काल के गुणों की शोभा देख कर, शरत्काल की शोभा देखने में संसक्त नेत्र, अर्जुन से बिना कुछ पूछे ही बोला क्योंकि अभिप्राय का ज्ञाता व्यक्ति समय पर कभी नहीं चूकता । अर्थात् यक्ष अर्जुन के मनोगत भाव को समझ कर उनसे वार्तालाप करने के लिये कुछ कहा ॥ २० ॥

इयं शिवाया नियतेरिवायतिः कृतार्थयन्ती जगतः फलैः क्रियाः ।
जयश्रियं पार्थ ! पृथूकरोतु ते शरत्प्रसन्नाम्बुरनम्बुवारिदा ॥ २१ ॥

इयमिति । हे पार्थ, शिवायाः कल्याणकारिण्या नियतेः । 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः । शुभावहदैवस्यायतिः फलदानकालः सैव जगतः क्रिया कृष्यादिकर्माणि फलैर्लाभैः । 'लाभो निष्पत्तियोगेषु बीजभावे घने फलम्' इति वैजयन्ती । कृतार्थयन्ती सफलयन्ती प्रसन्नाम्बुर्निर्मलोदकाऽनम्बुवारिदा निर्जलमेघा । अनेन विशेषणद्वयेन द्यावापृथिव्योरानुकूल्यं सूचयति । इयं शरत्ते जयश्रियं पृथूकरोतु । आशीरर्थे लोट् ॥ २१ ॥

यह शरदृतु मङ्गलमय भाग्य के फल दान का काल है। यह संसार की सम्पूर्ण क्रियाओं को फल प्रदान करके सफल बनाती है। इस ऋतु में जल निर्मल हो जाता है। बादल भी जलहीन हो जाते हैं। हे पृथापुत्र ! यह शरत्काल आपको जयश्री से सुशोभित करे। इदानीं आपके विजय की अनुकूलता भी प्रतीत होती है॥ २१॥

उपैति सस्यं परिणामरम्यता नदीरनौद्धत्यमपङ्कतां मही।
नवैर्गुणैः संप्रति संस्तवस्थिरं तिरोहितं प्रेम घनागमश्रियः॥ २२॥

उपैतीति। सस्यं व्रीह्यादिकं परिणामेन परिपाकेन या रम्यतां सोपैति। नदीरनौद्धत्यं रम्यरूपत्वमुपैति। मही चापङ्कतां निष्पङ्कत्वमुपैति। तथापि। संप्रति नवैर्गुणैः पूर्वोक्तैः शरद्धर्मैः संस्तवेन परिचयेन स्थिरं दृढमपि घनागमश्रियः प्रावृड्लक्ष्म्याः संबन्धि। तद्विषयमित्यर्थः। प्रेम तिरोहितम्। निरर्थकं कृतमित्यर्थः। गुणतन्त्राः प्रेमाणो न परिचयतन्त्रा इति भावः। वास्तवालङ्कारः॥ २२॥

(इस शरदृतु में) धान्य परिपाक से सुरम्य प्रतीत होते हैं। नदी अपनी उद्धतता का परित्याग कर देती है अर्थात् वर्षा काल में नदी प्रबल वेग के कारण महान् अनर्थ कर डालती हैं कहीं पेड़ों को उखाड़ डालती हैं; कहीं तटों को ढाह देती हैं: कहीं किसी को अपनी धारा में विलीन कर देती हैं, यही नदी का औद्धत्य है। सबका परित्याग कर नदी शान्त वेग धारण कर लेती हैं। पृथ्वी पर कीचड़ नाम मात्र को नहीं रह जाता है। वर्षा काल के सुखों से परिचित होने वालों का प्रेम जो परिचय के कारण दृढ़ रहता है उसे भी शरदृतु अपने नवीन गुणों से आच्छादित कर देती है॥ २२॥

पतन्ति नास्मिन्विशदाः पतत्रिणो धृतेन्द्रचापा न पयोदपङ्क्तयः।
तथापि पुष्णाति नभः श्रियं परां न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम्॥ ३॥

पतन्तीति। अस्मिन्नभसि विशदाः पतत्रिणो बलाका न पतन्ति न प्रसरन्ति। धृतेन्द्रचापाः पयोदपङ्क्तयश्च न पतन्ति। तथापि श्रीकारणाभावेऽपि नभः परां श्रियं शोभां पुष्णाति। तथाहि। रम्यं स्वभावसुन्दरं वस्त्वाहार्यमारोप्यमाणं गुणं नापेक्षते। तत्र स्वभावस्यैव समर्थत्वादिति भावः। अर्थान्तरन्यासः॥ २३॥

(वर्षा काल में स्वच्छ (सफेद) बकों (बगुलों) की पंक्तियाँ और इन्द्रधनुष ऋतु की शोभा बढ़ाते हैं) इस शरदृतु में न तो सफेद बगुले ही आसमान में उड़ते हैं और न मेघमालायें इन्द्रधनुष से सुशोभित होती हैं तथापि यह शरदृतु आकाश की सर्वोत्तमरमणीयता को पुष्ट कर रही है। स्वाभाविक सुन्दर वस्तु और आलङ्कारिक सामग्रियों की अपेक्षा नहीं रखती। २३॥

विपाण्डुभिर्म्लानतया पयोधरैश्च्युताचिराभागुणहेमदामभिः।
इयं कदम्बानिलभर्तुरत्यये न दिग्वधूनां कृशता न राजते॥ २४॥

विपाण्डुभिरिति । कदम्बानिलशब्देन वर्षर्तुरुपलक्ष्यते । स एव भर्ता तस्यात्यये विरहे म्लानतया निर्जलतया दुर्बलतया च विपाण्डुभिश्च्युतानि रहितान्यचिराभागुणा विद्युल्लता एव हेमदामानि सुवर्णसूत्राभरणानि येभ्यस्तैः पयोधरैरम्भोदैः, अन्यत्र स्तनैः । उपलक्षितानाम् । 'स्तनाम्भोदौ पयोधरौ' इति वैजयन्ती । दिश एव वध्वस्तासामियं कृशता न राजत इति न । किंतु राजत एव वियुक्तत्वात् । 'आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा' इति स्मरणादिति भावः । सामान्यतः प्रसक्तमराजनं कार्श्यस्यैकेन नञा संभाव्य द्वितीयेन निषेधति । यथाह वामनः—'संभाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति । अत्र रूपकालङ्कारः स्फुट एव ॥ २४ ॥

वर्षाऋतु रूप पति के चले जाने पर, दिक् सुन्दरियों की यह कृशता (दुर्बलता) निर्जलता रूप खिन्नता से विद्युल्लता रूप सुवर्ण सूत्र विनिर्मित भूषणों से रहित होकर भी मेघ रूप स्तनमण्डलों से क्या नहीं सुशोभित होती हैं ? किन्तु सुशोभित होती हैं । (इस पद्य में कवि वर्षाऋतु को पति माना है; दिशाओं को स्त्री माना है और मेघ को स्तन माना है बिजुली को सुवर्ण का आभूषण माना हैं । अर्थात् पति के विरह में स्त्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं, उपभोग के कारण स्तन म्लान हो जाते हैं गौरवर्ण पयोधर मण्डल से, जिन पर स्वर्ण के आभूषण भी न हों, स्त्रियों की खिन्नता भी उनकी शोभा की वृद्धि करती हैं ।

उसी तरह इस शरदृतु में भी वर्षा ऋतु के बीत जाने पर निर्जल मेघ जो थोड़ी पीतिमा लिये धवल वर्ण के हैं और उनकी बिजुली की चमक अवशेष हो गई है अब उनसे दिशायें सुशोभित नहीं होती हैं ऐसा नहीं उनकी शोभा और बढ़ गई है) ॥ २४ ॥

विहाय वाञ्छामुदिते मदात्ययादरक्तकण्ठस्य रुते शिखण्डिनः ।
श्रुतिः श्रयत्युन्मदहंसनिःस्वनं गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः ॥ २५ ॥

विहायेति । मदात्ययान्मदक्षयादरक्तकण्ठस्याश्राव्यस्वरस्य कण्ठशब्देनात्र तद्गतः स्वरो लक्ष्यते । शिखण्डिनो मयूरस्य संबन्धिन्युदित उच्चैस्तरे रुते कूजिते वाञ्छां विहाय । श्रुतिः श्रोत्रम् । 'कर्णशब्दग्रहौ श्रोत्रं श्रुतिः स्त्री श्रवणं श्रवः' इत्यमरः । उन्मदहंसनिःस्वनं मत्तमरालकूजितं श्रयति भजते । नन्वकाण्डे परिचित परिहारेणापरिचिते कथं प्रीत्युदय इत्याशङ्क्यार्थान्तरं न्यस्यति—गुणा इति । प्रीणातीति प्रियः । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः । प्रियत्वे प्रीतिकरत्वे गुणा अधिकृता नियुक्ताः । संस्तवः परिचयो नाधिकृतो न समर्थः । प्रेमाधाने गुणवत्त्वं प्रयोजकं न परिचय इत्यर्थः ॥२५॥

इसमें (शरदृतु में) वर्षा काल के बीत जाने पर मयूरों (मोर) का मद क्षीण हो जाता है अतः उनकी वाणी कर्ण कटु प्रतीत होती है जब कभी इस ऋतु में ये बोलते हैं तब कान उससे निस्पृह हो मदोन्मत्त हंसों की ध्वनि श्रवण करते हैं । मन के प्यार होने में गुण ही कारण है जिसमें अधिक गुण होगा वही प्रिय होगा चिरपरिचित कोई वस्तु नहीं है ॥ २५ ॥

अमी पृथुस्तम्बभृतः पिशङ्गतां गता विपाकेन फलस्य शालयः ।
विकासि वप्राम्भसि गन्धसूचितं नमन्ति निघ्रातुमिवासितोत्पलम् ॥ २६ ॥

अमी इति । अमी पृथून्स्तम्बान्गुच्छान्बिभ्रतीति पृथुस्तम्बभृतः । 'स्तम्बो गुच्छस्तृणादिनः' इत्यमरः । फलस्य प्रसवस्य विपाकेन परिणामेन पिशङ्गतां गताः शालयो व्रीहिविशेषाः । वप्राम्भसि केदारोदके । 'पुंनपुंसकयोर्वप्रः केदारः क्षेत्रम्' इत्यमरः । विकसतीति विकासि विकसितं गन्धेन सूचितं ज्ञापितमसितोत्पलं निघ्रातुमाघ्रातुमिव नमन्ति । 'निध्यातुमिव' इति पाठे द्रष्टुमित्यर्थः । निर्वर्णयितुं वा । 'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः । अत्र फलभारान्नमनस्य निघ्राणफलकत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति फलोत्प्रेक्षा ॥ २६ ॥

ये, फल के परिपाक से पीतिमा धारण करने वाले, लच्छेदार धान के पौधे, सजल क्षेत्रों में मानों प्रफुल्ल, सुरम्य-गन्ध-सम्पन्न, नील कमल को सूँघने के लिये झुक रहे हैं ॥ २६ ॥

अथ चतुर्भिः कलापकमाह—

मृणालिनीनामनुरञ्जितं त्विषा विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया ।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं द्रुतं धनुष्खण्डमिवाहिविद्विषः ॥ २७ ॥

मृणालिनीनामिति । मृणालिनीनां पद्मिनीनां त्विषा हरिद्वर्णेनानुरञ्जितम् । तद्वर्णतामापादितमित्यर्थः । तथाम्भोजपलाशशोभया पद्मदलकान्त्या । आरुण्येनेत्यर्थः । विभिन्नं मिश्रितम् । तथा स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं स्फुरद्भिः कलमाग्रैः पिङ्गलीकृतमित्थं नानावर्णत्वाद् द्रुतं पलायितमहिविद्विषो वृत्तशत्रोरिन्द्रस्य । 'सर्पेवृत्रासुरेऽप्यहिः' इति वैजयन्ती । धनुष्खण्डमिव स्थितम् । 'नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' इति विसर्जनीयस्य षत्वम् । पयो वप्राम्भोऽपदिश्यत व्याजीकृत्य धावतामित्यागामिना संबन्धः । अत्र धनुष्खण्डस्य द्रुतस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वादुत्प्रेक्षेयं नोपमा ॥ २७ ॥

जल, कमलिनी लता की कान्ति से (हरिद्वर्ण से) विशोभित; तथा कमल दल की शोभा से मिश्रित, और झूमते हुए धान की बालों से पीले वर्ण को धारण करता है जिससे वृत्रासुर के शत्रु (इन्द्र) के धनुष के सदृश अनेक वर्ण युक्त हो गया है (कमलिनी-लता का रंग, हरा, पद्म पुष्प का रंग लाल, और पके हुए धान के पौधों का रङ्ग पीला होता है इन सबकी छाया पड़ने से जल में अनेक वर्ण प्रतीत होते हैं अतः जल इन्द्रधनुष की छ्या धारण करता है ॥ २७ ॥

विपाण्डु संव्यानमिवानिलोद्धतं निरुन्धतीः सप्तपलाशजं रजः ।
अनाविलोन्मीलितबाणचक्षुषः सपुष्पहासा वनराजियोषितः ॥ २८ ॥

विपाण्ड्वति । विपाण्डु शुभ्रमनिलोद्धतमनिलोत्क्षिप्तम् । सप्त सप्त पलाशानि

पत्राणि पर्वसु येषां ते वृक्षाः सप्तपलाशाः । 'क्वचित्संङ्ख्याशब्दस्य वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिव' इत्युक्तम् । तेषां पुष्पाणि सप्तपलाशानि । 'द्विहीनं प्रसवे सर्वम्' इत्यमरः । 'फले लुक्' इत्यणो लुक् । तेषु जातं सप्तपलाशजं रजः परागं संव्यानमुत्तरीयमिव । 'संव्यानमुत्तरीयं च' इत्यमरः । निरुन्धतीर्निवारयन्तीः । प्रावृतवतीरिति यावत् । अनाविलान्यकलुषाण्युन्मीलितानि च बाणानि नीलसैरेयकाणि चक्षुंषीव यासां तास्तथोक्ताः । 'नीलस्त्वर्थगलो दासी बाण ओदनपाक्यपि' इति धन्वन्तरिः । पुष्पाणि हासा इव तैः सह वर्तन्त इति सपुष्पहासाः । वनराजयो योषित इव वनराजियोषितः । ता अपदिश्येत्यन्वयः । अत्र संव्यानमिवेत्युपमैवान्यत्रोपमितसमासे लिङ्गम् । यथा काचित्केनचित्कामुकेनाक्षिप्तं स्तनांशुकं निरुन्धे तद्वदिति भावः ॥ २८ ॥

वन राजियाँ कामिनी रूप हैं । उनके विकसित पुष्प (कामिनियों के) हास्य के समान हैं । इन वन राजियों में बाण वृक्ष (कटसरैया) निर्मल खुली हुई आँखों के सदृश हैं । सात-सात पत्तों से युक्त छितौन का पराग पाण्डु वर्ण के अञ्चल के सदृश हैं । जब ये हवा के झोंके से उड़ने लगते हैं तो स्त्रियाँ उन्हें सम्हालने लग जाती हैं । जिस प्रकार कामिनियाँ मन्द हास करती हुई अपने निर्मल नेत्रों से अवलोकन करती हैं और उनका वासन्ती रंग का अञ्चल हवा के झोंके से उड़ता रहता है और वे उसे सम्हालने लग जाती हैं । उसी तरह ये वन पंक्तियाँ फूलों के भार से लदी हुई हैं । इनमें फूले हुये कटसरैया (बाण) के फूल और छितौन के भी वृक्ष हैं (छितौन के पेड़ के हर एक डण्ठी में सात-सात पत्ते होते हैं) । छितौन के पराग हवा के झोंके से उड़ रहे हैं इस समय इन (वन राजियों) के वृक्ष भी हवा के झोंके से झकोरे ले रहे हैं ॥ २८ ॥

अदीपितं वैद्युतजातवेदसा सिताम्बुदच्छेदतिरोहितातपम् ।
ततान्तरं सान्तरवारिसीकरैः शिवं नभोवर्त्म सरोजवायुभिः ॥ २९ ॥

अदीपितमिति । वैद्युतजातवेदसा वैद्युताग्निनाऽदीपितमप्रकाशितम् । विद्युत्प्रकाशस्य दृष्टिविघातकत्वात्तद्राहित्यं गुण इति भावः । सिताम्बुदानां छेदैः खण्डैस्तिरोहितातपम् । न दृष्टिबाधो नाप्यातपबाध इति भावः । सान्तरवारिसीकरैर्विरलाम्बुकणैस्ततान्तरं व्याप्तमध्यं सरोजवायुभिः शिवं रम्यं नभोवर्त्म चापदिश्येति । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ २९ ॥

आकाश मार्ग विद्युताग्नि से उद्भासित नहीं हो रहे हैं । और शुभ्र बादलों के खण्डों से सूर्य्य का आतप भी छिपा हुआ है । (जिसमें आकाश मार्ग में चलने से न तो आँखें चकाचौंध होती हैं और न धूप ही सताती है) आकाश का अन्तराल विरल-विरल जल कणों से व्याप्त हो रहा है । कमलों की सुरभित गन्धि से आकाश पथ बहुत रमणीय हो गया है ॥ २९ ॥

सितच्छदानामपदिश्य धावतारुतैरमीषां ग्रथिताः पतत्रिणाम् ।
प्रकुर्वते वारिदरोधनिर्गताः परस्परालापमिवामला दिशः ॥ ३० ॥

सितेति । अपदिश्य धावतामिति पूर्वश्लोकत्रयोक्तं पयः प्रभृतिकमुद्दिश्य, धावताममीषां सितच्छदानां पतत्रिणां हंसानाम् । 'हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकसः' इत्यमरः । रुतैः शब्दैर्ग्रथिता दृब्धाः । 'ग्रथितं गुम्फितं दृब्धम्' इत्यमरः । वारिदरोधनिर्गता मेघोपरोधनिर्मुक्ता अतएवामलाः प्रसन्ना दिशः परस्परालापं प्रकुर्वत इव । दिष्ट्या मेघोपरोधनिर्मुक्ताश्चिरादुच्छ्वसिता इति हंसकूजितव्याजेन परस्परमालपन्तीवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३० ॥

इन सब सुखकर वस्तुओं का अपदेश कर दौड़ते हुए इन धवल पक्ष वाले हंस पक्षियों के कल कूजन से गुम्फित होकर दिशायें मेघों के अवरोध से छुटकारा पाकर निर्मल हो गई हैं और वे मानों अन्योन्य सम्भाषण कर रही हैं ॥ ३० ॥

विहारभूमेरभिघोषमुत्सुकाः शरीरजेभ्यश्च्युतयूथपङ्क्तयः ।
असक्तमूधांसि पयःक्षरन्त्यमूरुपायनानीव नयन्ति धेनवः ॥ ३१ ॥

विहारेति । विहारभूमेः । अपरराजगोचरादित्यर्थः । आगच्छन्त्य इति शेषः । अभिघोषमुत्सुका व्रजं प्रत्युत्कण्ठिताः । वत्सप्रेम्णेति भावः । 'घोष आभीरपल्ली स्यात्' इत्यमरः । च्युता त्रुटिता यूथानां कुलानां पङ्क्तिः श्रेणीबन्धो यासां तास्तथोक्ताः । 'सजातीयैः कुलं यूथम्' इत्यमरः । अमूर्धेनवोऽसक्तमप्रतिबन्धं पयः क्षीरं क्षरन्ति स्रवन्ति । वत्सस्मरणात्प्रस्रवन्तीत्यर्थः । क्षरतेः शतृप्रत्ययः । ऊधांसि शरीरजेभ्योऽपत्येभ्य उपायनानीवातितोषकारिणीवेत्युत्प्रेक्षा । नयन्ति प्रापयन्ति । यथा लोके कुतश्चित्प्रवासादेत्य मातरः किंचित्खाद्यमानयन्ति तद्वदिति भावः ॥ ३१ ॥

अर्जुन ने देखा—ये गायें विहार भूमि से (वत्स के प्रेम से) निवास स्थान (घोष) के लिये उत्कण्ठित हो अपने झुण्ड से अलग हो गईं हैं और वे (अपने बच्चों का स्मरण कर) लगातार क्षीर परिस्रवण कर रही हैं । अपने थनों को मानों वे अपने शरीर से उत्पन्न होने वाले (बच्चों) के लिये उपहार ला रही हैं (अर्थात् जैसे माता अगर कहीं बाहर घूमने के लिये जाती है तो वह लौटते वक्त अपने बच्चों के लिये खाने का कुछ न कुछ सामान अवश्य लाती है उसी तरह गायें भी अपना थन बच्चों के लिये ला रही थीं) ॥ ३१ ॥

जगत्प्रसूतिर्जगदेकपावनी व्रजोपकण्ठं तनयैरुपेयुषी ।
द्युतिं समग्रां समितिर्गवामसावुपैति मन्त्रैरिव संहिताहुतिः ॥ ३२ ॥

जगदिति । जगत्प्रसूतिर्जगत्कारणम् । आज्यादिहविर्द्वारेणेति भावः । जगतामेकपावनी मुख्यशोधनी व्रजोपकण्ठं गोष्ठान्तिकम् । 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' इति द्वितीया । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्राः' इत्यमरः । तनयैर्वत्सैरुपेयुषी संगता । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । 'उगितश्च' इति ङीप् । असौ

गवां समितिः संहृतिः । मन्त्रैर्ऋग्यजुषादिभिः । 'मन्त्रो ऋगादिगुह्योक्तिः—' इति वैजयन्ती । संहिता योजिताहुतिरिव । समग्रां द्युतिमुपैति । आहुतिरपि जगत्प्रसूतिर्जगदेकपावनी च । 'अग्नौ प्रस्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।' इति स्मरणादिति भावः ॥ ३२ ॥

संसार की रक्षा करने में समर्थ, दुनियाँ को अपवित्रता से शुद्ध करने वाली गायें अपने बछड़ों के संग गोष्ठ (गोशाला) के समीप खड़ी थीं । उनका झुण्ड (अपनी पूर्ण शोभा के साथ) ऋक् . यजु और सामादि मन्त्रों से युक्त हव्यादि प्रक्षेप रूप आहुति (जो संसार के रक्षामें समर्थ और संसार को पवित्र करने वाली है) की तरह, अपनी पूर्ण शोभा को प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

कृतावधानं जितबर्हिणध्वनौ सुरक्तगोपीजनगीतनिःस्वने ।
इदं जिघत्सामपहाय भूयसीं न सस्यमभ्येति मृगीकदम्बकम् ॥ ३३ ॥

कृतेति । जितबर्हिणध्वनौ । केकानुकारिणीत्यर्थः । एतेन षड्जस्वरप्रायं गायन्तीति गम्यते । यथाह मातङ्गः—'षड्जं मयूरो वदति' इति । गाः पान्तीति गोपास्तेषां भार्या गोप्यः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीष् । ता इव जनः । सुरक्तो मधुरकण्ठो यो गोपीजनो वल्लवीजनस्तस्य गीतनिःस्वने गाने कृतावधानमेकाग्रचित्तमिदं पुरोवर्ति मृगीकदम्बकं कर्तृ भूयसीमतिमहतीं जिघत्सामत्तुमिच्छाम् । अदेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'लुङ्सनोर्घस्लृ' इति घस्लादेशः । अपहाय हित्वा सस्यं नाभ्येति नोपैति । गीतासक्त्या क्षुधामपि न गणयतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

अर्जुन ने देखा—हरिणियों का झुण्ड, मयूरों की षड्ज ध्वनि को जीतने वाली मधुर-कण्ठ-गोपियों के गान में दत्त चित्त होकर प्रबल खाने की इच्छा से विरत हो घास चरना भूल गया है (अर्थात् गीत में आसक्त हरिणियाँ भूख प्यास को भी भूल गई हैं) ॥ ३३ ॥

असावनास्थापरयावधीरितः सरोरुहिण्या शिरसा नमन्नपि ।
उपैति शुष्यन्कलमः सहाम्भसा मनोभुवा तप्त इवाभिपाण्डुताम् ॥ ३३ ॥

असाविति । शिरसाग्रचेण मूर्ध्ना च नमन्प्रणमन्नप्यनास्थापरयानादरपरया सरोरुहिण्यावधीरितोऽवज्ञातः । अम्भसा सह । शरभूतेनेति भावः । शुष्यन्नसौ कलमः शालिविशेषः । मनोभुवा तप्त इव कामार्त इव । अभिपाण्डुतामुपैति । अत्रानास्थापरयेति प्रकृतसरोरुहिणीविशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिः । उत्तिष्ठमानायाः सरोरुहिण्याः प्रतीयमानया नायिकया शुद्धभेदेऽप्यभेदलक्षणातिशयोक्तिमहिम्नावधीरणक्रियासम्बन्धान्निर्वहन्ती मनोभुवा तप्त इवेत्युत्प्रेक्षानिर्वाहिकेत्यतिशयोक्त्यनुप्राणितसमासोक्त्युपमयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३४ ॥

अनादरकारिणी कमलिनी से तिरस्कृत होकर यह शालि (धान) जल के साथ साथ स्वयं सूख कर काँटा हो रहा है, और काम से पीड़ित होकर दिन दिन पीला पड़ता जा रहा है ॥ ३४ ॥

अमी समुद्धूतसरोजरेणुना हृता हृतासारकणेन वायुना।
उपागमे दुश्चरिता इवापदां गतिं न निश्चेतुमलं शिलीमुखाः ॥ ३५ ॥

अमी इति। समुद्धूतसरोजरेणुनेति सौरभ्योक्तिः। हृतासारकणेनोपात्ताम्बुकणेनेति शैत्योक्तिः। 'धारासम्पात आसारः' इत्यमरः। वायुना हृता आकृष्टा अमी शिलीमुखा भृङ्गाः। आपदामुपागमे राजादिभयागमे दुश्चरिता दुष्टकर्माणश्चौरादय इव। गम्यत इति गतिं गन्तव्यदेशम्। 'देशोपायगमे गतिः' इति वैजयन्ती। निश्चेतुं नालं न समर्थाः। एकत्र वायोः सार्वत्रिकत्वेनापादानादनिश्चयादन्यत्र भयान्धत्वादिति भावः ॥ ३५ ॥

ये भ्रमर, उड़ते हुए कमल-परागों को धारण करते हुए तथा वर्षा के जल कणों से युक्त (त्रिविध = शीतल, मंद, सुगन्ध वायु कमल पराग से सुगन्धि और उसके भार से मन्दता तथा जल कण से शैत्य का ग्रहण करता है) शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन के द्वारा आकृष्ट होकर, आपत्ति में पड़े हुए तस्करों (चोर, लम्पटों) की तरह 'रक्षार्थ कहाँ भाग कर जाँय' इसका निश्चय नहीं कर पाते हैं ॥ ३५ ॥

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥ ३६ ॥

मुखैरिति। विद्रुमभङ्गलोहितैर्मुखैः पिशङ्गीः पिशङ्गवर्णाः कलमस्य शिखाः शाल्यग्राणि बिभ्रती व्यक्तशिरीषकोमला विकसितशिरीषसवर्णासौ शुकावलिर्गोत्रभिद इन्द्रस्य धनुषः श्रियमनुगच्छत्यनुकरोति। नानावर्णत्वादिन्द्रधनुरिवाभातीत्युपमालङ्कारः ॥ ३६ ॥

यह (शुकावलि) (शुक = तोता। अवलि = पङ्क्ति) अपने प्रवाल के टुकड़े के समान अरुण वर्ण के चञ्चुओं से पीले रंग की धान की फल संयुक्त शिखा धारण करती हुई विकसित शिरीष के पुष्प सवर्णा इन्द्र के धनुष की शोभा का अनुसरण कर रही है। अर्थात् इन्द्र धनुष में विविध प्रकार के रङ्ग पाये जाते हैं उसी तरह इन तोतों के समूहों में विविध रङ्ग, (चोंच लाल, धान की बाल पीली और उनके वदन का रंग हरा तथा उनके गलों में जो रेखा पड़ी हुई होती है वह अनेक रंग की होती है) होने से उसकी जो इन्द्रधनुष की समानता हो रही है ॥ ३६ ॥

इति कथयति तत्र नातिदूरादथ ददृशे पिहितोष्णरश्मिबिम्बः।
विगलितजलभारशुक्लभासां निचय इवाम्बुमुचां नगाधिराजः ॥ ३७ ॥

इतीति। तत्र तस्मिन्नूर्वोक्ते यक्ष इतीत्थं कथयति सति नातिदूरादनतिदूरात्। ईषद्दूर इत्यर्थः। नञर्थस्य न शब्दस्य सुप्सुपेति समासः। पिहितोष्णरश्मिबिम्बस्तिरोहितार्कमण्डल इत्यौन्नत्योक्तिः। नगाधिराजो हिमाद्रिविगलितो जलभारो येषां ते तथोक्ताः अतएव शुक्लभासः। द्वयोरन्यतरस्य विशेष्यत्वविवक्षया विशेषणसमासः। तेषां विगलितजलभारशुक्लभासां शुभ्राणामम्बुमुचां निचय इव मेघवृन्दमिव ददृशे दृष्टः॥ ३७॥

इस तरह वार्तालाप करते हुये यक्ष ने सन्निकट से, भगवान् भास्कर के मण्डल को तिरोहित करने वाला पर्वतराज हिमालय को उन मेघों के समूह के सदृश देखा जिनके वर्ण जलभार परित्याग करने से शुभ्र हो गये हैं॥ ३७॥

तमतनुवनराजिश्यामितोपत्यकान्तं नगमुपरिहिमानीगौरमासाद्य जिष्णुः।
व्यपगतमदरागस्यानुसस्मार लक्ष्मीमसितमधरवासो बिभ्रतः सीरपाणेः॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये चतुर्थः सर्गः।

तमिति। जिष्णुरर्जुनोऽतनुभिर्महतीभिर्वनराजिभिः श्यामिताः श्यामला उपत्यकान्ता आसन्नभूमिप्रदेशा यस्य तं तथोक्तम्। 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः। 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन्प्रत्ययः। उपरि हिमानीभिर्हिमसङ्घातगौरं शुभ्रं नगं हिमाद्रिमासाद्य। व्यपगतो निवृत्तो मदरागो यस्य तस्य। असितं नीलमधरं वास उत्तरीयं बिभ्रतो धृतवतः। सीरं हलं पाणौ यस्य तस्य सीरपाणेर्हलायुधस्य। 'हलायुधः। नीलम्बरो रौहिणेयस्तालाङ्को मुसली हली। सङ्कर्षणः सीरपाणिः' इत्यमरः। 'सप्तमीविशेषणे–' इति ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः। 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ स्तः' इति सप्तम्याः परनिपातः। लक्ष्मीं शोभामनुसस्मार स्मृतवान्। अत्र सदृशदर्शनेन सदृशान्तरस्य स्मरणात्स्मरणालङ्कारः 'सदृशं सदृशानुभवाद्यत्र स्मर्यते तत्स्मरणम्' इति विद्याधरः॥ ३८॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां–घण्टापथसमाख्यायां चतुर्थः सर्गः समाप्तः।

सुन्दर विस्तृत वनों की पंक्तियो से नील वर्ण के उपत्यका (पहाड़ के समीप की नीचों भूमि) प्रदेश से घिरे हुये, बर्फ की चट्टानों से ढके हुये शुभ्र हिमालय पर पहुँच कर, अर्जुन को मदिरा के राग से मुक्त, नीलाम्बरधारी, सीरपाणि बलभद्रजी की शोभा का स्मरण हो आया॥ ३८॥

॥ चतुर्थ सर्ग समाप्त॥

पञ्चमः सर्गः

अथ हिमवद्वर्णनमारभते । तत्र पञ्चदशभिः कुलकमाह—

अथ जयाय नु मेरुमहीभृतो रभसया नु दिगन्तदिदृक्षया ।
अभिययौ स हिमाचलमुच्छ्रितं समुदितं नु विलङ्घयितु नभः ॥ १ ॥

अथेति । अथानन्तरं सोऽर्जुनो मेरुमहीभृतो हेमाद्रेर्जयाय नु जयार्थं वा । नुशब्दोऽत्र वितर्के । 'नु पृच्छायां वितर्के च' इत्यमरः । रभसो वेगः । 'रभसो वेगहर्षयोः' इति वैजयन्तीविश्वप्रकाशौ । तद्वत्या रभसया । अतीवोत्कण्ठयेति यावत् । अर्श आदित्वादच्प्रत्ययः दिगन्तानां दिदृक्षया नु द्रष्टुमिच्छया वा । नभोऽन्तरिक्षं विलङ्घयितुं व्यतिक्रमितुं वा । समुदितम् । समुत्पतितमिव स्थितमित्यर्थः । कुतः । उच्छ्रितमुन्नतं हिमस्याचल हिमाचलमभिययौ । अत्र निर्धारितानेकफल औन्नत्यगुणनिमित्तोदितादिक्रियोत्प्रेक्षा । सा च व्यञ्जकाप्रयोगात्प्रतीयमानेति सङ्क्षेपः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम्— 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

(शरदृतु की शोभा का अवलोकन करते हुये अर्जुन ने दूर से हिमालय को देखा); इसके अनन्तर हिमालय की ओर प्रस्थान किया । हिमालय इतना ऊँचा है कि जिससे मालूम पड़ता था कि वह सुमेरु पर्वत को जीतने के लिये इतना ऊँचा हो रहा है या यह मालूम पड़ रहा था कि वह दिशाओं का अवसान देखने के लिये अत्युत्कण्ठित हैं । अथवा उसके औन्नत्य से यह भी प्रतीति होती थी कि वह आकाश लाँघ कर आगे बढ़ना चाहता है ॥ १ ॥

तपनमण्डलदीपितमेकतः सततनैशतमोवृतमन्यतः ।
हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्मणा ॥ २ ॥

तपनेति । पुनः एकत एकस्मिन्भागे । सार्वविभक्तिकस्तसिः । तपनमण्डलेन दीपितं प्रकाशितम् । अन्यतोऽन्यस्मिन्भागे सततेनानिषिद्धेन नैशेन निशिभवेन तमसा वृतम् । एकत्राह्ना रात्र्या चान्यत्र सङ्गतमित्यर्थः । अत एव पुरोऽग्रे हसितेनाट्टहासेन भिन्नतमिस्रचयं निरस्ततमस्तोमं तथा गजचर्मणानुगतं पश्चाद् व्याप्तम् । 'पश्चात्सादृश्ययोरनु' इत्यमरः । शिवमिव स्थितम् । तपनतेजःप्रसारोऽप्यस्य कण इव कुत्रचित्परिसमाप्यत इति महत्त्वातिशयोक्तिः ॥ २ ॥

इसकी ऊँचाई के कारण सूर्य्य जिस तरफ रहता है उस तरफ प्रकाश रहता है और दूसरी तरफ रात्रि की तरह घना अन्धकार से आच्छादित रहता है अर्थात् एक ओर दिन और दूसरी ओर रात्रि रहती है इससे मालूम पड़ता है कि ये हाथी की खाल ओढ़े और अट्टहास करते हुये साक्षात् शिवजी हैं क्योंकि शिवजीके सामने का भाग उनके हास से प्रकाशित रहता है और पीछे का भाग हाथी की खाल से अन्धकाराच्छन्न रहता हैं ॥ २ ॥

क्षितिनभःसुरलोकनिवासिभिः कृतनिकेतमदृष्टपरस्परैः ।
प्रथयितुं विभुतामभिनिर्मितं प्रतिनिधिं जगतामिव शम्भुना ॥ ३ ॥

क्षितीति । परस्परेऽन्योन्ये । 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवतः' इति वक्तव्यात्परशब्दस्य द्विर्भावः 'समासवच्च बहुलं यदा न समासवत्प्रथमैकवचनं तदा पूर्वपदस्य' इति वक्तव्यात्प्रथमैकवचनम् । सुट् । कस्कादित्वाद्विसर्जनीयस्य सत्वं बहुवचनं चान्योन्यशब्दवत् । यथा माघे—'अन्योन्येषां पुष्करैरामृशन्तः' इति । अदृष्टाः परस्परे यैस्तेऽदृष्टपरस्परास्तैस्तथोक्तैः । क्षितौ नभसि सुरलोके च निवसन्तीति तैस्तथोक्तैः । भूर्भुवःस्वर्लोकवासिभिरित्यर्थः । कृतनिकेतं कृतास्पदम् । अतएव शम्भुना विभुतां स्वसामर्थ्यं प्रथयितुमभिनिर्मितं जगतां प्रतिनिधिं प्रतिकृतिमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा । 'प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात्' इत्यमरः । त्रैलोक्यश्लाघ्योपममपरिच्छेद्यं चेति भावः ॥ ३ ॥

पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग लोक के निवासी एक दूसरे से अदृष्ट होकर इस हिमालय पर निवास करते हैं । अतः मालूम पड़ता है कि शङ्कर भगवान् ने अपने यश के प्रचार के लिये इसे संसार भर का प्रतिनिधि बनाया है ॥ ३ ॥

भुजगराजसितेन नभःश्रिता कनकराजिविराजितसानुना ।
समुदितं निचयेन तडित्वतीं लघयता शरदम्बुदसंहतिम् ॥ ४ ॥

भुजगेति । पुनश्च । भुजगराजसितेन शेषाहिधवलेन नभःश्रिता गगनस्पृशा कनकस्य राजिभी रेखाभिर्विराजिताः सानवो यस्य तेन तथोक्तेन । अतएव तडित्वतीं शरदम्बुदसंहतिं शरन्मेघचयं लघयता लघूकुर्वता । तत्तुल्येनेत्यर्थः । अत एवोपमालङ्कारः । निचयेन शिखरसमूहेन समुदितं समुन्नतम् । निचयेनेति । यद्यपि निचयशब्दः शिखरस्यावाचकस्तथापि पर्वतवर्णनप्रकरणोक्तत्वात्पाषाणनिचयः शृङ्गवाची भवितुमर्हति । यथा—'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इति कूटशब्दः समूहापरपर्यायः । अतएव लक्षणाश्रयणीया । अतएवावाच्यवचनं न दोषः ॥ ४ ॥

इसका (हिमालय का) गगनचुम्बी- शेषनाग के समान शुभ्र और स्वर्ण रेखाओं से सुशोभित शिखर-समूह इतना उन्नत है कि वह विद्युत्-लतासे युक्त शरत् कालके मेघमालाओं को अपने औन्नत्य से तिरस्कृत कर रहा है ॥ ८ ॥

मणिमयूखचयांशुकभासुराः सुरवधूपरिभुक्तलतागृहाः ।
दधतमुच्चशिलान्तरगोपुराः पुर इवोदितपुष्पवना भुवः ॥ ५ ॥

मणीति । पुनः । मणिमयूखचया अंशुकानीव पटकादीनीव तैर्भासुराः । सुरवधूभिः परिभुक्ता लता गृहा इव यासु तास्तथोक्ताः । उच्चानि शिलान्तराणि गोपुरा-

णीव शिलान्तराणि शिलामध्यानि पुरद्वाराणि यासु ताः । उदितान्यूर्जितानि पुष्पाणां वनानि यासु ताः । अतएव पुर इव नगराणीव स्थिताः । भुवो दधतम् ॥ ५ ॥

इस हिमालय के भूभाग नगर के समान हैं, ये नगर विविध रत्नों की किरणों से प्रकाशित हैं। अमराङ्गनाओं से उपभुक्त लतायें इस नगर के भवन हैं। ऊँची-ऊँची शिलाओं के बीच के रिक्त स्थान नगर के फाटक हैं। अच्छे-अच्छे फूलों के वन पुष्पोद्यान हैं। (इस तरह के नगर वाले भूखण्डों को यह हिमालय धारण करता है)॥ ५ ॥

अविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिर्विरहितैरचिरद्युतितेजसा ।
उदितपक्षमिवारतनिःस्वनैः पृथुनितम्बविलम्बिभिरम्बुदैः ॥ ६ ॥

अविरतेति । पुनश्च । अविरतमविच्छिन्नमुज्झितवारयः । अवृष्टिमन्त इत्यर्थः । अतएव विपाण्डवश्च तैरविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिः । अतएव हिमवत्पक्षत्वं सम्भवतीति भावः । अचिरद्युतितेजसा विरहितैर्विद्युत्तेजोरहितैः । आरतनिःस्वनैः प्रशान्तगर्जितैश्च । अन्यथा पक्षत्वहानिः स्यादिति भावः । पृथुनितम्बविलम्बिभिर्महाकटकसङ्गिभिः । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः' इत्यमरः । अम्बुदैरुदितपक्षं सञ्जातपक्षमिव स्थितम् । प्राक्छिन्नपक्षस्यापि हिमाद्रेर्धवलाम्बुदसम्बन्धात्पुनः पक्षोत्थानमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ६ ॥

इस हिमालय के विपुल नितम्ब के समान मध्यभाग पर मेघ अवलम्बित हैं। (अब ये मेघ काले वर्ण के नहीं हैं किन्तु) खूब जलवर्षण कर निवृत्त हो जाने से धवल वर्ण के हो गये हैं। अब इनमें बिजली का प्रकाश बिलकुल नहीं रह गया है। ये (मेघ) गम्भीर गर्जन कर रहे हैं। इन बादलों से यह हिमवान् सपक्ष दिखलाई पड़ता है। पहले तो पर्वतों को पक्ष होते थे जिससे वे उड़ते थे। उड़ते-उड़ते जहाँ बैठ जाते थे वहाँ के धन-जन को नष्ट-भ्रष्ट कर देते थे इस लिए इन्द्र ने पर्वतों का पक्ष काट डाला। यद्यपि यह पक्षरहित है तो भी इन मेघों से पक्षवान् उत्प्रेक्षित होता है ॥ ६ ॥

दधतमाकरिभिः करिभिः क्षतैः समवतारसमैरसमैस्तटैः ।
विविधकामहिता महिताम्भसः स्फुटसरोजवना जवना नदीः ॥ ७ ॥

दधतमिति । पुनश्च । आकरः खनिरेषामस्ति योनित्वेनेत्याकरिभिराकरजैः । 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः । करिभिर्गजैः कर्तृभिः । क्षतै रुग्णैः समवतारेषु तीर्थेषु समैरविषमैरसमैरसदृशैः । अनुपमैरित्यर्थः । तटैरुपलक्षितास्तथा महिताम्भसः श्लाघ्योदका अतएव विविधेभ्यः कामेभ्योऽवगाहनाद्युपभोगेभ्यो हिता अनुकूलाः । 'चतुर्थी तदर्थ–' इत्यादिना समासः । स्फुटानि विकसितानि सरोजवनानि यासु ताः । जवना वेगवतीः । 'जुचङ्क्रम्य–'इत्यादिना युच् । नदीर्दधतम् । यमकवृत्त्यनुप्रासभेदत्वात्स्वयमेवालङ्कारः । अर्थालङ्कारस्त्वभ्युच्चयः । तस्यातिदुष्करत्वाद्रसपोषोऽपि नाद्रियते । तदुक्तम्—'प्रायशो यमके चित्रे रसवृद्धिर्न मृग्यते' इति ॥ ७ ॥

इस हिमालय पर बहुत सी नदियाँ हैं। उनके तट अनेक रत्नों की खानि हैं। वे हाथियों के द्वारा क्षत कर के समस्थल बना दिये गये हैं, देखने में बहुत सुन्दर हैं, इसलिए स्नान-मार्जनादि अनेकविध कार्य्यों के लिये ये नदियाँ हितकारिणी हैं। इनका जल अत्यन्त पवित्र है। इनमें कमल विकसित हो रहे हैं। ऊँचे से नीचे की तरफ बहने के कारण इन नदियों का प्रवाह प्रखर (तीव्र) है। (इस तरह की नदियों को यह हिमालय धारण करता है) ॥ ७ ॥

नवविनिद्रजपाकुसुमत्विषां द्युतिमतां निकरेण महाश्मनाम्।
विहितसान्ध्यमयूखमिव क्वचिन्निचितकाञ्चनभित्तिषु सानुषु ॥ ८ ॥

नवेति। पुनश्च। नवानि विनिद्राणि विकसितानि च यानि जपाकुसुमानि ताम्रपुष्पिकाकुसुमानि तेषां त्विष इव त्विषो येषां ते तेषाम्। 'ओण्ड्रपुष्पं जपापुष्पं रूपिका ताम्रपुष्पिका' इति वाग्भटः। द्युतिमतां महाश्मनां मणीनाम्। पद्मरागाणामित्यर्थः। विशेषणसामर्थ्यात्। निकरेण समूहेन हेतुना क्वचिन्निचिताः सङ्घटिताः काञ्चनभित्तयो येषु तेषु सानुषु विहिताः सान्ध्याः सन्ध्यायां भवा मयूखा यस्मिंस्तमिव स्थितम्। काञ्चनभित्तिषु पद्मरागप्रभाप्रसरादुदितसन्ध्याराग इव भातीत्युत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

यह हिमालय पर अभिनव विकसित अड़हुल पुष्प के समान (अरुण) कान्तियुक्त पद्मरागादि महामणियाँ विराज रही हैं। प्रकाशित होते हुए इन महामणियों के समूह से सङ्घटित होकर हेमयुक्त शिखरों पर सायंकाल की किरणों के सदृश परिस्फुरण करती हुई किरणों को यह हिमालय धारण करता है। (सायङ्काल की सूर्य की किरणें पीली और लाल वर्ण विमिश्रित दिखलाई पड़ती हैं उसी तरह हिमालय सुवर्ण का पीला और पद्मराग का अरुण प्रकाश दोनों के एकत्रित होने के कारण सायंकालीन द्युति धारण करता है ॥ ८ ॥

पृथुकदम्बकदम्बकराजितं ग्रथितमालतमालवनाकुलम्।
लघुतुषारतुषारजलश्च्युतं धृतसदानसदाननदन्तिनम् ॥ ९ ॥

पृथ्विति। पुनश्च। पृथुभिः कदम्बानां कदम्बकैर्नीपकुसुमसमूहै राजितम्। 'कदम्बमाहुः सिद्धार्थे नीपे च निकुरम्बके' इत्युभयत्रापि विश्वः। ग्रथितमालैर्बद्धपङ्क्तिभिस्तमालवनैस्तापिच्छवनैराकुलमाकीर्णम्। 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः। लघुतुषारमल्पशीकरं यत्तुषारजलं हिमोदकं श्च्योतति वर्षति तं तथोक्तम् 'तुषारौ हिमसीकरौ' इति शाश्वतः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्विप्। सदानाः समदाः सदानना शोभनाननाश्च ये दन्तिनस्ते धृता येन तं तथोक्तम् ॥ ९ ॥

यह हिमालय बड़े-बड़े कदम्ब के पुष्पों से सुशोभित हो रहा है। यह गुथे हुए पुष्पमाल्य के सदृश तमाल के वनों से व्याप्त हो रहा है। बिन्दु-बिन्दु हिमजल इस पर से परिस्रवण कर रहा है। इस हिमालय पर मदस्रावी और सुन्दर शुण्ड, मुशुण्ड वाले हाथी विचरण करते हैं ॥ ९ ॥

रहितरत्नचयान्न शिलोच्चयानपलताभवना न दरीभुवः।
विपुलिनाम्बुरुहा न सरिद्वधूरकुसुमान्दधतं न महीरुहः॥ १०॥

रहितेति। पुनश्च। रहितरत्नचयान् रहितः परित्यक्तो रत्नचयो यैस्तान्रत्नराशिरहिताञ्छिलोच्चयाञ्छिखराणि न दधतम्। अपलताभवना लतागृहरहिता दरीभुवो गुहाप्रदेशान्न दधतम्। 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातबिले गुहा' इत्यमरः। विगतानि पुलिनान्यम्बुरुहाणि च यासां ताः। सरितो वध्व एव ताः सरिद्वधूर्न दधतम्। अत्र सरितां वध्वौपम्यात्पुलिनानामम्बुरुहाणां च वदनजघनौपम्यं गम्यते। अकुसुमान्महीरुहो वृक्षान्न दधतम्, किन्तु रत्नादिसम्पन्नानेव शिलोच्चयादीन्दधतमित्यर्थः। महाविभाषया नात्र नञ्समासः॥ १०॥

इस हिमालय के शिखर रत्न-राशियों से खाली नहीं हैं (अर्थात् इसके शिखर अनेकविध रत्नों की खानि हैं) इसके कन्दरा के प्रदेश लतागृहों से शून्य नहीं हैं। इस (हिमालय) की नदियाँ नवविवाहिता रमणी की तरह है। ये नदियाँ सिकताराशि और कमलों से रहित नही है। इस पर के जितने वृक्ष हैं वे पुष्प और फूलों को धारण न करते हों सो भी नहीं (अर्थात् सर्व-रत्न-सम्पन्न यह हिमालय है)॥ १०॥

व्यथितसिन्धुमनीरशनैः शनैरमरलोकवधूजघनैर्घनैः।
फणभृतामभितो विततं ततं दयितरम्यलताबकुलैः कुलैः॥ ११॥

व्यथितेति। पुनश्च। अनीरशनैरनिर्मेखलैः। सरसनैरित्यर्थः। घनैर्निबिडैरमरलोकवधूजघनैः शनैर्मन्दं मन्दं व्यथितसिन्धुं क्षोभितनदीकम्। अयमपरः स्वर्ग इति भावः। ये रम्या लताश्च बकुलाः केसराश्च ते दयिताः प्रिया येषां तैस्तथोक्तैः। 'विशारदो मद्यगन्धो बकुलः स च केसरः' इति वैद्यके। फणभृतां सर्पाणां कुलैरभितस्ततं व्याप्तं तथा विततं विस्तृतम्॥ ११॥

इस हिमालय की नदियों का प्रवाह सुर-सुन्दरियों के काञ्ची सहित, मोटे-मोटे जघनों से धीरे-धीरे क्षुब्ध होता रहता है (अर्थात् वे जाकर यहाँ नदियों में जलक्रीडा करती हैं जिससे प्रवाह क्षुब्ध होता है) और यह (हिमालय) सर्पों के कुलों से व्याप्त होकर विस्तृत हो रहा है। नूतन-कोमल, लता और पुष्प-पराग ही इनकी प्रियतमायें हैं॥ ११॥

ससुरचापमनेकमणिप्रभैरपपयोविशदं हिमपाण्डुभिः।
अविचलं शिखरैरुपबिभ्रतं ध्वनितसूचितमम्बुमुचां चयम्॥ १२॥

ससुरेति॥ अनेका विचित्रा मणिप्रभा येषां तैस्तथोक्तैः। हिमेन पाण्डुभिः शिखरैः कृत्वा ससुरचापं सेन्द्रचापम्। अपपया निर्जलोऽत एव विशदश्च तमपपयोविशदम्। अविचलं दैवान्निश्चलम्। अतः शिखरशङ्काऽस्यामूदित्यर्थः। किन्तु ध्वनितेन गर्जितेन

सूचितं ज्ञापितमम्बुमुचां चयमविरतमुपविभ्रतम् । अत्र किल कल्पितसादृश्याच्छिखर-मेघसन्देहो मेघनिश्चयान्तः सन्देहालङ्कारः ॥ १२ ॥

हिमालय के शिखर अनेक मणियों की प्रभा से रञ्जित रहने के कारण तथा बर्फ से ढके होने के कारण शुभ्र दिखलाई पड़ते हैं । उस पर मेघमण्डल भी धवल वर्ण तथा इन्द्रधनुष के संग होता हुआ व्यक्त नहीं हो पाता है जब कभी वह गम्भीर गर्जन करता है तब स्पष्ट हो जाता है कि हिमालय के शिखर पर मेघ भी है ॥ १२ ॥

विकचवारिरुहं दधतं सरः सकलहंसगणं शुचि मानसम् ।
शिवमगात्मजया च कृतेर्ष्यया सकलहं सगणं शुचिमानसम् ॥ १३ ॥

विकचेति ॥ पुनश्च । विकचवारिरुहम् । नित्यविकसितारविन्दमित्यर्थः । वृत्तिसामर्थ्यात् । कलहंसगणैः सह वर्तत इति सकलहंसगणम् । 'कादम्बः कलहंसः स्यात्' इत्यमरः । यद्वा । सकलाः सर्वे हंसगणा यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । शुचि नित्यनिर्मलं मानसं मानसाख्यं सरो दधतम् । किञ्च । कृतेर्ष्यया । कुतश्चिन्निमित्तात्कुपितयेत्यर्थः । अगात्मजया पार्वत्या सकलहं सविवादम् । सगणं सप्रमथम् । 'गणाः प्रमथसंख्यौघाः' इति वैजयन्ती । शुचिमानसमविद्याविनिर्मुक्तचित्तं शिवं च दधतम् । एतेन सकलशैलवैलक्षण्यमस्योक्तम् । १३ ॥

यह निर्मल जल युक्त, एक 'मानसरोवर' (तालाब) को धारण करता है । जिसमें कमल खिले हुए रहते हैं और इसमें कलहंसों का निवास हैं या सम्पूर्ण जाति के हंसों का निवास है । यही नहीं किन्तु किसी कारण से कुपित पार्वती के साथ, अपने प्रमथादि गणों के साथ, सम्पूर्ण अविद्याओं से विमुक्त अत एव शुद्ध चित्त शंकर जी को भी धारण करता है ॥ १३ ॥

ग्रहविमानगणानभितो दिवं ज्वलयतौषधिजेन कृशानुना ।
मुहुरनुस्मरयन्तमनुक्षपं त्रिपुरदाहमुमापतिसेविनः ॥ १४ ॥

ग्रहेति ॥ दिवमभितो दिवोऽभिमुखम् । 'अभितः परितः—' इत्यादिना द्वितीया । ग्रहाश्चन्द्रादयो विमानानि देवयानानि च । 'व्योमयानं विमानोऽस्त्री' इत्यमरः । तेषां गणाञ्ज्वलयता प्रदीपयता । 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । ओषधिजेन तृणविशेषजन्येन कृशानुना वह्निना कृत्वानुक्षपं प्रतिक्षपम् । वीप्सायामव्ययीभावः । उमापतिसेविनः प्रमथादीन् । 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । त्रयाणां पुराणां समाहारस्त्रिपुरम् । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिना समासः । 'पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति स्त्रीलिङ्गप्रतिषेधः । तस्य दाहं त्रिपुरदाहं मुहुरनुस्मरयन्तम् । ननु 'अधीगर्थ—' इत्यादिना दाहमित्यत्र षष्ठी किं न स्यात् । तस्याः शेषार्थे विधानाच्छेषत्वस्याविवक्षितत्वात् । अत्र 'कविसम्मतसादृश्यात्स्मृतिः' इति स्मरणालङ्कारः ॥ १४ ॥

इस हिमालय पर स्वर्ग के चतुर्दिक् (प्रति भाग) ग्रहों (चन्द्रादि) और देवताओं के विमानों का प्रकाशक तृण विशेष से उत्पन्न अग्नि से, उमापति (शंकर) के सेवकों (अर्थात् शङ्कर भगवान् के गणों) को त्रिपुरासुर के नगर के दाह का बारम्बार स्मरण हो जाता है तात्पर्य यह कि यह अनेक प्रकार की ओषधियों का बड़ा भण्डार है ॥ १४ ॥

विततशीकरराशिभिरुच्छ्रितैरुपलरोधविवर्तिभिरम्बुभिः ।
दधतमुन्नतसानुसमुद्धतां धृतसितव्यजनामिव जाह्नवीम् ॥ १५ ॥

विततेति ॥ विततशीकरराशिभिर्विस्तृतशीकरपुञ्जैरुच्छ्रितैरुत्पतितैः । कुतः । उपलरोधेन विवर्तिभिरम्बुभिर्हेतुभिर्धृतसितव्यजनामिव गृहीतामलचामरामिव स्थितामित्युत्प्रेक्षा । उन्नतसानुषु समुद्धतां वहन्तीं जाह्नवीं गङ्गां दधतम् ॥ १५ ॥

इस हिमालय के उन्नत शिखरों पर गङ्गा प्रवाहित होती हैं। पत्थरों के ढेर के कारण जब उनका जल-प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है तो पुनः उन प्रस्थरों के ढेरों पर से उतरने लगता है उस समय असंख्य जल-कण ऊर्ध्व गति से फव्वारे की तरह छूटते हैं उस समय गङ्गा शुभ्र चामर धारण की हुई की भाँति प्रतीत होती है ॥ १५ ॥

अनुचरेण धनाधिपतेरथो नगविलोकनविस्मितमानसः ।
स जगदे वचनं प्रियमादरान्मुखरताऽवसरे हि विराजते ॥ १६ ॥

अनुचरेणेति । अथोऽनन्तरम् । 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्येंष्वथो अथ' इत्यमरः । धनाधिपतेरनुचरेण यक्षेण नगविलोकनेन विस्मितमानसः । सोऽर्जुनः । आदरात्प्रियं वचनं जगदे गदितः । गदतेर्गत्यर्थस्य दुहादित्वात्प्रधाने कर्मणि लिट् । अपृष्टपरिभाषणदोषं परिहरति—मुखरतेति । मुखरता वाचालत्वम् । अपृष्टपरिभाषित्वमिति यावत् । अवसरे श्रोतुराकाङ्क्षासमये विराजते हि । आकाङ्क्षितमपृष्टोऽपि ब्रूयादिति भावः ॥ १६ ॥

इसके पश्चात् कुबेर के भृत्य ने, हिमालय के अवलोकन से आश्चर्य-चकित अर्जुन से आदरपूर्वक मधुर शब्दों में कहा क्योंकि यदि मनुष्य अवसर समझ कर बिना पूछे भी कुछ कहता है तो उसकी शोभा होती है ॥ १६ ॥

अलमेष विलोकितः प्रजानां सहसा संहतिमंहसां विहन्तुम् ।
घनवर्त्म सहस्रधेव कुर्वन्हिमगौरैरचलाधिपः शिरोभिः ॥ १७ ॥

अलमिति । हिमेन गौरैः शुभ्रैः शिरोभिः शिखरैर्घनवर्त्म खं सहस्रधा कुर्वन्विपाटयन्निवेत्युत्प्रेक्षा । एषोऽचलाधिपो हिमवान्विलोकितो दृष्टमात्र एव प्रजानामंहसां संहतिं पापसङ्घातं सहसा विहन्तुमलं समर्थः । 'पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु' इति । तुमुन् ।

औपच्छन्दसिकं वृत्तम्—'पर्यन्तेर्यौ तथैव शेषं चौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्' इति स्मरणात् ॥ १७ ॥

यक्ष ने कहा—इस हिम-धवल नगेन्द्र ने अपने शिखरों से मेघ-मार्ग अर्थात् आकाश-मंडल को मानों असंख्य भागों में विभक्त कर दिया है। दर्शन मात्र से ही यह लोगोंके पापपुञ्ज का नाश करने में समर्थ है ॥ १७ ॥

इह दुरधिगमैः किञ्चिदेवागमैः सततमसुतरं वर्णयन्त्यन्तरम् ।
अमुमतिविपिनं वेद दिग्व्यापिनं पुरुषमिव परं पद्मयोनिः परम् ॥ १८ ॥

इहेति । इहास्मिन्पर्वते । सुतरं न भवतीत्यसुतरम् । दुस्तरमित्यर्थः । तरतेः खल्प्रत्ययः । अन्तरं मध्यभागम् । पुरुषे त्वन्तरं तत्त्वम् । दुरधिगमैर्दुरारोहैरन्यत्र दुर्ग्रहैरागमैर्वृक्षैरन्यत्र पुराणादिभिः । 'पुराणेऽप्यागमो वृक्षे' इति रुद्रः । किञ्चिदेव सततं वर्णयन्ति न तु कदाचित्प्रत्यक्षेणापि निःशेषं ज्ञातुमशक्यत्वादिति भावः । किंत्वतिविपिनमतिगहनं दिग्व्यापिनमुभयत्रापि समम् ; अमुं गिरिं परं पुरुषं परमात्मानमिव परं केवलम् । 'परमव्ययमिच्छन्ति केवले' इति विश्वः । पद्मयोनिर्ब्रह्मैव वेद नान्य इत्यर्थः । 'विदो लटो वा' इति णलादेशः । अत्रोपमायमकयोः संसृष्टिः । क्षमावृत्तम्—'तुरगरसयतिर्नौ मरौ गः क्षमा' इति लक्षणात् ॥ १७ ॥

इस (हिमालय) के दुस्तर आभ्यन्तर तत्त्व का वर्णन, दुरूह पुराणों की सहायता से थोडा बहुत किया जाता है । दिगन्तव्यापी, इस पर्वत को, जिसमें बहुत से घने-घने जङ्गल हैं, और जो परम पुरुष भगवान के सदृश अज्ञेय है, केवल ब्रह्मा ही जानते हैं ॥ १८ ॥

रुचिरपल्लवपुष्पलतागृहैरुपलसज्जलजैर्जलराशिभिः ।
नयति सन्ततमुत्सुकतामयं धृतिमतीरुपकान्तमपि स्त्रियः ॥ १९ ॥

रुचिरपल्लवेति । अयं गिरिः । रुचिराणि पल्लवानि पुष्पाणि च येषां ते तथाभूता लतागृहा येषु तैस्तथोक्तैरुपलसज्जलजैः शोभितकमलैर्जलराशिभिः सरोभिः करणैः उपकान्तं कान्तसमीपे धृतिमतीर्धैर्यवतीरपि समीपस्थानपि प्रियान्न गणयन्तीः । मानिनीरित्यर्थः । स्त्रियः सन्ततमुत्सुकतां नयति । तासां मानग्रन्थिं शिथिलयतीत्यर्थः । अथवा । उपकान्तं धृतिमतीस्तुष्टिमतीरपि सुरततृप्ता अपि पुनरप्युत्सुकतां नयतीत्यर्थः । उभयत्राप्युद्दीपकत्वादतिशयोक्तिः । वृत्तमुक्तम् ॥ १९ ॥

कोमल किसलय और पुष्पों से युक्त लताओं के कुञ्जों से तथा कमल-पूर्ण सरोवरों से सुशोभित होता हुआ, यह (हिमवान्) प्रियतम के समीप, मानिनी स्त्रियों को भी उत्कण्ठित कर देता है (अथवा रति-सुख से तृप्त स्त्रियों को भी अपने-अपने पति से रमण करने के लिए बार-बार लालायित कराता है) ॥ १९ ॥

सुलभैः सदा नयवताऽयवता निधिगुह्यकाधिपरमैः परमैः ।
अमुना धनैः क्षितिभृतातिभृता समतीत्य भाति जगती जगती ॥ २० ॥

सुलभैरिति । नयवता नीतिमताऽयवता भाग्यवता च सदा सुलभैः । न चान्यैरित्यर्थः । 'अयः शुभावहो विधिः' इत्यमरः । निधीनां महापद्मादीनाम् । 'अस्त्री पद्मो महापद्मः शङ्खो मकरकच्छपौ । मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥' इत्यमरः । गुह्यकानां चाधिपं कुबेरं रमयन्तीति तथोक्तैः । 'कर्मण्यण्' । परमैरुत्कृष्टैर्धनैः करणैः । अमुना क्षितिभृता हिमाद्रिणातिभृता पूर्णा सती जगती मही जगती स्वर्गपाताललोकौ समतीत्यातिक्रम्य भाति । अमानुषैरपि दुर्लभाः सम्पदोऽत्र सम्भवन्तीति भावः । अत्र धनातिभृतेति पदार्थस्य विशेषणगत्या जगदतिक्रमणहेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गम् । तस्य यमकेन संसृष्टिः । प्रमिताक्षरावृत्तम्—'प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता' इति लक्षणात् ॥ २० ॥

इस भूलोक की भूमि, नीतिमान तथा भाग्यवान पुरुषों से सुलभ, निधि और यक्षों के स्वामी (कुबेर) की सर्वोत्तम धन-राशि-सम्पन्न हिमवान् से पूर्ण होकर, अन्य लोकों की भूमि पर विजय प्राप्त कर सुशोभित हो रही है । अर्थात् प्रचुर सम्पत्ति-सम्पन्न इस हिमवान् से इस लोक की पृथ्वी सबसे बढ़कर है ॥ ३० ॥

अखिलमिदममुष्य गौरीगुरोस्त्रिभुवनमपि नैति मन्ये तुलाम् ।
अधिवसति सदा यदेनं जनैरविदितविभवो भवानीपतिः ॥ २१ ॥

अखिलमिति । अमुष्य गौरीगुरोर्हिमवत इदमखिलम् । त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनमपि । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिना समासः । पात्रादित्वात्स्त्रीत्वप्रतिषेधः । तुलां साम्यं नैतीति मन्ये । यद्यतो जनैरविदितविभवोऽज्ञातमहिमा भवानीपतिः शिवः सदैनं गिरिमधिवसति । अस्मिन्वसतीत्यर्थः । 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम् । अतोऽयं धर्मक्षेत्रमिति भावः । प्रभावृत्तम्—'स्वरशरविरतिर्ननौ रौ प्रभा' इति लक्षणात् ॥ २१ ॥

यह सम्पूर्ण त्रिभुवन (आकाश, पाताल और मृत्युलोक) इस अपर्णा (पार्वती) के पिता हिमालय के समक्ष नहीं टिक सका । क्योंकि इस पर भगवान् शंकर सर्वदा निवास करते हैं जिनकी महिमा साधारण पुरुषों को अविदित है ॥ २१ ॥

वीतजन्मजरसं परं शुचि ब्रह्मणः पदमुपैतुमिच्छताम् ।
आगमादिव तमोपहादितः सम्भवन्ति मतयो भवच्छिदः ॥ २२ ॥

वीतेति । वीते निवृत्ते जन्मजरसौ यस्य तद्वीतजन्मजरसम् । 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति जरसादेशः । अत्र तदन्तविधेरिष्टत्वात्परत्वेन स्यादेशबाधकत्वाच्च ।

तथाहि—'टाङसिङसामिनात्स्या' इति स्यादेशबाधनात् । परत्वाज्जरसादेशं बभाषे भाष्यकृत्स्वयम् ।। सूत्रकारमते यत्तु ज्ञापकात्परबाधनम् । भवेत्तदपि टाङस्योर्न पुनर्ङसि संभवि ।। मतद्वयेऽपि तत्तुल्यं ङसि यत्पूर्वबाधनम् । परत्वाज्जरसादेशस्ततस्यात्स्यादेशबाधनात् ।। ज्ञापकं यच्च टाङस्योर्यादेशाविनादिति । ईकारदीर्घयोस्तत्र वैयर्थ्यं तत्तु तौ विना ।। एत्वे सवर्णे दीर्घे च रूपसिद्धिर्भवेद्यतः । व्यर्थसूत्राक्षरत्यागाद्भूङ्क्त्वातज्ज्ञापकं फणी ।। स्वातन्त्र्याज्जरसादेशं जगौ पूर्वस्य बाधनात् । समर्थनप्रपञ्चस्तु भाष्यकैयटयोः स्फुटः ।।' एवं च यदत्र जरस इति केषाञ्चित्पाठान्तरकल्पनं तदज्ञानविजृम्भितमेव । ब्रह्मणः परमात्मनः सम्बन्धि परमुत्कृष्टं शुचि निष्कलङ्कम् । पद्यत इति पदं स्थानं तादात्म्यलक्षणम् । मुक्तिमित्यर्थः । उपेतुं प्राप्तुमिच्छतां मुमुक्षूणामागमाच्छास्त्रादिव । तमोपहन्तीति तमोपहादविद्यानिवर्तकात् । 'अपे क्लेशतमसोः' इति डप्रत्ययः । इतोऽस्माद्गिरेः । भवं छिन्दन्तीति भवच्छिदः संसारनिवर्तकाः । सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप् । मतयस्तत्त्वज्ञानानि सम्भवन्त्युत्पद्यन्ते । क्षेत्रविशेषस्यापि ज्ञानोपायत्वादित्याशयः । न केवलमियं भोगभूमिः किन्तु मुक्तिक्षेत्रमपीति तात्पर्यार्थः । रथोद्धतावृत्तम् । तल्लक्षणम्—'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति ।। २२ ।।

जन्म और जरा रहित, पवित्र और सर्वोत्तम ब्रह्म-धाम के चाहने वालों के लिये, अज्ञाननिवर्तक शास्त्र की तरह इस हिमालय से संसार के बन्धन से मुक्त हो जाने की सद्बुद्धि उत्पन्न होती है। अर्थात् यह मुमुक्षुओं के लिये शास्त्र का काम करता है। जैसे शास्त्र के अध्ययन से बुद्धि का झुकाव मोक्ष की तरफ हो जाता है वैसे ही इस पर निवास मात्र से बुद्धि सन्मार्ग का अवलम्बन करती है ।। २२ ।।

दिव्यस्त्रीणां सचरणलाक्षारागा रागायाते निपतितपुष्पापीडाः ।
पीडाभाजः कुसुमचिताः साशंसं शंसन्त्यस्मिन्सुरतविशेषं शय्याः ।। २३ ।।

दिव्येति । अस्मिन्गिरौ । चरणलाक्षारागैः सह वर्तन्ते तास्तथोक्ताः । धेनुकपुरुषायितादिबन्धेषु स्त्रियाः पादतलस्याधः स्पर्शात्तद्रागाङ्किता इत्यर्थः । निपतिता व्यानतकरणे स्त्रीणामधोमुखत्वाद् भ्रष्टाः पुष्पापीडाः कुसुमशेखरा यासु तास्तथोक्ताः । 'शिखास्वापीडशेखरौ' इत्यमरः । पीडाभाजो विमर्दभाजः । भङ्गिमत्य इत्यर्थः । भ्रमरप्रेङ्खोलितादौ सर्वतः कटीपरिभ्रमणसम्भवादिति भावः । कुसुमैश्चिताः कुसुमव्याप्ताः । इभमार्जारादिकरणेषु स्तनभुजाद्यवयवानांशय्यातलस्थायित्वान्मर्दनाय कुसुमाचिता इत्यर्थः । दिव्यस्त्रीणां सम्बन्धिन्यः । शेरत आस्विति शय्यास्तल्पानि । 'संज्ञायां समजनिषद—' इत्यादिना क्यप् । रागायाते रागोद्रेके सति यः साशंसः सतृष्णः सुरतविशेषस्तम् । जातावेकवचनम् । सुरतविशेषानित्यर्थः । शंसन्ति सूचयन्ति । विवृण्वन्तीत्यर्थः । अत्र लाक्षारागादिपदार्थानां सुरतविशेषशंसनं प्रति विशेषणगत्या हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कारो यमकेन संसृज्यते । जलधरमालावृत्तम्—'म्भौ स्मौ

चेत्स्याजलधरमाला ख्याता' इति लक्षणात् । धेनुकादिबन्धलक्षणं तु रतिरहस्ये—'न्यस्तहस्तयुगला निजे पदे योषिदेति कटिरूढवल्लभा । अग्रतो यदि शनैरधोमुखी धेनुकं वृषवदुन्नते प्रिये ॥ स्वेच्छया भ्रमति वल्लभेऽपि या योषिदाचरति वल्लभायितम् । व्यानतं रतमिदं यदि प्रिया स्यादधोमुखचतुष्पदाकृतिः । तत्कटिं समधिरुह्य वल्लभः स्याद् वृषादिपशुसंस्थितिस्थितः । चक्रवद् भ्रमति कुञ्चिताङ्घ्रिका भ्रामरं न जघने समुद्गते ॥ पर्वतः कटिपरिभ्रमो यदि प्रेङ्खपूर्वमिदमुक्तमूलितम् । भूगतस्तनयुगास्यमस्तकामुन्नतस्फिचमधोमुखीं स्त्रियम् । क्रामति स्वकरकृष्टमेहने वल्लभे करिरतं तदुच्यते ॥ 'प्रसारिते पाणिपदे शय्यास्पृशि मुखोरसि । उन्नतायाः स्त्रियाः कट्यां मार्जारकरणं विदुः ॥' इति ग्रन्थान्तरे । 'कान्तोत्पीडा म्भौ स्मौ' इति वृत्तम् ॥२३॥

इस हिमालय पर (कुसुमों) फूलों की शय्यायें, जो चरण में लगाये गये महावर से रञ्जित हैं, जिनपर म्लान पुष्प पड़े हुए हैं; और जो अत्यन्त विमर्दित हो गई हैं, दृष्टिगोचर हो रही हैं उनसे सुर-सुन्दरियों के अत्यन्त रागोद्रेक पूर्वक कामोपभोग की क्रिया सूचित होती है ॥ २६ ॥

गुणसम्पदा समधिगम्य परं महिमानमत्र महिते जगताम् ।
नयशालिनि श्रिय इवाधिपतौ विरमन्ति न ज्वलितुमोषधयः ॥ २४ ॥

गुणेति । जगतां महिते जगद्भिः पूजिते पूज्यमाने । 'मतिबुद्धि' इत्यादिना वर्तमाने क्तः । 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी । अत्र हिमवत्योषधयस्तृणज्योतींषि नयशालिन्यधिपतौ नीतिसम्पन्ने राज्ञि श्रियः सम्पद् इव गुणसम्पदा क्षेत्रगुणसम्पत्त्या । अन्यत्र सन्ध्यादिगुणसम्पदा । परं महिमानम् । उभयत्रापि प्रकाशसामर्थ्यम् । समधिगम्य ज्वलितुं प्रकाशितुं न विरमन्ति । अविरतं ज्वलन्तीत्यर्थः । अन्यत्र रात्रावेवेति भावः ॥ २४ ॥

जिस प्रकार नीतिमान राजा की राज्यलक्ष्मी सन्ध्या, पूजन, तर्पणादि गुणों से अलौकिक शक्ति प्राप्त कर सर्वदा उस राजा के प्रताप की अभिवृद्धि किया करती हैं उसी प्रकार लोकपूज्य इस हिमालय पर ओषधियाँ क्षेत्र-सम्पत्ति से परम शक्ति प्राप्त कर अहर्निश प्रज्वलित रहने से विश्राम नहीं कर पाती हैं अर्थात् सब काल प्रकाश किया करती रहती हैं ॥ २४ ॥

कुररीगणः कृतरवस्तरवः कुसुमानताः सकमलं कमलम् ।
इह सिन्धवश्च वरणावरणाः करिणां मुदे सनलदानलदाः ॥ २५ ॥

कुररीति । इहाद्रौ कुररीगण उत्क्रोशसङ्घः । 'उत्क्रोशकुररौ समौ' इत्यमरः । कृतरवः कृतारवः । तरवः कुसुमैरानताः । कमलं जलं सकमलं सपद्मम् । 'कमलं जलपद्मयोः' इति विश्वः । यद्वा कं जलमलमत्यन्तं सपद्मं वर्तते । 'कं जले शिरसि च' इत्यमरः । किञ्च । वरणा द्रुमा आवरणं यासां ता वरणावरणाः । 'वरणो वरुणः सेतु

स्तिक्तशाकः कुमारकः' इत्यमरः। सनलदाः सोशीराः। 'मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम्। अभयं नलदं सेव्यम्' इत्यमरः। अनलं सन्तातं घ्नन्ति खण्डयन्ति शमयन्तीत्यनलदाः सनलदाश्च ता अनलदाः सिन्धवो नद्यः करिणां मुदे। भवन्तीति शेषः। न कुत्राप्युक्तवैपरीत्यमिति भावः ॥ २५ ॥

इस हिमालय पर कुररी जाति की चिड़ियाँ बोलती रहती हैं। इस पर के वृक्ष पुष्प-भार से झुक गये हैं। इसके जलाशय कमल से सुशोभित हैं। इस पर की सरितायें वृक्षों से अपने को आवृत कर ली हैं। इनके तट पर उशीर उगे हुए हैं। ये ताप को दूर भगा देती हैं। हाथियों के लिये प्रसन्नतावर्द्धक हैं ॥ २५ ॥

साद्दश्यं गतमपनिद्रचूतगन्धैरामोदं मदजलसेकजं दधानः।
एतस्मिन्मदयति कोकिलानकाले लीनालिः सुरकरिणां कपोलकाषः ॥२६॥

साद्दश्यमिति। एतस्मिन्पर्वतेऽपनिद्रचूतगन्धैः साद्दश्यं गतं फुल्लाम्रपुष्पगन्धसद्दशं मदजलसेकजमामोदं परिमलं दधानो बिभ्राणः। अतएव लीनालिः संसक्तभृङ्गः सुरकरिणाम्। कष्यतेऽनेनेति काषः। कपोलानां काषः कषणस्थानं द्रुमस्कन्धादि। अकाले वसन्तातिरिक्ते कालेऽपि कोकिलान्मदयति। 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः। अत्र वसन्तरूपकारणाभावेऽपि मदाख्यकार्योत्पत्तिकथनाद्विभावनालङ्कारः। तदुक्तम्— 'कारणेन विना कार्यस्योत्पत्तिः स्याद्विभावना' इति। सा च चूतगन्धैः साद्दश्यमित्युपमया वामोदं दधान इति पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गेन चाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते। किञ्च कोकिलानां मदगन्धे चूतगन्धभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते। प्रहर्षिणीवृत्तम्— 'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति लक्षणात् ॥ २६ ॥

इस हिमालय पर विकसित आम्र-मंजरी के गन्ध के समान मदजल-सेचन से उत्पन्न सौरभवाही. सुरगजों के कपोल द्वारा विघर्षित, और जिसपर भ्रमरकुल व्याप्त हैं ऐसी वृक्षों की शाखाओं का घृष्टस्थान वसन्त का समय न होने पर भी कोकिलों को वसन्त का भ्रम उत्पन्न कराकर मदोन्मत्त बना देता है ॥ २६ ॥

सनाकवनितं नितम्बरुचिरं चिरं सुनिनदैर्नदैर्वृतममुम्।
मता फणवतोऽवतो रसपरापरास्तवसुधा सुधाधिवसति ॥ २७ ॥

सनाकेति। पुनश्च। सनाकवनितं साप्सरस्कं नितम्बैः कटकै रुचिरं सुनिनदैः सुघोषैर्नदैः प्रवाहैर्वृतममुम्। अमुष्मिन्गिरावित्यर्थः। 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम्। अवतोऽधोलोकरक्षकस्य फणवतो नागराजस्य मतेष्टा। 'मतिबुद्धि—' इत्यादिना वर्तमाने क्तः। तद्योगात्षष्ठी। रसेन स्वादेन परोत्कृष्टा परास्तवसुधा त्यक्तभूलोका सुधामृतं चिरमधिवसति। अतोऽन्यत्र भूमण्डले कुत्रापि सुधा नास्तीत्यर्थः। मेरुप्रतिभटोऽयं गिरिरिति भावः। अत्र प्रस्तुतविशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतमेरुप्रतीतेः

समासोक्तिरलङ्कारः। स च यमकेन संसृज्यते। जलोद्धतगतिर्वृत्तम्—'रसैर्जसजसा जलोद्धतगतिः' इति लक्षणात्॥ २७॥

इस हिमालय पर सुर-रमणियों का निवास है। इसका मध्य भाग जो नितम्ब से उपमित होता है बहुत सुन्दर है। कल कल नाद करते हुए बहुत से नद इस पर प्रवाहित होते हैं। पातालरक्षक, वासुकी के लिये अत्यन्त प्रिय और समस्त स्वादों को फीका करने वाली सुधा का इस पर वास है अर्थात् सुधा यहीं मिलती है और कहीं नहीं॥ २७॥

श्रीमल्लताभवनमोषधयः प्रदीपाः शय्या नवानि हरिचन्दनपल्लवानि।
अस्मिन्रतिश्रमनुदश्च सरोजवाताः स्मर्तुं दिशन्ति न दिवःसुरसुन्दरीभ्यः॥

श्रीमदिति। अस्मिन्नद्रौ श्रीमत्समृद्धिमल्लता एव भवनम्। ओषधयस्तृणज्योतींष्येव प्रदीपाः। नवानि हरिचन्दनपल्लवानि सुरतरुकिसलयान्येव शय्याः। 'हरिचन्दनमाख्यातं गोशीर्षे सुरपादपे' इति विश्वः। 'रतिश्रमनुदः सुरतश्रमहारिणः सरोजवाताश्च। सुरसुन्दरीभ्यः। क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी। दिवो दिवम्। 'अधोगर्थ—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी। स्मर्तुं न दिशन्ति। विस्मारयन्तीत्यर्थः। स्वर्गादप्यतिरिच्यतेऽसाविति भावः। अत्र पूर्वार्धे रूपकत्रयं स्फुटमेव॥ २८॥

उस पर अनेक शोभा-सम्पन्न लता-कुञ्ज ही उत्तम भवन हैं। ओषधियाँ दीप-मालिकायें हैं। कल्पवृक्ष के नये-नये पल्लव तल्प हैं। कमलवन का स्पर्श करने के कारण रतिजनित खेद को दूर भगाने वाला वायु भी इस पर सतत वर्तमान है। जिससे अमर-ललनायें अपने स्वर्ग को भी भूल बैठी हैं अर्थात् स्वर्ग में भोग-विलास की सम्पूर्ण सामग्री वर्तमान रहती हैं। इस हिमालय पर भी किसी वस्तु की न्यूनता नहीं है। अतः वे स्वर्ग से इसे अच्छा समझती हैं॥ २८॥

ईशार्थमम्भसि चिराय तपश्चरन्त्या
यादोविलङ्घनविलोलविलोचनायाः।
आलम्बताग्रकरमत्र भवो भवान्याः
श्च्योतन्निदाघसलिलाङ्गुलिना करेण॥ २९॥

ईशार्थमिति। ईशायेतीशार्थं यथा तथेति क्रियाविशेषणम्। 'अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या'। चिराय चिरमम्भसि तपश्चरन्त्या अतएव यादोविलङ्घनविलोलविलोचनाया जलजन्तुविघट्टितचकितेक्षणायाः। तपसोऽप्यधिकं दृष्ट्वैव विलोभयन्त्येति भावः। 'यादांसि जलजन्तवः' इत्यमरः। भवान्या भवपत्न्याः। प्रयोगकालापेक्षोऽयं निर्देशः। 'इन्द्रवरुणभव—' इत्यादिना ङीप्। आनुगागमश्च। करैकदेशस्यापि करत्वादग्रश्चासौ करश्चेति समानाधिकरणे समासः। अतएव वामनः—हस्ताग्राग्रहस्तयोर्गुणगुणिनोर्भेदाभेदौ' इति। तमग्रकरं भवः शिवः श्च्योतन्निदाघ-

सलिलाङ्गुलिना स्रवत्स्वेदाङ्गुलिनेति सात्त्विकोदयोक्तिः। करेणात्र गिरावालम्बत गृहीतवान्। अत्राद्भुतातीतवृत्तान्तस्य प्रत्यक्षवदभिधानाद्भाविकालङ्कारः—'अतीतानागते यत्र प्रत्यक्षवदलक्षिते। अत्यद्भुतार्थकार्यत्वाद्भाविकं तदुदाहृतम्॥' इति लक्षणात्। वसन्ततिलकावृत्तम्—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात्॥

इसी (हिमालय) पर शिव के लिए बहुत समय तक भवानी ने तपस्साधन किया था। उस समय जब कभी जलजन्तु परिस्फुरण करते थे तो उनके नेत्र सचकित हो जाते थे। (आशुतोष) शंकर ने भी अपने हाथ से इनके हाथ का अग्रभाग यहीं ग्रहण किया था। भगवान शंकर के हाथ की अङ्गुलियों से ग्रीष्म काल के स्वेद-विन्दु टपक रहे थे॥ २९॥

येनापविद्धसलिलः स्फुटनागसद्मा देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे।
व्यावर्तनैरहिपतेरयमाहिताङ्कः खं व्यालिखन्निव विभाति स मन्दराद्रिः॥

येनेति। देवाश्चासुराश्च तैर्देवासुरैः। 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इति नैकवद्भावः। येषां यतः कार्यत एव विरोधो न गोव्याघ्रादिवच्छाश्वतिक इत्याहुः। येन मन्दराद्रिणा। मन्थदण्डीकृतेनेति भावः। अपविद्धसलिलः क्षिप्तजलोऽत एव स्फुटं नागसद्म पातालं यस्मिन्सोऽम्बुनिधिरमृतं ममन्थे मथितः। मथ्नातेर्द्विकर्मकत्वाद् दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि लिट्। अहिपतेः मन्थगुणीकृतस्य वासुकेरित्यर्थः। 'मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम्' इति भारतवचनात्। व्यावर्तनैर्वेष्टनैराहिताङ्कः कृतचिह्नः सोऽयं मन्दराद्रिः खमाकाशं व्यालिखन्व्यापाटयन्निव विभाति। अत्रौन्नत्यानुपादानेनैव खलेखनोत्प्रेक्षणादनुपात्तगुणनिमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा॥ ३०॥

जिस मन्दर गिरि से देवता और दैत्यों ने अमृत के लिये समुद्र का मन्थन किया था। (मन्थन करते समय) समुद्र से जल के उछलने के कारण पाताल दृष्टिगोचर हो रहा था, और वह रज्जुभूत सर्पराज (वासुकि) के बारम्बार विवर्तन से अङ्कित होकर इस प्रकार सुशोभित हो रहा हैं मानो आकाश-मण्डल का भेदन कर रहा है॥ ३०॥

नीतोच्छ्रायं मुहुरशिशिररश्मेरुस्रै-
रानीलाभैर्विरचितपरभागा रत्नैः।
ज्योत्स्नाशङ्कामिह वितरति हंसश्येनी
मध्येऽप्यह्नः स्फटिकरजतभित्तिच्छाया॥ ३१॥

नीतेति। इहाद्रावशिशिररश्मेरुष्णांशोरुस्रैर्मयूखैः संक्रान्तैरित्यर्थः। नीतोच्छ्रायमुच्छ्रायं नीता। विस्तारितेत्यर्थः। तथा नीलाभैरसितप्रभै रत्नैरिन्द्रनीलैर्विरचितपरभागा। तत्संनिधानाल्लब्धोत्कर्षेत्यर्थः। हंस इव श्येनी श्वेतवर्णा। 'विशदश्येतपाण्डराः' इत्यमरः। 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति श्येतशब्दान्ङीष्। तकारस्य च नकारः। स्फटिकानां रजतानां च भित्तयस्तासां छाया कान्तिः। अह्नो मध्ये। मध्याह्नेऽपीत्यर्थः। मुहुर्ज्योत्स्नाशङ्कां ज्योत्स्नाभ्रान्तिं वितरति जनयतीति भ्रान्तिमदलङ्कारः॥ ३१॥

इस नगाधिराज पर स्फटिक और रजत के दीवार की छाया सूर्य्य की किरणों से संक्रान्त होकर ऊँची हो गई है, इन्द्रनील मणियों की प्रभापुंज से उन्हें उत्कर्ष मिल गया है, और वे हंस की भाँति स्वच्छ हैं। जिससे उन्हें देख कर मध्याह्न काल में ही चन्द्रिका का भान होता है ॥ ३१ ॥

दधत इव विलासशालि नृत्यं मृदु पतता पवनेन कम्पितानि।
इह ललितविलासिनीजनभ्रूगतिकुटिलेषु पयःसु पङ्कजानि ॥ ३२ ॥

दधत इति। इहाद्रौ मृदु पतता मन्दं वहता पवनेन कम्पितानि पङ्कजानि ललितविलासिनीजनस्य भ्रूगतिवत्कुटिलेषु। ईषत्तरङ्गितेष्वित्यर्थः। पयःसु विलासशालि नृत्यं दधत इव। सविलासं नृत्यन्तीवेत्युत्प्रेक्षा। पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ३२ ॥

इस (हिमालय) पर, सुन्दरियों के भौंह के समान कुटिल गति युक्त जल में मन्द-मन्द चलते हुए वायु से कमल कम्पित हो रहे हैं ऐसा प्रतीत होता है मानों वे हाव-भाव पूर्वक नृत्य कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

अस्मिन्नगृह्यत पिनाकभृता सलीलमाबद्धवेपथुरधीरविलोचनायाः।
विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः स्रस्तोरगप्रतिसरेण करेण पाणिः ॥

अस्मिन्निति। अस्मिन्नद्रौ पिनाकभृता शिवेनाधीरविलोचनायाश्चकितदृष्टेः। उरगदर्शनादिति भावः। ईश्वराया गौर्याः। 'स्थेयमास—' इत्यादिना वरच्। पुंयोगविवक्षाभावान्न ङीष्। आबद्धवेपथुः प्राप्तकम्प इति सात्त्विकोक्तिः। 'ट्वितोऽथुच्' इत्यथुच्प्रत्ययः। विन्यस्ता मङ्गलमहौषधिर्यवाङ्कुरादिर्यस्मिन्स पाणिः। स्रस्तो गलित उरग एव प्रतिसरः कौतुकसूत्रं यस्य तेन। 'आहुः प्रतिसरो हस्तसूत्रे माल्ये च मण्डने' इति विश्वः। करेण सलीलमगृह्यतेति देवस्य पार्वतीपरिणयनवर्णनम्। ईशार्थमित्यत्र त्वनुग्रहमात्रोक्तिरित्यपौनरुक्त्यम्। भाविकमेवालङ्कारः ॥ ३३ ॥

इसी पर्वत पर पिनाकपाणि (शंकर) ने अपने हाथ से विलोलनेत्रा पार्वती के यवाङ्कुरादि शुभलक्षण-लक्षित तथा कम्पयुत पाणि का ग्रहण किया था। उस समय शंकर भगवान् के हाथ से कौतुकसूत्र इस प्रकार खिसक पड़ा था जैसे सर्प सरक जाय ॥ ३३ ॥

क्रामद्भिर्घनपदवीमनेकसंख्यैस्तेजोभिः शुचिमणिजन्मभिर्विभिन्नः।
उस्राणां व्यभिचरतीव सप्तसप्तेः पर्यस्यन्निव निचयः सहस्रसंख्याम् ॥ ३४ ॥

क्रामद्भिरिति। घनपदवीमाकाशं क्रामद्भिर्व्यश्नुवानैरनेकसंख्यैः। परःसहस्रैरित्यर्थः। क्वचित् 'अनेकवर्णैः' इति पाठस्तु प्रामादिक एव। वैयर्थ्याद् व्याघाताच्चेति। शुचिमणिभ्यः स्फटिकेभ्यो जन्म येषां तैः। 'जन्माद्युत्तरपदो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणोऽपीष्यते' इति वामनः। तेजोभिर्विभिन्नो मिश्रोऽतएव पर्यस्यन्प्रसर्पन्निहाद्रौ सप्तसप्तेः

सवितुरुस्राणां किरणानां निचयो निकरः। सहस्रमिति संख्या सहस्रसंख्या ताम्। स्वनियतामिति शेषः। व्यभिचरत्यतिक्रामतीवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥

इस पर्वत पर स्फटिक मणि से परिस्फुरणकारिणी असंख्य किरणें, जो आकाशपथ में सञ्चरण कर रही हैं, सामूहिक रूप से, सप्ताश्व (सूर्य) की किरणों के समूह की सहस्र संख्या को अतिक्रमण करती हुई की तरह दृक्पथानुसरण कर रही हैं ॥ ३४ ॥

व्यधत्त यस्मिन्पुरमुच्चगोपुरं पुरां विजेतुर्धृतये धनाधिपः।
स एव कैलास उपान्तसर्पिणः करोत्यकालास्तमयं विवस्वतः॥ ३५ ॥

व्यधत्तेति। यस्मिन्कैलासे धनाधिपः कुबेरः पुरां विजेतुः शिवस्य धृतये सन्तोषायोच्चगोपुरमुन्नतपुरद्वारम्। 'पुरद्वारं तु गोपुरम्' इत्यमरः। पुरमलकाख्यां पुरीं व्यधत्त निर्मितवान्। तत्सखित्वादिति भावः। स एष कैलास उपान्तसर्पिणः प्रान्तचारिणो विवस्वतः सूर्यस्याकाले प्रसिद्धेतरकालेऽस्तमयं करोतीवेत्युत्प्रेक्षा। वस्तुतस्तु तत्कारणाभावाद्व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा। सा चोपान्तवर्तितयाऽसम्बन्धे सम्बन्धलक्षणातिशयोक्त्युत्थापितेति विवेकः। अस्तमिति मकारान्तमव्ययम्। तस्य पचादजन्तेनायशब्देन षष्ठीसमासः। वृत्तमुक्तम् ॥ ३५ ॥

जिस पर कुबेर ने त्रिपुर-विजेता भगवान् शूली के सन्तोषार्थ बड़े-बड़े फाटकों से युक्त नगर निर्मित कराया था यह वहाँ कैलास है जो समीप में समागत सूर्य्य भगवान् को समय के पहले ही अस्त की तरह बना देता है ॥ ३५ ॥

नानारत्नज्योतिषां सन्निपातैश्छन्नेष्वन्तःसानु वप्रान्तरेषु।
बद्धांबद्धां भित्तिशङ्कामुष्मिन्नावानावान्मातरिश्वा निहन्ति ॥ ३६ ॥

नानेति। अमुष्मिन्कैलासेऽन्तःसानुः। सानुष्वित्यर्थः। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। नानारत्नज्योतिषां अनेकमणिकान्तीनां सन्निपातैर्व्यतिकरैश्छन्नेषु छादितेषु। 'वा दान्तशान्त—' इत्यादिना निपातः। वप्रान्तरेषु कटकान्तरेषु बद्धांबद्धामभीक्ष्णबद्धाम्। दृढोत्पादितामित्यर्थः। 'नित्यवीप्सयोः' इति नित्यार्थे द्विर्भावः। 'नित्यमभीक्ष्णम्' इति काशिका। एकपदं चैतत्। भित्तिशङ्कां भित्तिरिति सन्देहमावानावानभीक्ष्णमापतन्। आङ्पूर्वाद्वाधातोः शतृप्रत्ययः। द्विर्भावादि पूर्ववत्। मातर्यन्तरिक्षे गच्छतीति मातरिश्वा वायुः। कनिन्प्रत्ययः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक्। निहन्ति निवर्तयति वायुसञ्चाराद्भित्त्यभावोऽवधार्यत इत्यर्थः। अतो निश्चयान्तः सन्देहालङ्कारः। शालिनीवृत्तम् ॥ ३६ ॥

इस कैलास के शिखर पर विविध रत्नों की प्रभा-पुञ्ज के ढूहों से अन्तराल आच्छादित होने पर सुदृढ़ दीवाल की शङ्का उत्पन्न करते हैं। आकाशसञ्चारी वायु बार-बार सञ्चरित हो भित्ति की शङ्का का विच्छेद कर देता है ॥ ३६ ॥

रम्या नवद्युतिमपैति न शाद्वलेभ्यः श्यामीभवन्त्यनुदिनं नलिनीवनानि ।
अस्मिन्विचित्रकुसुमस्तबकाचितानां शाखाभृतां परिणमन्ति न पल्लवानि ॥३७॥

रम्येति । अस्मिन्नद्रौ । शादाः शष्पाणि सन्त्येष्विति शाद्वलास्तेभ्यः । 'शाद्वलः शादहरिते' इत्यमरः । 'नडशादाड्ड्वलच्' । रम्या नवा द्युतिर्नापैति । किन्तु नित्येत्यर्थः । नलिनीवनान्यनुदिनं सर्वदा श्यामीभवन्ति । न कदाचित्पाण्डुरीभवन्तीत्यर्थः । विचित्रकुसुमस्तबकैराचितानां व्याप्तानां शाखाभृतां तरूणां पल्लवानि न परिणमन्ति । न जीर्णानि भवन्तीत्यर्थः । सर्वदा नूतनमेव सर्वं वर्तत इत्यर्थः । अत्र प्रस्तुतस्यैव तत्तद्वस्तुगतकान्तिस्थैर्यरूपकार्यस्य वर्णनात्प्रस्तुतमिव कारणं कश्चिदसाधारणः कैलासस्य महिमावगम्यत इति पर्यायोक्तिरलङ्कारः । तदुक्तम्— 'कारणं गम्यते यत्र प्रस्तुतं कार्यवर्णनात् । प्रस्तुतत्वेन सम्बन्धस्तत्पर्यायोक्तमुच्यते ॥' इति ॥ ३७ ॥

इस कैलास पर शाद्वल (तृण) समूह अपने अभिनव रमणीयता का परित्याग नहीं करता (सर्वदा हरा-भरा रहता है) नील कमल के वन अनुदिन अपनी नीलिमा की वृद्धि करते रहते हैं, (वे दिन-गत होने के कारण सूख नहीं जाते) और रंग-विरंग के पुष्प समूह से समन्वित वृक्षों के पत्ते भी जीर्ण-शीर्ण हो धराशायी नही बनते (यहाँ हिमालय पर वृक्ष सदा फलशाली होते हुए अपने पत्तों का त्याग नहीं करते) ॥ ३७ ॥

परिसरविषयेषु लीढमुक्ता हरिततृणोद्गमशङ्कया मृगीभिः ।
इह नवशुककोमला मणीनां रविकरसंवलिताः फलन्ति भासः ॥३८॥

परिसरेति । इहाद्रौ परिसरविषयेषु पर्यन्तदेशेषु । 'विषयो देशे' इति निपातः । मृगीभिर्हरिततृणोद्गमशङ्कया नीलतृणाङ्कुरभ्रान्त्येति भ्रान्तिमदलङ्कारः । लीढाः पूर्वमास्वादिताः पश्चान्मुक्ताः लीढमुक्ताः । दग्धप्ररूढ इत्यादिवत् 'पूर्वकाल—' इत्यादिना समानाधिकरणसमासः । नवशुककोमलाः शुकसवर्णाः मणीनां मरकतमणीनां भासो रविकरैः संवलिता मिश्रिताः सत्यः फलन्ति सम्मूर्च्छन्ते । वर्धन्त इति यावत् ॥ ३८ ॥

इस कैलास के आस-पास की भूमि पर, शुक के बच्चों के सदृश मनोरम मरकत मणि की किरणें अभिनव हरित तृणाङ्कुर की सी व्यक्त होती हैं । उन्हें हरिणियाँ घास समझकर खाने के लिये मुख में लेती हैं फिर छोड़ देती हैं । ये किरणें सूर्य्य की किरणों से संवलित होकर अधिक प्रकाश धारण कर लेती हैं ॥ १८ ॥

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः ।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ॥ ३९ ॥

उत्फुल्लेति । अस्मिन्नद्रौ वात्याभिर्वातसमूहैः । 'वाशादिभ्योयत्' इति यत्प्रत्ययः । अमुष्माद् दृश्यमानादुत्फुल्लस्थलनलिनीवनात् । जलपतितस्य परागस्योत्थानासम्भवात्स्थलग्रहणम् । उत्फुल्लसंफुल्लयोरुपसंख्यानान्निष्ठानत्वम् । उद्‌धूत उत्थापितो वियति समन्ताद्विवर्तितः परिमण्डलितः । अन्तराले तु दण्डायमान एवेति भावः । सरसिजसम्भवः पद्मोद्भवः परागः । रूढयभिप्रायेणात्र सरसिजशब्दप्रयोगो द्रष्टव्यः । कनकमयातपत्रलक्ष्मीमाधत्तेऽनुकरोति । अत्र परागस्यातपत्रलक्ष्मीसम्बन्धासम्भवात्तत्सदृशीं लक्ष्मीमिति प्रतिबिम्बेनाक्षेपादसम्भविधर्मसम्बन्धेयं निदर्शना । तदुक्तम्— 'असम्भवद्धर्मयोगादुपमानोपमेययोः । प्रतिबिम्बक्रिया गम्या यत्र सा स्यान्निदर्शना' इति ॥ ३९ ॥

(यक्षने कहा)—यह जो स्थल कमलों का वन दृष्टिगोचर हो रहा है वहाँ से पद्मपराग के वात्या (बवंडर) के द्वारा उड़ाये जाने पर आकाश मण्डलाकार बन जाता है उस समय सुवर्णसूत्र-निर्मित आतपत्र (छाता) की शोभा का अनुकरण करने लगता है ॥ ३९ ॥

इह सनियमयोः सुरापगायामुषसि सयावकसव्यपादरेखा ।
कथयति शिवयोः शरीरयोगं विषमपदा पदवी विवर्तनेषु ॥ ४० ॥

इहेति । इहाद्रावुषसि प्रभाते सुरापगायां लक्षणया तत्कूले सयावका सालक्तका सव्यपादस्य रेखा वामचरणमुद्रा यस्यां सा । 'यावोऽलक्तो द्रुमामयः' इत्यमरः । तथा विषमाणि महदल्पानि पदानि यस्यां सा विवर्तनेषु प्रदक्षिणक्रियासु पदवी । शिवयोः प्रदक्षिणपद्धतिरित्यर्थः । सनियमयोः सन्ध्यायां प्रणमतोरित्यर्थः । शिवा च शिवश्च तयोः शिवयोरुमाशङ्करयोः । 'पुमान्स्त्रिया' इत्येकशेषः । शरीरयोगमर्धाङ्गसङ्घटनारूपं कथयति । सनियमयोरिति नियमविषयेऽपि विरहासहाविह विहरतः शिवाविति भावः । अत्र पदवीविशेषणपदार्थयोः कथनं प्रति हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४० ॥

इस कैलास पर अत्यन्त प्रभात काल में (सुरनदी) सुरधुनी (गङ्गा) के तट पर सन्ध्या-वन्दन कृत्याङ्गभूत प्रदक्षिण के कारण जो उमा और शङ्कर के पद-चिह्न व्यक्त होते हैं उनमें से वाम चरण रेखा महावर से रंगी हुई और विषमा है अर्थात् वाम पद-चिह्न रक्त वर्ण और छोटा है। दक्षिण पद-चिह्न बड़ा है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शिव और पार्वती अर्द्धाङ्गी स्वरूप हैं (शिव का वामाङ्ग पार्वती रूप और दक्षिणाङ्ग शिव स्वरूप है) ॥ ४० ॥

सम्मूर्च्छतां रजतभित्तिमयूखजालैरालोलपादपलतान्तरनिर्गतानाम् ।
घर्मद्युतेरिह मुहुः पटलानि धाम्नामादर्शमण्डलनिभानि समुल्लसन्ति ॥४१॥

संमूर्च्छतामिति । इहाद्रौ रजतभित्तिमयूखजालैः संमूर्च्छतां बहुलीभवतामा-

लोलानां पादपलतानां तरुशाखानामन्तरेषु रन्ध्रेषु निर्गतानां प्रसृतानां घर्मद्युतेरुष्णांशोर्धाम्नां तेजसामादर्शमण्डलनिभानि दर्पणबिम्बसदृशानीत्युपमालङ्कारः। पटलानि मण्डलानि मुहुर्वारंवारं समुल्लसन्ति पुनः पुनः स्फुरन्ति न तु सातत्येन। लतानामालोलत्वाभावात्। तच्च नान्यत्र मृत्पाषाणादिप्राये सम्भवतीति भावः॥ ४१॥

इस कैलास-शिखर पर रजतभित्ति (चाँदी की दीवार) के किरणपुञ्जों से उत्कर्षशाली, शनैः शनैः कम्पित होते हुए वृक्षों की शाखाओं के रन्ध्र से छन-छनकर निकले हुए सूर्य की किरणों के समूह, जो दर्पणानुकारी हैं अधिकाधिक परिशोभित हो रहे हैं॥ ४१॥

शुक्लैर्मयूखनिचयैः परिवीतमूर्तिर्वप्राभिघातपरिमण्डलितोरुदेहः।
शृङ्गाण्यमुष्य भजते गणभर्तुरुक्षा कुर्वन्वधूजनमनःसु शशाङ्कशङ्काम्॥४२॥

शुक्लैरिति। शुक्लैर्मयूखनिचयैः शुभ्रकिरणसमूहैः परिवीतमूर्तिर्व्याप्तदेहः। वप्राभिघातेन वप्रक्रीडया परिमण्डलितो वर्तुलीकृत उरुदेहो बृहच्छरीरं यस्य तथोक्तो गणभर्तुः प्रमथनाथस्योक्षा वृषभः 'उक्षानड्वान्बलीवर्द ऋषभो वृषभो वृषः' इत्यमरः। वधूजनमनःसु शशाङ्कशङ्कां चन्द्रभ्रान्तिं कुर्वन्। तेषां मौग्ध्यादिति भावः। अमुष्याद्रेः शृङ्गाणि भजते सेवते। अत्र शङ्काशब्दस्य सन्देहार्थत्वे सन्देहालङ्कारः। भ्रान्तिपरत्वे भ्रान्तिमदलङ्कारः। यथेच्छसि तथास्तु। नवोक्षविशेषणोत्थेन काव्यलिङ्गेनाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते॥ ४२॥

जब यह प्रमथाधिप (शंकर) का महोक्ष (नन्दी) शुभ्र किरण-पुञ्जों से धवलित होकर वप्र-क्रीडा-प्रसक्ति के कारण अपने अङ्गों को संवृत करके इस कैलास के शिखरों का आश्रय लेता है उस समय युवति-जनों के मन में शशलाञ्छन (चन्द्र) का भान होने लगता है॥

सम्प्रति लब्धजन्म शनकैः कथमपि लघुनि
क्षीणपयस्युपेयुषि भिदां जलधरपटले।
खण्डितविग्रहं बलभिदो धनुरिह विविधाः
पूरयितुं भवन्ति विभवः शिखरमणिरुचः॥ ४३॥

सम्प्रतीति। इहाद्रौ विविधा नानावर्णाः शिखरमणिरुचः सम्प्रति शरदीत्यर्थः। लघुन्यगुरुणि। कुतः क्षीणपयस्यत एव भिदां भेदम्। 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः। उपेयुषि गते जलधरपटले मेघमण्डले कथमपि शनकैर्लब्धजन्म। उत्पन्नमित्यर्थः। अत एव खण्डितविग्रहं छिन्नस्वरूपं बलभिद इन्द्रस्य धनुः पूरयितुं विभवः समर्था भवन्ति। अत्रेन्द्रधनुषो मणिरुचीनामसम्बन्धे सम्बन्धकथनादतिशयोक्तिरलङ्कारः। वंशपत्रपतितं वृत्तम्—'दिङ्मुनि वंशपत्रपतितं भरनभनलगैः' इति लक्षणात्॥ ४३॥

इस शरत्काल में जब मेघमण्डल जलरहित होकर खण्ड-खण्ड हो जाता है उस समय इन्द्र-धनुष जो आकाश से प्रायः कम उदित होता है अत्यन्त सूक्ष्म और खण्डित सा दृष्टिगोचर होता है। इस कैलास-शिखर के विविध रत्नों की कान्ति उसको पूर्ण कर देती है॥ ४३॥

स्नपितनवलतातरुप्रवालैरमृतलवस्रुतिशालिभिर्मयूखैः।
सततमसितयामिनीषु शम्भोरमलयतीह वनान्तमिन्दुलेखा॥ ४४॥

स्नपितेति। इहाद्रौ शम्भोरिन्दुलेखा। स्नपितानि सिक्तानि नवानि लतानां तरूणां च प्रवालानि यैस्तैः अमृतलवस्रुत्यामृतबिन्दुनिःस्यन्देन शालन्ते ये तैर्मयूखैः सततं सर्वकालमसितयामिनीषु कृष्णपक्षरात्रिष्वपि वनान्तममलयति धवलयति। अन्यत्र नैतदस्तीति व्यतिरेको व्यज्यते॥ ४४॥

इस कैलास पर भगवान् शंकर के शिरःस्थित चन्द्रलेखा अपनी पीयूष-बिन्दुस्रावी किरणों से, जो छोटे-छोटे वृक्ष और नूतन लताओं का सिञ्चन करती है कृष्ण पक्ष की रात्रि में वनान्त प्रदेश को धवलित कर देती है॥ ४४॥

क्षिपति योऽनुवनं विततां बृहद्बृहतिकामिव रौचनिकीं रुचम्।
अयमनेकहिरण्मयकन्दरस्तव पितुर्दयितो जगतीधरः॥ ४५॥

क्षिपतीति। अथ योऽद्रिरनुवनं विततां रौचनिकीं रुचम्। सौवर्णीं कान्तिमित्यर्थः। रोचनया रक्तां रौचनिकीम्। 'लाक्षारोचनशकलकर्दमाट्ठक्' इति ठक्। 'टिड्ढाणञ्–' इत्यादिना ङीप्। उत्प्रेक्षते–बृहती चासौ बृहतिका च तां महोत्तरासङ्गमिव। 'द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा' इत्यमरः। क्षिपति प्रसारयति। अनेका हिरण्मय्यः कन्दरा यस्य सः। हिरण्मयशब्दो 'दाण्डिनायन–' इत्यादिना निपातनात्साधुः। अयम् पुरोवर्ती गिरिरित्यर्थः। तव पितुरिन्द्रस्य दयितः प्रियः। जगत्या धरो जगतीधरः। यस्ते गन्तव्य इन्द्रनीलाख्य इत्यर्थः॥ ४५॥

यह (इन्द्रनील) नाना प्रकार की सुवर्णमयी कन्दराशाली, धराधर (पहाड़), आपके पिता इन्द्र का परम मित्र है जो अपनी सुनहली दीप्ति को खूब फैलाकर लम्बी-चौड़ी चादर (उत्तरीय) के समान प्रत्येक वनों के ऊपर डाल देता है॥ ४५॥

सक्तिं जवादपनयत्यनिले लतानां वैरोचनैर्द्विगुणिताः सहसा मयूखैः।
रोधोभुवां मुहुरमुत्र हिरण्मयीनां भासस्तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति॥

सक्तिमिति। अमुत्रामुष्मिन्नद्रावनिले जवाज्झटिति लतानां सक्तिमन्योन्यसङ्गमपनयति सति। सहसा हठाद्वैरोचनैः सावित्रैर्मयूखैर्द्विगुणा द्विरावृत्ताः कृता इति द्विगुणिताः। 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिष्विन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती। हिरण्मयीनां हिरण्यविकाराणाम्। 'दाण्डिनायन–' इत्यादिना निपातनात्साधुः। रोधो-

भुवां तटभुवां भासो मुहुस्तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति। अनुकुर्वन्तीत्यर्थः। उपमालङ्कारः ॥ ४६ ॥

इस (इन्द्रनील गिरि) पर वायु प्रबल वेग से चल कर लताओं की परस्पर संसक्ति को दूर कर देता है अतः सुवर्णमयी तट-भूमि एकाएक सूर्य्य भगवान् की किरणों से द्विगुणित हो बिजली की छटा को मात करती है (अनुकरण करती है) ॥ ४६ ॥

कषणकम्पनिरस्तमहाहिभिः क्षणविमत्तमतङ्गजवर्जितैः।
इह मदस्नपितैरनुमीयते सुरगजस्य गतं हरिचन्दनैः ॥ ४७ ॥

कषणेति। इहाद्रौ कषणेन कण्डूयनेन यः कम्पस्तेन निरस्ता महाहयो महासर्पा येभ्यस्तैः। क्षणं विमत्तमतङ्गजवर्जितैर्मत्तमतङ्गजरहितैः। कुतः। मदस्नपितैः ऐरावतमदसिक्तैरित्यर्थः। 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः। हरिचन्दनैश्चन्दनद्रुमैः सुरगजस्यैरावतस्य गतं प्राप्तिरनुमीयते। हरिचन्दनविशेषणैः काव्यलिङ्गमुन्नेयम् ॥ ४७ ॥

इस पर्वत पर चन्दनद्रुम, ऐरावत के कण्डू-प्रशान्त्यर्थ संघर्षण से भीषण भुजङ्गमों (महासर्पों) से रहित हो गये हैं। क्षणमात्र के लिये मदोन्मत्त हाथी भी इनसे दूर हो गये हैं। ये ऐरावत के मद से भींगे है। इनके देखने मे अनुमान होता हैं कि इस मार्ग से देवताओं का हाथी (ऐरावत) गमन किया है ॥ ४७ ॥

जलदजालघनैरसिताश्मनामुपहतप्रचयेह मरीचिभिः।
भवति दीप्तिरदीपितकन्दरा तिमिरसंवलितेव विवस्वतः ॥ ४८ ॥

जलदेति। इहास्मिन्नद्रौ जलदजालघनैर्मेघवृन्दसान्द्रैरसिताश्मनामिन्द्रनीलानां मरीचिभिर्दीधितिभिः। 'भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम्' इत्यमरः। उपहतप्रचया विघट्टितसङ्घाता अतएवादीपितकन्दरा अप्रकाशितगह्वरा विवस्वतो दीप्तिस्तिमिरैः संवलिता संहता व्यामिश्रितेव भवतीत्युत्प्रेक्षा ॥ ४८ ॥

(इस इन्द्रनील पर) मेघ-माला के सदृश, इन्द्रनील मणि की किरणों से सूर्य्य की किरणें परस्पर संघटित होकर कन्दराओं को प्रकाशित नहीं कर सकती हैं और इस तरह दीख पड़ती हैं, मानो अन्धकार से मिली हुई हैं ॥ ४८ ॥

भव्यो भवन्नपि मुनेरिह शासनेन
क्षात्रे स्थितः पथि तपस्य हतप्रमादः।
प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि
श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः ॥ ४९ ॥

भव्य इति। इहाद्रौ भव्यः शान्तो भवन्नपि मुनेर्व्यासस्य शासनेनेन्द्राराधनरूपेण क्षात्रे पथि क्षत्रियमार्गे स्थितः। गृहीतशस्त्र एवेत्यर्थः। हतप्रमादोऽप्रमत्तः सन्।

तपस्य तपश्चर्यां कुरु । तपस्येति 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोः' इति क्यङ् । तदन्ताद्धातोर्लोट् । न च सर्वभूतहितकारिणो मे प्रमादः किं करिष्यतीति विश्वसितव्यमित्यर्थान्तरन्यासेनाह—हि यस्मात्प्रायेण बाहुल्येन । 'प्रायो वयस्यनशने मृतौ बाहुल्यतुल्ययोः' इति हेमचन्द्रः । हितमर्थं करोतीति हितार्थंकरे विधौ व्यापारे सति । अन्तरायैर्विघ्नैर्विना श्रेयांसि लब्धुमसुखानि । अशक्यानीत्यर्थः । अतएव 'शकधृष—' इत्यादिना समानकर्तृकेषु तुमुन् । अकारणवैरिणः सर्वत्र सर्वस्यापि सन्तीति भावः ॥

(यक्षने अर्जुन से कहा)—आप शान्तभावता धारण करते हुये भी व्यास मुनि के निर्देश से क्षात्रधर्म का पालन करते हुए अर्थात् शस्त्रग्रहण करते हुए सावधान होकर तपश्चर्य्या कीजिये । यद्यपि अनुकूल (कल्याणकारी) भाग्य होते हुए भी विघ्न-बाधाओं के बिना कल्याण प्राप्त करना कठिन है । अर्थात् कल्याण प्राप्त होने में अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं अतः विघ्न-निवारणार्थ शस्त्र-धारण करना आपके लिये अत्यावश्यक है ॥ ४९ ॥

मा भूवन्नपथहृतस्तवेन्द्रियाश्वाः
सन्तापे दिशतु शिवः शिवां प्रसक्तिम् ।
रक्षन्तस्तपसि बलं च लोकपालाः
कल्याणीमधिकफलां क्रियां क्रियासुः ॥ ५० ॥

मा भूवन्निति । तवेन्द्रियाण्येवाश्वास्ते । अपथेन हरन्तीत्यपथहृतो मा भूवन् । त्वामपथं मा निनीषुरित्यर्थः । 'माङि लुङ्' इत्याशीरर्थे लुङ् । सन्तापे तपःक्लेशे सति शिवः शिवां साधीयसीं प्रसक्तिं प्रवृत्तिमुत्साहं दिशतु । किञ्चेति चार्थः लोकपाला इन्द्रादयस्तपसि विषये बलं शक्तिं रक्षन्तो वर्धयन्तः सन्तः कल्याणीं साध्वीं क्रियामनुष्ठानमधिकफलां क्रियासुः कुर्वन्तु । करोतेराशिषि लोट् ॥ ५० ॥

आपके इन्द्रिय-वर्ग घोड़ों के सदृश उन्मार्गगामी नहीं हैं आपको कष्टावस्था में शंकर भगवान् कार्य्यसाधन-समर्थ उत्साह प्रदान करें । लोकपाल आपके तपःसाधन में शक्ति की अभिवृद्धि करते हुए आपके शोभन कर्तव्यानुष्ठान को सफल बनावें ॥ ५० ॥

इत्युक्त्वा सपदि हितं प्रियं प्रियार्हे
धाम स्वं गतवति राजराजभृत्ये ।
सोत्कण्ठं किमपि पृथासुतः प्रदध्यौ
संधत्ते भृशमरतिं हि सद्वियोगः ॥ ५१ ॥

इतीति । प्रियार्हे राजराजभृत्य इति पूर्वोक्तम् । हितं प्रियं वचनमिति शेषः । उक्त्वा सपदि स्वं स्वकीयं धाम स्थानं गतवति सति । पृथासुतोऽर्जुनः सोत्कण्ठं सौत्सुक्यं किमपि प्रदध्यौ चिन्तयामास । तथाहि । सद्वियोगः सुजनवियोगो भृशमरतिं व्यथां सन्धत्ते । करोतीत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार प्रिय और हितकर वाक्य कहकर, प्रेमपात्र कुबेरानुचर (यक्ष) के चले जाने पर, अर्जुन ने उत्कण्ठापूर्वक क्षणभर के लिये यक्ष का आध्यान किया क्योंकि सुजन वियोग दुःखदायी होता ही है ॥ ५१ ॥

तमनतिशयनीयं सर्वतः सारयोगा-
दविरहितमनेकेनाङ्कभाजा फलेन ।
अकृशमकृशलक्ष्मीश्चेतसाशंसितं स
स्वमिव पुरुषकारं शैलमभ्याससाद ॥ ५२ ॥
इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये पञ्चमः सर्गः ।

तमिति । अकृशाः पूर्णा लक्ष्म्यः शोभा यस्य सोऽकृशलक्ष्मीरिति बहुवचनाश्रितो बहुव्रीहिः । एवं च 'उरःप्रभृतिभ्यः–' इति कप्प्रत्ययानवकाशः । तत्र लक्ष्मीशब्दस्यैकवचनान्तस्यैव पाठात् । नापि 'नद्यृतश्च' इत्यस्यावकाशः । उरःप्रभृतिपाठसामर्थ्यादिव शैषिकस्तु वैभाषिक इत्यविरोधः । सोऽर्जुनः सर्वतः सर्वत्र सारयोगादुत्कृष्टबलप्रयोगात् । 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्युभयत्राप्यमरः । अनतिशयनीयमनतिक्रमणीयमनेकेन बहुनाङ्कभाजा समीपं गतेन । शीघ्रभाविनेति यावत् । फलेन कार्यसिद्ध्याऽविरहितमशून्यम् । कार्यसिद्धेरवश्यं साधकमित्यर्थः । अकृशमतनुं चेतसाशंसितं प्राप्तमिष्टं शैलमिन्द्रनीलं स्वमात्मीयम् । पुरुषस्य कारः कर्म तं पुरुषकारमुक्तविशेषणविशिष्टं पौरुषमिवाभ्याससाद प्राप्तवान् । मालिनीवृत्तम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां पञ्चमः सर्गः समाप्तः ॥

जिस प्रकार अर्जुन का पुरुषार्थ सर्वथा अनतिक्रमणीय, आशुभावी; अनेक प्रकार के फल से युक्त और महान् था उसी प्रकार इन्द्रनील पहाड़ भी था, सर्वथा बलप्रयोग से उसे कोई क्रान्त नहीं कर सकता था। उस पर रहकर साधन करने वाले पुरुष की अनेक-विध फल-सिद्धि आशुभाविनी थी। बहुत दिनों से अर्जुन, उस (पहाड़) को चित्त से चाहते थे। इसी इन्द्रनील पर्वत का आश्रय (अवलम्ब) उन्होंने (पृथानन्दन ने) लिया। उस क्षण वे भी पूर्ण तथा सुशोभित हो रहे थे ॥ ५२ ॥

पञ्चम सर्ग समाप्त ।

षष्ठः सर्गः

रुचिराकृतिः कनकसानुमथो परमः पुमानिव पतिं पतताम् ।
धृतसत्पथस्त्रिपथगामभितः स तमारुरोह पुरुहूतसुतः ॥ १ ॥

रुचिराकृतिरिति । अथो आसादनानन्तरं रुचिराकृतिः सौम्यविग्रहो धृतसत्पथोऽवलम्बितसन्मार्गः । आकारानुरूपगुणवानित्यर्थः । 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' इति सामुद्रिकाः । उपमानेऽपि समानमेतत् । स पुरुहूतसुतोऽर्जुनः । कनकस्य विकाराः सानवो यस्य तं कनकसानुम् । गरुडसावर्ण्यार्थं विशेषणमेतत् । 'समुदाये विकारषष्ठ्योश्च' इति बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च । तमिन्द्रकीलम् । परमः पुमान्विष्णुः पततां पक्षिणां पतिं गरुडमिव । त्रिभिः पथिभिर्गच्छतीति त्रिपथगा भागीरथी । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः । उपपदसमास उत्तरपदसमासश्च । तामभितोऽभिमुखमारुरोह । 'समीपोभयतः शीघ्रसाकल्याभिमुखेऽभितः' इत्यमरः । प्रमिताक्षरावृत्तम्—'प्रमिताक्षरासजससैरुदिता' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

इन्द्रनील पर्वत के समीप पहुँचने के बाद, सुन्दर शरीरधारी तथा सन्मार्गानुवर्त्ती, इन्द्रसुत (अर्जुन) ने भगवती भागीरथी के सामने से सुवर्ण शिखर से युक्त इन्द्रनील पर आरोहण किया जिस तरह विष्णु भगवान् अपने पक्षिराज गरुड़ पर आरूढ होते हैं ॥ १ ॥

अथास्य कार्यसिद्धिनिमित्तानि सूचयन्मार्गं वर्णयति—

तमनिन्द्यवन्दिन इवेन्द्रसुतं विहितालिनिक्वणजयध्वनयः ।
पवनेरिताकुलविजिह्मशिखा जगतीरुहोऽवचकरुः कुसुमैः ॥ २ ॥

तमिति । विहिता अलिनिक्वणा जयध्वनय इव यैस्ते तथोक्ताः पवनेन वायुनेरिता नुन्ना अत एवाकुला लोला विजिह्मा वक्राश्च शिखाः शाखाग्राणि येषां ते तथोक्ताः । 'शिखा ज्वाला केकिमौल्योः शिखाशाखाग्रमौलिषु' इति वैजयन्ती । जगतीरुहो भूरुहः क्विप् । अनिन्द्या अनवद्या ये बन्दिनः स्तुतिपाठकास्त इव । तमिन्द्रसुतमर्जुनं कुसुमैरवचकरुः । अभिववृषुरित्यर्थः । 'ऋच्छत्यृताम्' इति गुणः । अत्र किरतेर्वृष्ट्यर्थत्वात्कुसुमानां करणत्वम् । विक्षेपार्थत्वे तु कर्मत्वमेव । यथा 'कटाक्षान्वामा किरति' इति । दृश्यते च धातूनामर्थभेदात्कारकव्यत्ययः । यथा सिञ्चतेः क्षरणार्द्रीकरणयोरर्थयोर्द्रवद्रव्यस्य कर्मत्वकरणत्वे । यथा—'मेघोऽमृतं सिञ्चति गौः पयश्च' 'सिञ्चतीवामृतैर्वपुः' इति च । अत्र वाक्ये समासगतयोरुपमयोः साध्यसाधनभावादङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ २ ॥

जयध्वनि की तरह भ्रमर-गुञ्जार-गुञ्जित, वृक्षों ने जिनके शिखाग्र वायु से कम्पित हो रहे थे, प्रशस्त बन्दीजनों की तरह अर्जुन को पुष्प के प्रक्षेप से आवृत कर लिया ॥ २ ॥

अवधूतपङ्कजपरागकणास्तनूजाह्नवीसलिलवीचिभिदः ।
परिरेभिरेऽभिमुखमेत्य सुखाः सुहृदः सखायमिव त मरुतः ॥ ३ ॥

अवधूतेति । अवधूताः पङ्कजपरागकणा येस्ते तयोक्ता इति सौरभ्योक्तिः । तनुजाह्नव्याः सलिलवीचोर्मिन्दन्तीति तथोक्ता इति शैत्योक्तिः । सुखयन्तोति सुखाः । पचाद्यच् । सुखस्पर्शा इति मान्द्योक्तिः । मरुतो वातास्तमर्जुनं सुहृदः सखायमिवाभिमुखमेत्यागत्य परिरेभिरे । आलिङ्गितवन्तः ॥ ३ ॥

जिस तरह एक मित्र अपने मित्र से मिलता है उसी तरह, कमल के पुष्परजकणों को बिखेरते हुए अतएव सुगन्ध, छोटी-छोटी गङ्गाजल-लहरियों का सम्पर्क करते हुए अतएव शीतल सुखदायी अतएव मन्द पवनों ने सम्मुख उपस्थित होकर अर्जुन का आलिङ्गन किया। अर्थात् वहाँ शीतल, मन्द और सुगन्ध वायु से अर्जुन तृप्त हो गये ॥ ३ ॥

उदितोपलस्खलनसंवलिताः स्फुटहंससारसविरावयुजः ।
मुदमस्य माङ्गलिकतूर्यकृतां ध्वनयः प्रतेनुरनुवप्रमपाम् ॥ ४ ॥

उदितेति । उदितोपलेषून्नतपाषाणेषु स्खलनेन प्रतिघातेन संवलिताश्चूर्णिताः । अतस्तूर्यघोष इव घुमघुमायमाना इत्यर्थः । स्फुटैर्हंसानां सारसानां च विरावैर्युज्यन्त इति तथोक्ताः । क्विप् । अनुवप्रमपाम् । अन्तः पतन्तीनामिति शेषः । ध्वनयोऽस्यार्जुनस्य मङ्गलं प्रयोजनमेषां ते माङ्गलिकाः । 'प्रयोजनम्' इति ठञ् । तैस्तूर्यैः कृतां मुदं हर्षं प्रतेनुः । अत्रान्यस्यान्यकार्यकारणसम्भवात्तूर्यकृतमुत्सदृशीं मुदमिति प्रतिबिम्बेनाक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ॥ ४ ॥

ऊँचे उठे हुए प्रस्तरों से टक्कर खाकर चूर-चूर की तरह होने वाली जल की कल कल ध्वनियाँ, व्यक्त हंस सारस के कूजन से युक्त होकर; अर्जुन को मङ्गल-सूचक-मृदंगादि-घोष-जनित प्रसन्नता की वृद्धि करने लगीं ॥ ४ ॥

अवरुग्णतुङ्गसुरदारुतरौ निचये पुरः सुरसरित्पयसाम् ।
स ददर्श वेतसवनाचरितां प्रणतिं बलीयसि समृद्धिकरीम् ॥ ५ ॥

अवरुणेति । सोऽर्जुनः पुरोऽग्रेऽवरुग्णतुङ्गसुरदारुतरौ भग्नोन्नतदेवदारुद्रुमे बलीयसि बलवत्तरे । मत्वन्तादीयसुनि मतुपो लुक् । सुरसरित्पयसां निचये पूरे विषये वेतसवनेन वानीरवनेनाचरिताम् । 'अथ वेतसे । रथाभ्रपुष्पविदुलशीतवानीरवञ्जुलाः' इत्यमरः । समृद्धिकरीं श्रेयस्करीम् । लोके यथादृष्टामित्यर्थः । प्रणतिं ददर्श । या सर्वलोकदृष्टान्तभूतेति भावः ॥ ५ ॥

अर्जुन ने प्रबल, (प्रखर वेग-युक्त) भागीरथी-जल-राशि के विषय में देखा कि छोटे-छोटे वृक्ष कभी तो जल में गोते लगा रहे थे और कभी-कभी ऊपर उठ जाते थे यह उनकी दशा

वन्जुलवनों के द्वारा आचरण की हुई विनम्रता की सी होती थी जिससे (विनम्रता से) सर्वत्र ऐश्वर्य्य की अभिवृद्धि होती है ॥ ५ ॥

प्रबभूव नालमवलोकयितुं परितः सरोजरजसारुणितम् ।
सरिदुत्तरीयमिव संहतिमत्स तरङ्गरङ्गि कलहंसकुलम् ॥ ६ ॥

प्रबभूवेति । सोऽर्जुनः परितः सरोजरजसा कमलरेणुनारुणितं पाटलितम् । उत्तरीयं च कुसुमादिनारुणितं भवति । संहतिमन्नीरन्ध्रं तरङ्गरङ्गि वारितरङ्गशोभि सरिदुत्तरीयं स्तनांशुकमिव स्थितं कलहंसकुलं कादम्बकुलमवलोकयितुमलमत्यर्थं न प्रबभूव न शशाक । तत्सौन्दर्योद्वेलत्वादिति भावः ॥ ६ ॥

अर्जुन ने चारों ओर (पद्म-कमल) पराग से रंगे हुए तथा अभिन्न, जलतरङ्ग से शोभित, राजहंस-कुल को जो गङ्गा के उत्तरीय पट के सदृश थे, अब अधिक देर तक निरीक्षण करने में अपने को असमर्थ पाया ॥ ६ ॥

दधति क्षतीः परिणतद्विरदे मुदितालियोषिति मदस्रुतिभिः ।
अधिकां स रोधसि बबन्ध धृतिं महते रुजन्नपि गुणाय महान् ॥ ७ ॥

दधतीति । सोऽर्जुनः क्षतीः क्षतानि दधति धारयति । कुतः । परिणतास्तिर्यग्दन्तप्रहारिणो द्विरदा यस्मिंस्तस्मिन् । 'तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः' इति हलायुधः । मदस्रुतिभिर्मुदितालियोषिति रोधस्यधिकां धृतिं प्रीतिं बबन्ध । निश्चलीकृतवानित्यर्थः । तथाहि । महान्रुजन्पीडयन्नपि महते गुणायोत्कर्षाय भवति । महत्कृता पीडापि शुभावहैवेत्यर्थः । तद्युक्तं गजरुग्णस्यापि रोधसः प्रीतिकरत्वमिति भावः ॥

अर्जुन के लिये गङ्गा का तट अधिक प्रीति (जनक) हुआ । (यद्यपि) वह तट हाथियों के तिर्य्यक् दन्तप्रहार से उत्पन्न क्षत को धारण करता था । क्योंकि (दन्तियों) के मदक्षरण से वह (तट) मुदित भ्रमरियों से व्याप्त था । क्योंकि बड़े लोग कष्ट सहन करके भी महान् उत्कर्ष के लिये यत्नशील रहते हैं ॥ ७ ॥

अनुहेमवप्रमरुणैः समतां गतमूर्मिभिः सहचरं पृथुभिः ।
स रथाङ्गनामवनितां करुणैरनुबध्नतीमभिननन्द रुतैः ॥ ८ ॥

अन्विति । सोऽर्जुनोऽनुहेमवप्रं कनकसानुसमीपे । समीपार्थेऽव्ययीभावः । अरुणैः । कनककान्त्युपरञ्जनादिति भावः । पृथुभिरूर्मिभिः समतां तुल्यरूपतां गतम् । सादृश्याद् दुर्विवेच्यमित्यर्थः । सह भूतं सहचरं प्रियम् । सहशब्दस्य पचाद्यजन्तेन चरशब्देन समासः । करुणैर्दीनै रुतैः कूजितैरनुबध्नतीमन्विष्यन्तीं रथाङ्गनामवनितां चक्रवाकीमभिननन्द । प्रकृष्टप्रेमदर्शनात्कस्य नानन्द इति भावः । अत्र तावदूर्मीणां स्वधावल्यत्यागेनारुण्यस्वीकारात्तद्गुणालङ्कारः—'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणा-

श्रयात्'इति लक्षणात् । तन्मूला चेयं चक्रवाक्याः स्वकान्ते तरङ्गभ्रान्तिरिति तद्गुण-भ्रान्तिमतोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।। ८ ।।

अर्जुन ने सुवर्ण-शिखर के समीप, अरुणवर्ण स्थूल लहरियों के सदृश होने के कारण, करुण-कूजन से अपने प्रिय (चक्रवाक) का अन्वेषण करती हुई चक्रवाकी को धैर्य बँधाया ।। ८ ।।

सितवाजिने निजगदू रुचयश्चलवीचिरागरचनापटवः ।
मणिजालमम्भसि निमग्नमपि स्फुरितं मनोगतमिवाकृतयः ।। ९ ।।

सितवाजिन इति । चलवीचिनां रागो रञ्जनं वर्णान्तरापादनं तस्य रचना क्रिया तत्र पटवः समर्था रुचयः प्रभाः । अम्भसि निमग्नमपि मणिजालम् । स्वाश्रयभूतमिति भावः । मनोगतं स्फुरितं रोषादिविकारमाकृतयो भ्रूभङ्गादिबाह्यविकारा इव । सितवाजिनेऽर्जुनाय निजगदुः । ज्ञापयामासुरित्यर्थः । आकृत्या हि मनोगतं विचक्षणा जानन्तीति भावः ।। ९ ।।

जिस तरह आकृतियाँ, उठते हुये मनोगत भाव को व्यक्त कर देती हैं उसी तरह चञ्चल तरङ्गों के रङ्गों की रचना करने में कुशल रत्नों की (प्रभायें) कान्ति जल में डूबी हुई भी मणियों की सूचना अर्जुन को देती थीं ।। ९ ।।

उपलाहतोद्धततरङ्गधृतं जविना विधूतविततं मरुता ।
स ददर्श केतकशिखाविशदं सरितः प्रहासमिव फेनमपाम् ।। १० ।।

उपलेति । उपलैराहता अतएवोद्धताश्च ये तरङ्गास्तैर्धृतम् । निर्गमरोधादित्यर्थः । जविना वेगवता मरुता वातेन विधूतं विततं च केतकस्य शिखाग्रं तद्वद्विशदमपां फेनं डिण्डीरम् । 'डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः' इत्यमरः । सरितः प्रहासमट्टहासमिवेत्युत्प्रेक्षा । सोऽर्जुनो ददर्श ।। १० ।।

अर्जुन ने केतकी के शिखाग्र के समान सफेद वर्ण जल के फेन को नदी के अट्टहास की तरह देखा । उन फेनराशियों में पत्थरों से प्रवाहगति अवरुद्ध होकर उत्तम तरङ्गें उठती थीं; और वे वेगवान वायु के झोकों से उड़कर दूर तक फैल रही थीं ।। १० ।।

बहु बर्हिचन्द्रकनिभं विदधे धृतिमस्य दानपयसां पटलम् ।
अवगाढमीक्षितुमिवेभपतिं विकसद्विलोचनशतं सरितः ।। ११ ।।

बह्विति ।। बर्हिचन्द्रकनिभं मयूरमेचकसदृशम् । 'समौ चन्द्रकमेचकौ' इत्यमरः । बह्वनेकधा दानपयसां पटलम् । जातावेकवचनम् । बहवो मदाम्बुबिन्दव इत्यर्थः । अवगाढमन्तः प्रविष्टम् । गाहेः कर्तरि क्तः । इभपतिमीक्षितुं विकसदुन्मिषत्सरितो विलोचनशतमिवेत्युत्प्रेक्षा । अस्यार्जुनस्य धृतिं प्रीतिं विदधे चकार ।। ११ ।।

मयूरपिच्छ के समान, प्रचुर, मदजल-बिन्दुयें, जलान्तःप्रविष्ट गजराज को अवलोकन के लिये नदी के खुले हुए सहस्रों नेत्रों की तरह दृक्पथानुसरण करती हुई अर्जुन के प्रीति-विवर्धन में सहकारिणी हुईं ॥ ११ ॥

प्रतिबोधजृम्भणविभिन्नमुखी पुलिने सरोरुहदृशा ददृशे।
पतदच्छमौक्तिकमणिप्रकरा गलदश्रुबिन्दुरिव शुक्तिवधूः ॥ १२ ॥

प्रतिबोधेति। प्रतिबोधः स्फुटनं निद्रापगमश्च तत्र यज्जृम्भणमुच्छूनता जृम्भा च तेन विभिन्नमुखी विश्लिष्टाग्रा विवृतास्या च। अतएव पतन्प्रसरन्नच्छो मौक्तिकमणीनां प्रकरः स्तोमो यस्याः सा तथोक्ता। अतएव गलदश्रुबिन्दुरिव स्थितेत्युत्प्रेक्षा। शुक्तिर्वधूरिव शुक्तिवधूः। पुलिने। शयनीय इवेति भावः। सरोरुहदृशार्जुनेन ददृशे दृष्टा। अत्र प्रतिबोधादिश्लिष्टपदोपात्तानां प्रकृतानां शुक्तिवध्वोश्चोपमारूपकयोः साधकबाधकाभावात्सन्देहालङ्कारः। तत्सापेक्षा चाश्रुगलनोत्प्रेक्षेति तयोरङ्गाङ्गिभावः ॥ १२ ॥

पुलिन प्रदेश में कमल-सदृश नेत्रवाले अर्जुन ने आंसुओं की झड़ी लगाती हुई रमणी की भाँति सीप को देखा। जिस तरह रमणी निद्रा परित्याग करने पर जँभाई लेती हैं उस समय उसका मुख खुल जाता है उसी तरह सीप का मुख भी खुला हुआ था और उस सीप से स्वच्छ मोतियों की किरणे निकल रही थीं ॥ १२ ॥

शुचिरप्सु विद्रुमलताविटपस्तनुसान्द्रफेनलवसंवलितः।
स्मरदायिनः स्मरयति स्म भृशं दयिताधरस्य दशनांशुभृतः ॥ १३ ॥

शुचिरिति। अप्सु शुचिः स्वच्छस्तनुना सान्द्रेण च फेनस्य लवेन शकलेन संवलितः सङ्गतो विद्रुमलताया विटपः पल्लवः। 'विटपः पल्लवे षिड्गे विस्तारे स्तम्बशाखयोः' इति विश्वः। स्मरदायिनः कामोद्दीपकस्य दशनांशुभृतो दन्तकान्तिकलितस्य। दयिताधरस्य। 'अधीगर्थ—' इत्यादिना षष्ठी। भृशं स्मरयति स्म। 'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट्। 'मितां ह्रस्वः'। स्मरणालङ्कारः ॥ १३ ॥

स्वच्छ प्रवाललता के पल्लव छोटे और बड़े फेन के टुकड़ों से मिलकर अर्जुन को दशन-कान्तिकलित कामोद्दीपक, प्रियतमा के अधरपुट का स्मरण कराता था ॥ १३ ॥

उपलभ्य चञ्चलतरङ्गधृतं मदगन्धमुत्थिततवतां पयसः।
प्रतिदन्तिनामिव स सम्बुबुधे करियादसामभिमुखान्करिणः ॥ १४ ॥

उपलभ्येति। सोऽर्जुनश्चञ्चलतरङ्गधृतम्। तत्सङ्क्रान्तमित्यर्थः। मदगन्धमुपलभ्याघ्राय पयस उत्थितवताम्। रोषादिति शेषः। करियादसाम्। शाकपार्थिवादिषु द्रष्टव्यः। प्रतिदन्तिनामिवाभिमुखान्। अभियातानित्यर्थः। करिणो गजान्सम्बुबुधे। ददर्शेत्यर्थः ॥ १४ ॥

अर्जुन ने, चपल लहरियों से आवृत मदगन्ध का आघ्राण करके जल के ऊपरी सतह पर उठे हुए हाथियों के आकृति-सदृश जलीयजन्तु, जो प्रतिदन्तियों की तरह थे, सम्मुख युद्धार्थ आये हुए हाथियों के समान देखा ॥ १४ ॥

स जगाम विस्मयमुदीक्ष्य पुरः सहसा समुत्पिपतिषोः फणिनः ।
प्रहितं दिवि प्रजविभिः श्वसितैः शरदभ्रविभ्रममपां पटलम् ॥ १५ ॥

स इति । सोऽर्जुनः पुरोऽग्रे सहसा समुत्पिपतिषोः समुत्पतितुमिच्छोः । पतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'तनिपतिदरिद्रातिभ्यः सन इड् वा वक्तव्यः' इति विकल्पादिडागमः । फणिनः सर्पस्य प्रजविभिरतिवेगवद्भिः श्वसितैः फूत्कारैर्दिव्याकाशे प्रहितं प्रेरितं शरदभ्रस्य विभ्रमः इव विभ्रमः सौन्दर्यं यस्य तत् । शुभ्रमभ्रव्यापकं चेत्यर्थः । अपां पटलं पुर उदीक्ष्य विस्मयं जगाम । अत्रोपमानुप्राणिता स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १५ ॥

अर्जुन सहसा समुत्पतनाभिलाषी सर्प के वेगशाली फुफुकार के द्वारा आकाश में प्रक्षिप्त शरत्कालीन मेघ के सदृश रम्य जल-विन्दुओं को देखकर विस्मयान्वित हो गये ॥ १५ ॥

स ततार सैकतवतीरभितः शफरीपरिस्फुरितचारुदृशः ।
ललिताः सखीरिव बृहज्जघनाः सुरनिम्नगामुपयतीः सरित. ॥ १६ ॥

स इति । सोऽर्जुनः सैकतवतीः पुलिनवतीरभितः सफरीणां मत्स्यीनां परिस्फुरितान्येव चारवो दृशो यासां ताः । सुरनिम्नगां गङ्गामुपयतीर्भजन्तीः । इणः शतुरुगित्त्वान्ङीप् । अतएव वृहज्जघना ललिताः सखीरिव स्थिताः सरितस्ततारातिचक्रमे ॥ १६ ॥

अर्जुन ने सुरसरिता (गङ्गा) से सम्बन्ध करने वाली उन नदियों को पार किया जिनमें चारों तरफ चिलकती हुई मछलियाँ सुन्दर नेत्र से उपमित होती थीं और वे (सहायक नदियाँ) पुलिन प्रदेश-युक्त होने के कारण स्थूल-जघना, परम सौन्दर्य्यगुणान्विता वयस्या की समानता कर रही थीं ॥ १६ ॥

अधिरुह्य पुष्पभरनम्रशिखैः परितः परिष्कृततलां तरुभिः ।
मनसः प्रसत्तिमिव मूर्ध्नि गिरेः शुचिमाससाद स वनान्तभुवम् ॥ १७ ॥

अधिरुह्येति । सोऽर्जुनोऽधिरुह्य । अर्थाद्गिरिमिति शेषः । पुष्पभरेण नम्रशिखैर्नताग्रैस्तरुभिः परितः परिष्कृततलां भूषितस्वरूपाम् । 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः । 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सुडागमः । शुचिं शुद्धाम् । अतएव मनसः प्रसत्तिमिव मूर्त्तं मनःप्रसादमिव स्थिताम् । तद्धेतौ तद्भावोत्प्रेक्षा । गिरेर्मूर्ध्नि वनान्तभुवमाससाद । अन्तः शब्दः स्वरूपवचनः । 'अन्तोऽध्यवसिते मृत्यौ स्वरूपे निश्चयेऽन्तिके' इति वैजयन्ती ॥ १७ ॥

पाण्डुनन्दन ने पहाड़ पर चढ़कर, इन्द्रनील गिरि के शिखर पर रम्य वनस्थली को साक्षात् मूर्त्ति-धारिणी मनकी प्रसन्नता के समान देखा जो (वनस्थली) पुष्प-सम्भार से अवनत शिखा वाले पादपों (वृक्षों) से झाड़-बोहार कर साफ सुथरी हो गई थी ॥ १७ ॥

अनुसानु पुष्पितलतावितति: फलितोरुभूरुहविविक्तवनः ।
धृतिमाततान तनयस्य हरेस्तपसेऽधिवस्तुमचलामचलः ॥ १८ ॥

अनुसान्विति ! अनुसानु प्रतिसानु । वीप्सार्थेऽव्ययीभावः । पुष्पिताः सञ्जातपुष्पा लताविततयो यस्मिन्सः । फलिता उरवो भूरुहा येषु तानि विविक्तानि विजनानि पूतानि वा वनानि यस्मिन्स तथोक्तः । 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः । अचल इन्द्रकीलो हरेस्तनयस्यार्जुनस्य तपसे तपश्चर्यार्थमधिवस्तुमधिष्ठातुम् । तनिक्रियापेक्षया समानकर्तृकत्वात्तुमुन् । अचलां धृतिमुत्साहमाततान । अत्राचलविशेषणपदार्थस्य धृतिकरणहेतुत्वात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ १८ ॥

जिसकी प्रत्येक चोटियों पर पुष्पित लताओं के वितान झूम रहे थे, और फलभार से लदे हुए विशाल वृक्षों से युक्त पवित्र वनप्रदेश थे, उस इन्द्रनील पर्वत ने इन्द्रतनय (अर्जुन) को तपश्चर्य्याऽनुष्ठान में अविचल उत्साह बढ़ाया ॥ १८ ॥

प्रणिधाय तत्र विधिनाथ धियं दधतः पुरातनमुनेर्मुनिताम् ।
श्रममादधावसुकरं न तपः किमिवावसादकरमात्मवताम् ॥ १९ ॥

प्रणिधायेति । अथ तत्रादौ विधिना योगशास्त्रानुसारेण धियं चित्तवृत्तिं प्रणिधाय ध्येयविषये धियं नियम्य । 'नेर्गद–' इत्यादिना णत्वम् । मुनितां दधतः । तपस्यत इत्यर्थः । पुरातनमुनेः । अर्जुनस्येत्यर्थः । असुकरं दुष्करं तपःश्रमं खेदं नादधौ न चकार । तथाहि आत्मवतां मनस्विनामवसादकरमशान्तिजनकं किमिव । न किञ्चि-दित्यर्थः । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे ॥ १९ ॥

उस (इन्द्रनील) पर्वत पर सर्वप्रथम योगशास्त्रानुकूल चित्त-वृत्ति का नियमन करके, मुनियों की वृत्ति धारण किये हुए अर्जुन को दुष्कर तपश्चर्य्या से किञ्चिन्मात्र भी खेद नहीं हुआ क्योंकि मनस्वियों के लिये कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो चित्त में उद्वेग उत्पन्न करे ॥ १९ ॥

शमयन्धृतेन्द्रियशमैकसुखः शुचिभिर्गुणैरघमयं स तमः ।
प्रतिवासरं सुकृतिभिर्ववृधे विमलः कलाभिरिव शीतरुचिः ॥ २० ॥

शमयन्निति । धृतमिन्द्रियशमो विषयव्यावृत्तिरेवैकं मुख्यं सुखं येन स तथोक्तः । आत्माराम इत्यर्थः । अन्यत्र धृत इन्द्रियाणां शमः सन्तापनिवर्तनमेकमद्वितीयं सुख-माह्लादश्च येन स तथोक्तः । शुचिभिर्निर्मलैर्गुणैर्मैत्र्यादिभिः । अन्यत्र कान्त्यादिभिः ।

अघमयं पापरूपं तमोऽज्ञानम् । अन्यत्रान्धकारं च शमयन्निवर्तयन् । विमलोऽमलिनः पापरहितः शुभ्रोऽन्यत्र । सोऽर्जुनः प्रतिवासरं सुकृतिभिः सुकृतैः । तपोभिरित्यर्थः । स्त्रियां क्तिन् । कलाभिः शीतरुचिश्चन्द्र इव । ववृधे ॥ २० ॥

जिस प्रकार निर्मल चन्द्रमा, इन्द्रिय-सन्ताप-निवारण कर अद्वितीय सुख उत्पन्न करता हुआ, और अपने शुभ्र किरणों से अन्धकार का नाश करता हुआ अपनी सुन्दर कलाओं से प्रतिदिन बढ़ता रहता है उसी तरह किरीटी (अर्जुन) 'इन्द्रियों को विषयों की ओर से व्यावृत्त करना' परम सुख समझने वाले, अपने परम पवित्र मैत्र्यादि गुणों से पापरूप अज्ञाननाश करते हुए, सुकृत्यों से प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होने लगे ॥ २० ॥

अधरीचकार च विवेकगुणादगुणेषु तस्त धियमस्तवतः ।
प्रतिघातिनीं विषयसङ्गरतिं निरुपप्लवः शमसुखानुभवः ॥ २१ ॥

अधरीचकारेति । किञ्चेति चार्थः । विवेकस्तत्त्वावधारणं स एव गुणस्तस्मात् । तेन हेतुनेत्यर्थः । 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' इति पञ्चमी । अगुणेषु कामक्रोधादिदोषेषु, विषये । तद्विरोधेन नञ्समासः । धियं चित्तवृत्तिमस्तवतो निवारितवतस्तस्यार्जुनस्य निरुपप्लवो निर्बाधः शमसुखानुभवः शान्त्यानन्दानुभवः प्रतिघातिनीं सोपप्लवां विषयसङ्गरतिं शब्दाद्युपभोगरुचिमधरीचकार । विषयनिःस्पृहं चकारेत्यर्थः । उत्कृष्टसुखलाभस्य प्रकृष्टवैराग्यहेतुत्वादिति भावः ॥ २१ ॥

निष्कण्टक शान्ति-सुखोपभोग ने, पच्चीसों तत्त्वों का अवधारण रूप गुण के द्वारा उस अर्जुन की बुद्धि को काम-क्रोधादि दोषों से दूर हटाते हुए, विविध विघ्नशालिनी विषयवासनाऽभिरुचि को नीचा दिखला दिया ॥ २१ ॥

मनसा जपैः प्रणतिभिः प्रयतः समुपेयिवानधिपतिं स दिवः ।
सहजेतरौ जयशमौ दधती बिभराम्बभूव युगपन्महसी ॥ २२ ॥

मनसेति । प्रयतोऽहिंसादिनिरतो मनसा ध्यानेन जपैर्विशिष्टमन्त्राभ्यासैः प्रणतिभिर्नमस्कारैः । एवं मनोवाक्कायकर्मभिर्दिवोधिपतिमिन्द्रं समुपेयिवानुपसेदिवान्सोऽर्जुनः सहजेतरौ नैसर्गिकागन्तुकौ । जीयतेऽनेनेति जयो वीररसः । 'एरच्' इत्यच् । शम्यतेऽनेनेति शमः । जयशमौ वीरशान्तिरसौ दधती पुष्णती महसी तेजसी युगपद्बिभराम्बभूव बभार । 'भीह्रीभृहुवाम्—' इति विकल्पादाम्प्रत्ययः । अत्र युगपद्वीरशान्ताधिकरणत्वाभिधानादस्य लोकाद्भुतमहिमत्वं व्यज्यते ॥ २२ ॥

उस (अर्जुन) ने स्वर्ग के अधिपति (इन्द्र) की प्राप्ति के लिये जीवहिंसादिकों से विरत होकर ध्यानपूर्वक मन्त्रों का जप और नमस्कारों के द्वारा स्वभावसिद्ध वीर और शान्त रस रूप तेज, जो उनके पोषक थे, धारण किया । अर्थात् परस्पर विरुद्ध वीर और शान्त दोनों रसों का पुट अर्जुन को देखने से मिलता था ॥ २२ ॥

शिरसा हरिन्मणिनिभः स वहन्कृतजन्मनोऽभिषवणेन जटाः ।
उपमां ययावरुणदीधितिभिः परिमृष्टमूर्धनि तमालतरौ ।। २३ ।।

शिरसेति ।। हरिन्मणिनिभो मरकतमणिश्यामोऽभिषवणेन स्नानेन कृतजन्मनो जनिताः । अतः पिशङ्गीरिति भावः । जटाः शिरसा वहन्सोऽर्जुनोऽरुणस्यानूरोर्दीधितिभिः परिमृष्टमूर्धनि व्याप्तशिरसि तमालतरावुपमां तमालतरोः सादृश्यं ययावित्यार्थीयमुपमा । तरोरौपम्याधिकरणत्वात्तदपेक्षया सप्तमी ।। २३ ।।

मरकत मणि के तुल्य अर्जुन के शरीर का रङ्ग था । वे नियमानुकूल अभिषेक करने से पिङ्गल वर्ण की जटा धारण करते हुए उस तमालवृक्ष से उपमित होते थे, जिसके शिखाग्र पर अंशुमाली (सूर्य) की किरणें व्याप्त हो रही थीं ।। २३ ।।

नोटः—श्लोकाङ्क २५–२७ तक तपसिद्धि दिखलाई गई है । इन तीनों पद्यों में 'तपसा' पद तृतीयान्त कर्ता है, इसका कर्म 'सः' यह पद है जो अर्जुन के लिये आया है ।। २३ ।।

धृतहेतिरप्यधृतजिह्ममतिश्चरितैर्मुनीनधरयञ्शुचिभिः ।
रचयाञ्चकार विरजाः स मृगांकमिवेशते रमयितुं न गुणाः ।। २४ ।।

धृतेति । धृतहेतिर्धृतायुधोऽप्यधृता जिह्मा मतिः कुटिलमतिर्येन सः । शुचिभिश्चरितैर्मुनीनधरयंस्तिरस्कुर्वन् । वेषेणैव भीषणो न तु कर्मणेति भावः । कुतः । विरजा रजोगुणरहितः सोऽर्जुनो मृगान् रचयाञ्चकार रमयामास । 'रञ्जेर्णौ मृगरमणे नलोपो वक्तव्यः' इति नलोपः । तथाहि । गुणा दयादयः कमिव रमयितुं नेशते । कं वा वशीकर्तुं न शक्नुवन्तीति भावः । शुद्धिरेव हि परं विश्वासबीजं परस्य न वेषो नापि संस्तव इति भावः ।। २४ ।।

यद्यपि अर्जुन ने शस्त्रधारण किया था तथापि ये सरलस्वभाव थे । उन्होंने अपने शुद्ध आचरणों से ऋषियों को भी जीत लिया था तथा रजोगुणों से निर्मुक्त होकर हरिणों को रमण कराया क्योंकि दया-दाक्षिण्यादि गुण किसको अपने वश में नहीं ला सकते ।। २४ ।।

अथास्य त्रिभिस्तपःसिद्धिमाह—अनुकूलेत्यादिना ।।

अनुकूलपातिनमचण्डगतिं किरता सुगन्धिमभितः पवनम् ।
अवधीरितार्तवगुणं सुखतां नयता रुचां निचयमंशुमतः ।। २५ ।।

अनुकूलेति । अनुकूलपातिनं न तु प्रतिकूलपातिनमचण्डगतिं मन्दगामिनं सुगन्धिम् । गन्धस्यैकत्वे तदेकान्तग्रहणेऽपि कवीनां निरङ्कुशत्वात्समासान्तः । अथवा केचिदागन्तुकत्वेऽप्येकवचनेन समासान्तमिच्छन्ति । पवनमभितः किरता । प्रवर्तयतेत्यर्थः । ऋतुरस्य प्राप्त आर्तवः । 'ऋतोरण्' इत्यण्प्रत्ययः । स चासौ गुणस्तिग्म-

त्वरूपः सोऽवधीरितस्तिरस्कृतो यस्य तमंशुमतो रुचां निचयं सुखतां सुखस्पर्शतां नयता प्रापयता । नयतेर्द्विकर्मकत्वम् ॥ २५ ॥

तपश्चर्या ने अनुकूल, मन्द, सुगन्धियुत वायु को अर्जुन के समीप विकीर्ण कर दिया तपनांशु (सूर्य) की किरण-राशि को जिसकी ग्रीष्मकालीन प्रखरता तिरस्कृत हो गई थी, सुखी कर दिया ॥ २५ ॥

नवपल्लवाञ्जलिभृतः प्रचये बृहतस्तरून्गमयतावनतिम् ।
स्तृणता तृणैः प्रतिनिशं मृदुभिः शयनीयतामुपयतीं वसुधाम् ॥ २६ ॥

नवेति । प्रचये पुष्पावचयप्रसङ्गे नवपल्लवा एवाञ्जलयस्तान्बिभ्रतीतितथोक्तान्बृहत उच्चांस्तरूनवनतिं नम्रतां गमयता । 'गतिबुद्धि' इत्यादिना तरूणां कर्मत्वम् । प्रतिनिशं निशि शयनीयतामुपयतीम् । शयनस्थानभूतामित्यर्थः । वसुधां मृदुभिस्तृणैः स्तृणताच्छादयता ॥ २६ ॥

जिस (तप) ने अर्जुन के पुष्प-चयन काल में नूतन किसलयाञ्जलिधारी, बड़े-बड़े वृक्षों को अवनत बना दिया था (जिससे अर्जुन को पुष्प के लिये वृक्ष पर चढ़ना न पड़े) और प्रतिरात्रि शयन-स्थान की भूमि को तृणों से आच्छादित कर दिया था (अर्थात् शयन के लिये बिस्तर न होने पर भी कोमल तृण ही बिस्तर का काम कर रहे थे) ॥ २६ ॥

पतितैरपेतजलदान्नभसः पृषतैरपां शमयता च रजः ।
स दयालुनेव परिगाढकृशः परिचर्ययानुजगृहे तपसा ॥ २७ ॥

पतितैरिति । अपेतजलदान्निरभ्रान्नभसः पतितैरपां पृषतैर्जलबिन्दुभी रजश्च शमयता तपसा कर्त्रा दयालुनेवेत्युत्प्रेक्षा । दयालुत्वे हेतुं सूचयति—परिगाढः कृशोऽतिक्षीणः सोऽर्जुनः परिचर्ययोक्तविधया शुश्रूषयानुजगृहेऽनुगृहीतः । अनुग्रहोऽत्र सहकारित्वमेव सर्वभूतानुकूल्यलिङ्गात्पचेलिमं तपोऽस्येति भावः । अस्य श्लोकत्रयस्याप्येकवाक्यत्वादुत्प्रेक्षैव प्रधानालङ्कारः ॥ २७ ॥

जिस (तप) ने निरभ्र आकाश होते हुए भी जल-बिन्दुओं की वर्षा करके धूलि का शमन कर दिया था इस प्रकार की शुश्रूषा से दयालु व्यक्ति की तरह अत्यन्त दुर्बल अर्जुन को उसने अनुगृहीत किया ॥ २७ ॥

महते फलाय तदवेक्ष्य शिवं विकसन्निमित्तकुसुमं स पुरः ।
न जगाम विस्मयवशं वशिनां न निहन्ति धैर्यमनुभावगुणः ॥ २८ ॥

महत इति ॥ सोऽर्जुनो महते फलाय श्रेयसे सस्याय च विकसत्पूर्वोक्तं शिवं सुखदं तन्निमित्तमेव कुसुमं पुरोऽग्रेऽवेक्ष्य विस्मयवशं न जगाम । तथाहि । वशिनामनुभाव-

एव गुणः स च धैर्यं न निहन्ति। विस्मयादिविकारं न जनयतीत्यर्थः। जनने वा तपः क्षीयेत। 'तपः क्षरति विस्मयात्' इति स्मरणादिति भावः॥ २८॥

[बड़े-बड़े फल होने की आशा में पड़ा हुआ कृषक सुन्दर विकसित पुष्प को देख कर कभी-कभी आश्चर्य में पड़ जाता है।] परन्तु अर्जुन यद्यपि महती सिद्धि रूप फल के लिये उद्यत थे तथापि विकसित होते हुए कार्य्य-सिद्धि-निमित्त कुसुम रूप जो लक्षण दिखलाई पड़ते थे उससे उनके मन में रञ्च भी विस्मय न हुआ, क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुषों के अनुभव रूप गुण उन्हें धैर्य्य-च्युत नहीं करते॥ २८॥

तदभूरिवासरकृतं सुकृतैरुपलभ्य वैभवमनन्यभवम्।
उपतस्थुरास्थितविषादधियः शतयज्वनो वनचरा वसतिम्॥ २९॥

तदिति। सुकृतैस्तपोभिः करणैः अभूरिभिः कतिपयैरेव वासरैः कृतं तत्पूर्वोक्तं वैभवमतोऽन्यस्य न भवतीत्यनन्यभवम्। अन्यस्यासम्भवमितीत्यर्थः। पचाद्यजन्तोत्तर-पदेन नञ्समासः। उपलभ्य निश्चित्यास्थितविषादाः प्राप्तखेदाः धियो येषां ते वनचराः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति बहुलग्रहणाल्लुक्। शतेन शतस्य वा मखानां यज्वनः शतक्रतोः। अत्र सङ्ख्येयविशेषलाभो यजिसन्निधानादवगन्तव्यः। 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः। 'सुयजोङ्‌वनिप्'। वसतिमुपतस्थुः प्रापुः॥ २९॥

वनचरों ने देखा कि इने-गिने समयों में ही सुकृतों के सहारे जो ऐश्वर्य इन्हें (अर्जुन को) प्राप्त हुआ हैं वह किसी अन्य के लिये असम्भव है अतः वे खिन्न होकर शतक्रतु इन्द्र के निवासस्थान (अमरावती) में पहुँचे॥ २९॥

विदिताः प्रविश्य विहितानतयः शिथिलीकृतेऽधिकृत्यविधौ।
अनपेतकालमभिरामकथाः कथयाम्बभूवुरिति गोत्रभिदे॥ ३०॥

विदिता इति। वनचरा इत्यनुवर्तनीयम्। विदिता ज्ञाताः। अनुमतप्रवेशाः सन्त इत्यर्थः। प्रविश्य विहितानतयः कृतप्रणामा अधिकृतकृत्यस्य नियुक्तकर्मणः शैलरक्षणा-त्मकस्य विधावनुष्ठाने शिथिलीकृते सति। अनपेतकालमनतिक्रान्तकालं यथा तथा गोत्रभिदे शक्रायेति वक्ष्यमाणप्रकारेणाभिरामकथाः श्राव्यवाचः। 'चिन्तिपूजिकथि-कुम्बिचर्चश्च' इत्यङ्प्रत्ययः। कथयाम्बभूवुः॥ ३०॥

उन वनचरों ने अनुमति लेकर प्रवेश किया फिर हाथ जोड़ कर इन्द्रदेव को नमस्कार किया। वे शैल-रक्षण रूप कार्य्य छोड़ कर आये हुये थे अतः समय का अतिक्रम न करते हुए श्रवण-सुखद वचनों से इन्द्र को सूचित किया॥ ३०॥

शुचिवल्कवीततनुरन्यतमस्तिमिरच्छिदामिव गिरौ भवतः।
महते जयाय मघवन्ननघः पुरुषस्तपस्यति तपञ्जगतीम्॥ ३१॥

शुचीति ॥ शुचिना वल्केन वल्कलेन वीताच्छादिता तनुर्यस्य सः । तिमिरच्छिदां सूर्यादीनामन्यतम इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा । अनघः पुरुषः । मघवन्, भवतो गिरावि-न्द्रकीले जगतीं भुवं तपंस्तापयन्महते जयाय तपस्यति तपश्चरति । 'कर्मणो रोमन्थ' इत्यादिना क्यङि लट् ॥ ३१ ॥

(वनवासियों ने कहा) ऐ महाराज इन्द्र ! एक पुरुष आपके पर्वत (इन्द्रकील) पर वसुधा को तपाता हुआ महान् विजय-लाभ के लिये तपस्साधन कर रहा हैं। वह सर्वथा निष्पाप है। उसका शरीर स्वच्छ भूर्जपत्र से आच्छादित है और अन्धकार-निवर्तनक्षम तेजधारियों में से एक वह भी मालूम पड़ता है ॥ ३१ ॥

जयाय तपस्यतीत्युक्तम् । तत्र हेतुमाहुः —

स बिभर्ति भीषणभुजङ्गभुजः पृथु विद्विषां भयविधायि धनुः ।
अमलेन तस्य धृतसच्चरिताश्चरितेन चातिशयिता मुनयः ॥ ३२ ॥

स इति । भीषयेते इति भीषणौ । नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः । तौ च तौ भुजङ्गौ च ताविव भुजौ यस्य स तथोक्तः । पुरुषो विद्विषां भयविधायि पृथु धनुर्बिभर्ति । अतो जयार्थीत्यर्थः । अमलेन तस्य पुरुषस्य चरितेन धृतानि सच्चरितानि यैस्ते मुनयोऽतिशयिता अतिक्रान्ताः ॥ ३२ ॥

उस (तपस्वी) की भुजायें भयङ्कर सर्प के समान हैं। शत्रुओं को त्रासदायक एक महान् धनुष भी उसके पास है। उसके शुद्धाचरण से सच्चरित्रता-युक्त ऋषि भी जीत लिये गये हैं ॥ ३२ ॥

अथास्य तपःसिद्धिं वर्णयति—

मरुतः शिवा नवतृणा जगती विमलं नभो रजसि वृष्टिरपाम् ।
गुणसम्पदानुगुणतां गमितः कुरुतेऽस्य भक्तिमिव भूतगणः ॥ ३३ ॥

मरुत इत्यादिना ॥ मरुतो वाताः शिवाः सुखाः । जगती पृथ्वी नवतृणा । शय-नासनाद्यनुकूलेत्यर्थः । नभो विमलं नीहारादिरहितम् । रजसि सत्यपां वृष्टिर्भवतीति शेषः । किं बहुना । अस्य पुरुषस्य गुणसम्पदा भूतहितादिगुणसम्पत्त्या अनुगुणता-मनुकूलतां गमितः । वशीकृत इत्यर्थः । भूतगणः पृथिव्यादिपञ्चकं भक्तिं सेवां कुरुत इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३३ ॥

और कहाँ तक कहें पञ्च महाभूत भी उसके दास बन गये हैं सुनिये—पवन देव अनुकूल होकर सुखकर हो गये हैं। भूमि हरे-भरे तृण से आच्छादित हो गई है (जिससे उसे विस्तर की भी आवश्यकता नहीं है) आकाश विना बादल के ही धूलि शान्त करनेके लिये वृष्टि कर देता है। उस पुरुष ने जीवों के ऊपर दया दाक्षिण्यादि रूप अपनी गुण-सम्पत्ति से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पञ्च महाभूतों को अपने अनुकूल बना लिया है अतः ये उसके वश होकर उसकी सेवा करते हुये की तरह मालूम पड़ते हैं ॥ ३३ ॥

इतरेतरानभिभवेन मृगास्तमुपासते गुरुमिवान्तसदः ।
विनमन्ति चास्य तरवः प्रचये परवान्स तेन भवतेव नगः ॥ ३४ ॥

इतरेतरेति ॥ किं च । मृगाः पशवस्तम् । अन्तेऽन्तिके सीदन्तीत्यन्तसदोऽन्तेवासिनः । 'सत्सूद्विष–' इति क्विप् । गुरुमिवेतरेतरेषामनभिभवेनाद्रोहेणोपासते सेवन्ते । प्रचये पुष्पावचये तरवोऽस्य विनमन्ति । करप्रचेया भवन्तीत्यर्थः । तस्येति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । किं बहुना । स नग इन्द्रकीलो भवतेव तेन पुरुषेण परवान्पराधीनः । सात्त्विकस्यापि तवैव तस्यातिशयो वर्तत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

और क्या कहें महाराज ! परस्पर द्रोह बुद्धि रखनेवाले वन्य पशु भी उसकी सेवा करते हैं :—
परस्पर वैमनस्य का परित्याग करके पशु वर्ग उसकी सेवा करता हैं जैसे विद्यार्थी लोग अपने गुरु की सेवा करते हैं । जब उसे फूलों की आवश्यकता पड़ती है तब वहाँ के वृक्ष उसके सामने झुक जाते हैं । इन्द्रकील आज तक आपके अधीन था अब वह उसके अधीन हो गया-सा प्रतीत होता है ॥ ३४ ॥

उरु सत्त्वमाह विपरिश्रमता परमं वपुः प्रथयतीव जयम् ।
शमिनोऽपि तस्य नवसङ्गमने विभुतानुषङ्गि भयमेति जनः ॥ ३५ ॥

उर्विति ॥ किं च । विपरिश्रमतायासेऽपि श्रमराहित्यमुरु महत्सत्त्वमन्तःसारमाह । दुर्बलस्य श्रमजयासम्भवादिति भावः । परममुत्तमं वपुर्जयं प्रथयतीव । आकारेणैव जिष्णुत्वं गम्यत इत्यर्थः । शमिनः शान्तस्यापि तस्य नवसङ्गमनेऽपूर्वप्राप्तौ जनो विभुतायाः प्रभावस्यानुषङ्गि व्यापकम् । न तु हिंसकत्वानुषङ्गीति भावः । भयमेति । शान्तोद्भवं प्रभावं गमयतीति भावः ॥ ३५ ॥

थोड़ा उसके बल पौरुष का भी अनुमान कर लीजिये :—उसे परिश्रम के कार्य में लेशमात्र भी थकावट नहीं आती इसीसे उसके बल का अनुमान किया जाता है । उसके विशाल आकार के देखने से मालूम पड़ता है कि वह बड़ा विजयी पुरुष है । यद्यपि वह शम का अवलम्बन करता है तथापि जब कभी किसी से उसका प्रथम समागम होता है उस समय उस व्यक्ति को उसकी विभुता से भय उत्पन्न हो जाता है ॥ ३५ ॥

अथेदृशोऽसौ क इति चेत्तन्न विद्म इत्याहुः—

ऋषिवंशजः स यदि दैत्यकुले यदि वान्वये महति भूमिभृताम् ।
चरतस्तपस्तव वनेषु सहा न वयं निरूपयितुमस्य गतिम् ॥ ३६ ॥

ऋषीति । स पुरुषः । ऋषिवंशजो, वेति शेषः । काकुर्वा । यदि वा दैत्यकुले । जात इति शेषः । यदि वा महति भूमिभृतामन्वये जातः । तव वनेषु तपश्चरतोऽस्य गतिं स्वरूपं निरूपयितुं वयम् । सहन्त इति सहाः । पचाद्यच् । न सहाः स्म इति शेषः ॥

हम लोग यह भी अनुमान नहीं कर सकते कि वह देवता है, या दैत्य है, अथवा कोई राजा है :—उसने ऋषि-कुल में जन्म लिया है अथवा किसी भूमिपाल के उच्च वंश में जन्म लिया हैं ? आपके वन में वह तपःसाधन कर रहा है हम लोग उसके भेद जानने में सर्वथा असमर्थ हैं ॥ ३६ ॥

अपृष्टपरिभाषणापराधं परिहरन्ति—

विगणय्य कारणमनेकगुणं निजयाऽथवा कथितमल्पतया ।
असदप्यदः सहितुमर्हसि नः क्व वनेचराः क्व निपुणा यतयः ॥ ३७ ॥

विगणय्येति ॥ अनेकगुणं बहुफलम् । इन्द्रत्वाद्यनेकफलसाधकत्वेन योग्यमित्यर्थः । कारणं तपोरूपं विगणय्य विचार्य । अथवा निजया नैसर्गिक्याल्पतया बालिश्येनाज्ञानत्वेन वा कथितं नोऽस्माकमद इदम् । वचनमित्यर्थः । असदसाध्वपि सहितुं सोढुम् । 'तीषसह—' इत्यादिना विकल्पादिडागमः । अर्हसि योग्योऽसि । तर्हि सदैव किं नोक्तं तत्राहुः—वनेचराः क्व । निपुणा यतयो विवेकबुद्धयः क्व । नोभयं सङ्गच्छत इत्यर्थः । अज्ञानं नापराध्यतीति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ३७ ॥

उसके तपश्चर्य्या करने का क्या प्रयोजन है ? इसका हम लोगों ने अनेक प्रकार से अनुमान करके अथवा अपनी अज्ञता से जो यह बात, चाहे अनुचित भले ही हो, कहा हैं आप उसे क्षमा करने के योग्य हैं । जंगली जातियों की बुद्धि कहाँ और कुशल-मति तपस्वी कहाँ (दोनों में बहुत अन्तर है) ॥ ३७ ॥

अधिगम्य गुह्यकगणादिति तन्मनसः प्रियं प्रियसुतस्य तपः ।
निजुगोप हर्षमुदितं मघवा नयवर्त्मगाः प्रभवतां हि धियः ॥ ३८ ॥

अधिगम्येति । मघवेन्द्र इति पूर्वोक्तं गुह्यकगणात्तन्मनसः प्रियं प्रियसुतस्यार्जुनस्य तपोऽधिगम्य ज्ञात्वा । गुप्त्यपेक्षया समानकर्तृकत्वात् क्त्वानिर्देशः । उदितं तत्तपसो देवकार्यार्थत्वादुत्पन्नं हर्षं निजुगोप गोपयामास । तथा हि । प्रभवतां प्रभूणां धियो नयवर्त्मगा नीतिमार्गानुसारिण्यो हि । अन्यथा मन्त्रभेदे कार्यहानिः स्यादिति भावः ॥ ३८ ॥

सुरेन्द्र ने अपने प्रिय पुत्र अर्जुन के हृदयानन्दकर तपस्साधन की बात गुह्यकों (वनेचरों) के मुख से सुनकर, उत्पन्न होने वाले हर्षातिरेक को छिपा लिया (किसी को विदित होने न दिया) क्योंकि बड़े लोगों की बुद्धि सर्वदा नीतिपथावलम्बिनी होती हैं ॥ ३८ ॥

प्रणिधाय चित्तमथ भक्ततया विदितेऽप्यपूर्व इव तत्र हरिः ।
उपलब्धुमस्य नियमस्थिरतां सुरसुन्दरीरिति वचोऽभिदधे ॥ ३९ ॥

प्रणिधायेति ॥ अथ हरिरिन्द्रश्चित्तं प्रणिधाय विषयान्तरपरिहारेणात्मन्यवस्थाप्य तत्र तस्मिन्नर्जुने भक्त्या विदिते सत्यपि । उपलक्षणे तृतीया । अपूर्व इव । अविदित इवेत्यर्थः । 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति विकल्पान्न स्मिन्नादेशः । अस्यार्जुनस्य नियमस्थिरतां दार्ढ्यमुपलब्धुम् । परीक्षितुमित्यर्थः । लोकप्रतीत्यर्थमिति भावः । सुरसुन्दरीरिति वक्ष्यमाणप्रकारं वचोऽभिदधे ॥ ३९ ॥

यद्यपि उन्होंने समाधिस्थ होकर देखा तो अर्जुन को अपना अनन्य भक्त पाया तथापि अपरिचित की भाँति तपस्या में दृढ संकल्प की परीक्षा के लिये अमरांगनाओं से कहा—॥३९॥

सुकुमारमेकमणु मर्मभिदामतिदूरगं युतममोघतया ।
अविपक्षमस्त्रमपरं कतमद्विजयाय यूयमिव चित्तभुवः ॥ ४० ॥

सुकुमारमिति । मर्मभिदां मर्मच्छेदिनाम् । अस्त्रान्तराणां मध्य इत्यर्थः । 'यतश्च निर्धारणम्' इति षष्ठी । अपरमन्यत्कतमत् । 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' । यूयमिव सुकुमारं कोमलं न तु कठिनम् । अन्यत्तु कठिनं भवति । तथैकं न बहु । तत्त्वमेकं भवति । तथाणु सूक्ष्मं न स्थूलम् । अलक्ष्यलक्ष्यप्रवेशित्वादिति भावः । यत्तु लक्ष्यलक्ष्यप्रवेशि । तत्तु समीपलक्ष्यभेदि । तथातिदूरगं दूरलक्ष्यभेदि, तथाऽमोघतयाऽमोघत्वगुणेन युतं युक्तम् । न कदाचिद्व्यभिचरतीति भावः । अन्यत्तु कदाचिदपि लक्ष्यादपराध्यति । तथाऽविपक्षमसत्प्रतीकारम् । अन्यत्तु विद्यमानप्रतीकारम् । चित्तभुवः कामस्य । कर्तरि षष्ठी । विजयाय । एतद्विशेषणविशिष्टमस्त्रमस्तीति शेषः । न किंचिदस्तीत्यर्थः । अत्रोपमालङ्कारः । साभिप्रायविशेषणत्वात्परिकरालङ्कारश्च । तयोरुभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ४० ॥

और शस्त्रों की अपेक्षा कामदेव के बाण की महत्ता बहुत अंशों में बढ़ी-चढ़ी है क्योंकि— सुरसुन्दरियाँ, मनोभव का अस्त्र आप लोगों की तरह सुकुमार है (और अस्त्र तो ऐसे कभी नहीं देखने में आये क्योंकि वे सर्वथा कठिन होते हैं) मर्मस्पर्शी अस्त्रों में से यह एक है। और अस्त्रों की तरह आकार में बहुत बड़ा नहीं है बिल्कुल अणु है। और प्रकार के अस्त्र तो लक्ष्य के दूर होने पर कदाचित् विफल भी हो सकते हैं, परन्तु यह तो अमोघ है। और अस्त्र से रक्षा के लिए बहुत से साधन वर्तमान हैं, परन्तु इससे (कामदेव के बाण से) बचने का कोई उपाय ही नहीं है। (अब आप ही लोग बतलाइये कि) विजय प्राप्ति के लिये इससे बढ़कर दूसरा और कौन अस्त्र हो ही सकता है ? ॥ ४० ॥

असामर्थ्यशङ्कां परिहरति—

भववीतये हतबृहत्तमसामवबोधवारि रजसः शमनम् ।
परिपीयमाणमिव वोऽसकलैरवसादमेति नयनाञ्जलिभिः ॥ ४१ ॥

भवेति ॥ भववीतये संसारनिवृत्तये हतवृहत्तमसां निरस्तमहामोहानां योगिनां संबन्धि रजो गुणः । रजो धूलिरिति श्लिष्टरूपकम् । तस्य शमनं निवर्तकमवबोधस्तत्त्वज्ञानमेव वारि तद्वो युष्माकमसकलैरसमग्रैर्नयनान्येवाञ्जलयस्तैः परिपीयमाणमिवेत्युत्प्रेक्षा । अवसादं क्षयमेति । मुक्तानपि बध्नन्तीनां वः कथमसामर्थ्यमिति भावः । अत्रोत्प्रेक्षारूपकयोः सङ्करः ॥ ४१ ॥

आप लोग सर्वथा इस बात को भूल जायँ कि आप लोग तपस्वियों के समक्ष कुछ नहीं कर सकतीं क्योंकि :—

जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए काम, क्रोध, मोह, मदादि, महामोह से पराङ्मुख मुनियों का तत्त्वज्ञान जो रजोगुण का विनाशक है, तथा जल रूप है (जल से रजः = धूलि शान्त हो जाती हैं) उसे आप लोग अपने सम्पूर्ण नेत्ररूपी अञ्जलियों से मानो पान कर चुकीं और वह आशु क्षीण हो जायगा ॥ ४१ ॥

बहुधा गतां जगति भूतसृजा कमनीयतां समभिहृत्य पुरा ।
उपपादिता विदधता भवतीः सुरसद्मयानसुमुखी जनता ॥ ४२ ॥

बहुधेति ॥ किं च । पुरा जगति बहुधा गतां नानामुखेन विप्रकीर्णां कमनीयतां चन्द्राद्युपमानद्रव्यगतलावण्यं समभिहृत्य संगृह्य भवतीर्विदधता सृजता भूतसृजा ब्रह्मणा जनता जनसमूहः । 'ग्रामजन–' इत्यादिना तल् । सुरसद्मयानसुमुखी स्वर्लोकयात्राप्रवणोपपादिता कृता । स्वर्गस्यापि यत्प्रसादात्सर्वलोकश्लाघ्यत्वम्, तासां वः कथमसामर्थ्यमिति भावः । अत्राप्सरसां प्रकीर्णलावण्यसंग्रहासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः ॥ ४२ ॥

आप लोग यह कह सकती हैं कि जिस पञ्च महाभूत से और शरीरों की रचना होती है उसी से हमलोगों की भी रचना हुई है फिर हमलोग कोमल और सुन्दर कैसे हो गईं ? परन्तु यह बात नहीं है उसमें कारण दूसरा है :—

जब ब्रह्मदेव आप लोगों का निर्माण करने के लिये उद्यत हुए तब उन्होंने संसार भर की कमनीयता (कोमलता) जो इधर-उधर बिखरी हुई कहीं चन्द्रमा में थी, कहीं कमलों में थी, अथवा ऐसी ही बहुत सी जगहों में थी, उसे पहले एकत्रित करके आप लोगों की रचना की है यही कारण है कि जनता स्वर्लोक की प्राप्ति के लिये लालायित रहती है ॥ ४२ ॥

अथ कार्यांशमाह—

तदुपेत्य विघ्नयत तस्य तपः कृतिभिः कलासु सहिताः सचिवैः ।
हृतवीतरागमनसां ननु वः सुखसङ्गिनं प्रति सुखावजितिः ॥ ४३ ॥

तदिति ॥ तत्तस्मात्समर्थत्वात्कलासु गीतवाद्यादिषु कृतिभिः कुशलैः सचिवैर्गं-

न्धर्वैः सहिता उपेत्य गत्वा तस्य तपो विघ्नयत विघ्नवत्कुरुत । विहतेत्यर्थः । विघ्नवच्छब्दान्मत्वन्तात् 'तत्करोति–' इति णिचि लोट् । णाविष्ठवद्भावान्मतुपो लुक् । न चात्रासामर्थ्यशङ्का कार्येत्यर्थान्तरन्यासेनाह—हृतेति । ननु सम्बोधने । हे अप्सरसः, हृतानि वशीकृतानि वीतरागाणां निःस्पृहाणां मुमुक्षूणां मनांसि चित्तानि याभिस्तासां वो युष्माकमप्सरसां सुखसङ्गिनं पुरुषं प्रति सुखाभिलाषिणं प्रत्यवजिति-विजयः सुखा सुखसाध्या न तु दुष्करा खलु । एतेनायं सुखार्थी न मुमुक्षुरित्युक्तम् । अर्थान्तरन्यासः ॥ ४३ ॥

क्या आप लोग इस बात को समझ गईं कि आप लोगों की इतनी प्रशंसा क्यों की गई कदाचित् आप लोग अपने-अपने विचारों से अनेक प्रकार के कार्यों का अनुमान करेंगीं इस लिये मैं आप लोगों को स्वयं वतलाये देता हूँ सुनिये :—आप लोग वादन कलाओं में कुशल गन्धर्वों को साथ लेकर इन्द्रकील गिरि पर जायँ (जहाँ एक पुरुष तपश्चर्या कर रहा है) और उस पुरुष की तपश्चर्या को भ्रष्ट करें । आप लोग तो मुमुक्षुओं के चित्त को भी आकर्षित कर लेती हैं अतः सुखाभिलाषी पुरुष तो आसानी से वश में आ सकता है ॥ ४३ ॥

अथ सुखसङ्गित्वलिङ्गमाह—

अविमृष्यमेतदभिलष्यति स द्विषतां वधेन विषयाभिरतिम् ।
भववीतये न हि तथा स विधिः क शरासनं क च विमुक्तिपथः ॥ ४४ ॥

अविमृष्यमिति ॥ हे अप्सरसः, स पुरुषो द्विषतां शत्रूणां वधेन शत्रुहननद्वारा विषयाभिरतिं विषयसुखमभिलष्यति वाञ्छति । 'वा भ्राश–' इत्यादिना श्यन्प्रत्ययः । एतद्विषयासक्तत्वमविमृष्यमविचार्यम् । अविमृष्यमसंदिग्धव्यमिति । 'ऋदुपधाच्चा-क्लृपिचृतेः' इति क्यप् । भवतीभिर्न संदिग्धव्यमित्यर्थः । हि यस्मात्स विधिः 'स बिभर्ति भीषणभुजङ्गभुजः' इत्यादिश्लोकोक्तोऽनुष्ठानप्रकारो भववीतये संसारमुक्तये न भवति । कुत इत्याह–शरासनं धनुः क्व, विमुक्तेः पन्थाश्च क्व । द्वयं परस्परं विरुद्ध-मित्यर्थः । न खलु हिंसासाध्या मुक्तिरिति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ४४ ॥

आप लोग यह भी नहीं कह सकतीं कि वह सुखार्थी नहीं है यदि है तो आपने (इन्द्र ने), कैसे जाना ? मैं इसे भी आप लोगों से बतला रहा हूँ थोड़ा ध्यान दीजिये :—वह तपस्वी शत्रु का विच्छेद कर के विषय-सुख की अभिलाषा करता है । वह 'विषयासक्त नहीं है इसकी शङ्का ही दूर रखनी चाहिये क्योंकि मुक्ति की कामना करने वालों के लिये इस तरह का तपस्साधन किस लिये हो सकता है । धनुष कहाँ और मुक्ति का मार्ग कहाँ (अर्थात् वह सशस्त्र तपश्चरण कर रहा है और मुक्तिमार्ग में अस्त्र की आवश्यकता नहीं है) इससे विदित होता है कि वह मुमुक्षु नहीं है ॥ ४४ ॥

न च शापभयमपि सम्भाव्यमस्मादित्याह—

पृथुधाम्नि तत्र परिबोधि च मा भवतीभिरन्यमुनिवद्विकृतिः ।
स्वयशांसि विक्रमवतामवतां न वधूष्वघानि विमृषन्ति धियः ॥ ४५ ॥

पृथ्विति ॥ पृथुधाम्नि महातेजसि तत्र तस्मिन्पुरुषविषयेऽन्यमुनिवदन्यस्मिन्मुनाविव । 'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्ययः । विकृतिः कोपविकारश्च भवतीभिर्मापरिबोधि मा विज्ञायि । मा शङ्कीति यावत् । बुध्यतेः कर्मणि लुङ् । माङ्योगादाशीरर्थेऽडागमाभावश्च । तथा हि—स्वयशांस्यवतां रक्षताम् । यशोधनानामित्यर्थः । विक्रमवतां धियश्चित्तानि वधूषु स्त्रीविषयेष्वघानि व्यसनानि । 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इति वैजयन्ती । न विमृषन्ति । अर्थान्तरन्यासः । स्त्रीहिंसायाः शूराणां यशोहानिकरत्वान्न सर्वथा वो हिनस्ति स इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

सम्भव है आप लोग शाप से डरती हों किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि :—यद्यपि वह महातेजस्वी है तथापि अन्य ऋषियों की तरह उसमें कोप-विकार का भी आप लोग ख्याल न करें क्योंकि जो पराक्रमशील पुरुष हैं और अपने यश की रक्षा करते हैं वे स्त्रियों के प्रति हिंसा-बुद्धि नहीं रखते ॥ ४५ ॥

आशंसितापचितिचारु पुरः सुराणामादेशमित्यभिमुखं समवाप्य भर्तुः ।
लेभे परां द्युतिममर्त्यवधूसमूहः सम्भावना ह्यधिकृतस्य तनोति तेजः ॥

आशंसितेति ॥ अमर्त्यवधूसमूहोऽप्सरसां गणः सुराणां पुरोऽग्र आशंसितापचितिभिरपेक्षितसम्भावनाभिश्चारु यथा तथा । 'क्षयार्चयोरपचितिः' इत्यमरः । अभिः मुखं समक्षं भर्तुः स्वामिन इति पूर्वोक्तमादेशं नियोगं समवाप्य परां द्युतिं लेभे । तथा हि । अधिकृतस्य क्वचिदधिकारे नियुक्तस्य सम्भावना स्वामिकृता पूजा तेजः कान्ति तनोति ॥ ४६ ॥

अमर-ललनाओं का समूह स्वामी के आदेश को मान कर देवताओं के समक्ष, पूर्वोक्त प्रकार की प्रशंसा से अधिक सुन्दर कान्ति को प्राप्त हुआ क्योंकि किसी अधिकार में लगाये गये पुरुष की यदि प्रशंसा की जाय तो उसके तेज की अभिवृद्धि होती है ॥ ४६ ॥

प्रणतिमथ विधाय प्रस्थिताः सद्मनस्ताः
स्तनभरनमिताङ्गीरङ्गनाः प्रीतिभाजः ।
अचलनलिनलक्ष्मीहारि नालं बभूव
स्तिमितममरभर्तुर्द्रष्टुमक्ष्णां सहस्रम् ॥ ४७ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये षष्ठः सर्गः ।

प्रणतिमिति ॥ अथ प्रणतिं विधाय सद्मन इन्द्रभवनात्प्रस्थिताः प्रचलिताः स्तनभरैर्नमितान्यङ्गानि यासां ताः । 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्' इति ङीष् ।

प्रीतिभाजः स्वामिसम्भावनया सन्तुष्टास्ता अङ्गना अचलनलिनानां स्थिरकमलानां लक्ष्मीर्हरतीति तत्तथोक्तम् । तद्वन्मनोहरमित्यर्थः । कुतः । स्तिमितं विस्मयनिश्चलममरभर्तुरक्ष्णां सहस्रं कर्तृ द्रष्टुमलं समर्थं न बभूव । तासां सौन्दर्यसागरस्योद्वेलत्वादिति भावः । अत्रोपमालङ्कारः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां षष्ठः सर्गः समाप्तः ।

ये अप्सरायें इन्द्र को प्रणाम कर घर से चल दीं । वे (पीवर) स्तनों के भार से झुकी हुई थीं । स्वामी की सम्भावना से वे खूब तृप्त हो चुकी थीं । उनके सौन्दर्य को अविचल कमल की शोभा अपहरण करने वाले सुरराज के सहस्रों नेत्र भी टकटकी बाँधकर देखने में समर्थ न हो सके अर्थात् हजार आँखें भी उन ललनाओं के सौन्दर्य देखने के लिये जहाँ कहीं पड़तीं, वे वहाँ की शोभा देखने से तृप्त नहीं होती थीं ॥ ४७ ॥

इति षष्ठ सर्ग ।

सप्तमः सर्गः

श्रीमद्भिः सरथगजैः सुराङ्गनानां गुप्तानामथ सचिवैस्त्रिलोकभर्तुः ।
संमूर्च्छन्नलघुविमानरन्ध्रभिन्नः प्रस्थानं समभिदधे मृदङ्गनादः ॥ १ ॥

श्रीमद्भिरिति ॥ अथ प्रस्थानानन्तरं श्रीमद्भिः शोभावद्भिः । सह रथगजेन सरथगजास्तैः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । त्रयाणां लोकानां भर्तुस्त्रिलोकभर्तुरिन्द्रस्य । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिनोत्तरपदसमासः । सचिवैर्गन्धर्वैर्गुप्तानां सुराङ्गनानां प्रस्थानं गमनमलघुषु महत्सु-विमानरन्ध्रेषु विमानानां कुक्षिकुहरेषु भिन्नप्रतिध्वानैरनेकीभूतोऽत एव संमूर्च्छन्व्याप्नुवन्मृदङ्गनादः समभिदधे आचख्यौ । पौरेभ्य इति शेषः । अस्मिन्सर्गे प्रहर्षिणीवृत्तम्—'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

त्रिलोकेश (इन्द्र) की अप्सरायें, सुन्दर-सुन्दर रथ और हाथियों के साथ गन्धर्वों से सुरक्षित होकर प्रस्थान कीं । उसकी सूचना मृगङ्ग-घोष ने दिया जो (मृदङ्ग-घोष) विमानों के बड़े-बड़े झरोखों से प्रतिध्वनित होने के कारण अनेक होकर सर्वत्र व्याप्त हो गया था ॥ १ ॥

सोत्कण्ठैरमरगणैरनुप्रकीर्णान्निर्याय ज्वलितरुचः पुरान्मघोनः ।
रामाणामुपरि विवस्वतः स्थितानां नासेदे चरितगुणत्वमातपत्रैः ॥ २ ॥

सोत्कण्ठैरिति ॥ सोत्कण्ठैः । अवेक्षणोत्सुकैरित्यर्थः । अमरगणैरनुप्रकीर्णादाकीर्णाज्ज्वलितरुचो दीप्तप्रभान्मघोन इन्द्रस्य पुरादमरावत्या निर्याय निर्गत्य । यातेः क्त्वो ल्यप् । विवस्वत उपरि स्थितानां रामाणाम् । आतपात्त्रायन्त इत्यातपत्रैः । 'सुपि—' इति योगविभागात्कप्रत्ययः । चरितगुणत्वं सार्थकत्वं नासेदे न प्राप । तासां सूर्योपरिस्थितत्वादातपासम्भवादिति भावः ॥ २ ॥

उनके प्रस्थान की सूचना पाते ही अमरावती में इधर-उधर देवता लोग उत्कण्ठित हो घूमने लगे । उस समय इन्द्रपुरी का प्रभाव बढ़ गया था । वहाँ से सुरवनितायें चल कर जब सूर्यमण्डल के ऊपर पहुँच गईं, तब वहाँ उनके आतपत्र (छाते) व्यर्थ हो गये कारण यह है कि सूर्य की किरणें तो सीधे पृथ्वी की ओर पड़ती हैं; अतः सूर्यमण्डल के ऊपर उनके चले जाने के कारण उनपर किरणें नहीं पड़ती थीं अतः जिनका अर्थ है—आतप = धूप त्र = रक्षा करना, धूप से रक्षा करना वे उनके छाते व्यर्थ ही हो रहे थे, क्योंकि जिससे रक्षा करना उस वस्तु का अभाव ही था तो फिर रक्षा किससे ? ॥ २ ॥

धूतानामभिमुखपातिभिः समीरैरायासादविशदलोचनोत्पलानाम् ।
आनिन्ये मदजनितां श्रियं वधूनामुष्णांशुद्युतिजनितः कपोलरागः ॥ ३ ॥

धूतानामिति ॥ अभिमुखपातिभिः समीरैः प्रतिकूलवायुभिर्धूतानामिति दुर्निमित्तसूचनम् । आयासाद्गतिप्रयासादविशदलोचनोत्पलानां वधूनामुष्णांशुद्युतिजनित आतपकृतः कपोलानां रागः पाटलत्वम् । मदेन जनितां श्रियम् । तत्सदृशीं श्रियमित्यर्थः । अत एव निदर्शनालङ्कारः । आनिन्य आनीतवान् वधूरिति शेषः । आङ्पूर्वान्नयतेः कर्तरि लिट् । अकारानुबन्धत्वादात्मनेपदम् ॥ ३ ॥

(मार्ग में) प्रतिकूल वायु के कारण उनके (सुर-ललनाओं) के अङ्ग शिथिल हो गये । मार्गजनित श्रमके कारण उनके नेत्र कमल भी मुरझाये हुए थे । (परिश्रम के कारण जो उनके कपोल की अरुणिमा नष्ट हो गई थी) वह कपोल की लालिमा, जो सूर्य की किरणों से फिर लौट आई थी, उन अमर ललनाओं को मदों से उत्पन्न शोभा को पहले की भाँति कर दिया ॥ ३ ॥

तिष्ठद्भिः कथमपि देवतानुभावादाकृष्टैः प्रजविभिरायतं तुरङ्गैः ।
नेमीनामसति विवर्तने रथौघैरासेदे वियति विमानवत्प्रवृत्तिः ॥ ४ ॥

तिष्ठद्भिरिति ॥ कथमपि बाढम् । 'कथमादि तथाप्यन्ते यत्ने गौरवबाढयोः' इति वैजयन्ती । देवतानामनुभावात्तिष्ठद्भिः । अपतद्भिरित्यर्थः । रथविशेषणमेतत् । प्रजविभिर्वेगवद्भिस्तुरङ्गैरायतं दूरमाकृष्टे रथौघैर्वियत्याकाशे नेमीनां चक्रधाराणाम् । 'चक्रधारा प्रधिर्नेमिः' इति यादवः । विवर्तने भ्रमणेऽसति विमानवद्वि-

मानानामिवेत्युपमा । 'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्ययः । प्रवृत्तिर्गतिरासेदे प्राप्ता । सदेः कर्मणि लिट् ॥ ४ ॥

सुर-बालाओं के रथ-समूह देवताओं के प्रभाव से आकाश-मण्डल से टिके हुए थे। अत्यन्त वेगशाली अश्व उनका सञ्चालन करते थे। निराधार होने के कारण उनके चक्र की भ्रान्ति रुक गई थी जिससे वे अन्तरिक्ष में जाते हुए साक्षात् विमान बन गये थे ॥ ४ ॥

कान्तानां कृतपुलकः स्तनाङ्गरागे वक्त्रेषु च्युततिलकेषु मौक्तिकाभः ।
सम्पेदे श्रमसलिलोद्गमो विभूषां रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति ॥ ५ ॥

कान्तानामिति । कान्तानां स्तनानामङ्गरागे कृतपुलको जनितोद्भेदः । कृतरोमाञ्च इत्यर्थः । च्युताः प्रमृष्टास्तिलका येषां तेषु वक्त्रेषु मौक्तिकाभः श्रमसलिलोद्गमः स्वेदोद्भेदो विभूषां भूषणं सम्पेदे सम्पन्नः । कर्तरि लिट् । तथाहि । रम्याणां स्वभावसुन्दराणां विकृतिरपि श्रियं तनोति । अतः स्वेदस्यापि विभूषणत्वमुपपद्यत इति भावः ॥ ५ ॥

देव वधूटियों के श्रम-जलकण ने उनके स्तनों को रोमाञ्चित कर दिया था। उससे उनके भाल के तिलक भी मिट रहे थे। वे मोती की तरह झलक रहे थे। उस समय वे (श्रम कण) उनके अलङ्कार का कार्य कर रहे थे। क्योंकि स्वाभाविक मनोरम वस्तुओं में यदि कोई विकृति उत्पन्न हो जाय तो उससे उनकी शोभा ही होती है ॥ ५ ॥

राजद्भिः पथि मरुतामभिन्नरूपैरुल्कार्चिःस्फुटगतिभिर्ध्वजांशुकानाम् ।
तेजोभिः कनकनिकाषराजिगौरैरायामः क्रियत इव स्म सातिरेकः ॥ ६ ॥

राजद्भिरिति । मरुतां पथ्याकाशे राजद्भिर्दीप्यमानैरभिन्नरूपैरविच्छिन्नाकारैरत एवोल्कानामर्चींषीव स्फुटगतीनि दीप्तमार्गाणि येषां तैः । कनकस्य निकाषः कषणं तस्य राजी रेखा तद्वद्गौरैररुणैः । 'गौरैः पीतेऽरुणे श्वेते' इति विश्वः । ध्वजांशुकानां तेजोभिः पताकाकान्तिभिरायामस्तेषामेव दैर्घ्यं सातिरेकः सातिशयः क्रियते स्मेव कृत इव । दीर्घा ध्वजपटाः स्वतेजःप्रसारेण दीर्घतमा इव लक्ष्यन्त इवेत्युत्प्रेक्षा । सा चोल्काद्युपमानुप्राणिता ॥ ६ ॥

विमानस्थ पताकाओं के वस्त्रों की दीप्तियाँ नील नभ में सुशोभित हो रही थी। सबों के आकार एक से थे। तारों की गति सदृश उनकी भी गति व्यक्त थी। वे कसौटी पर घिसी हुई सुवर्ण-रेखा के सदृश अरुण वर्ण की थीं। वे (पताकाओं की कान्तियाँ) उन पताकाओं के वस्त्रों की लम्बान और चौड़ान को अधिक विस्तृत की तरह बना रही थीं ॥ ६ ॥

रामाणामवजितमाल्यसौकुमार्ये सम्प्राप्ते वपुषि सहत्वमातपस्य ।
गन्धर्वैरधिगतविस्मयैः प्रतीये कल्याणी विधिषु विचित्रता विधातुः ॥ ७ ॥

रामाणामिति ॥ मालेव माल्यं तस्य सौकुमार्यमवजितं येन तस्मिन् । कुसुमादपि सुकुमार इत्यर्थः । रामाणां वपुष्यातपस्य । कृद्योगे कर्मणि षष्ठी । सहत इति सहः क्षमः पचाद्यच् । तस्य भावः सहत्वम् । तत्सम्प्राप्ते सत्यधिगतविस्मयैः सम्प्राप्ताश्चर्यैर्गन्धर्वैर्विधातुर्विधिषु सृष्टिषु कल्याणी साधीयसी । उपकारकत्वादिति भावः । विचित्रता नानाविधत्वं प्रतीयेऽवगता ज्ञाता । प्रतिपूर्वादिणः कर्मणि लिट् ॥ ७ ॥

गन्धर्वों ने देखा कि स्त्रियों के शरीर ने सुकुमारता में फूलों को भी जीत लिया है तथापि धूप सहने की शक्ति इनमें काफी वर्तमान है । इससे उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्हें यह प्रतीति हुई कि ब्रह्मा की सृष्टि-रचना-कुशलता बड़ी ही कल्याण-प्रसविनी है ॥ ७ ॥

सिन्दूरैः कृतरुचयः सहेमकक्ष्याः स्रोतोभिस्त्रिदशगजा मदं क्षरन्तः ।
सादृश्यं ययुररुणांशुरागभिन्नैर्वर्षद्भिः स्फुरितशतह्रदैः पयोदैः ॥ ८ ॥

सिन्दूरैरिति ॥ सिन्दूरैर्नागसम्भवाख्यै रागद्रव्यैः । 'सिन्दूरं नागसम्भवम्' इत्यमरः । कृतरुचयः । अलङ्कृता इत्यर्थः । सह हेम्नः कक्ष्याभिर्मध्येभबन्धनैः सहेमकक्ष्याः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । 'कक्ष्या प्रकोष्ठे हर्म्यादेः काञ्च्यां मध्येभबन्धने' इत्यमरः । स्रोतोभिः सप्तभिर्मदनाडीभिः । 'करात्कटाभ्यां मेढ्राच्च नेत्राभ्यां च मदच्युतिः' इति पालकाप्ये । करान्नासारन्ध्राभ्यामित्यर्थः । मदं क्षरन्तो वर्षन्तस्त्रिदशगजा अरुणस्यार्कस्यांशूनां रागेणारुण्येन भिन्नैः संसृष्टैर्वर्षद्भिः स्फुरितशतह्रदैः स्फुरिततडित्कैः पयोदैः सादृश्यं ययुरित्युपमालङ्कारः ॥ ८ ॥

(उन) देवताओं के हाथी, जो सिन्दूर से सुशोभित किये गये थे और स्वर्ण की शृङ्खलाओं से जिनकी पेटी बँधी हुई थी, वे अपने अङ्गों से मद-स्रवण करते हुए उन मेघमण्डलों के सदृश दिखलाई पड़ते थे जिन पर सूर्य की किरणें पड़ रही हों, और रह-रह कर चपला (बिजली) चमक जाती हो; तथा जो वारिधारा वर्षण कर रहे हों तात्पर्य यह है कि हाथी काले-काले बादल के समान थे, उनका सिन्दूर-रञ्जित अलंकार सूर्य्य की किरणों की समानता कर रहा था, और स्वर्ण शृङ्खला बिजली के समान थी एवं मदक्षरण जलवृष्टि सदृश था ॥ ८ ॥

अत्यर्थं दुरुपसदादुपेत्य दूरं पर्यन्तादहिममयूखमण्डलस्य ।
आशानामुपरचितामिवैकवेणीं रम्योर्मि त्रिदशनदीं ययुर्बलानि ॥ ९ ॥

अत्यर्थमिति ॥ बलानि सैन्यान्यत्यर्थं दुरुपसदाद् दुःसहादहिममयूखमण्डलस्य सूर्यबिम्बस्य पर्यन्तात्समीपाद् दूरमुपेत्यागत्याशानामुपरचितां गुम्फितामेकवेणीमिव स्थितामिवेत्युत्प्रेक्षा । रम्या ऊर्मयस्तरङ्गा भङ्गयश्च यस्यास्तां त्रिदशनदीं मन्दाकिनीं ययुः प्रापुः ॥ ९ ॥

वह सुरबालाओं की सेना असह्य सूर्य्यमण्डल के समीप से दूर जाकर देव-सरिता (गंगा) के पास पहुँची जिसमें मनोहर तरंगें उठ रही थीं । आकाश-गंगा का जल स्वच्छ

नील वर्ण दिखलाई पड़ता था जिससे वह (आकाश गङ्गा) दिशारूपी सुन्दरी की उपरचित: एकवेणी की भाँति प्रतीत होती थी ॥ ९ ॥

आमत्तभ्रमरकुलाकुलानि धुन्वन्नुद्धूतग्रथितरजांसि पङ्कजानि ।
कान्तानां गगननदीतरङ्गशीतः सन्तापं विरमयति स्म मातरिश्वा ॥ १० ॥

आमत्तेति ॥ आमत्तैर्भ्रमरकुलैराकुलान्यूद्धूतान्युत्थापितानि ग्रथितान्यन्योन्यसम्बद्धानि च रजांसि येषु तानि पङ्कजानि धुन्वन्कम्पयन् । सुरभिरित्यर्थः । गगननदीतरङ्गैः शीतो मातरिश्वा वायुः । कान्तानां सन्तापं विरमयति स्म शमयामास । मातर्यन्तरिक्षे श्वयतीति मातर्या श्वयतीति वेति नैरुक्ताः ॥ १० ॥

उसकी (आकाश-गङ्गा की) लहरों से शीतल वायु, जिस पर मतवाले भ्रमरों के समूह से व्याप्त कमलों के जमे हुए पराग उद्भिन्न हो गये थे, उड़ता हुआ अबलाओं के सन्ताप को शान्त कर दिया ॥ १० ॥

सम्भिन्नैरिभतुरगावगाहनेन प्राप्योर्वीरनु पदवीं विमानपङ्क्तीः ।
तत्पूर्वं प्रतिविदधे सुरापगाया वप्रान्तस्खलितविवर्तनं पयोभिः ॥ ११ ॥

सम्भिन्नैरिति ॥ इभतुरगावगाहनेन हस्त्यश्वावलोडनेन सम्भिन्नैः संक्षुभितैः सुरापगायाः पयोभिः कर्तृभिः । पदवीमनु । पदव्यामित्यर्थः । 'लक्षणेत्थंभूत—' इत्यादिना कर्मप्रवचनीयत्वाद् द्वितीया उर्वीर्विपुला विमानपङ्क्तीः प्राप्य । तदेव पूर्वं तत्पूर्वमिदं प्रथमं यथा तथाकाशगङ्गायास्तटाभावादिति भावः । वप्रान्तेषु रोधोभूमिषु स्खलितानि तैर्विवर्तनं प्रत्यावृत्तिर्वप्रान्तस्खलितविवर्तनं तटान्तस्खलनप्रतिवर्तनम् । 'वप्रः पितरि केदारे वप्रः प्रकाररोधसोः' इति वैजयन्ती । प्रतिविदधे चक्र इत्यतिशयोक्तिः ॥ ११ ॥

सुरनदी (आकाश गंगा) के जल, हाथी और घोड़ों की जल-क्रीड़ा से क्षुब्ध होकर रथों की पंक्तियों से, जो पट पर अवस्थित थीं, टकरा कर लौट आये, यह तट से जाकर टकराना और फिर लौट आना उनके लिये बिल्कुल नया था (क्योंकि आकाश-गंगा तो आकाश में प्रवाहित होती है । आकाश में तट कहाँ ? उन देव-वधूटियों के रथ पंक्तिबद्ध होकर खड़े थे वे ही तट के समान बन गये जिससे गंगा के जल• क्षुब्ध होकर टकराये) ॥ ११ ॥

क्रान्तानां ग्रहचरितात्पथो रथानामक्षाग्रक्षतसुरवेश्मवेदिकानाम् ।
निःसङ्गं प्रधिभिरुपाददे विवृत्तिः संपीडक्षुभितजलेषु तोयदेषु ॥ १२ ॥

क्रान्तानामिति ॥ ग्रहैः सूर्यादिभिश्चरितादाश्रितात् । कर्मणि क्तः पथो मार्गात्क्रान्तानां निष्क्रान्तानामक्षाश्चक्राधारा दारुविशेषास्तेषामग्रैः क्षता दारिताः सुरवेश्मवेदिका यैस्तेषां रथानां प्रधिभिर्नेमिभिश्चक्रान्तैः । 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्यमरः । संपीडेन नोदनेन क्षुभितानि जलानि येषां

तेषु तोयदेषु निःसङ्गमप्रतिघातं यथा तथा निवृत्तिः परिभ्रमणमुपाददे स्वीकृतेत्यतिशयोक्तिः स्वभावोक्त्या संसृज्यते ॥ १२ ॥

सूर्यादि ग्रह जिस मार्ग से घूमते हैं उसे पार करके रथों ने अपनी धुरियों से उभय पार्श्व के देवताओं के भवनों के चबूतरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उनकी नेमिधाराओं ने (पहियों ने) बादलों को रगड़कर उनके जल को क्षुब्ध कर बड़े वेग से आगे बढ़ना शुरू कर दिया ॥ १२ ॥

तप्तानामुपदधिरे विषाणभिन्नाः प्रह्लादं सुरकरिणां घनाः क्षरन्तः ।
युक्तानां खलु महतां परोपकारे कल्याणी भवति रुजत्स्वपि प्रवृत्तिः ॥१३॥

तप्तानामिति ॥ विषाणभिन्ना गजदन्तक्षताः । 'विषाणं दन्तशृङ्गयोः' इति हलायुधः । अतएव क्षरन्तः स्रवन्तो घनास्तप्तानां सुरकरिणां प्रह्लादमुपदधिरे चक्रिरे । तथाहि । परोपकारे युक्तानामासक्तानां महतां सतां रुजत्स्वपि पीडयत्स्वपि विषये कल्याणी हितकारिणी खलु प्रवृत्तिर्व्यापारो भवतीत्यर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । ततो युक्तं मेघानां गजदन्तक्षतानामपि तदाह्लादकत्वमिति भावः ॥ १३ ॥

रथ की पहियों ने तो उन्हें केवल रगड़ कर छोड़ ही दिया, परन्तु देव-हाथियों ने बादलों को दन्त-प्रहार से क्षत कर दिया जिससे वे जल च्यवन करने लगे (चूने लगा) वे हाथी खूब तपे हुए थे, अतः उसी जल से शान्त होकर असीम प्रसन्नता को प्राप्त हुए। सत्य है जो लोग दूसरों के उपकार करने के लिये कटिबद्ध रहते हैं वे महानुभाव कष्ट दिये जाने पर भी अपने विचार में परिवर्तन नहीं करते ॥ १३ ॥

संवाता मुहुरनिलेन नीयमाने दिव्यस्त्रीजघनवरांशुके विवृत्तिम् ।
पर्यस्यत्पृथुमणिमेखलांशुजालं सञ्जज्ञे युतकमिवान्तरीयमूर्वोः ॥ १४ ॥

संवातेति । संवाता संवहता । वातेर्गत्यर्थाच्छतृप्रत्ययः । अनिलेन । कामिनेवेति भावः । दिव्यस्त्रीणां जघनेषु वरं श्रेष्ठं यदंशुकं तस्मिन्विवृत्तिमपसारं मुहुर्नीयमाने सति पर्यस्यत्प्रसर्पत्पृथु विशालं मणिमेखलांशुजालमूर्वोर्युतकं चल्लनाख्यमिव । 'युवकं संश्रये युग्मे यौतके चल्लनेऽपि च' इति विश्वः । अन्तरे भवमन्तरीयमधोंशुकम् । गहादिभ्यश्च' इति छप्रत्ययः । 'अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके' इत्यमरः । सञ्जज्ञे सञ्जातम् । जनिधातोः कर्तरि लिट् । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ १४ ॥

गतिशील पवन ने कामी पुरुष की तरह उन सुररमणियों के जघनाच्छादी वस्त्रों को बार-बार उड़ाकर दूर हटा दिया फिर भी रत्नजटित मेखला से स्फुरण करता हुआ महान् अंशुसमूह उनके जघन प्रदेश को लहंगे (साया) की तरह ढँक लिया (जिससे वे नग्न न होने पाईं) ॥ १४ ॥

प्रत्यार्द्रीकृततिलकास्तुषारपातैः प्रह्लादं शमितपरिश्रमा दिशन्तः।
कान्तानां बहुमतिमाययुः पयोदा नाल्पीयान्बहु सुकृतं हिनस्ति दोषः॥

प्रतीति ॥ तुषारपातैः शीकरवर्षैः । तुषारौ हिमशीकरौ' इति विश्वः । प्रत्यार्द्रीकृततिलका मार्जितविशेषका अपि शमितपरिश्रमाः प्रह्लादमानन्दं दिशन्तः पयोदाः कान्तानाम् । कर्तरि षष्ठी । बहुमतिं सम्मानमाययुः । तथाहि । अल्पीयानल्पो दोषो बहु प्रभूतं सुकृतमुपकारं न हिनस्ति न हन्ति । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ १५ ॥

वारिदों (बादलों) ने वृष्टि करके सुर-वधुओं के तिलक को मिटा दिया था (यह तो उन्होंने अपराध किया) और उनकी थकावटों को दूर कर आनन्द पहुँचाया इससे वे उनके अतिशय सम्मान के पात्र बन गये क्योंकि अल्प अपराध प्रभूत उपकार को नष्ट नहीं करता ॥ १५ ॥

यातस्य ग्रथिततरङ्गसैकताभे विच्छेदं विपयसि वारिवाहजाले।
आतेनुस्त्रिदशवधूजनाङ्गभाजां संधानं सुरधनुषः प्रभा मणीनाम् ॥ १६ ॥

यातस्येति ॥ ग्रथिततरङ्गं बद्धोर्मियत्सैकतं तस्याभेवाभा यस्य तस्मिन्विगतानि पयांसि यस्मात्तस्मिन्विपयसि निर्जले । 'शेषाद्विभाषा' इत्यादिना विकल्पान्न समासान्तः । उरःप्रभृतिपाठस्तु पयःशब्दस्यैकवचनान्तस्यैवेति न कश्चिद्विरोधः । वारिवाहजाले मेघवृन्दे विच्छेदं त्रुटिं यातस्य सुरधनुष इन्द्रचापस्य त्रिदशवधूजनाङ्गभाजां मणीनाम् । तरङ्गसङ्गिविभूषामणीनामित्यर्थः । प्रभाः कान्तयः सन्धानमातेनुश्चक्रुः । अत्राभरणप्रभाणामिन्द्रधनुःसन्धानासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥

निर्जल मेघ-मण्डलों पर जो लहरियों के बार-बार टकराने से लहरों के चिह्न से खण्डित पुलिन प्रदेश के सदृश खण्ड-खण्ड हो गये थे, उनपर इन्द्रधनुष खण्डित की तरह हो गया था । उसे देवताओं की रमणियों के शरीर पर धारण की हुई मणियों की प्रभाओं ने पूरा कर दिया ॥ १६ ॥

संसिद्धाविति करणीयसंनिबद्धैरालापैः पिपतिषतां विलङ्घ्य वीथीम्।
आसेदे दशशतलोचनध्वजिन्या जीमूतैरपिहितसानुरिन्द्रकीलः ॥ १७ ॥

संसिद्धाविति ॥ संसिद्धौ कार्यसिद्धिविषये इतीत्थम्भाविना प्रकारेण । कर्तव्यमिति करणीयं तेन सन्निबद्धैः । संयोजितैरित्यर्थः । आलापैराभाषणैरुपलक्षितया । 'स्यादाभाषणमालापः' इत्यमरः । दशशतानि संख्या येषु तानि लोचनानि यस्य सः । सहस्रलोचन इत्यर्थः । तस्य ध्वजिन्या सेनया पिपतिषतां पक्षिणां वीथीं मार्गम् । 'पितसन्तो नभसङ्गमाः' इत्यमरः । 'तनिपति—' इत्यादिना विकल्पादिडागमः । विलङ्घ्य जीमूतैर्जीवस्योदकस्य मूतः पटबन्धो येषां तैः । पृषोदरादित्वात्साधुः ।

अपिहितसानुराच्छादिततटः । तन्नत इत्यर्थः । इन्द्रकील आसेदे प्राप्तः । सीदतेः कर्मणि लिट् ॥ १७ ॥

सहस्राक्ष (इन्द्र) की सेना कार्य्य-सिद्धि के लिये—कैसे ? और क्या-क्या करना चाहिये ? इस तरह का परस्पर वार्तालाप करती हुई, पक्षियों के मार्ग को पार करके इन्द्रकील पहाड़ पर पहुँची जिसके शिखर बादलों से आच्छन्न थे ॥ १७ ॥

आकीर्णा मुखनलिनैर्विलासिनीनामुद्धूतस्फुटविशदातपत्रफेना ।
सा तूर्यध्वनितगभीरमापतन्ती भूभर्तुः शिरसि नभोनदीव रेजे ॥१८॥

आकीर्णेति ॥ विलासिनीनां मुखनलिनैः । उपमितसमासः । आकीर्णा व्याप्ता उद्धूतान्यूर्ध्वमुत्क्षिप्तानि स्फुटान्यसंकुचितानि विशदातपत्राणि श्वेतच्छत्राणि फेना इव यस्यास्तथोक्ता तूर्यध्वनितैर्वाद्यघोषैर्गभीरं यथा स्यात् तथा भूभर्तुरिन्द्रकीलस्य शिरस्यापतन्ती सा सेना नभोनदीव रेजे ॥ १८ ॥

इन्द्रकील के शिखर पर उतरी हुई वह (अप्सराओं की सेना) आकाश-गंगा की तरह सुशोभित होने लगी । वह सेना युवतियों के मुखकमल से व्याप्त, खुले हुए शुभ्र आतपत्र (सफेद छाते) रूप फेन से युक्त, और अनेक प्रकारके मृदंगादि बाजाओं की गम्भीर ध्वनि से गूँजती हुई सी थी ॥ १८ ॥

सेतुत्वं दधति पयोमुचां विताने संरम्भादभिपततो रथाञ्जवेन ।
आनिन्युर्नियमितरश्मिभुग्नघोणाः कृच्छ्रेण क्षितिमवनामिनस्तुरङ्गाः ॥

सेतुत्वमिति ॥ पयोमुचां विताने सेतुत्वं दधति सति संरम्भादाटोपाज्जवेनाभिपततः । मेघवृन्दमधरीकृत्य धावत इत्यर्थः । तथाभूतान्रथान्नियमितैराकृष्टै रश्मिभिः प्रग्रहैर्भुग्ना आकुञ्चिता घोणाः प्रोथा येषां तैः । 'कुञ्चितं नतम् । आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रम्' इत्यमरः । 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्' इत्यमरः । अवनमन्तीत्यवनामिनोऽवनतपूर्वकायास्तुरङ्गाः कृच्छ्रेण महता प्रयत्नेन क्षितिमानिन्युरिति स्वभावोक्तिः ॥ १९ ॥

वे (रथ में जुते हुए) घोड़े, बादलों के पटल पर से जो पुल सा अन्तरिक्ष से इन्द्रकील तक विस्तृत था, ढालुवा होने के कारण अत्यन्त वेग से उतरते हुए रथों को बड़ी कठिनाई से भूमि पर पहुँचाये । रास के अधिक खिंचाव के कारण उन घोड़ों की नासिका का अग्रभाग टेढ़ा हो रहा था और वे अपने सम्पूर्ण अङ्गों का बल अग्रभाग के अंगों पर सम्हाले हुए थे ॥ १९ ॥

माहेन्द्रं नगमभितः करेणुवर्याः पर्यन्तस्थितजलदा दिवः पतन्तः ।
सादृश्यं निलयननिष्प्रकम्पपक्षैराजग्मुर्जलनिधिशायिभिर्नगेन्द्रैः ॥२०॥

माहेन्द्रमिति ॥ माहेन्द्रं नगमभित इन्द्रकीलाभिमुखम् । 'अभितः परितः' इत्या-

दिना द्वितीया। दिवोऽन्तरिक्षात्पतन्तोऽवतरन्तः पर्यन्तस्थिता पार्श्वस्था जलदा येषां ते करेणुवर्याः करेणुषु वर्याः। श्रेष्ठा इत्यर्थः। 'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमासनिषेधाद् 'सप्तमी' इति योगविभागात्सप्तमीसमासः। निलयने स्थाने निष्प्रकम्पपक्षैर्निश्चलपत्रैर्जलनिविशायिभिर्नगेन्द्रैर्मैनाकादिभिः सादृश्यमाजग्मुरित्युपमा ॥ २० ॥

इन्द्रकील (गिरि) की तरफ नभोमार्ग से अवतरण करते हुए मतवाले हाथी, जिनके अगल-बगल में बादलों के टुकड़े चिपक रहे थे, समुद्र में शयन करने वाले सपक्ष पर्वतों की तरह दिखलाई पड़ते थे। जिन (पर्वतों) के पक्ष आश्रय स्थान में निश्चल रहते हैं अर्थात् आकाश से उतरते हुए हाथी बादलों के पटलों को तोड़फोड़ कर आ रहे थे ऐसी अवस्था में कुछ टुकड़े उनके दोनों तरफ चिपके हुए थे जो सपक्ष मैनाक पहाड़ के सदृश मालूम पड़ते थे ॥ २० ॥

उत्सङ्गे समविषमे समं महाद्रेः क्रान्तानां वियदभिपातलाघवेन।
आमूलादुपनदि सैकतेषु लेभे सामग्रीं खुरपदवी तुरङ्गमाणाम् ॥ २१ ॥

उत्सङ्ग इति ॥ महाद्रेरुत्सङ्गे मूर्ध्नि यत्समविषमं समं च विषमं च निम्नोन्नतं तस्मिन्। द्वन्द्वैकवद्भावः। वियदभिपातलाघवेन गगनसञ्चारपाटवेन सममेकरूपम्। आरोहावरोहरहितमित्यर्थः। क्रान्तानां गच्छतां तुरङ्गमाणां खुरपदवी खुरपङ्क्तिरुपनदि नदीसमीपे। 'अव्ययीभावश्च' इति नपुंसकत्वाद्ध्रस्वत्वम्। सैकतेष्वामूलान्मूलमारभ्य। आदित आरभ्येति यावत्। समग्रस्य भावः सामग्री साकल्यम्। भावे ष्यञ्। ङीप्। लेभे। सैकतादन्यत्र निम्नेषु गगनचारेण समखुरस्पर्शाभावाद्विच्छिन्ना खुरसरणिः। सैकतेषु तु सर्वत्र समत्वादविच्छिन्नेत्यर्थः ॥ २१ ॥

उस महान् पर्वत (इन्द्रकील) के ऊभड़-खाभड़ (ऊँचे-नीचे) शिखर पर पहुँच कर आकाश मार्ग से चलने में सुविधा के कारण चढ़ाव-उतराव से रहित आकाश-पथ से पार कर वे घोड़े सुरनदी के तट पर पहुँचे वहाँ बालुका प्रदेश में उनके खुरों के चिह्न प्रारम्भ से लेकर अन्त तक दिखाई देते और उन्नत-अवनत भूमि पर उनके खुरों की छाप नहीं पड़ती थी क्योंकि वे उस मार्ग को त्याग कर आकाश-मार्गानुसरण करते थे ॥ २१ ॥

सध्वानं निपतितनिर्झरासु मन्द्रैः सम्मूर्च्छन्प्रतिनिनदैरधित्यकासु।
उद्ग्रीवैर्घनरवशङ्कया मयूरैः सोत्कण्ठं ध्वनिरुपशुश्रुवे रथानाम् ॥ २२ ॥

सध्वानमिति ॥ सध्वानं सशब्दं निपतिता निर्झराः प्रवाहा यासु तासु। 'प्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः। अधित्यकासु नगोर्ध्वभूमिषु। 'भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः। 'उपाधिभ्यां—' इत्यादिना त्यकन्प्रत्ययः। मन्द्रैर्गम्भीरैः। 'मन्द्रस्तु गम्भीरे' इत्यमरः। प्रतिनिनदैः प्रतिध्वानैः सम्मूर्च्छन्वर्धमानो रथानां ध्वनिर्घनरवशङ्कया मेघगर्जितभ्रमेणेति भ्रान्तिमदलङ्कारः। 'उद्ग्रीवैर्मयूरैः सोत्कण्ठमुपशुश्रुवे उपश्रुतः। शृणोतेः कर्मणि लिट् ॥ २२ ॥

उस महान् पर्वत की चोटियों पर शब्द करते हुए झरने प्रवाहित हो रहे थे उनकी गम्भीर प्रतिध्वनियों से सम्बर्द्धित रथों की गड़गड़ाहट को मयूरों ने मेघ-गर्जन के भ्रम में पड़कर अपनी गर्दन ऊपर उठाकर बड़ी उत्कण्ठा से सुना ॥ २२ ॥

संभिन्नामविरलपातिभिर्मयूखैर्नीलानां भृशमुपमेखलं मणीनाम् ।
विच्छिन्नामिव वनिता नभोन्तराले वप्राम्भःस्रुतिमवलोकयांवभूवुः ॥ २३ ॥

संभिन्नामिति ॥ अविरलपातिभिर्निरन्तरप्रसारिभिरुपमेखलम् । तटेष्वित्यर्थः । 'अथ मेखला । श्रोणिस्थानेऽद्रिकटके कटिबन्धेऽसिवन्धने' इति यादवः । नीलानां मणीनां मयूखैर्भृशं संभिन्नामेकीभूतामत एव नभोन्तराले विच्छिन्नामिव स्थितामित्युत्प्रेक्षा । वप्राम्भःस्रुतिं वप्रोदकधारां वनिता अवलोकयाम्वभूवुः । वप्राम्भःस्रुतेः स्वधवलिमत्यागेन्द्रनीलानां नीलिमस्वीकाररूपतद्गुणोत्थापिता विच्छेदोत्प्रेक्षेति, तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । तेन च नैल्यविच्छेदभ्रमरूपो भ्रान्तिमान्व्यज्यते ॥ २३ ॥

देव-वधुओं ने ऊपर से नीचे के गड्ढे में गिरते हुए निर्झरों के प्रवाह को आकाश के अन्तराल में देखा कि वे बीच से गुप्त हो गये हैं क्योंकि उस इन्द्रकील के निचले भाग में नील मणियों की किरणें लगातार निकल रही थीं उनसे प्रवाह भी नीले रंग का हो गया था (जिससे उन्हें यह भ्रम हुआ । वस्तुतः प्रवाह कहीं से खण्डित नहीं था) ॥ २३ ॥

आसन्नद्विपपदवीमदानिलाय क्रुध्यन्तो धियमवमत्य धूर्गतानाम् ।
सव्याजं निजकरिणीभिरात्तचित्ताः प्रस्थानं सुरकरिणः कथञ्चिदीपुः ॥२४॥

आसन्नेति ॥ धुरं गतास्तेषां धूर्गतानां नियन्तॄणां धियमवमत्यावज्ञायासन्नायां द्विपपदव्यां वनगजमार्गे यो मदानिलस्तस्मै क्रुध्यन्तस्तं प्रति कुप्यन्तः । 'क्रुधद्रुह–' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । सव्याजं सकपटं निजकरिणीभिरात्तचित्ता आकृष्टचित्ताः सुरकरिणो देवनागाः प्रस्थानं गमनं कथञ्चित्कष्टेनेपुरभिलेषुः ॥ २४ ॥

(उन अप्सराओं की सेना के) मतवाले हाथी समीप के जङ्गली हाथियों के मार्ग के मदों के प्रति क्रुद्ध होकर अपने महावतों की आज्ञा को अवज्ञा कर, अपनी हथिनियों के द्वारा कपट किये जाने पर आसक्ति से आकर्षित होकर बड़ी कठिनाई से आगे बढ़ने के लिये तैयार हुए (अर्थात् मार्ग में जङ्गली हाथियों के मद गिरे हुए थे उन्हें सूँघकर वे हाथी मतवाले होकर अपने महावत की बात पर ध्यान नहीं देते थे । जब उनके महावत (छलकपट से) हथिनियों को उनके आगे कर देते थे और वे अपने कृत्रिम प्रेम से उनके चित्त को अपनी तरफ खींच लेती थीं फिर उनकी लालच में पड़ कर वे किसी तरह आगे बढ़ने के लिये तैयार होते थे ॥ २४ ॥

नीरन्ध्रं पथिषु रजो रथाङ्गनुन्नं पर्यस्यन्नवसलिलारुणं वहन्ती ।
आतेने वनगहनानि वाहिनी सा घर्मान्तक्षुभितजलेव जह्नुकन्या ॥ २५ ॥

नीरन्ध्रमिति ॥ नीरन्ध्रं सान्द्रं पथिषु रथाङ्गैश्चक्रैर्नुन्नं प्रेरितम् । 'नुत्तनुन्नास्तनिष्ठ्यूताविद्धक्षिप्तेरिताः समाः' इत्यमरः । पर्यस्यत्प्रसर्पन्नवसलिलमिवारुणं रजो वहन्ती सा वाहिनी सेना । घर्मान्ते प्रावृषि क्षुभितजला । कलुषोदकेत्यर्थः । जह्नुकन्या गङ्गेव । वनानि फलकुसुमप्रधानानि, गहनानि जीर्णारण्यानि च तानि वनगहनान्यातेने व्यानशे । अत्र समासगतवाक्यगतोपमयोः सजातीययोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ २५ ॥

वह देवसेना मार्ग में रथों के पहियों से उड़ी धूल से खूब व्याप्त होकर प्रवहणशील नूतन जल के सदृश अरुण वर्ण की हो गई थी । वह ग्रीष्मावसान काल में कलुषितजला जाह्नवी की तरह फलफूल से भरे हुए तथा बहुत प्राचीन घने जङ्गलों में चारों तरफ फैल गई ॥ २५ ॥

सम्भोगक्षमगहनामथोपगङ्गं बिभ्राणां ज्वलितमणीनि सैकतानि ।
अध्यूषुश्च्युतकुसुमाचितां सहाया वृत्रारेरविरलशाद्वलां धरित्रीम् ॥ २६ ॥

सम्भोगेति ॥ अथ वृत्रारेः शक्रस्य सहायाः सचिवा गन्धर्वा उपगङ्गं गङ्गासमीपे । अव्ययीभावस्य नपुंसकत्वाद्ध्रस्वत्वम् । सम्भोगक्षमगहनामुपभोगयोग्यवनां ज्वलिता मणयो येषु तानि सैकतानि बिभ्राणाम् । भृञः कर्तरि लटः शानच् । च्युतैः स्वयं पतितैः कुसुमैराचितां व्याप्तामविरलाः सान्द्राः शाद्वलाः शादप्रायप्रदेशा यस्यां सा तां धरित्रीमध्यूषुरधितस्थुः । वसतेर्यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । अत्र धरित्रीविशेषणार्थानामधिवासहेतुत्वादनेकपदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २६ ॥

वृत्रासुर के शत्रु (इन्द्र) के सचिवों ने गङ्गा के समीप एक जगह, जहाँ की भूमि उपभोग्य वनों से युक्त थी, शिविर बनाया, उस भूमि में बहुत से बालुकामय प्रदेश थे, जिनमें चमकदार बहुत से रत्न पड़े हुए थे । स्वयं वृक्षों से गिरे हुए फूल उसपर बिखर रहे थे । उस पर खूब घने तृण भी उगे हुए थे ॥ २६ ॥

भूभर्तुः समधिकमादधे तदोर्व्याः श्रीमत्तां हरिसखवाहिनीनिवेशः ।
संसक्तौ किमसुलभं महोदयानामुच्छ्रायं नयति यदृच्छयापि योगः ॥ २७ ॥

भूभर्तुरिति ॥ तदा हरिसखवाहिनीवेशो गन्धर्वसेनाशिबिरम् । 'निवेशः शिबिरोद्वाहविन्यासेषु प्रकीर्तितः' इति शाश्वतः । भूभर्तुः पर्वतस्योर्व्याः समधिकं पूर्वस्मादभ्यधिकं यथा तथा श्रीमत्ताम् । श्रियमित्यर्थः । आदधे जनयामास । तथा हि महोदयानां महात्मनां संसक्तौ सम्यक्सम्बन्धे । 'सम्भक्तौ' इति पाठे तु सम्यक्सेवायाम् । किमसुलभम् । न किञ्चिद्दुर्लभमित्यर्थः । यतः—यदृच्छया दैवाद्योगोऽप्युच्छ्रायमुत्कर्षं नयति । अत्र प्रकृतयदृच्छया योगस्योत्कर्षाभिधानादप्रकृतशक्तियोगस्योत्कर्षाधायकत्वे कैमुतिकन्यायेनार्थापत्तिरिति प्राकरणिकादप्राकरणिकरूपार्थापत्तिरलङ्कारः । तदुक्तम्—'एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र वस्त्वन्यथा पतेत् । कैमुत्येन यतः सा स्यादर्थापत्तिरलंक्रिया ॥' इति ॥ २७ ॥

उस समय इन्द्र के मित्रों की सेना के शिविर ने इन्द्रकील पर्वत की भूमि की शोभा को पहले से भी अधिक मनोरम बना दिया। क्योंकि महानुभावों के संसर्ग होने पर कौन ऐसी वस्तु है जो दुर्लभ है। आकस्मिक सम्पर्क भी उत्कर्ष की वृद्धि करता है ॥ २७ ॥

सामोदाः कुसुमतरुश्रियो विविक्ताः सम्पत्तिः किसलयशालिनीलतानाम् ।
साफल्यं ययुरमराङ्गनोपभुक्ताः सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम् ॥ २८ ॥

सामोदा इति ॥ सामोदाः ससौरभाः कुसुमप्रधानास्तरवः । शाकपार्थिवादिषु द्रष्टव्यः । तेषां श्रियः समृद्धयो विविक्ता विजनप्रदेशाः । 'विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः' इत्यमरः । किसलयशालिनीलतानां नवपल्लवयुतवल्लीनां सम्पत्तिरेता अमराङ्गनोपभुक्ताः सत्यः साफल्यं ययुः । तथा हि । यया लक्ष्म्या करणेन परेषामुपकुरुते । लक्ष्मीवानिति शेषः । सा लक्ष्मीर्नान्येति भावः । परेषामित्यत्र 'अनुकरोति भगवतो नारायणस्य' इत्यादिवत्क्रियायोगे हि सम्बन्धसामान्ये षष्ठी ॥ २८ ॥

सौरभसम्पन्न, पुष्पप्रधान वृक्षों की शोभा, तथा निर्जन प्रदेश और नूतनपल्लवों से सुशोभित होने वाली लताओं की सम्पत्ति ये सब सुररमणियों के उपभोग से सफल हो गई (नहीं तो जङ्गल में इन्हें कौन पूछता ? और ये योंही अपनी शोभा और सम्पत्ति को खो बैठतीं) वही सम्पत्ति है जो औरों का उपकार करे ॥ २८ ॥

क्लान्तोऽपि त्रिदशवधूजनः पुरस्ताल्लीनाहिश्वसितविलोलपल्लवानाम् ।
सेव्यानां हतविनयैरिवावृतानां सम्पर्कं परिहरति स्म चन्दनानाम् ॥२९॥

क्लान्त इति ॥ क्लान्तोऽपि त्रिदशवधूजनः पुरस्तादग्रे लीनानां संश्रितानामहीनां श्वसितैर्निश्वासैर्विलोलाः पल्लवा येषां तेषां चन्दनानां सम्पर्कं हतविनयैर्दुर्जनैः खलैरावृतानां संवृतानां सेव्यानां प्रभूणां सम्पर्कमिव परिहरति स्म । दुष्टवद्दुष्टसंसृष्टा गुणाढ्या अपि त्याज्या इति भावः ॥ २९ ॥

जिस तरह दुष्टों के साथ-साथ रहने के कारण सज्जनों का भी लोग परित्याग कर देते हैं चाहे वे सेव्य ही क्यों न हों, उसी तरह अमराङ्गनायें मार्ग के श्रम से खिन्न थीं तो भी आश्रय के योग्य चन्दन वृक्षों का सम्पर्क छोड़ दीं क्योंकि उन पर छिपे हुए सर्पों के फुफुकार से उनके पल्लव चञ्चल हो रहे थे। (इस बात को सभी लोग जानते हैं कि चन्दन के पेड़ पर सर्पों का वास रहता है) ॥ २९ ॥

उत्सृष्टध्वजकुथकङ्कटा धरित्रीमानीता विदितनयैः श्रमं विनेतुम् ।
आक्षिप्तद्रुमगहना युगान्तवातैः पर्यस्ता गिरय इव द्विपा विरेजुः ॥ ३० ॥

उत्सृष्टेति ॥ उत्सृष्टा आक्षिप्ता ध्वजाः कुथा आस्तरणानि कङ्कटास्तनुत्राणानि च येभ्यस्ते । 'प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयोः' इत्यमरः । विदितनयैः शिक्षाभिज्ञैर्यन्तृभिः श्रमं विनेतुं क्लममपनेतुं धरित्रीमानीताः । निवेश्यमाना इत्यर्थः ।

द्विपा युगान्तवातैराक्षिप्तान्युद्धृतानि द्रुमाणां गहनानि वनानि येभ्यस्ते पर्यस्ता विपर्यासिता गिरय इव विरेजुः शुशुभिरे ॥ ३० ॥

गज-शास्त्र वेत्ता महावतों ने हाथियों की थकावट दूर करने के लिये उन पर से ध्वजा झूल, कवचादि सामग्रियों को उतार पर पृथ्वी पर रख दिया। उस क्षण वे उन पर्वतों की तरह इधर-उधर पड़ गए जिनके घने-घने वृक्षों के वन प्रलयकालीन झञ्झावात से उखाड़ कर फेंक दिये जाते हैं और पर्वत भी उठाकर जहाँ कहीं भी फेंक दिये जाते हैं ॥ ३० ॥

प्रस्थानश्रमजनितां विहाय निद्रामामुक्ते गजपतिना सदानपङ्के।
शय्यान्ते कुलमलिनां क्षणं विलीनं संरम्भच्युतमिव शृङ्खलं चकाशे ॥३१॥

प्रस्थानेति ॥ गजपतिना प्रस्थानश्रमेण गमनक्लेशेन जनितां निद्रां विहायामुक्तेऽत एव सदानपङ्के गजमदयुक्ते शय्यान्ते शयनीयप्रदेशे क्षणं विलीनं लग्नमलिनां कुलं संरम्भेणोत्थानसम्भ्रमेण च्युतं भ्रष्टं शृङ्खलं निगडमिवेत्युत्प्रेक्षा। 'अथ शृङ्खले। अन्दुलो निगडोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः। चकाशे शुशुभे ॥ ३१ ॥

(सेना के एक) गजराज को मार्ग की थकावट से निद्रा आ गई। निद्रा-भङ्ग के बाद उसने शयन-प्रदेश का परित्याग किया। वहाँ पर मद के बहने से कीचड़ हो गया था। उसपर भ्रमर टूट पड़े थे। उस क्षण भ्रमरों की पंक्ति इस प्रकार सुशोभित होने लगी मानों गजराज के वेग से उठने के कारण उसके पग की शृङ्खला टूट कर पड़ी हुई हो ॥ ३१ ॥

आयस्तः सुरसरिदोघरुद्धवर्त्मा सम्प्राप्तुं वनगजदानगन्धि रोधः।
मूर्धानं निहितशिताङ्कुशं विधुन्वन् यन्तारं न विगणयाञ्चकार नागः ॥३२॥

आयस्त इति ॥ वनगजदानस्य गन्धोऽस्यास्तीति तथोक्तं रोधः। परकूलमित्यर्थः। सम्प्राप्तुं गन्तुमायस्त उत्सुकः। प्रयत्नं कुर्वाण इत्यर्थः। 'यसु प्रयत्ने' इति धातोः कर्तरि क्तः। किन्तु सुरसरिदोघेन गङ्गाप्रवाहेण रुद्धं वर्त्म यस्य सः। नागो गजो निहितो दत्तः शितस्तीक्ष्णोऽङ्कुशो यस्मिन्। 'अङ्कुशोऽस्त्री सृणिः स्त्रियाम्' इत्यमरः। तं मूर्धानं विधुन्वन्। रोषादिति भावः। यन्तारं न विगणयाञ्चकार न विगणयामास ॥ ३२ ॥

दूसरा हाथी गंगा के ऊपर तट को—जो जङ्गली हाथी के मद से सुरभित था—पाकर (उनसे लड़ने के लिये) उस तट पर पहुँचने के लिये परमोत्सुक हो गया फिर गंगा के प्रवाह से उसका मार्ग रुका हुआ था (अतः उस पार न जा सका) उसके शिर पर (महावत के द्वारा) तीक्ष्ण अंकुश प्रहार होते समय वह (केवल) शिर हिलाता हुआ महावत को कुछ नहीं समझा ॥ ३२ ॥

आरोढुः समवनतस्य पीतशेषे साशङ्कं पयसि समीरिते करेण।
संमार्जन्नरुणमदस्रुती कपोलौ सस्यन्दे मद इव शीकरः करेणोः ॥ ३३ ॥

आरोढुरिति ॥ समवनतस्य जलपानार्थमानतपूर्वकायस्य करेणोर्गजस्य । 'करेणुरिभ्या स्त्री नेभे' इत्यमरः । करेण पीतस्य शेषे पयस्यारोढुर्हस्तिपकात्साशङ्कं सभयं समीरिते । क्षिप्ते सतीत्यर्थः । शीकरोऽम्बुकणः । अरुणे मदस्रुती मदधारे ययोस्तौ । कपोलौ संमार्जन् प्रमृजन् ॥ 'मृजेरजादौ सङ्क्रमे विभाषावृद्धिर्वक्तव्या' इति वृद्धिः । मद इव सस्यन्दे सुस्राव । मदसंपृक्तस्य मदसादृश्यान्मदोपमा ॥ ३३ ॥

जलपानार्थ झुके हुए तीसरे हाथी ने अपने शुण्ड से जल पान किया । फिर शेष जल को महावत से डरते हुए उसने ऊपर को उड़ा दिया । उस जल के कण अरुण-मद स्रावी कपोलों को धोते हुए मद के सदृश टपकने लगे ॥ ३३ ॥

आघ्राय क्षणमतितृष्यताऽपि रोषादुत्तीरं निहितविवृत्तलोचनेन ।
सम्पृक्तं वनकरिणां मदाम्बुसेकैर्नाचेमे हिममपि वारि वारणेन ॥ ३४ ॥

आघ्रायेति ॥ अतितृष्यताप्यतिपिपासितापि क्षणमाघ्राय रोषादुत्तीरं परतीरे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । निहिते विवृत्ते घूर्णिते लोचने यस्य तेन । प्रतिगजदिदृक्षयेति भावः । वारणेन हिमं शीतलमपि वनकरिणां मदाम्बुसेकैर्दानधाराभिः सम्पृक्तं वारि नाचेमे न पीतम् । 'चमु अदने' इति धातोः कर्मणि लिट् ॥ ३४ ॥

(उस सेना का कोई और) हाथी, जो अत्यन्त तृषार्त था तो भी जङ्गली हाथियों के मद से मिश्रित जल को सूँघ कर (सुर-सरिता के) दूसरे तट की तरफ क्रोधपूर्ण दृष्टि से घूरने लगा । उसने शीतल जल होते हुए भी उसे न पिया ॥ ३४ ॥

प्रश्च्योतन्मदसुरभीणि निम्नगायाः क्रीडन्तो गजपतयः पयांसि कृत्वा ।
किञ्जल्कव्यवहितताम्रदानलेखैरुत्तेरुः सरसिजगन्धिभिः कपोलैः ॥ ३५ ॥

प्रश्च्योतदिति ॥ क्रीडन्तो विहरन्तो गजपतयो निम्नगाया गङ्गायाः पयांसि प्रश्च्योतद्भिः क्षरद्भिर्मदैः सुरभीणि कृत्वा किञ्जल्कैः केसरैर्व्यवहितास्तिरोहितास्ताम्रास्ताम्रवर्णा दानलेखा मदराजयो येषु तैरत एव सरसिजगन्धिभिः कपोलैरुपलक्षिताः सन्त उत्तेरुर्निर्जग्मुः । अत्र मदसरसिजगन्धयोः समयोर्विनिमयोक्त्या समपरिवृत्तिरलङ्कारः । तेन च गजानां निम्नगायाश्च परिमलव्यत्ययान्तरसंरम्भो व्यज्यते ॥ ३५ ॥

(कुछ) गजराज भगवती भागीरथी के जल को अपने क्षरण करते हुए मद से सुगन्ध पूर्ण बनाते हुए जल से बाहर आ गये उनके कपोलों की अरुण मदरेखा कमलकेसर से आच्छादित हो गई और उन कपोलों से कमल की गन्ध आने लगी ॥ ३५ ॥

आकीर्णं बलरजसा घनारुणेन प्रक्षोभैः सपदि तरङ्गितं तटेषु ।
मातङ्गोन्मथितसरोजरेणुपिङ्गं माञ्जिष्ठं वसनमिवाम्बु निर्बभासे ॥ ३६ ॥

आकीर्णमिति ॥ घनारुणेन सान्द्रलोहितेन । विशेषणसमासः । बलरजसा सेनापरागेणाकीर्णं सपदि प्रक्षोभैरालोडनैस्तटेषु तीरेषु तरङ्गितं सञ्जाततरङ्गम् । तारका-

दित्वादितच् । यद्वा । तरङ्गवत्कृतम् । मत्वन्तात् 'तत्करोति—' इति णिचि कर्मणि क्तः । णाविष्ठवद्भावान्मतुपो लुक् । तथा मातङ्गैरुन्मथितानां लुलितानां सरोजानां रेणुभिः पिङ्गं पिशङ्गमम्बु माञ्जिष्ठेन महारंजनेनारक्तं माञ्जिष्ठं वसनमिव निर्बभासे 'तेन रक्तं—' इत्यण् । 'कौशेयम्' इति वा पाठे 'कोशाड्ढञ्' । 'कौशेयं कृमिकोशोत्थम्' इत्यमरः ॥ ३६ ॥

जाह्नवी का जल, जो अत्यन्त अरुण वर्ण की सेनासम्बन्धिनी धूल से भर गया था, और क्षुब्ध होने से तट पर हिलोरें ले रहा था, लाल वर्ण का हो गया फिर हाथियों की क्रीड़ा से उन्मथित कमल के पीले पराग से मिश्रित होकर वह मजीठ के रङ्ग में रँगे हुए वस्त्र की तरह दिखलाई पड़ने लगा ॥ ३६ ॥

श्रीमद्भिर्नियमितकन्धरापरान्तैः संसक्तैरगुरुवनेषु साङ्गहारम् ।
सम्प्रापे निसृतमदाम्बुभिर्गजेन्द्रैः प्रस्यन्दिप्रचलितगण्डशैलशोभा ॥ ३७ ॥

श्रीमद्भिरिति ॥ श्रीमद्भिः शोभावद्भिर्नियमिताः कन्धरा अपरान्ताश्चरमपादाग्राणि च येषां तैः । 'अपरः पश्चिमः पादः' इति वैजयन्ती । अगुरुवनेषु साङ्गहारं साङ्गविक्षेपं यथा तथा संसक्तैर्निसृतानि प्रसृतानि मदाम्बूनि येषां तैर्गजेन्द्रैः प्रस्यन्दिनो जलस्राविणः प्रचलिता ये गण्डशैलाश्च्युतोपलास्तेषां शोभा सम्प्रापे प्राप्ता । कर्मणि लिट् । 'गण्डशैलास्तु च्युताः स्थूलोपला गिरेः' इत्यमरः । अत्रान्यशोभाप्राप्त्यसम्भवात्तत्सदृशी शोभेति प्रतिबिम्बत्वाक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ॥ ३७ ॥

(सेना के) वे गजराज, जो पिछले पैर और कन्धे में जंजीर लगाकर चन्दन के वृक्षों में बाँध दिये गये थे (किसी तरह छुटकारा पाने के लिये) प्रयत्न कर रहे थे। उनसे मद की धारा बह रही थी । उस समय उनकी शोभा उन पर्वतों के समान हो रही थी जिनसे बड़े-बड़े पत्थर की शिला टूट-टूट कर गिरती हो और साथ ही साथ झरने भी झरते हों ॥ ३७ ॥

निःशेषं प्रशमितरेणु वारणानां स्रोतोभिर्मदजलमुज्झतामजस्रम् ।
आमोदं व्यवहितभूरिपुष्पगन्धो भिन्नैलासुरभिमुवाह गन्धवाहः ॥ ३८ ॥

निःशेषमिति ॥ गन्धं वहतीति गन्धवाहो वायुः । कर्मण्यण् । निःशेषं यथा तथा प्रशमितो रेणुर्येन तन्मदजलं स्रोतोभिर्मदनाडीभिरजस्रमुज्झतां वर्षतां वारणानां सम्बन्धिनं व्यवहितस्तिरस्कृतो भूरिर्बहुलः पुष्पगन्धो येन सः । भिन्नाः फुल्ला एला लताविशेषाः । 'पृथ्वीका चन्द्रवालेला' इत्यमरः । तत्पुष्पाणि चैलाः । 'पुष्पे जातीप्रभृतयः स्वलिङ्गा व्रीहयः फले' इत्यमरः । भिन्नैलावत्सुरभि घ्राणेन्द्रियतर्पणमित्युपमा । आमोदं परिमलमुवाह वहति स्म ॥ ३८ ॥

उस देवसेना के हाथी निरन्तर अपनी सातों नाड़ियों के द्वारा मदक्षरण कर रहे थे जिससे सम्पूर्ण धूलि शान्त हो गयी । उस मदगन्ध से उत्कट भी फूलों की सुगन्धि छिप गई थी और वह इलायची के गन्ध से मिलती-जुलती थी । उसे गन्ध के वोढा (ढोने वाले) पवनदेव ने ग्रहण किया ॥ ३८ ॥

साहश्यं दधति गभीरमेघघोषैरुन्निद्रक्षुभितमृगाधिपश्रुतानि ।
आतेनुश्चकितचकोरनीलकण्ठान्कच्छान्तानमरमहेभबृंहितानि ॥ ३९ ॥

साहश्यमिति ॥ गभीरमेघघोषैः सान्द्रगर्जितैः साहश्यं दधतीत्युपमा । दधातेः शतृप्रत्ययः । 'वा नपुंसकस्य' इति विकल्पान्नुमभावः । उन्निद्रा बृंहितश्रवणादेव प्रबुद्धाः क्षुभिताः संरब्धाश्च ये मृगाधिपास्तैः श्रुतान्याकर्णितानि । न तु प्रतिबुद्धानीति भावः । अमरमहेभबृंहितानि सुरगजगर्जितानि कच्छान्तानन्नूपप्रदेशान् । 'जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः । चकिता गर्जितशङ्कया सम्भ्रान्ताश्चकोराः पक्षिविशेषा नीलकण्ठा मयूराश्च येषु तांस्तथाभूतानातेनुः । भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ३९ ॥

देवताओं के विशाल हाथियों की चिग्घाड़ें, जिन्हें निद्रा का परित्याग करके और क्षुब्ध होकर सिंहों ने सुना, गम्भीर मेघ-गर्जन के सदृश थीं । उन्होंने सुरसरिता के कच्छ में निवास करने वाले चकोर और मयूरादि पक्षियों को भी आश्चर्यचकित कर दिया ॥ ३९ ॥

शाखावसक्तकमनीयपरिच्छदानामध्वश्रमातुरवधूजनसेवितानाम् ।
जज्ञे निवेशनविभागपरिष्कृतानां लक्ष्मीः पुरोपवनजा वनपादपानाम् ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये सप्तमः सर्गः ।

शाखेति ॥ परिच्छाद्यतेऽनेनेनि परिच्छदः परिकरो वसनाभरणादिः 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इति घप्रत्ययः । 'छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य' इति ह्रस्वत्वम् । शाखास्ववसक्ताः कमनीयाः परिच्छदा येषां तेषामध्वनि श्रमस्तेनातुरैः पीडितैर्वधूजनैः सेवितानां निवेशनविभागैरावसतिकावच्छेदैः परिष्कृतानामलंकृतानाम् । 'संपर्युपेभ्यः' इत्यादिना सुट् । वनपादपानामरण्यवृक्षाणां पुरे यदुपवनं कृत्रिमवनं तत्र जाता पुरोपवनजा लक्ष्मीः शोभा जज्ञे जाता । अत्रान्योन्यलक्ष्मीसम्बन्धासम्भवात्तत्सदृशीति साहश्याक्षेपाद-संभवे तद्वस्तुसंबन्धेयं निदर्शना । वसन्ततिलकावृत्तम्—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति लक्षणात् ॥ ४० ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां सप्तमः सर्गः समाप्तः ॥

वनवृक्षों की डालियों में (सुराङ्गनाओं के) सुन्दर-सुन्दर परिधान लटक रहे थे । मार्ग की थकावट से चूर-चूर होकर सुरवधुवें उन्हीं वृक्षों के नीचे विश्राम कर रहीं थीं । वृक्षों के नीचे की भूमि के भाग जितने में वे लोग काम चला सकती थीं, झाड़-बोहार कर साफ कर दिये गये थे । अतः उनकी शोभा नगर के उपवनों के सदृश हो गई थी ॥ ४० ॥

सातवाँ सर्ग समाप्त ।

अष्टमः सर्गः

अथ स्वमायाकृतमन्दिरोज्ज्वलं ज्वलन्मणि व्योमसदां सनातनम् ।
सुराङ्गना गोपतिचापगोपुरं पुरं वनानां विजिहीर्षया जहुः ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथ निवेशनानन्तरं सुराङ्गना अप्सरसः स्वमायया स्वेच्छाविशेषेण कृतैर्निर्मितैर्मन्दिरैरुज्ज्वलं दीप्तम् । ज्वलन्तो मणयो यस्मिंस्तद्व्योमसदां गन्धर्वाणां सनातनं सदातनम् । 'सायंचिरं–' इत्यादिना भावार्थे ठ्युप्रत्ययः । गौर्वज्रं तत्पतिरिन्द्रस्तच्चापवर्णानि गोपुराणि यस्य तत्तथोक्तमित्युपमा । पुरं नगरं वनानां विजिहीर्षया वनानि विहर्तुमिच्छया । कर्मणि षष्ठी । जहुस्तत्यजुः ॥ जहातेर्लिट् । अत्र ज्वलं ज्वलदिति पुरंपुरमिति चासकृद्व्यञ्जनद्वयावृत्त्या छेकानुप्रासः । अन्यत्र तद्वैपरीत्याद्वृत्त्यनुप्रास इति तथोपमायाश्च संसृष्टिः । अस्मिन्सर्गे वंशस्थं वृत्तम्—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

वृक्षों की छाया में निवास करने के अनन्तर सुरकामिनियों ने वन में विहार करने की कामना से अपने नगर का परित्याग किया था । उनका नगर उनकी माया से निर्मित भवनों से दीप्त था । उसमें चमकते हुए रत्न भी थे । यह गन्धर्वों का सनातनी नगर था । इसके फाटक इन्द्रधनुष के समान विविध रङ्गों से विभूषित थे ॥ १ ॥

यथायथं ताः सहिता नभश्चरैः प्रभाभिरुद्भासितशैलवीरुधः ।
वनं विशन्त्यो वनजायतेक्षणाः क्षणद्युतीनां दधुरेकरूपताम् ॥ २ ॥

यथायथमिति ॥ यथायथं यथास्वम् । स्वकीयमनतिक्रम्येत्यर्थः । 'यथास्वं तु यथायथम्' इत्यमरः । नपुंसकनिपातनं तु ह्रस्वार्थम् । नभश्चरैर्गन्धर्वैर्मेघैश्च सहिताः प्रभाभिः स्वदीप्तिभिरुद्भासिताः शैलवीरुधो याभिस्ताः पूर्वोक्ता वनजायतेक्षणाः पद्मलोचनाः श्रियो वनं विशन्त्यः । क्षणं द्युतिर्यासां तासां क्षणद्युतीनां विद्युतामेकरूपतां समानरूपतां दधुः । मुहुर्द्रुमान्तराले तासां स्फुरणस्य क्षणिकत्वादिति भावः । श्लेषानुप्राणितेयमुपमा । श्लेषत्वमिति केचित् । उभयथाप्यनुप्रासेन संसर्गः ॥ २ ॥

कमल के सदृश विशालनेत्रा वे सुरसुन्दरियाँ अपने-अपने (प्रिय) गन्धर्वों के साथ अपनी कान्तियों से पर्वत और वृक्ष–लताओं को उद्भासित करती हुई वन में जिस समय (विहारार्थ) प्रवेश कर रही थीं उस समय विद्युल्लता की सी शोभा वहन करती थीं ॥ २ ॥

निवृत्तवृत्तोरुपयोधरक्लमः प्रवृत्तनिर्ह्रादिविभूषणारवः ।
नितम्बिनीनां भृशमादधे धृतिं नभःप्रयाणादवनौ परिक्रमः ॥ ३ ॥

निवृत्तेति ॥ निवृत्तो गतो वृत्तस्य वर्तुलस्योरुपयोधरस्य क्लमो यस्मिन्सः । पादप्रक्षेपेषु विश्रान्तिसंभवादिति भावः । किञ्च । प्रवृत्तो जातो निर्ह्रादिविभूषणानां नूपुरादीनामारवो यस्मिन्सः । अवनौ पृथिव्यां परिक्रमः सञ्चारो नितम्बिनीनां

नभःप्रयाणाद् भृशमधिकम्। 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी। धृतिं सन्तोषमादधे। अत्र विशिष्टपरिक्रमस्य धृत्यादानहेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३ ॥

नितम्बवती सुरबालाओं को आकाश-मार्ग से यात्रा करने की अपेक्षा भूमि पर परिभ्रमण करना अधिक सुखावह हुआ। इस पृथ्वी के परिक्रम से उनके गोल-गोल जाँघ और स्तनों की थकावट दूर हो गई थी। उनमें उनके नूपुरों की मंजुल ध्वनि हो रही थी ॥ ३ ॥

घनानि कामं कुसुमानि बिभ्रतः करप्रचेयान्यपहाय शाखिनः।
पुरोऽभिसस्रे सुरसुन्दरीजनैर्यथोत्तरेच्छा हि गुणेषु कामिनः ॥ ४ ॥

घनानीति ॥ घनानि सान्द्राणि। न तु विरलानि। करप्रचेयानि हस्तग्राह्याण्यनुच्चानि। 'कृत्यैरधिकार्थवचने' इति तृतीयासमासः। कामं कुसुमानि बिभ्रतो नवकुसुमिताञ्छाखिनस्तरूनपहाय सुरसुन्दरीजनैः पुरोऽग्रेऽभिसस्रेऽभिसृतम्। भावे लिट्। तथा हि। कामिनो गुणेष्वतिशयेषु विषय उत्तरमुत्तरम्। वीप्सार्थेऽव्ययीभावः। यथोत्तरमिच्छा येषां ते यथोत्तरेच्छा उत्तरोत्तराभिलाषुका हि। अत्र परिकरोत्थापितोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ४ ॥

उस शैल के वन-पथ के वृक्ष प्रचुर परिमाण में पुष्प धारण कर रहे थे। उनके पुष्प हाथ से उपलब्ध हो सकते थे। तथापि सुरसुन्दरी जनों ने उन वृक्षों का परित्याग कर आगे बढ़ने के लिये ही यत्न किया कारण यह है कि कामी जन सर्वदा गुणों की अधिकता की खोज में लगे रहते हैं (उपस्थित गुणों से उन्हें सन्तोष नहीं होता) ॥ ४ ॥

तनूरलक्तारुणपाणिपल्लवाः स्फुरन्नखांशूत्करमञ्जरीभृतः।
विलासिनीबाहुलता वनालयो विलेपनामोदहृताः सिषेविरे ॥ ५ ॥

तनूरिति ॥ विलेपनामोदैर्हृता आकृष्टा वनालयो वनभृङ्गास्तनूः कृशा अलक्तैररुणाः पाणय एव पल्लवा यासां ताः स्फुरन्तो नखांशूनामुत्कराः पुञ्जा एव मञ्जर्यस्ता बिभ्रतीति तथोक्ताः। क्विप्। विलासिनीनां बाहव एव लतास्ताः सिषेविरे। अत्र समस्तवस्तुविषयरूपकालङ्कारः। बाह्ववयवानां लतावयवानां पल्लवादीनामपि निरूपणादिति ॥ ५ ॥

वन के भ्रमरों ने सुगन्धिपूर्ण अङ्गरागों से मुग्ध होकर उन सुराङ्गनाओं की दुर्बल भुजलताओं का सेवन किया। जिसमें महावर के लेप से अरुण वर्ण के पल्लव के समान हथेलियाँ थीं। जिनके नखों से किरणें मञ्जरी की तरह निकल रही थीं ॥ ५ ॥

निपीयमानस्तबका शिलीमुखैरशोकयष्टिश्चलबालपल्लवा।
विडम्बयन्ती ददृशे वधूजनैरमन्ददष्टौष्ठकरावधूननम् ॥ ६ ॥

निपीयमानेति ॥ शिलीमुखैरलिभिः। 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः। निपीयमानः स्तबको गुच्छो यस्याः सा। चला बालपल्लवा यस्याः सा। अतएवामन्दं दृढं दष्ट ओष्ठो यस्मिंस्तत्करावधूननं करकम्पनं तद्विडम्बयन्ती। स्तबकपानेनोष्ठदंशनं

पल्लवचलनेन करावधूननं चानुकुर्वतीत्यर्थः। धूञो ण्यन्ताल्लच्ट्। णिचि धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्य॰। अशोकयष्टिः अशोकशाखेत्यर्थः। वधूजनैर्ददृशे दृष्टा। अत्र विडम्बयन्तीति प्रस्तुताशोकशाखाविशेषणभूतोपमामहिम्ना प्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिरुत्तिष्ठमानतयैवोपमयाङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यते॥ ६॥

भ्रमरों ने अशोकलता के पुष्प-गुच्छों का मकरन्द पान कर लिया था। उस (अशोक लता) के कोमल अरुण किसलय इस तरह हिल रहे थे जैसे तीक्ष्ण ओष्ठ-दंश के कारण (भ्रमरों को दूर भगाने के लिये) कामिनियों के हाथ इधर-उधर सञ्चालित होते हैं। (यह दृश्य सुरवधुओं के लिये बड़ा ही मनोरम था)॥ ६॥

अथ कश्चिन्मधुकराक्रान्तां कञ्चिदाह—

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती वृथा कृथा मानिनि मा परिश्रमम्।
उपेयुषी कल्पलताभिशङ्कया कथं न्वितस्त्रस्यति षट्पदावलिः॥ ७॥

कराविति॥ मानपरिहारेण मधुपाश्रयणे तु न कश्चित्बाध इत्याशयेन संबोधयति—हे मानिनीति। नवपल्लवस्याकृतिरिवाकृतिर्ययोरित्युपमा। तौ करौ धुनाना। धूञः क्रैयादिकात्कर्तरि लटः शानच्। वृथा व्यर्थं परिश्रमं मा कृथा मा कुरुष्व। करोतेराशीरर्थे माङि लुङ्। वृथात्वे हेतुमाह-कल्पलताभिशङ्कया कल्पवल्लिभ्रमेणेति भ्रान्तिमदलङ्कारः। उपेयुष्युपगता षट्पदावलिः कथं न्वितस्त्रस्यति बिभेति। न त्रस्यत्येवेत्यर्थः। 'वा भ्राश—' इत्यादिना विकल्पेन श्यन्प्रत्ययः। अत्र कान्तापरिश्रमवैयर्थ्यरूपकार्यस्य षट्पदावलेः कल्पवल्लीभ्रमनिबन्धनवित्रासरूपकारणसमर्थनात्कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासो भ्रान्तिमताङ्गाङ्गिभावेन संकीर्णः। स तूपमया संसृज्यते॥

किसी युवती को भ्रमर-पंक्ति घेरे हुई है इस पर कोई व्यक्ति कह रहा है :—

ऐ मानशालिनि, अपने हाथों को नये-नये पल्लवों के समान इतस्ततः सञ्चालन करके व्यर्थ का कष्ट मत उठाओ। यह भ्रमर-पंक्ति कल्पलता के भ्रम में पड़कर तुम्हारे समीप आई हुई है क्यों तुम डरती हो॥ ७॥

अथ काचित्सखी काञ्चित्प्रणयकुपितामाह—

जहीहि कोपं दयितोऽनुगम्यतां पुराऽनुशते तव चञ्चलं मनः।
इति प्रियं कञ्चिदुपैतुमिच्छतीं पुरोऽनुनिन्ये निपुणः सखीजनः॥ ८॥

जहीहीति॥ प्रियमुपैतुं स्वयमेवानुसर्तुमिच्छतीम्। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः। काञ्चिन्नायिकां निपुणश्चित्तज्ञः सखीजनः। कोपं जहीहि त्यज। 'आ च हौ' इति विकल्पादीकारादेशः। दयितोऽनुगम्यतामनुस्रियताम्। उभयथापि प्रार्थनायां लोट्। अन्यथा चञ्चलमस्थिरं तव मनः पुराऽनुशेतेऽग्रेऽनुशयिष्यते। अनुतप्स्यत इत्यर्थः। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति लट्। इत्यनेन प्रकारेण पुरः पूर्वमेवानुनिन्ये प्रसादयामास॥ ८॥

एक रमणी अपने प्रिय से क्रुद्ध हो गई है इस पर एक सखी कह रही है :—

'मान छोड़ दो। प्रिय का अनुसरण करो। तुम्हारा मन तो एक पहलू पर नहीं रह सकता आगे चलकर मालूम होगा' इस प्रकार से एक चतुर सखी ने अपनी सखी को, जो अपने प्रिय के पास जाना ही चाहती थी, समझा-बुझाकर पहिले ही से प्रसन्न कर दिया ॥ ८ ॥

अथ चतुर्भिः श्लोकैः कलापकमाह—

समुन्नतैः काशदुकूलशालिभिः परिक्वणत्सारसपङ्क्तिमेखलैः।
प्रतीरदेशैः स्वकलत्रचारुभिर्विभूषिताः कुञ्जसमुद्रयोषितः॥ ९॥

समुन्नतैरिति ॥ समुन्नतैः काशान्यश्ववालकुसुमानि तानि दुकूलानीव तैः शालन्त इति तथोक्तैः। सारसपङ्क्तयो मेखला इव ताः परिक्वणन्त्यो येषु ते त्तैः स्वेषां कलत्राणि श्रोण्यास्तद्वच्चारवस्तैः। 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इत्यमरः। प्रतीरदेशैर्विभूषितास्तटप्रदेशैर्भूषिताः। कुञ्जसमुद्रयोषितः। वननद्य इत्यर्थः। अत्र तीरादीनां कलत्राद्यौपम्योपमेयत्वाद्योषिच्छन्दसामर्थ्याच्च नदीनां योषिदौपम्यं गम्यते॥ ९॥

शैल-सरितायें अपने ऊँचे-ऊँचे तटप्रदेश से सुशोभित हुईं। वे तट विकसित काश से, जो वस्त्र के समान था, सुशोभित हो रहे थे। उस तट पर कलकूजन करती हुई सारसों की पंक्ति करधनी के समान शोभित हो रही थी। वे तट नितम्बिनी के नितम्ब के समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ९ ॥

विदूरपातेन भिदामुपेयुषश्च्युताः प्रवाहादभितः प्रसारिणः।
प्रियाङ्कशीताः शुचिमौक्तिकत्विषो वनप्रहासा इव वारिबिन्दवः॥ १०॥

विदूरेति ॥ विदूरपातेन भिदां भेदम्। 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' । उपेयुषः उपगतात्प्रवाहाच्च्युता अतएवाभितः प्रसारिणः प्रसर्पन्त इति प्रियाया अङ्क उत्सङ्ग इव शीताः शीतलाः शुचीनां मौक्तिकानां त्विष इव त्विषो येषां ते किञ्च वनस्य प्रहासा इव स्थिता इत्युत्प्रेक्षा। वारिबिन्दवश्च। अत्रोपमयोरुभयोरुत्प्रेक्षायाश्च संसृष्टिः॥१०॥

उन्नत प्रदेश से गिरने के कारण सरिता-प्रवाह खण्ड-खण्ड हो रहे थे। उन प्रवाहों से च्युत होकर जलकण इतस्ततः फैल रहे थे। वे मनोरमा प्रिया के अङ्क के समान शीतल थे। उनमें शुभ्र मोती की कान्ति के सदृश कान्ति थी जिससे वे वनों के प्रहास के सदृश उपलक्षित हो रहे थे ॥ १० ॥

सखीजनं प्रेम गुरूकृतादरं निरीक्षमाणा इव नम्रमूर्तयः।
स्थिरद्विरेफाञ्जनशारितोदरैर्विसारिभिः पुष्पविलोचनैर्लताः॥ ११॥

सखीति ॥ द्वौ रेफौ वर्णविशेषौ येषां ते द्विरेफाः। भ्रमरशब्देन तदर्थो लक्ष्यते। 'द्व्यक्षरं मासमिति विदधाति' इति भाष्यकारः। स्थिरा निश्चला द्विरेफा एवाञ्जनानि तैः शारितानि शबलीकृतान्युदराणि येषां तैः। 'शारः शबलवातयोः' इति विश्वः।

विसारिभिर्विस्तृतैः पुष्पाण्येव विलोचनानि तैः प्रेम्णा गुरूकृतः आदरो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा सखीजनं निरीक्षमाणाः पश्यन्त्य इव स्थिताः । कुतः । नम्रमूर्तयोऽवनताङ्ग्यो लताश्च । अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोः संकरः ॥ ११ ॥

लतायें फूली हुई थीं । वे पुष्पों से लदी हुई थीं । पुष्पों पर मधुकर मुग्ध होकर अविचल भाव से मकरन्द पान कर रहे थे । इस दृश्य के देखने से यह मालूम पड़ता था कि मानों लतायें, निश्चल भ्रमरालि रूप अञ्जन से अञ्जित, विशाल, पुष्प रूप नेत्रों के द्वारा प्रेमाधिक होने के कारण अतिशय आदर के पात्रभूत सखीवर्ग को देख रही हैं ॥ ११ ॥

उपेयुषीणां बृहतीरधित्यका मनांसि जह्रुः सुरराजयोषिताम् ।
कपोलकाषैः करिणां मदारुणैरुपाहितश्यामरुचश्च चन्दनाः ॥ १२ ॥

उपेयुषीणामिति ॥ मदेनारुणैरव्यक्तरागैः । 'अव्यक्तरागस्त्वरुणः' इत्यमरः । करिणां कपोलानां काषैः कषणैरुपाहितश्यामरुचो जनितकृष्णवर्णा इति तद्भूषणालङ्कारः । चन्दना मलयजाः । 'गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । बृहतीरधित्यका ऊर्ध्वभूमीरुपेयुषीणां सुरराजयोषितां मनांसि जह्रुः । अत्र चतुःश्लोक्या नद्यादीनां विशिष्टानामेवाप्सरोमनोहरणहेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमुन्नेयम् ॥ १२ ॥

इन्द्रकील पर्वत की विस्तीर्ण चोटी पर पहुँचकर सुराङ्गनाओं का मन वृक्षों की कान्ति को देखकर आकृष्ट हो गया । मद से अरुण कपोलों के घर्षण से हाथियों ने उन चन्दनों की कान्ति को श्यामवर्ण कर दिया था ॥ १२ ॥

स्वगोचरे सत्यपि चित्तहारिणा विलोभ्यमानाः प्रसवेन शाखिनाम् ।
नभश्चराणामुपकर्तुमिच्छतां प्रियाणि चक्रुः प्रणयेन योषितः ॥ १३ ॥

स्वगोचर इति ॥ चित्तहारिणा मनोहरेण शाखिनां प्रसवेन पुष्पजातेन विलोभ्यमाना आकृष्यमाणा योषितः स्वगोचरे स्वविषये । स्वकरप्रचये सत्यपीत्यर्थः । प्रसव इति शेषः । उपकर्तुं परिचरितुमिच्छतां नभश्चराणां गन्धर्वाणां प्रणयेन सहायहेतुना प्रियाणि चक्रुः । स्वकरग्राह्यमपि प्रसवं स्वकान्तप्रियार्थं तद्दीयमानमेवाग्रहीषुरित्यर्थः ॥ १३ ॥

उस इन्द्रकील की अधित्यका पर वृक्षों में सुन्दर-सुन्दर फूल खिले हुए थे, सुराङ्गनायें वृक्षों के मनोहर पुष्पों से मोहित हो गई थीं । उनके करों द्वारा वे पुष्प सुलभ थे तथापि वे (अप्सरायें) परिचर्य्याभिलाषी गन्धर्वों की सहायता-स्वीकृति द्वारा उन्हें (गन्धर्वों को) प्रसन्न की अर्थात् स्वयं पुष्प-चयन न करके अपने प्रिय सहचरों के द्वारा चुने हुए पुष्पों को ही ग्रहण करती थीं ॥ १३ ॥

प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता ।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख बाष्पाकुललोचना भुवम् ॥ १४ ॥

प्रयच्छतेति ॥ कुसुमानि प्रयच्छता ददता दयितेनोच्चैरुच्चैस्तरां विपक्षगोत्रं सप-

स्त्रीनामधेयं लम्भिता प्रापिता। तन्नाम्नाहूतेत्यर्थः। 'नाम गोत्रं कुलं गोत्रम्' इति शाश्वतः। मानिन्यत एव न किंचिदूचे। कर्तरि लिट्। किन्तु केवलं बाष्पाकुललोचना सती चरणेन भुवं लिलेख। गोत्रस्खलनजनितेर्ष्यानिमित्तनिर्वेदादिति भावः। मानिन्यत एव न किञ्चिदूच इत्युक्तम्। तदुक्तं दशरूपके—'तत्त्वाज्ञानापदोर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमानना। तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः॥' इति॥ १४॥

एक अप्सरा, जिस समय उसका प्रेमी गन्धर्व भ्रम से उसकी सपत्नी के नाम से उसे तार स्वर से सम्बोधित कर पुष्पों का गुच्छा प्रदान कर रहा था, मानकर कुछ भी नहीं बोली और आँखों में आँसू भरकर केवल पैर से भूमि खोदने लगी॥ १४॥

प्रियेऽपरा यच्छति वाचमुन्मुखी निबद्धदृष्टिः शिथिलाकुलोच्चया।
समादधे नांशुकमाहितं वृथा विवेद पुष्पेषु न पाणिपल्लवम्॥ १५॥

प्रिय इति॥ वाचं यच्छति ददाति। समालपतीत्यर्थः। दाञः शतृप्रत्ययः। 'पाघ्रा—' इत्यादिना यच्छादेशः। प्रिये निबद्धदृष्टिरत एवोन्मुखी। शिथिलाः श्लथ आकुलश्चलितश्च तादृश उच्चयो नीवीबन्धो यस्याः सा। 'नारीकट्यंशुकग्रन्थौ नीवी स्यादुच्चयोऽप्यथ' इति मार्तण्डः। अपरान्या स्त्र्यंशुकं न समादधे न बबन्ध। रागपारवश्यादिति भावः। पुष्पेषु वृथा व्यर्थमाहितमारोपितम्। अस्थाने प्रसारितमित्यर्थः। पाणिपल्लवं च न विवेद। प्रियासक्तचित्तत्वादिति भावः। एषा च प्रगल्भा नायिका। 'पाणिपल्लवम्' इत्यत्रान्यतरसाधकबाधकप्रमाणाभावादुपमारूपकयोः सन्देहसङ्करः॥ १५॥

कोई दूसरी, अपने प्रिय के वार्तालाप में तन्मनस्क होकर एकटक देखने लगी और उसकी तरफ मुख किये हुई खड़ी हो गई। उसकी नीवी (स्त्री के कमर में दी हुई वस्त्र की ग्रन्थि) खिसक गई। वह उसे सम्हालना भूल गई। 'फूलों की तरह पल्लव के सदृश उसका हाथ ठीक नहीं पड़ रहा था' यह भी उसे न मालूम हो सका अर्थात् इतना वह उसके प्रेमालाप में आसक्त थी कि अपने शरीर की तथा कार्य की भी सुधि उसे न रही॥ १५॥

सलीलमासक्तलतान्तभूषणं समासजन्त्या कुसुमावतंसकम्।
स्तनोपपीडं नुनुदे नितम्बिना घनेन कश्चिज्जघनेन कान्तया॥ १६॥

सलीलमिति॥ आसक्ता लतान्ताः पल्लवा भूषणं यस्य तत्। पल्लवैः सह ग्रथितमित्यर्थः। कुसुमावतंसकं पुष्पशेखरम्। कान्तदत्तमिति भावः। सलीलं सविलासं समासजन्त्या शिरसि प्रतिदधत्या। 'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि' इति नलोपः। कान्तया-कश्चित्स्तनाभ्यामुपपीड्येति स्तनोपपीडम्। 'सप्तम्यां च—' इत्यादिना णमुल्प्रत्ययः। नितम्बिना। प्रशंसायामिनिः। घनेन निबिडेन जघनेन। 'पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः' इत्यमरः। नुनुदे नुन्नः। अंशुकातिरेकादिति भावः। एषा च प्रगल्भैव॥ १६॥

किसी और सुराङ्गना ने प्रियतम के द्वारा समर्पित अरुण कोमल पत्तों से युक्त पुष्पाभरण को शिर पर धारण करती हुई वक्षस्थल की शोभा में न्यूनता देख अपने मनोरम जघनों को दिखाकर प्रियतम को अपनी ओर आकृष्ट कर (खींच) लिया ॥ १६ ॥

अथ युग्मेनाह—

कलत्रभारेण विलोलनीविना गलद्दुकूलस्तनशालिनोरसा।
वलिव्यपायस्फुटरोमराजिना निरायतत्वादुदरेण ताम्यता ॥ १७ ॥
विलम्बमानाकुलकेशपाशया कयाचिदाविष्कृतबाहुमूलया ।
तरुप्रसूनान्यपदिश्य सादरं मनोधिनाथस्य मनः समाददे ॥ १८ ॥

कलत्रेति ॥ विलोलनीविना गात्रोन्नमनाद्विश्लिष्टवस्त्रग्रन्थिना कलत्रभारेण श्रोणिभारेण । 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इत्यमरः । तथा गलत्स्रंसमानं दुकूलं याभ्यां ताभ्यां स्तनाभ्यां शालत इति तथोक्तेनोरसा तथा वलिव्यपायेन भङ्गिनिवृत्त्या स्फुटा रोमराजिर्यस्मिंस्तेन निरायतत्वादप्रसारितत्वात्ताम्यता तनूभवतोदरेण चोपलक्षितया । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १७ ॥

विलम्बमानेति ॥ विलम्बमानो विस्रंसमान आकुलो विलुलितश्च केशपाशो यस्यास्तयाविष्कृतबाहुमूलया दर्शितकक्षप्रदेशया कयाचित्कान्तया तरुप्रसूनान्यपदिश्य । प्रसूनग्रहणं व्याजीकृत्येत्यर्थः । 'व्याजोऽपदेशो लक्ष्यं च' इत्यमरः । सादरं साभिलाषं मनोधिनाथस्य प्रियस्य मनः समादद आचकृषे । कर्मणि लिट् । सर्वाङ्गसौष्ठवदर्शनारसद्यो लग्नं प्रियमनस्तत्रेति भावः । अत्र प्रियमनोहरणहेतुभिः कान्ताविशेषणपदार्थैः काव्यलिङ्गमुत्तिष्ठमानं स्वभावोक्त्या सहाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ॥ १८ ॥

अन्य किसी और अमराङ्गना ने, नितम्ब के भार से जिसकी नीवी (वस्त्रग्रन्थि) ढीली पड़ गई थी, जिसके स्तन विवस्त्र होकर वक्षस्थल की शोभा वृद्धि में लगे हुए थे, और जिसके कृश उदर पर त्रिवली के न रहने से रोमराजि स्पष्ट दृष्टिपथानुवर्तिनी हो रही थी, अपने प्रियतम के मन को फूल ग्रहण करने के बहाने आकृष्ट कर लिया। उसने, (इन्हीं बातों से नहीं किन्तु) पीठ पर कटि पर्यन्त लटकते हुए घुँघराले केशों से तथा कक्षप्रदेश को खोल रखने के कारण भी अपने प्रियतम के मन को आकृष्ट कर लिया ॥ १७–१८ ॥

व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः ।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी ॥ १९ ॥

व्यपोहितुमिति ॥ उन्नतौ च पीवरौ च स्तनौ यस्याः सोन्नतपीवरस्तनी । 'स्वाङ्गाच्च—' इत्यादिना ङीप् । काचिल्लोचनतः स्वनेत्रात्पुष्पजं रजः परागं मुखानिलैः फूत्कारमारुतैर्व्यपोहितुमपनेतुमपारयन्तं किलाशक्नुवन्तम् । किलेत्यलीके । वस्तुतस्तदास्यस्पर्शलोभादपारयन्तमित्यर्थः । प्रियमुन्मना उत्सुका सत्यत एव पयोधरेणो-

रसि जघान: । तत्कपटपरिज्ञानजन्यादौत्सुक्यादिति भावः । हननस्थानत्वादुरसीति सप्तमी । इयं च प्रगल्भैव ॥ १९ ॥

यहीं तक अप्सराओं की क्रीडा समाप्त नहीं हो जाती किन्तु बड़ी विलक्षण क्रीड़ा है देखिये आपने कभी ऐसा देखा न होगा :—

और एक सुरबाला, जिसके स्तन उठे हुए और कठोर थे, अपने प्रिय को जो नेत्रों में पड़े हुए पुष्पराग को मुख के फूक से निकालने में असमर्थता प्रकट करते हुए की भाँति थे, उनके प्रति उत्कण्ठित होकर अपने पयोधर से हृदय ताक कर मारी ॥ १९ ॥

इमान्यमूनीत्यपवर्जिते शनैर्यथाभिरामंकुसुमाग्रपल्लवे ।
विहाय निःसारतयेव भूरुहान्पदं वतश्रीर्वनितासु सन्दधे ॥ २० ॥

इमानीति ॥ यथाभिरामम् । वीप्सायामव्ययीभावः । कुसुमान्यग्रपल्लवानि च कुसुमाग्रपल्लवं तस्मिन् । 'जातिरप्राणिनाम्' इत्येकवद्भावान्नपुंसकत्वम् । इमान्यमूनीतीत्थम् । निर्देशपूर्वकमित्यर्थः । इदमदसी सन्निकृष्टविप्रकृष्टार्थे । शनैरपवर्जितेऽपाचते सति वनश्रीर्निःसारतयेवेति हेतूत्प्रेक्षा । भूरुहांस्तरून्विहाय वनितासु पदं सन्दधे । अत्र वनितागतायाः पुष्पप्रसाधनसम्भवाया लक्ष्म्या विषयभूताया निगरणेन विषयेण वनश्रियो वनितागमनत्वोक्त्याऽसम्बन्धे सम्बन्धरूपाऽभेदे भेदरूपा वातिशयोक्तिरलङ्कारः । 'विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते । यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कविप्रौढोक्तिजीविता ॥' इति लक्षणादुत्प्रेक्षाङ्गत्वमस्याः ॥ २० ॥

'ये (फूल मुझे दो), उन्हें (मुझ दो)' इस प्रकार से वन-वृक्षों के फूल और पत्ते के तोड़ लिये जाने पर उनकी मनोभिरामता नष्ट हो गयी फिर वह वनश्री, तत्त्वरहित होने के कारण वृक्षों का परित्याग कर उन्हीं सुरबालाओं का आश्रय ली (अर्थात् उन फूल पत्तों को जिनको सुरनारियों ने तोड़ा था उन्हें यथास्थान अपने अङ्गों पर धारण किया था इससे वे पूर्ण शोभासम्पन्न दिखलाई पड़ने लगीं ॥ २० ॥

प्रवालभङ्गारुणपाणिपल्लवः परागपाण्डूकृतपीवरस्तनः ।
महीरुहः पुष्पसुगन्धिराददे वपुर्गुणोच्छ्रायमिवाङ्गनाजनः ॥ २१ ॥

प्रवालेति ॥ प्रवालभङ्गेन पल्लववलयेनारुणः पाणिपल्लवो यस्य । तद्रसरञ्जनादित्यर्थः । परागेण पुष्परजसा पाण्डूकृतौ पीवरौ स्तनौ यस्य सः । पुष्पैः सुगन्धिः सुरभिरङ्गनाजनो महीरुहो वृक्षजाताद्वपुर्गुणस्य स्वदेहगुणस्योच्छ्रायः पाणिपल्लवारुण्यादेर्य उत्कर्षस्तमाददे लब्धवानिवेत्युत्प्रेक्षा । वस्तुतस्तु स्वाभाविक एव प्रवालभङ्गादिभिरभिव्यज्यत इति भावः । उत्कृष्टः श्राय उच्छ्राय इति घञन्तेन प्रादिसमासः । तूपसृष्टाद्घञ्प्रत्ययः । 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' इति प्रतिषेधात ॥ २१ ॥

सुराङ्गना लोगों का कर-किसलय नये-नये पल्लवों के तोड़ने से रंगकर अरुण वर्ण हो गया था । पुष्पों के पराग से उनके स्थूल पयोधर पाण्डुरवर्ण के दिखलाई पड़ते थे । फूलों

के धारण करने से उनके अङ्ग सुरक्षित हो रहे थे। मालूम पड़ता था कि शरीर के गुणों की उत्कृष्टता वृक्षों से ही उन्हें प्राप्त हुई थी ॥ २१ ॥

पञ्चभिः कुलकमाह—

वरोरुभिर्वारणहस्तपीवरैश्चिराय खिन्नान्नवपल्लवश्रियः।
समेऽपि यातुं चरणाननीश्वरान्मदादिव प्रस्खलतः पदे पदे ॥ २२ ॥

वरोरुभिरिति ॥ अनुसानु सानुषु यद्वर्त्म ततः सकाशाद् गुरुणा खेदेन मन्थरमलसं विनिर्यतीनां निर्गच्छन्तीनां सुराङ्गनानां संबन्धिभिर्वारणहस्तपीवरैः करिकरस्थूलैः। वराश्च त ऊरवश्चेति तैः। चिराय खिन्नान्। किंच नवपल्लवानां श्रीरिव श्रीर्येषां तान्। तद्वन्मृदूनित्यर्थः। अत एव समे समस्थलेऽपि। किं पुनर्विषम इति भावः। यातुं गन्तुमनीश्वरानशक्तानत एव मदादिव पदे पदे। वीप्सायां द्विर्भावः। प्रस्खलतश्चरणान्। मदादिवेत्युपमा ॥ २२ ॥

इन्द्रनील के शिखरों पर मार्गों का अनुसरण करती हुई सुरांगनाओं के नूतन किसलय के समान कोमल चरण, हाथी की सूँड़ के सदृश मांसल सुघर जंघाओं से खिन्न होकर उस शिखर की समतल भूमि पर भी चलने में असमर्थ हो गये और पग-पग पर इस प्रकार लड़खड़ाने लगे जैसे मदपान करने से पैर अपने आप में नहीं रहते ॥ २२ ॥

विसारिकाञ्चीमणिरश्मिलब्धया मनोहरोच्छ्रायनितम्बशोभया।
स्थितानि जित्वा नवसैकतद्युतिं श्रमातिरिक्तैर्जघनानि गौरवैः ॥२३॥

विसारीति ॥ विसारिभिः काञ्चीमणिरश्मिभिर्लब्धया। तज्जनितयेत्यर्थः। मनोहर उच्छ्राय उत्सेधो येषां तेषां नितम्बानां शोभया करणेन नवसैकतानां द्युतिं शोभां जित्वा स्थितानि। तत्तुल्यानीत्यर्थः। अत एवोपमालङ्कारः। श्रमेणातिरिक्तैरतिशयितैर्गौरवैर्गुरुत्वैरुपलक्षितानि। नितरां भारायमाणानीत्यर्थः। जघनानि च। उच्छ्रायो व्याख्यातः ॥ २३ ॥

सुरांगनाओं के जघनों ने करधनी में जड़े हुए रत्नों से निकलनेवाली तथा मनोहर और विशाल नितम्बों की शोभा से गंगा के ऊँचे-ऊँचे कगारों को जिस पर नवीन बालुकायें चमक रही थीं, जीत लिया। मार्ग-जनित श्रम से तो वे पथरा गये थे ॥ २३ ॥

समुच्छ्वसत्पङ्कजकोशकोमलैरुपाहितश्रीण्युपनीवि नाभिभिः।
दधन्ति मध्येषु वलीविभङ्गिषु स्तनातिभारादुदराणि नम्रताम् ॥ २४ ॥

समुच्छ्वसदिति ॥ समुच्छ्वसत्पङ्कजकोशकोमलैर्दलत्कमलमुग्धैरित्युपमा। नाभिभिः प्रतारिकाख्यैः। 'अथ नाभिस्तु जन्त्वङ्गे यस्य संज्ञा प्रतारिका' इति केशवः। पुल्लिङ्गतायां तु कविरेव प्रमाणम्। उपनीवि नीवीसमीपे। उपाहितश्रीणि जनितशोभानि तथा वलीविभङ्गिषूर्मिमत्सु मध्येषु जघनस्थलेषु स्तनातिभारान्नम्रतां दधन्ति बिभ्राणानि। 'वा नपुंसकस्य' इति विकल्पाच्छतुर्नुमागमः। उदराणि च ॥ २४ ॥

११ कि०

उन सुररमणियों के उदर, जिसमें ईषत् विकसित कमल-कुड्मल के समान कोमल नाभि ने नीवी के समीप (वस्त्रग्रन्थि के पास) सम्पूर्ण शोभा स्थापित कर दी थी, पीन पयोधरों के भार से नम्रता धारण कर लिये थे। उनके उदर के मध्य भाग त्रिवलियों से सुशोभित हो रहे थे ॥ २४ ॥

समानकान्तीनि तुषारभूषणैः सरोरुहैरस्फुटपत्रपङ्क्तिभिः।
चितानि घर्माम्बुकणैः समन्ततो मुखान्यनुत्फुल्लविलोचनानि च ॥ २५ ॥

समानेति ॥ किंच, घर्माम्बुकणैः स्वेदोदकबिन्दुभिः समन्ततश्चितानि व्याप्तानि। अनुत्फुल्लविलोचनान्यविकसदक्षीण्यत एव तुषारभूषणैः शीकरपरिवृतैः। 'तुषारौ हिमशीकरौ' इति शाश्वतः। अस्फुटपत्रपंक्तिभिरविकचदलावलिभिः। 'व्याकोशविकचस्फुटाः' इत्यमरः। सरोरुहैः समानकान्तीनीत्युपमा। मुखानि च ॥ २५ ॥

(वन विहार के समय) सुरांगनाओं के नेत्र और मुख स्वेद (जल-बिंदु) से व्याप्त होकर उन कमलों की कान्ति की समानता करते थे। जिनकी पंखुड़ियाँ कलियों में सम्पुटित रहतीं और उनके चारों तरफ नीहार-कण विभूषित रहते हैं ॥ २५ ॥

विनिर्यतीनां गुरुखेदमन्थरं सुराङ्गनानामनुसानु वर्त्मनः।
सविस्मयं रूपयतो नभश्चरान् विवेश तत्पूर्वमिवेक्षणादरः ॥ २६ ॥

विनिर्यतीनामिति ॥ सविस्मयं रूपयतः पूर्वोक्तचरणादीनि वर्णयतो नभश्चरान् गन्धर्वान् तत्पूर्वमिव तदेव प्रथमं यथा तथेत्युत्प्रेक्षा। ईक्षणादर आलोकनकौतुकं विवेश। पूर्वार्धं व्याख्यातम्। अत्र कुलके स्वभावोक्तिरुत्प्रेक्षाङ्गम् ॥ २६ ॥

इन्द्रनील पर्वत के शिखरों के वनपथ पर विचरण करती हुई सुरललनाओं के थक जाने से उनकी गति मन्द पड़ गई थी। श्लोक २२–२५ तक में अप्सराओं के जिन-जिन अङ्गों का वर्णन किया गया है उसे गन्धर्वों ने स्वयं वर्णन किया। उन अङ्गों को देख कर वे इतने मुग्ध हो गये जैसे उन्होंने उसे प्रथम ही देखा हो। अतः उन अङ्गों को देखने की उत्कट अभिलाषा ने गन्धर्वों के ऊपर अपना अधिकार जमा लिया ॥ २६ ॥

संप्रति सलिलक्रीडावर्णनमारभते—

अथ स्फुरन्मीनविधूतपङ्कजा विपङ्कतीरस्खलितोर्मिसंहतिः।
पयोऽवगाढुं कलहंसनादिनी समाजुहावेव वधूः सुरापगा ॥ २७ ॥

अथेति ॥ अथ पुष्पावचयानन्तरं स्फुरद्भिश्चलद्भिर्मीनैर्विधूतपङ्कजेति। सदङ्मुखवीक्षणोक्तिः। विपङ्कं पङ्करहितम्। विहारयोग्यमिति यावत्। तत्र तीरे स्खलिता विचलिता ऊर्मिसंहतिर्यस्याः सेति हस्तसंज्ञोक्तिः। कलहंसनादिनी कादम्बशब्दवतीति वाग्व्यापारोक्तिः। अत एव सुरापगा गङ्गा वधूरप्सरसः पयोऽवगाढुमवगाहितुम्।

गाहेरुदित्वादिड्विकल्पः । समाजुहावेवाकारयामासेवेत्युत्प्रेक्षा । 'हूतिराकारणाह्वानम्' इत्यमरः । ह्वयतेर्लिट् 'अभ्यस्तस्य च' इति सम्प्रसारणम् ॥ २७ ॥

यह तो अप्सराओं का वन-विहार था अब जल-विहार की बारी आई—

सुरनदी (गङ्गा) में मछलियों की चिलक से कमल हिल रहे थे। उनमें कीचड़ नाम मात्र को भी न था, एक के बाद एक लहरों का ताँता लगा हुआ था, कलहंस कल कूजन कर रहे थे। इन सब बातों से यह मालूम पड़ता था मानों गंगा उन सुरवधूटियों को जल में स्नान करने के लिये बुला रही थीं ॥ २७ ॥

प्रशान्तघर्माभिभवः शनैर्विवान् विलासिनीभ्यः परिमृष्टपङ्कजः ।
ददौ भुजालम्बमिवात्तशीकरस्तरङ्गमालान्तरगोचरोऽनिलः ॥२८॥

प्रशान्तेति ॥ प्रशान्तघर्माभिभवः प्रशान्तोष्णबाधः । 'वा दान्तशान्त—' इत्यादि निपातनात्साधुः । शनैर्विवान् मन्दं वहन् । वातेः शतृप्रत्ययः । परिमृष्टपङ्कजः । पद्मगन्धीत्यर्थः । आत्तशीकरः । कुतः । तरङ्गमालानामन्तरे गोचरः स्थानं यस्य सोऽनिलो विलासिनीभ्यो भुजालम्बं ददाविवेत्युत्प्रेक्षा । विशिष्टवायुसंपर्कात्तथोच्छ्वसुरित्यर्थः ।

(जल-विहारार्थ प्रस्थान करते समय) वायु देवता ने धूप के उपद्रव में कमी कर दिया, मन्थर गति धारण कर लिया, और कमलों का स्पर्श कर सुगन्धि भी अपने साथ ले लिया। वे नदी के तरंगों के बीच बीच में डेरा डाल रक्खे थे यही कारण था कि वे जलकण भी वहन करते थे। यही पवन देव का स्वरूप था मालूम पड़ रहा था कि उन सुराङ्गनाओं को तट पर उतरने के लिये वे अपने हाथों का अवलम्बन दे रहे थे ॥ २८ ॥

गतैः सहावैः कलहंसविक्रमं कलत्रभारैः पुलिनं नितम्बिभिः ।
मुखैः सरोजानि च दीर्घलोचनैः सुरस्त्रियः साम्यगुणान्निरासिरे ॥२९॥

गतैरिति ॥ सुरस्त्रियोऽप्सरसः सहावैः सविलासैर्गतिभिः । नपुंसके भावे क्तः । कलहंसानां विक्रमं गतिम् । विलासविधुरमिति शेषः । तथा नितम्बिभिः प्रशस्तनितम्बैः कलत्रभारैः जघनभारैः पुलिनम् । नितम्बभारशून्यमित्यर्थः । तथा दीर्घलोचनैर्मुखैः सरोजानि च । आलोचनानीति शेषः । साम्यगुणात् समानगुणत्वान्निरासिरे निरस्तवत्यः । गुणवदगुणयोः कुतः साम्यमिति भावः । अस्यतेः कर्तरि लिट् । 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा—' इति विकल्पादात्मनेपदम् ॥ २९ ॥

अमराङ्गनाओं ने अपने सविलास मन्थर गमन से राजहंसों की गति को; नितम्बवाले जघनों के भार से (नदी के) सैकत प्रदेश को; विशाल नयनों से युक्त मुखों से कमलों को गुणों की समानता होने के कारण जीत लिया। तात्पर्य यह कि कलहंस तो केवल मन्द गमन के लिये प्रसिद्ध हैं सुराङ्गनाओं में हाव अधिक था। नदी के पुलिनों को जो उन्होंने जीता उसमें भी कारण यह था कि पुलिन तो केवल ऊँचाई के लिये प्रसिद्ध हैं नितम्ब तो उनकी बराबरी करता था जघन भार विशेष पड़ जाता था। उनके मुख से कमलों की

समानता भी ठीक ही है परन्तु कमलों को तो आँख नहीं होती आँखों के कारण वे उनसे कई गुना बढ़ी हुई थीं ॥ २९ ॥

विभिन्नपर्यन्तगमीनपङ्क्तयः पुरो विगाढाः सखिभिर्मरुत्वतः ।
कथंचिदापः सुरसुन्दरीजनैः सभीतिभिस्तत्प्रथमं प्रपेदिरे ॥ ३० ॥

विभिन्नेति ॥ विभिन्ना विच्युतसंघाताः पर्यन्तगाः प्रान्तगता मीनानां पङ्क्तयो यासां ताः । कुतः । मरुत्वतः सखिभिरिन्द्रस्य सचिवैर्गन्धर्वैः पुरः पूर्वं विगाढाः प्रविष्टाः । तासां विश्वासार्थं गर्तग्राहादिपरीक्षार्थं चेति भावः । सभीतिभिरप्रविष्टविषयत्वात् सभयैः । 'विषादिभिः' इति पाठेऽप्ययमेवार्थः । सुरसुन्दरीजनैस्तदेवावगाहनं प्रथमं यथा तथात एव कथंचिद्भयात् कृच्छ्रेण । आपः प्रपेदिरे जगाहिरे ॥ ३० ॥

(उस सुरधुनी के तट पर पहुँच कर) इन्द्र के मित्रों (गन्धर्वों) ने सबसे पहले जल में प्रवेश किया जिससे यह पता चल जाय कि कहीं जल के भीतर गड्ढा अथवा कोई हिंसक जन्तु तो नहीं है ? फिर डरते-डरते अप्सराओं ने भी पानी में किसी तरह पैर रक्खा । मछलियों का समूह पंक्ति बनाकर तैर रहा था । उनका ताँता टूट गया और वे अलग अलग प्रान्त में चली गईं ॥ ३० ॥

विगाढमात्रे रमणीभिरम्भसि प्रयत्नसंवाहितपीवरोरुभिः ।
विभिद्यमाना विससार सारसानुदस्य तीरेषु तरङ्गसंहतिः ॥ ३१ ॥

विगाढेति ॥ प्रयत्नेन संवाहिताः संचारिताः पीवराः स्थूला ऊरवो याभिस्ताभी रमणीभिरम्भसि विगाढमात्रे प्रविष्ट एव सति । सुप्सुपेति समासः । 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इत्यमरः । विभिद्यमाना स्वयं विशीर्यमाणा । कर्मकर्तरि शानच् । तरङ्गसंहतिस्तीरेषु सारसान् पक्षिविशेषान् । 'सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः' इति यादवः । यद्वा—सारसान् हंसान् । 'चक्राङ्गः सारसो हंसः' इति शब्दार्णवे । उदस्योत्सार्य विससार वितस्तार ॥ ३१ ॥

सुरनारियों ने ज्यों ही बड़े परिश्रम से अपनी मोटी-मोटी जंघाओं को जल में रक्खा त्यों ही, तरंगमालायें भिन्न-भिन्न होकर तट प्रदेश में जाकर वहाँ सारसों (हंस, चकवा, सारस इत्यादि) को दूर हटा कर विस्तृत हो गईं ॥ ३१ ॥

शिलाघनैर्नाकसदामुरःस्थलैर्बृहन्निवेशैश्च वधूपयोधरैः ।
तटाभिनीतेन विभिन्नवीचिना रुषेव भेजे कलुषत्वमम्भसा ॥ ३२ ॥

शिलेति ॥ शिलावद्घनैः कठिनैः नाकसदां गन्धर्वाणामुरःस्थलैर्बृहन्निवेशैर्महासंस्थानैः । अतिस्थूलैरित्यर्थः । वधूपयोधरैश्च तटमभितो नीतेन प्रापितेनात एव विभिन्नवीचिना भग्नोर्मिणाम्भसा कर्त्रा । रुषेवेति हेतूत्प्रेक्षा । कलुषत्वमाविलत्वं मनः-

क्षोभश्च ध्वन्यते । भेजे । कर्मणि लिट् । यथा कश्चिन्मृदुस्वभावः केनचित्कठिनादिना साङ्गभङ्गं ताडयित्वा निष्कासितः क्षुभ्यति तद्वदिति भावः । 'कलुषत्वम्' इत्यत्र वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायः । अन्यथा शुद्धवाच्यस्याविलत्वस्य रोषहेतुकत्वादुत्प्रेक्षानुविधानादिति ॥ ३२ ॥

उन स्वर्गनिवासियों (गन्धर्वों) के पत्थर की शिला के समान कठोर वक्षःस्थलों तथा रमणियों के पीन पयोधरों से लहरें खण्ड-खण्ड होकर तट प्रदेशमें पहुँच जाती थीं वहाँ मृत्तिका के संसर्ग से कलुपित होकर जल को भी कलुष कर देती थीं उस समय विदित होता था कि गङ्गा उनके कर्तव्यों से रुष्ट हो गई ॥ ३२ ॥

विधूतकेशाः परिलोलितस्रजः सुराङ्गनानां प्रविलुप्तचन्दनाः ।
अतिप्रसङ्गाद्विहितागसो मुहुः प्रकम्पमीयुः सभया इवोर्मयः ॥ ३३ ॥

विधूतेति ॥ विधूता विक्षिप्ताः केशा यैस्ते परिलोलिता विलोलिताः स्रजो यैस्ते प्रविलुप्तचन्दनाः प्रमृष्टाङ्गरागा अतिप्रसङ्गादविच्छेदात् सुराङ्गनानां विहितागसः कृतमण्डनखण्डनरूपापराधा अतएव ऊर्मयस्तरङ्गाः सभया इव स्त्रीभ्यो भीता इव मुहुः प्रकम्पमीयुः । स्वाभाविकस्य कम्पस्य भयहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते—यद्वा–सुराङ्गनानां विधूतकेशा इत्यादियोजना । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः । स्त्रीसंग्रहणसाहसमपराधः । भयं तु राजादिभ्य इति ॥ ३३ ॥

सुरनिम्नगा (भागीरथी) की लहरों ने अमररमणियों के केशको इधर-उधर विक्षिप्त कर डाला; उनकी पुष्पमालाओं को चञ्चल कर दिया; और उनके अङ्गराग तथा चन्दनों को मिटा डाला । इस प्रकार उनकी मण्डनसामग्री को नष्ट-भ्रष्ट करके वे लहरें अपराधिनी बन गईं इसी से डर कर काँपती हुई सी मालूम पड़ने लगीं ॥ ३३ ॥

विपक्षचित्तोन्मथना नखव्रणास्तिरोहिता विभ्रममण्डनेन ये ।
हृतस्य शेषानिव कुङ्कुमस्य तान् विकत्थनीयान्दधुरन्यथा स्त्रियः ॥ ३४ ॥

विपक्षेति ॥ विपक्षस्य सपत्नीजनस्य चित्तानामुन्मथनाः । व्यथका इत्यर्थः । बहुलग्रहणात्कर्तरि ल्युट् । ये नखव्रणा नखक्षतानि । 'व्रणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । विभ्रमस्य सौन्दर्यस्य मण्डनम् । तादर्थ्येऽप्यश्वघासादिवत् षष्ठीसमासः । न तु चतुर्थीसमासो यूपदार्वादिवत् प्रकृतिविकाराभावादिति । तेन कुङ्कुमलेपादिना तिरोहिताश्छन्ना हृतस्य क्षालितस्य कुङ्कुमस्य व्यञ्जकत्वेन शेषानिवावशिष्टलेशानिवस्थितानित्युत्प्रेक्षा । विकत्थनीयान् भर्तृत्वाल्लभ्यस्य व्यञ्जकत्वेन श्लाघनीयान् । तान् नखव्रणान् । स्त्रियोऽन्यथा दधुः । प्रकाशं दधुरित्यर्थः ॥ ३४ ॥

स्नान करते समय सुरसुन्दरियों के शरीर के नखक्षत, जो सपत्नियों को काँटे के सदृश खटकने वाले थे कुङ्कुम-लेपादि शोभासामग्रियों से तिरोहित कर दिये गये थे । वे जल से धुल कर व्यक्त हो रहे थे तथापि अवशिष्ट कुङ्कुम रेखा के सदृश थे । अतः उन्होंने उन्हें

प्रकाशित ही रक्खा। वे (नखव्रण) उनके प्राणाधार पतियों के द्वारा किये गये थे इस लिये वे उनके आदरणीय थे ॥ ३४ ॥

अथ युग्मेनाह—सरोजेत्यादिना—

सरोजपत्रे नु विलीनषट्पदे विलोलदृष्टेः स्विदमू विलोचने।
शिरोरुहाः स्विन्नतपक्ष्मसंततेर्द्विरेफवृन्दं नु निशब्दनिश्चलम् ॥ ३५ ॥
अगूढहासस्फुटदन्तकेसरं मुखं स्विदेतद्विकसन्नु पङ्कजम्।
इति प्रलीनां नलिनीवने सखीं विदांबभूवुः सुचिरेण योषितः ॥ ३६ ॥

सरोजेति ॥ अमू पुरोवर्तिनी विलीनषट्पदे संसक्तभृङ्गे। सकनीनिकत्वमक्ष्णोरर्थसिद्धमित्युपमानं विशिष्यते। सरोजपत्रे नु। यद्वा—विलोलदृष्टेश्चञ्चलाक्ष्या विलोचने स्वित्। 'नु स्वित्' शब्दौ वितर्के। किंच, नतपक्ष्मसंततेश्चञ्चलाक्ष्याः शिरोरुहाः स्विन्निःशब्दं नीरवं च तन्निश्चलं च तद् द्विरेफवृन्दं नु ॥ ३५ ॥

अगूढेति ॥ किंच, अगूढहासो व्यक्तस्मितं तेन स्फुटा दन्ताः केसरा इव दन्तकेसरा यस्य तन्मुखं स्वित्। यद्वा,—विकसत्पङ्कजं नु। इतीत्थम्। संशयेनेति शेषः। नलिनीवने प्रलीनां निगूढां सखीं योषितः सुचिरेणातिविलम्ब्य। विकल्पादाम्प्रत्ययः। अत्र युग्मे निश्चयान्तसंदेहालङ्कारः ॥ ३६ ॥

एक सखी कमलिनियों में छिपी हुई थी और शेष सखियाँ उसे देखती तो जरूर थीं, परन्तु उनको निश्चय नहीं हो पाता था :—

सुराङ्गनायें (अपनी सखी की आँखों को देखकर तर्क करती थीं कि) ये चञ्चलापाङ्गी मेरी सखी के नेत्र ही हैं ? अथवा कमल के पत्र पर बैठे हुए दो भ्रमर ? वे उसके चिकुरपाशों—काले बालों को देखकर कहती थीं—ये उस विलोलनेत्रा के केशपाश हैं ? अथवा भ्रमरों के वृन्द हैं जो स्थिर होकर मौन धारण किये हुए हैं ? फिर उनके मन्दहास को देख वे सब सखियाँ भ्रम में पड़ जाती थीं और कहती थीं कि—यह मुख है जिसमें दशनों की ज्योति निकल रही हैं ? अथवा विकसित कमल हैं जिससे किञ्जल्क उड़ रहे हैं ? इस प्रकार से सरोजिनी-वन के बीच विहरती हुई सखी के प्रति शङ्कासमाधान करती हुई सखियों को कुछ देर के बाद निश्चय हो पाया कि वह उनकी सखी ही है कमल नहीं ॥ ३५–३६ ॥

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसंनिधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥ ३७ ॥

प्रियेणेति ॥ काचित् प्रियेण संग्रथ्य स्वयमेव रचयित्वा विपक्षसंनिधौ सपत्नीजनसमक्षं पीवरस्तने वक्षस्युपाहितां स्रजं मालां जलाविलाम्। मृदितामपीत्यर्थः। तां न विजहौ न तत्याज। न च निर्गुणायां तत्र का प्रीतिरिति वाच्यमित्यर्थान्तरन्यासेनाह—गुणाः प्रेम्णि वसन्ति, वस्तुनि न वसन्ति हि। यत् प्रेमास्पदं तदेव गुणवत्। अन्यत्तु गुणवदपि निर्गुणमेव। प्रेम तु न वस्तुपरीक्षामपेक्षत इति भावः ॥ ३७ ॥

किसी सखी के उरस्थल पर, जो उन्नत स्तनों से मनोरम था, प्रिय ने स्वयं माल्यगुम्फित करके उसकी सौत के सामने ही पहनाया था। यद्यपि वह (माल्य) जल के कारण मसल गया था, तथापि उस सखी ने उसका परित्याग नहीं किया क्योंकि गुण तो प्रेम में निवास करते हैं किसी वस्तु में नहीं (किसी कवि का कथन है,—प्रेम सहित मरिबो भलो जो विष देय बुलाय,) ॥ ३७ ॥

असंशयं न्यस्तमुपान्तरक्ततां यदेव रोद्धुं रमणीभिरञ्जनम् ।
हृतेऽपि तस्मिन्सलिलेन शुक्लतां निरास रागो नयनेषु न श्रियम् ॥ ३८ ॥

असंशयमिति ॥ स्त्रीणां नेत्रशोभार्थमञ्जनधारणमम्बुविहारोपगमाद्रक्तवर्णत्वं चाक्ष्णां ततः शुक्लत्वतिरोधानं च निश्चितमित्युत्प्रेक्ष्यते—रमणीभिर्यदञ्जनं न्यस्तम् । तदिति शेषः । यत्तदोर्नित्यसंबन्धात् । तदञ्जनमुपान्तयोरक्ततां रोद्धुं प्रतिवद्धुमेव न्यस्तम् । नतु शोभार्थमित्यर्थः । अन्यथा रागाभिव्याप्त्या शुक्लत्वतिरोधानं स्यादित्यर्थः । असंशयमित्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकम् । संशयस्याप्यभावः । नात्र संशयोऽस्तीत्यर्थः । अर्थाभावेऽव्ययीभावः । कुंत एतदिति चेद्यतस्तस्मिनञ्जने सलिलेन हृते क्षालिते सत्यपि रागः पूर्वोक्त एवोपान्तरक्तता किंतु प्रतिबन्धाभावादभितो व्याप्त्येत्याशयः । नयनेषु शुक्लतां निरास निरस्तवान् । अस्यतेर्लिट् श्रियं शोभां तु न निरास । अतः शुक्लत्वविरोधिरागनिरोधार्थमेवेदमञ्जनं स्यात् न तु शोभार्थम् । तस्यास्तदभावेऽपि सद्भावादित्यर्थः । अञ्जनापगमेऽपि तन्नयनानां राग एवालङ्कारोऽभूदिति भावः । अत्राञ्जनन्यासमनूद्य तस्य शोभार्थत्वनिषेधेन रागरोधार्थत्वोत्प्रेक्षणमुदितम् । उत्तरार्धे तस्यैव समर्थनात् । एवमुपान्तरक्ततां रोद्धुं यदञ्जनं न्यस्तमित्येकान्वये विध्यनुवादविरोधः स्यात् ॥ ३८ ॥

जल-विहार के पहिले सखियों ने अपने-अपने नेत्रों में जो कज्जल लगा रखा था वह नेत्र-प्रान्त के समीप की अरुणिमा की गति को रोकने के लिये ही था इसमें सन्देह का नाम नहीं क्योंकि जल से उस कज्जल के धुल जाने पर उपान्त प्रान्त की अरुणिमा की गति ने नेत्रों की शुक्लता पर पानी फेर दिया, किन्तु उनकी रमणीयता को अक्षुण्ण रखा इससे उक्त बात तथ्यपूर्ण है ॥ ३८ ॥

द्युतिं वहन्तो वनितावतंसका हृताः प्रलोभादिव वेगिभिर्जलैः ।
उपप्लुतास्तत्क्षणशोचनीयतां च्युताधिकाराः सचिवा इवाययुः ॥ ३९ ॥

द्युतिमिति ॥ द्युतिं शोभां तेजश्च वहन्तो वेगिभिर्जविभिर्जलैरज्ञैश्च । डलयोरभेदात् । 'जलं गोकवले नीरे ह्रीबेरे च जडेऽन्यवत्' इति विश्वः । प्रलोभान्मोहात् । हृता गृहीता उपप्लुता मृदिताः । यद्वा—कर्तरि क्तः । प्लवमाना इत्यर्थः । अन्यत्र—धनग्रहणबन्धनादिना पीडिता वनितावतंसकाश्च्युताधिकारा भ्रष्टाधिकाराः सचिवा इव तत्क्षणं शोचनीयतामाययुः प्रापुः ॥ ३९ ॥

सुरांगनायें जिन गजरों को अपने-अपने शिरों पर लगा रखी थीं। वे गजरे परम सुन्दर दिखलाई पड़ते थे। वेगवान जल से दूर फेंक दिये जाने पर वे उस क्षण उसी दयनीय दशा को पहुँच गये जिस दशा को एक राजमंत्री मोह के कारण जड़ों के द्वारा स्थान भ्रष्ट किये जाने पर प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

विपत्रलेखा निरलक्तकाधरा निरञ्जनाक्षीरपि बिभ्रतीः श्रियम् ।
निरीक्ष्य रामा बुबुधे नभश्चरैरलंकृतं तद्वपुषैव मण्डनम् ॥४०॥

विपत्रेति ॥ विगताः पत्रलेखास्तिलकविशेषा यासां ता विपत्रलेखाः ! निरलक्तकाः क्षालितरागा अधरा यासां ताः । निरञ्जनान्यक्षीणि यासां ता निरञ्जनाक्षीरपि । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' । 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष् । तथापि श्रियं बिभ्रतीः शोभाकारणाभावेऽपि शोभमाना इति विभावनालङ्कारः । रामा निरीक्ष्य नभश्चरैर्गन्धर्वैस्तासां वपुषैव मण्डनमलंकृतम् । न तु मण्डनेन तद्वपुरित्यक्षरार्थः । इति बुबुधे ज्ञातम् । कर्मणि लिट् । स्वभावरमणीयानां किमलङ्करणैरिति भावः ॥ ४० ॥

गन्धर्वों ने देखा—युवतियों का तिलक धुल गया है। उनके अधर पर से लाली छूट गई है। उनकी आँखों में कज्जल भी नहीं रह गया है, तथापि उनकी शोभा उनमें वर्तमान है। इससे गन्धर्वों को मालूम हो गया कि भूषण युवतियों को नही विभूषित करते प्रत्युत वे ही भूषणों को भूषित करती हैं ॥ ४० ॥

तथा न पूर्वं कृतभूषणादरः प्रियानुरागेण विलासिनीजनः ।
यथा जलार्द्रो नखमण्डनश्रिया ददाहदृष्टीश्च विपक्षयोषिताम् ॥ ४१ ॥

तथेति ॥ विलासिनीजनः पूर्वं जलविहारात्प्राक् प्रियानुरागेण कृतो भूषणेष्वादर आसक्तिर्येन सः । अनुरक्तप्रियत्वात्सम्यक्प्रसाधितः सन्नपीत्यर्थः । प्रियस्यानुरागेण च विपक्षयोषितां सपत्नीनां दृष्टीश्चक्षूंषि तथा न ददाह न दुःखीचकार । यथा जलार्द्रः सन् । 'नख'शब्देन नखक्षतानि लक्ष्यन्ते । तान्येव मण्डनं तस्य श्रिया । तत्कृतशोभयेत्यर्थः । विपक्षयोषितां सपत्नीनां दृष्टीश्चक्षूंषि यथा ददाह तापयामास । मण्डनान्तरादपि नखमण्डनानुरागादपि तदनुभाव एव सपत्नीनां दुःखहेतुरिति भावः । जलार्द्रो ददाहेति विरुद्धकार्योत्पत्तिरूपी विषमालङ्कारः । 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत् । विरूपघटना वा स्याद्विषमालंकृतिस्त्रिया ॥' इति लक्षणात् ॥ ४१ ॥

प्रियानुराग के कारण रमणी-वर्ग के विभूषणों को उनके प्रिय सहचरों ने जो सुधार दिया था वह पहले (सुधारते समय) सपत्नियों की आँखों में उतना न खला जितना कि वह रमणीवर्ग का नखक्षतरूप विभूषण से विभूषित हो जल से भींग जाना खला ॥ ४१ ॥

शुभाननाः साम्बुरुहेषु भीरवो विलोलहाराश्चलफेनपङ्क्तिषु ।
नितान्तगौर्यो हृतकुङ्कुमेष्वलं न लेभिरे ताः परभागमूर्मिषु ॥ ४२ ॥

शुभेति ॥ शुभानना विलोलहारा नितान्तगौर्योऽरुणाङ्ग्यः । 'गौरोऽरुणे सिते पीते' इति वैजयन्ती । भीरवस्ताः स्त्रियः साम्बुरुहेषु चलाः फेनपङ्क्तयो येषु तेषु हृतानि सुकुमानि यैस्तेषु । कुङ्कुमसंक्रमारुणेष्वित्यर्थः । ऊर्मिषु विषयेषु । अलमत्यर्थं परभागं गुणोत्कर्षं न लेभिरे । 'परभागो गुणोत्कर्षः' इति यादवः । तासामूर्मीणां चारुणत्वादिगुणसाम्यान्न कश्चिद्विशेषो लक्ष्यत इत्यर्थः । अत एव सामान्यालङ्कारः,—'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् । शुभाननत्वसाम्बुरुहत्वाद्युभयविशेषणानां क्रमेणोभयस्मिन् समन्वयाद्यथासंख्यालङ्कारश्च । 'यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयात्' इति काव्यप्रकाशे लक्षणात् । अनयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ ४२ ॥

वे सुरसुन्दरियाँ जिनके मुख कमल के सदृश रम्य थे; जिन्होंने मुक्ताओं का तरल हार धारण किया था; और जो अत्यन्त गौरवर्णा थीं, उन लहरों में जिनमें कमल खिल रहे थे; जिन पर चञ्चल फेनों की रेखा पड़ी हुई थी; और जो सुराङ्गनाओं के कुङ्कुमलेप को प्रक्षालित कर स्वयं अरुण हो रही थीं, अपने तईं उसमें कुछ भी गुणोत्कर्ष न पाईं ॥ ४२ ॥

ह्रदाम्भसि व्यस्तवधूकराहते रवं मृदङ्गध्वनिधीरमुज्झति ।
मुहुः स्तनैस्तालसमं समाददे मनोरमं नृत्यमिव प्रवेपितम् ॥ ४३ ॥

ह्रदेति ॥ व्यास्ताभ्यां विपर्यासिताभ्यां वधूकराभ्यामाहते । एकेन करेणोत्सार्यान्येन ताडित इत्यर्थः । ह्रदाम्भसि मृदङ्गध्वनिवद्धीरं गम्भीरं रवमुज्झति सति । तथा ध्वनति सतीत्यर्थः । मुहुः स्तनैस्तालो गीतवाद्यनृत्यानां कालपरिच्छेदः । 'तालः कालक्रियामानम्' इत्यमरः । तस्य सममनुरूपं मनोरमं नृत्यमिव प्रवेपितं प्रकम्पः । भावे क्तः । समाददे स्वीकृतम् । उपमालङ्कारः ॥ ४३ ॥

जलविहार करती हुई सुरवनितायें गङ्गा के ह्रद-जल में अपने व्यस्त करों से (अर्थात्—हथेली नीचे की तरफ करके) अभिघात करतीं थीं। उस क्षण मृदङ्ग के सदृश गम्भीर घोष निकल रहा था। उनके कुच ताल-क्रमानुकूल हृदयहारी नृत्य के समान बार-बार प्रकम्पित हो रहे थे ॥ ४३ ॥

श्रिया हसद्भिः कमलानि सस्मितैरलंकृताम्बुः प्रतिमागतैर्मुखैः ।
कृतानुकूल्या सुरराजयोषितां प्रसादसाफल्यमवाप जाह्नवी ॥ ४४ ॥

श्रियेति ॥ श्रिया शोभया कमलानि हसद्भिः । कमलसदृशैरित्यर्थः । 'हसतीर्ष्यति सूयति' इति दण्डिना सदृशपर्यायपरा उक्ताः । सस्मितैः प्रतिमागतैः । प्रतिबिम्बगतैरित्यर्थः । 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा' इत्यमरः । मुखैरलंकृतान्यम्बूनि यस्याः सा । किंच, सुरराजयोषितां कृतमानुकूल्यं विहाराद्युपकारो यया सा । इत्थं

योषिद्भिरुपकृता स्वयं च तासामुपचिकीर्षुर्जाह्नवी गङ्गा प्रसादस्य स्वच्छत्वस्य साफल्यम् । अर्थगौरववत्षष्ठीसमासनिर्वाहः । अवाप । अप्रसन्नाम्भसि विहारबिम्बग्रहणयोरसंभवादित्यर्थः । स्वच्छा एव परैरुपक्रियन्ते स्वयं चोपकुर्वते तेषामिति भावः । 'कृतानुकारा' इति पाठेऽनुकारोऽनुकूलकरणमुपकार इत्येवं व्याख्येयम् । अत्र जाह्नवीविशेषणपदार्थस्य साफल्यं प्रति हेतुत्वात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४४ ॥

जो सुरबालाओं के मुख अपनी कान्ति से कमल को भी हँसते थे, जो मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे थे और जिनका प्रतिबिम्ब जल में पड़ रहा था, उनसे गंगा का जल सुशोभित हो रहा था । देवनारियों के विहारानुकूल ही गंगा बनी हुई थीं । इससे उनका (गंगा) स्वच्छजल सफल हो गया ॥ ४४ ॥

परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरवः सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टयः ।
उपाययुः कम्पितपाणिपल्लवाः सखीजनस्यापि विलोकनीयताम् ॥ ४५ ॥

परीति ॥ परितः स्फुरद्भिर्विवर्तमानैर्मीनैर्विघट्टिता ऊरवो यासां ता अत एव त्रासविलोलदृष्टयो भयविकसन्नेत्राः कम्पितपाणिपल्लवाश्च सुराङ्गनाः सखीजनस्यापि विलोकनीयतामुपाययुः । किमुत प्रियजनस्येति भावः । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥४५॥

जल-विहार करती हुई सुरांगनाओं की जाँघें जलके भीतर तैरती हुई मछलियों से जब लड़ जाया करती थीं तब वे ललनायें डर कर और चकपका कर देखने लगती थीं और अपने कर-किसलयों को झकझोरने लग जाती थीं । यह दृश्य उनकी सखियों के लिये भी मनोरम हो जाता था । उनके प्रेमियों के विषय में तो कहना ही क्या ॥ ४५ ॥

भयादिवाश्लिष्य झषाहतेऽम्भसि प्रियं मुदानन्दयति स्म मानिनी ।
अकृत्रिमप्रेमरसाहितैर्मनो हरन्ति रामाः कृतकैरपीहितैः ॥४६॥

भयादिति ॥ मानिनी । दुर्लभस्वयंग्रहणेति भावः । अम्भसि जले झषेण मत्स्येनाहते सति । 'पृथुरोमा झषो मत्स्यः' इत्यमरः । भयादिव । वस्तुतस्तु न तथेति भावः । किन्तु मुदौत्सुक्येनैवाश्लिष्य प्रियमानन्दयति स्म । तथा हि—रामाः स्त्रियोऽकृत्रिमोऽनारोपितो यः प्रेमरसस्तेनाहितैर्जनितैः कृतकैः कृत्रिमैरपीत्यर्थः । ईहितैश्चेष्टितैर्मनो हरन्ति । आरोपितमपि भयं प्रेममूलत्वान्मनोहरं बभूवेत्यर्थः । अत्राल्पानुभावेन भयेन सहजरागनिगूहनान्मीलनालङ्कारः 'मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम्' इति लक्षणान्तरसंभवादर्थान्तरन्यासेन संसृज्यते ॥ ४६ ॥

एक मानिनी ने एक मत्स्य के द्वारा जल के आहत होने पर त्रास का अभिनय करती हुई अपने प्रिय का आलिंगन किया । अतः उसके प्रिय को आनन्द की सीमा न रही । रमणियाँ अपनी कृत्रिम चेष्टाओं से मन मोह लेती हैं परन्तु जब उनमें नैसर्गिक प्रेम की मात्रा विद्यमान हो ॥ ४६ ॥

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः ।
ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः ॥४७॥

तिरोहितेति ॥ अपां विगाहान्नितान्तमाकुलैर्विकीर्णैः प्रसारिभिरायतैः । अलकैः केशैः । तिरोहितान्तानि छन्नप्रान्तानि वधूनां वदनानि द्विरेफवृन्दैरन्तरितानि छन्नानि सरोरुहाणि तैः सरोरुहैस्तुल्यतां ययुरित्युपमालङ्कारः ॥ ४७ ॥

जल-विहार करते समय युवतियों के केशजालों ने, जो इधर-उधर छिटक कर चारों तरफ फैले हुये थे, मुख कमलों को ढँक दिया, उस समय उन युवतियों के मुख भ्रमरों से व्याप्त कमलों की समानता करने लगे ॥ ४७ ॥

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती पयस्यगाधे किल जातसंभ्रमा ।
सखीषु निर्वाच्यमधाष्टर्यदूषितं प्रियाङ्गसंश्लेषमवाप मानिनी ॥ ४८ ॥

कराविति ॥ मानिनी पयस्यगाधे सति । किलेत्यलीके । मज्जनभयादिवेत्यर्थः । जातसंभ्रमा उत्पन्नभया । अत एव नवपल्लवाकृती करौ धुनाना कम्पयन्ती । धूनोतेः क्र्यादिकात्कर्तरि लटः शानच् । सखीषु विषये निर्वाच्यमवाच्यम् । अनिन्द्यमित्यर्थः । धाष्टर्यदूषितश्च न भवतीति अधाष्टर्यदूषितस्तम् । वस्तुतो रागमूलमपि भयमूलत्वारोपादिति भावः । प्रियाङ्गसंश्लेषमवाप । अत्रापि तुल्याङ्गेन भयेनागन्तुकेन सहजानुरागनिगूहनान्मीलनालङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'समानलक्षणं वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते । निजेनागन्तुना वापि तन्मीलनमुदाहृतम् ॥' इति ॥ ४८ ॥

एक दूसरी मानवती ने अगाध जल में जाकर डूब जाने के भय से नूतन किसलयानुकारी हाथों को झटकती-पटकती अपने प्रिय का आलिंगन किया । सखियों ने उसपर धृष्टता का दोषारोप नहीं किया ॥ ४८ ॥

प्रियैः सलीलं करवारिवारितः प्रवृद्धनिःश्वासविकम्पितस्तनः ।
सविभ्रमाधूतकराग्रपल्लवो यथार्थतामाप विलासिनीजनः ॥ ४९ ॥

प्रियैरिति ॥ प्रियैः कामिभिः सलीलं करवारिभिरञ्जलिजलैर्वारितोऽवरुद्धः । सिक्त इत्यर्थः । प्रवृद्धैः संततैर्निःश्वासैर्विकम्पितौ स्तनौ यस्य सः । सविभ्रमं सविलासमाधूतानि कराग्रपल्लवानि पाणिपल्लवानि येन सः । विलसनशीला विलासिनी । 'वौ कषलसकत्थस्रम्भः' इति घिनुण्प्रत्ययः । सैव जनः । जातावेकवचनम् । यथार्थतामाप । उक्तरीत्यानेकविलासवत्तया यथार्थनामकत्वमवापेत्यर्थः । 'क्वचिद्गम्यमानार्थस्याप्रयोगः' इति नाम्नो न प्रयोगः । यथा माघे—'चिराय याथार्थ्यमलम्भि दिग्गजैः' इति । क्वचित्प्रयुज्यते च; यथा रघुवंशे—'परंतपो नाम यथार्थनामा' इति ।

नैषधेऽपि—'स जयत्यरिसार्थसार्थकीकृतनामा किल भीमभूपतिः' इति । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ ४६ ॥

वह विलासिनीवर्ग अपने प्रियों के द्वारा क्रीड़ापूर्वक अञ्जलि के छीटों से रोक लिया गया था (अर्थात् उनके मुख पर उनके प्रेमी छीटें उछाल रहे थे) जिससे उनके श्वास का वेग बढ़ जाने के कारण उन सुरबालाओं के स्तन प्रकम्पित हो रहे थे। और वे हाव-भाव प्रदर्शन पूर्वक उन्हें मना करने के लिये हाथ हिलाने लगीं उस समय विलासिनी शब्द अन्वर्थ समझा गया (नहीं तो यही कहा जाता था कि स्त्रियों की विलासिनी एक संज्ञा है) ॥ ४९ ॥

उदस्य धैर्यं दयितेन सादरं प्रसादितायाः करवारिवारितम् ।
मुखं निमीलन्नयनं नतभ्रुवः श्रियं सपत्नीवदनादिवाददे ॥ ५० ॥

उदस्येति ॥ दयितेन धैर्यं काठिन्यम् । उदस्यापनीय । अनुनीयेत्यर्थः । सादरं यथा तथा प्रसादितायाः सौमनस्यं गमितायाः नतभ्रुवः स्त्रियः संबन्धिकरवारिभिर्वारितमवरुद्धमत एव निमीलती नयने यस्य तन्मुखं सपत्नीवदनादिव श्रियमाददे जग्राह । तदानीं तद्वदनस्य निःश्रीकत्वात्तदीयश्रीग्रहणमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ५० ॥

एक प्रेमी गन्धर्व ने जो औरों को छींटे मारते देख रह न पाया अपनी प्रियतमा की मानशान्ति बड़ी कठिनाई से किया था तथापि धैर्य्य छोड़ कर उसके ऊपर छींटे उछालने लगा उस वामनयना ने अपने नेत्रों को निमीलित कर लिया उस समय उसका मुख ऐसी शोभा को धारण किया जैसे उसने अपनी सौत के मुख को उधार लिया हो (अर्थात् सौत के समान ही मुँह बनाने लगी) ॥ ५० ॥

विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतसः ।
सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता बभार वीतोच्चयबन्धमंशुकम् ॥ ५१ ॥

विहस्येति ॥ धृताम्भसि प्रियसेचनार्थं गृहीतजले पाणौ । अञ्जलावित्यर्थः । प्रियेण विहस्य विधृतेऽवलम्बिते सति । अत एव मदनार्द्रचेतसो मदनपरवशाया वध्वाः संबन्धि वीतोच्चयबन्धं मुक्तनीविग्रन्थि । स्रंसमानमित्यर्थः । अंशुकं पयसा घनीकृता काञ्ची सखी बभार जग्राह । स्त्रीणां किल स्त्रीष्वेवायत्तं लज्जारक्षणमिति भावः ॥ ५१ ॥

एक अप्सरा ने अपने प्रिय पर छींटा उछालना चाहा और ज्यों ही उसने अञ्जलि से जल उठाया त्योंही—

उसके प्रिय गन्धर्व ने हँसकर उसका हाथ पकड़ लिया अत एव कामासक्तचित्ता होने के कारण उस नायिका की परिधान-वसनग्रन्थि (नीवी) ढीली पड़ गई उसे उसकी करधनी ने, जो जल से खिंच गई थी, ज्यों की त्यों रख दिया (अर्थात् वसन-ग्रन्थि के

ढीली पड़ने से वह विवस्त्र नहीं होने पायी। उस करधनी ने उस समय वही काम किया जो एक सखी अपनी सखी की लाज रखने के लिए करती हैं ॥ ५१ ॥

निरञ्जने साचिविलोकितं दृशावयावकं वेपथुरोष्ठपल्लवम् ।
नतभ्रुवो मण्डयति स्म विग्रहे वलिक्रिया चातिलकं तदास्पदम् ॥ ५२ ॥

निरञ्जन इति ॥ नतभ्रुवोऽङ्गनाया विग्रहे वपुषि निरञ्जने निर्धौतकज्जले दृशौ विलोचने कर्म साचिविलोकितं तिर्यगीक्षणं कर्तृ मण्डयति स्म । 'तिर्यगथ साचि तिरः' इत्यमरः । अयावकं क्षालितलाक्षारागमोष्ठपल्लवं वेपथुः कम्पो मण्डयति स्म । 'ट्वितोऽथुच्' इत्यथुच्प्रत्ययः । अतिलकं तिलकरहितं तदास्पदं तिलकस्थानं ललाटम् । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । वलिक्रिया रेखाबन्धश्च मण्डयति स्म । तदा निरलङ्कारस्याङ्गनाशरीरस्य तच्छरीरविकारैरेवालङ्कारः समजनीत्यर्थः ॥

सुर वधूटियों ने अपने-अपने अंग विशेषों की शोभा के लिए कहीं अञ्जन, कहीं महावर और कहीं तिलक लगा रक्खा था जल-बिहार करने से ये सब धुलकर साफ हो गये :—

सुरांगना के शरीर में अञ्जन-विहीन आँखों को उसकी टेढ़ी चितवन ने सुशोभित कर दिया ओष्ठपल्लव के महावर घुल कर साफ हो गये थे तो भी कम्प ने उसे सुशोभित किया। उसके ललाट का चन्दन प्रक्षालित हो गया था, तो भी ललाट की रेखा ने ललाट की शोभा को यथावत् बनाये रखा ॥ ६२ ॥

निमीलदाकेकरलोलचक्षुषां प्रियोपकण्ठं कृतगात्रवेपथुः ।
निमज्जतीनां श्वसितोद्धतस्तनः श्रमो नु तासां मदनो नु पप्रथे ॥ ५३ ॥

निमीलदिति ॥ प्रियोपकण्ठं प्रियसमीपे । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । निमज्जतीनां विगाहमानामत एव निमीलन्ति निमिषन्त्याकेकराणि आकेकरवन्ति लोलानि चक्षूंषि यासां तासाम् । आकेकरलक्षणं तु नृत्यविलासे—'दृष्टिराकेकरा किंचित्स्फुटापाङ्गे प्रसारिता । मीलितार्धपुटा लोके ताराव्यावर्तनोत्तरा ॥' इति । तासां स्त्रीणाम् । कृतो गात्राणां वेपथुः कम्पो येन सः । श्वसितैर्निःश्वासैरुद्धतावुत्पतितौ स्तनौ येन सः । श्रमः खेदो नु मदनो नु पप्रथे प्रादुर्बभूव । निमज्जनप्रियसंनिधानरूपोभयकारणसंभावान्नेत्रमीलनगात्रकम्पनिःश्वासधारणाच्च संदेहः । स एवालङ्कारः ॥ ५३ ॥

अपने-अपने प्रिय के समीप जल-बिहार करती हुई सुरांगनाओं के, जिनकी अर्द्धनिमीलित और आकेकर (१) युक्त लोल आँखें थीं, शरीर में कम्प हो रहा था। तथा श्वास-प्रश्वास से उनका हृदय धड़क रहा था। उस समय यह नहीं निश्चय किया जा सकता था कि इन सब बातों का कारण क्या है ? श्रम अथवा कामदेव ॥ ५३ ॥

---

(१) काकेकर नृत्य के समय नेत्र के कटाक्ष पात का ढंग विशेष है 'नृत्यविलास' में इसका वर्णन है।

प्रियेण सिक्ता चरमं विपक्षतश्चुकोप काचिन्न तुतोष सान्त्वनैः।
जनस्य रूढप्रणयस्य चेतसः किमप्यमर्षोऽनुनये भृशायते ॥ ५४ ॥

प्रियेणेति ॥ काचित् प्रियेण विपक्षतः सपत्नीतः। चरमं पश्चात् सिक्ता सती चुकोप। सान्त्वनैरनुनयैर्न तुतोष। तथाहि—रूढप्रणयस्य गाढप्रेम्णो जनस्य सम्बन्धी चेतसो मनसोऽमर्षः प्रकोपः किमपि कुतोऽपि हेतोरनुनये सति भृशायते गाढो भवति। 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः' इति क्यङ्। अन्यत्र शान्तिहेतुरनुनयोऽत्र प्रकोपायैव भवति। तत्र कारणं तु न ज्ञायत इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

किसी प्रिय ने सपत्नी के सिञ्चन करने के पश्चात् प्रिया के ऊपर छींटा उड़ाया जिससे वह क्रुद्ध हो गई अनेक प्रकार अनुनय-विनय करने से वह प्रसन्न न हुई। घनिष्ठ प्रेमाभिभूत प्रणयी जन के हृदय में थोड़ा भी लब्धावकाश कोप अनुनय-विनय से बढ़ता ही जाता है (कम होने का नाम नहीं। दूसरी जगहों में सिफारिश से काम चल भी जाता है पर यहाँ वह भी कुछ नहीं कर सकता, पता नहीं इसमें क्या बात है) ॥ ५४ ॥

इत्थं विहृत्य वनिताभिरुदस्यमानं पीनस्तनोरुजघनस्थलशालिनीभिः।
उत्सर्पितोर्मिचयलङ्घिततीरदेशमौत्सुक्यनुन्नमिव वारि पुरः प्रतस्थे ॥५५॥

इत्थमिति ॥ पीनैः स्तनैरूरुभिर्जघनस्थलैश्च शालन्त इति तथोक्ताभिरिति सलिलनोदनसामर्थ्योक्तिः। स्थलस्य साक्षादप्राण्यङ्गत्वान्न द्वन्द्वैकवद्भावः। वनिताभिरित्थं विहृत्य। उदस्यमानं नुद्यमानम्। उत्सर्पितैरुपरिभावं प्रापितैरूर्मिचयैर्लङ्घितस्तीरदेशो येन तत्। वारि। औत्सुक्यं विहारासहिष्णुत्वं तेन नुन्नं प्रेरितमिवेत्युत्प्रेक्षा। 'नुदविद—' इत्यादिना निष्ठानत्वम्। पुरोऽग्रे प्रतस्थे। स्वजनवदिति भावः ॥ ५५ ॥

इस तरह, स्थूल और मोटे-मोटे स्तन, जंघा और जघनों से सुशोभित होने वाली सुरबालाओं के जलविहार करने के अनन्तर जल क्षुब्ध होकर और तरंग-मालाओं के उठने के कारण तट-प्रदेश से आगे बढ़ कर इस प्रकार उन सुरनारियों के आगे चला मानों वह विरह की असहिष्णुता से प्रेरित हुआ हो ॥ ५५ ॥

तीरान्तराणि मिथुनानि रथाङ्गनाम्नां नीत्वा विलोलितसरोजवनश्रियस्ताः।
संरेजिरे सुरसरिज्जलधौतहारास्तारावितानतरला इव यामवत्यः ॥ ५६ ॥

तीरान्तराणीति ॥ रथाङ्गनाम्नां मिथुनानि चक्रवाकद्वन्द्वानि। अन्यानि तीराणि तीरान्तराणि नीत्वा। नियोज्येत्यर्थः। अविहितलक्षणतत्पुरुषो मयूरव्यंसकादिषु द्रष्टव्यः। विलोलिताः विलुलिताः सरोजवनश्रियो याभिस्ताः सुरसरिज्जलैर्धौतहाराः क्षालितमुक्तावलयः। ताः स्त्रियः। तारावितानैरुडुगणैस्तरला भासुराः। 'तरलो भासुरे हीरे चञ्चलेऽपि' इति वैजयन्ती। यामवत्यो रात्रय इव। संरेजिरे शुशुभिरे ॥ ५६ ॥

जलक्रीडा के समय उन अप्सराओं ने चक्रवाक-दम्पति को दूसरे तट पर भगा दिया। (उन्हें देख कर वे स्वयं डर कर भाग गये एक (चकवा) कहीं और दूसरी (चकवी) कहीं

पहुँची) उन्होंने जल-विहार के आवेश में आकर कमलों को आन्दोलित कर निःश्रीक कर दिया। सुरसरिता के जल से उनके मुक्ता-गुम्फित हार भी धुल कर स्वच्छ हो गये। उस काल वे बालायें नक्षत्रमण्डल से सुशोभित रजनी के समान सुशोभित होने लगीं। तात्पर्य यह है कि अप्सरायें रात्रि के समान मालूम पड़ने लगीं क्योंकि यह लोक-प्रसिद्ध बात है कि रात को चकवी और चकवा वियुक्त हो जाते हैं कमल की दशा भी रात्रि को हीन हो जाती हैं क्योंकि कमल सूर्य का परम मित्र है अतः सूर्य के रहते हुए विकसित रहता है रात्रि का आगमन होते ही मुँह ढक (लटका) लेता है। रात्रि में ताराओं की भी खूब बन आती है उनसे रात्रि की शोभा चौचन्द हो जाती है इन्हीं सब बातों को देख कर यहाँ कवि ने सुरसुन्दरियों की उपमा रात्रि से दी है ॥ ५६ ॥

संक्रान्तचन्दनरसाहितवर्णभेदं विच्छिन्नभूषणमणिप्रकारांशुचित्रम्।
बद्धोर्मिनाकवनितापरिभुक्तमुक्तं सिन्धोर्बभार सलिलं शयनीयलक्ष्मीम् ॥५७॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीयेऽष्टमः सर्गः।

संक्रान्तेति ॥ संक्रान्तश्चन्दनरसैर्मलयजद्रवैराहितो वर्णभेदो रूपान्तरं यस्य तत्। विच्छिन्नानि त्रुटितानि यानि भूषणानि तेषां ये मणिप्रकरा मणिगणास्तेषामंशुभिश्चित्रं नानावर्णम्। बद्धोर्मि तरलं तरङ्गितं नाकवनिताभिः परिभुक्तमुक्तं पूर्वं परिभुक्तं पश्चान्मुक्तम्। 'पूर्वकाल–' इत्यादिना तत्पुरुषः। सिन्धोर्गङ्गायाः सलिलम्। शेरतेऽत्रेति शयनीयं तल्पम्। बहुलग्रहणात्साधुः। तस्य लक्ष्मीं बभार। अत एव निदर्शनालङ्कारः। लक्षणं तूक्तम् ॥ ५७ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायामष्टमः सर्गः समाप्तः।

अप्सराओं के जलीय विहार से उनके अङ्गों में लगे हुए मलय-पङ्क के द्वारा गंगा के जल का रंग बदल गया था। वह आभूषणों की त्रुटित मणियों के समूह से निस्सृत किरणों से चित्र-विचित्र वर्ण का हो गया था। उसमें तरंगें हिलोरें ले रही थीं। सुरसुन्दरियों ने पहिले उसका यथेच्छ उपभोग किया फिर उसे छोड़ दिया। उस समय उस गंगा का जल शय्या की शोभा धारण कर रहा था क्योंकि अङ्गरागों से शय्या का रंग बदलता ही है। तथा विहार के समय रत्नों की मालाओं के टूट जाने से उस पर बिखरी हुई मुक्ताओं की किरणों से शय्या चित्रविचित्र वर्ण की बन जाती है। क्रीडा के समय शय्या में सिकन भी पड़ जाती हैं। क्रीडा की समाप्ति होने पर शय्या का परित्याग भी सम्भावित ही है इन्हीं सब कारणों से कवि ने शय्या से उपमा दी है ॥ ५७ ॥

अष्टम सर्ग समाप्त।

नवमः सर्गः

वीक्ष्य रन्तुमनसः सुरनारीरात्तचित्रपरिधानविभूषाः ।
तत्प्रियार्थमिव यातुमथास्तं भानुमानुपपयोधि ललम्बे ॥ १ ॥

वीक्ष्येति ॥ अथ जलक्रीडानन्तरं भानुमानंशुमान् आत्तचित्रपरिधायविभूषाः स्वीकृतविविधवस्त्राभरणाः । सुरतसंजातवतीरित्यर्थः । अत एव रन्तुमनसः । 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' । 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः । सुरनारीः वीक्ष्य तासां प्रियार्थं तत्प्रियार्थमिव । अवसरदानरूपं प्रियं कर्तुमिवेत्यर्थः । फलोत्प्रेक्षेयम् । अस्तमदर्शनम् । मकारान्तमव्ययमेतत् । यातुं प्राप्तुम् । उपपयोधि पयोधिसमीपे ललम्बे सस्रंसे । अस्मिन्सर्गे स्वागतावृत्तम्—'स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम्' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

भगवान् अंशुमाली (सूर्य) ने देखा—जल-क्रीडा करके सुरनारियाँ अनेक तरह के चित्र-विचित्र वस्त्राभूषणों को धारण कर रमणाभिलाषिणी हैं अतः मानो उनके अभिलषित मनोरथ-सिद्धि में अवसर-प्रदानार्थ अस्त होनेके लिये पश्चिम समुद्र की ओर खिसकने लगे ॥

मध्यमोपलनिभे लसदंशावेकतश्च्युतिमुपेयुषि भानौ ।
द्यौरुवाह परिवृत्तिविलोलां हारयष्टिमिव वासरलक्ष्मीम् ॥ २ ॥

मध्यमेति ॥ मध्यमोपलनिभे नायकमणिसदृशे । 'निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इत्यमरः । 'शर्करायां स्त्रियां प्रोक्तः पुंस्यश्मन्युपलो मणौ' इति वैजयन्ती । लसदंशौ प्रसरद्रश्मौ भानौ । एकत एकस्मिन्भागे च्युतिं स्रस्ततामुपेयुषि प्राप्ते सति द्यौः परिवृत्त्या मध्याह्नातिक्रमेण विलोलां गत्वरीम् । अन्यत्र, गात्रस्य तिर्यगावृत्त्या मुहुश्चलन्तीम् । वासरलक्ष्मीं हारयष्टिं मुक्तावलीमिवोवाह वहति स्म ॥ २ ॥

हारावली के मध्यमणि के सदृश किरण-शोभी भगवान् भास्कर के एक दिशा के परित्याग कर देने पर द्यौरूपी बाला ने (आकाश) मध्याह्न कालातिक्रमण करने से गमनशीला दिनश्री को हारावली की तरह धारण किया ॥ २ ॥

अंशुपाणिभिरतीव पिपासुः पद्मजं मधु भृशं रसयित्वा ।
क्षीबतामिव गतः क्षितिमेष्यल्लोहितं वपुरुवाह पतङ्गः ॥ ३ ॥

अंशुपाणिभिरिति ॥ पतङ्गः सूर्यः । 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इत्यमरः । अतीव निर्भरम् । 'अत्यतीव च निर्भरे' इत्यमरः । पातुमिच्छुः पिपासुस्तृषितः सन् । पिबतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । अंशव एव पाणयस्तैः पद्मेषु जातं पद्मजं मधु मद्यमेव । मध्विति श्लिष्टं रूपकम् । मकरन्दमद्यमित्यर्थः । 'मधु मद्ये पुष्परसे' इत्यमरः । भृशमत्यन्तं रसयित्वास्वाद्य क्षीबतां मत्तत्वं गत इवेत्युत्प्रेक्षा । 'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः' इत्यमरः । क्षितिमेष्यन् गमिष्यन् । लोहितं रक्तं वपुरुवाह । यथा मत्तः क्षीबतया क्षितौ लुठति

रज्यते च तद्वदिति भावः। सूर्यस्य क्षितिविलयनमस्तमय इत्यागमः। अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोः सापेक्षत्वादङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ ३ ॥

मरीचिमाली (सूय) ने अत्यन्त तृषार्त होकर अपनी किरणरूप अञ्जलियों से कमलों के मकरन्द रूप मद्य को खूब छक कर मत्त हुए की भाँति पृथ्वी पर लुठते हुए (अस्त होते हुये) अरुण वर्ण का शरीर धारण किया ॥ ३ ॥

गम्यतामुपगते नयनानां लोहितायति सहस्रमरीचौ।
आससाद विरहय्य धरित्रीं चक्रवाकहृदयान्यभितापः ॥ ४ ॥

गम्यतामिति ॥ सहस्रमरीचौ सूर्ये। लोहितो भवतीति लोहितायति। 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इति क्यष्। 'वा क्यषः' इति परस्मैपदे शतृप्रत्ययः। अत एव नयनानां गम्यतामुपगते दर्शनीयतां प्राप्ते सति। अभितापो धरित्रीं विरहय्य विहाय। 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशः। चक्रवाकहृदयान्याससाद प्राप। अत्र धरित्र्या यादृशस्तीव्रार्ककरकृतसंतापस्तादृक्चक्रवाकहृदयेषु विरहसंतापः संजात इति परमार्थः। परंतु तदुपक्रमानन्तरमेतस्याविर्भावात् स एवात्र संक्रान्त इत्यभेदाध्यवसायेनोपदेशः। अत एव भेदेऽभेदरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ४ ॥

जब सहस्रांशु (सूर्य्य) लोहित वर्ण (रक्त) होकर नेत्रों के लिये अवलोकनीय हो गया, तब सन्ताप ने पृथ्वी को छोड़ कर चक्रवाक-पक्षियों के हृदय में समावेश किया। तात्पर्य्य यह कि दिन भर तो सूर्य्य अपनी किरणों से पृथ्वी को तपाता रहा, अब चक्रवाकों के हृदय को विदग्ध करेगा, क्योंकि सुना जाता है कि चक्रवाक पक्षी रात्रि के समय अपने प्रिय से अलग हो जाते हैं ॥ ४ ॥

मुक्तमूललघुरुज्झितपूर्वः पश्चिमे नभसि संभृतसान्द्रः।
सामिमज्जति रवौ न विरेजे खिन्नजिह्म इव रश्मिसमूहः ॥ ५ ॥

मुक्तेति ॥ रवौ सामिमज्जति अर्धास्तमिते सति। 'सामि त्वर्धे जुगुप्सायाम्' इत्यमरः। मुक्तं त्यक्तप्रायं मूलमाश्रयभूतो रविः। अन्यत्र, स्वामी, येन सोऽत एव लघुरल्पकश्च मुक्तमूललघुरुज्झितपूर्वस्त्यक्तपूर्वदिक्कः। अन्यत्र—त्यक्तपूर्वजनः। पश्चिमे नभसि नभोभागम्। अन्यत्र—क्वचिन्नीचस्थले। संभृतः संहतः सन्। अत एव सान्द्रश्च रश्मिसमूहः आश्रितजनश्च ध्वन्यते। खिन्नश्चासौ जिह्मश्च, खिन्नेन दुःखेन जिह्मो वा, दीन इव न विरेजे। अत्र मुक्तमूलत्वादिप्रस्तुतविशेषणसाम्यादप्रस्तुताश्रितजनप्रतीतेः समासोक्तिः। तत्र वाच्यस्य रश्मिसमूहस्याचेतनस्यापि प्रतीयमानेन चेतनेनाभेदाभिधानाद् दुःखितत्वाद्युत्प्रेक्षेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ ५ ॥

जिस तरह आश्रित व्यक्ति अपने आश्रय का परित्याग कर देता है, उसका गौरव न्यून हो जाता है; और वह खिन्न होकर किसी नीच स्थान में पहुँच कर मलिन और उदास रहता है उसी तरह सूर्य्य-बिम्ब के अर्द्धभाग के अस्त हो जाने पर, सूर्य्य का किरणपुञ्ज, जो

सूर्य्य का आश्रय परित्याग करने के कारण लघु हो जाता है तथा पूर्वदिशा का परित्याग कर चुका है, पश्चिम दिशा में संहत होकर निष्प्रभ हो रहा है ॥ ५ ॥

कान्तदूत्य इव कुङ्कुमताम्राः सायमण्डलमभित्वरयन्त्यः ।
सादरं ददृशिरे वनिताभिः सौधजालपतिता रविभासः ॥ ६ ॥

कान्तेति ॥ कुङ्कुमवत् कुङ्कुमेन वा ताम्राः । सायस्य सायंकालस्य । 'सायं साये प्रगे प्रातः' इत्यमरः यन्मण्डलं तत् अभि तदुद्दिश्य त्वरयन्त्यस्त्वरां कारयन्त्यः सौधानां जालैर्गवाक्षैः पतिताः प्रविष्टाः । 'जाल गवाक्ष आनाये' इति वैजयन्ती । रविभासः सूर्यरश्मयः कान्तानां प्रेयसां दूत्य इव वनिताभिः सादरं यथा तथा ददृशिरे दृष्टाः । सायंतनार्कभासां प्रियसमागमसूचकत्वादेव तासु स्त्रीणामादरोऽभवदित्यर्थः ॥ ६ ॥

सुर-वधूटियों ने कुङ्कुम के सदृश अरुण सूर्य्य की किरणों को, जो सूर्य्य-मण्डल की तरफ निर्देश करके उन्हें शीघ्रता करने के लिये प्रेरित कर रही थीं, और जो खिड़की के राह से भीतर प्रवेश कर रही थीं, अपने प्रेमियों के द्वारा प्रेपित सखियों की तरह आदरपूर्वक देखा ॥६॥

अग्रसानुषु नितान्तपिशङ्गैर्भूरुहान्मृदुकरैरवलम्ब्य ।
अस्तशैलगहनं नु विवस्वानाविवेश जलधिं नु महीं नु ॥ ७ ॥

अग्रेति ॥ विवस्वान् सूर्योऽग्रेऽस्तशैलशिखरे ये सानवस्तेषु ये भूरुहास्तान्नितान्तपिशङ्गैरत्यन्तारुणैर्मृदुभिः करैरिव कररंशुहस्तैरिति श्लिष्टरूपकम् । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । यद्वा—करैर्मृदुश्लथमवलम्ब्य । अस्त इति शैलोऽस्तशैलः । 'अस्तस्तु चरमक्ष्माभृत्' इत्यमरः । तस्य गहनं नु जलधिं नु महीं न्वाविवेश । तपनस्य पतनसंदेह एव दृष्टः । पतनं तु क्व चास्य तन्न ज्ञायते । शीघ्रभावादिति भावः । अत्र तपने पतनस्यारोप्यमाणस्य गहनाद्यनेकविषयत्वेन संदेहात्संदेहालंकारः ॥ ७ ॥

सूर्य्य अपने अत्यन्त पिंगल करों से अस्ताचल के शिखरों के वृक्षों का सहारा लेकर उस पहाड़ के घने जंगल में प्रविष्ट हो गया, अथवा पृथ्वी में घुस गया, अथवा समुद्र में डूब गया क्या ? (पता नहीं बुड्ढा (सूर्य्य) क्या हुआ कहाँ चला गया ?) ॥ ७ ॥

आकुलश्चलपतत्रिकुलानामारवैरनुदितौषसरागः ।
आययावहरिदश्वविपाण्डुस्तुल्यतां दिनमुखेन दिनान्तः ॥ ८ ॥

आकुल इति ॥ चलानां कुलायेभ्यः कुलान्प्रति चलतां पतत्रिकुलानां पक्षिसमूहानामारवः शब्दैराकुलो व्याप्तः । 'अनुदित' शब्देनाभावमात्रम्, 'उषः' शब्देन संध्यामात्रं च विवक्ष्यते । उषसि भव औषसः । 'सधिवेला—' इत्यादिना योगविभागादण्प्रत्ययः । अन्यथा कालाट्ठञ्स्यात् । तथा च अनुदितौषसरागोऽविद्यमानसंध्यारागइत्यर्थः । एकत्रापगमादन्यत्रानुदयाच्चेति भावः । अहरिदश्वोऽविद्यमानसूर्यः । एकत्रानुदयात्, अन्यत्रास्तमयाच्चेति भावः । अत एव विपाण्डुः । तिमिरानुदयादिति

शेषः । दिनान्तः सायंकालो दिनमुखेन प्रातःकालेन तुल्यतामाययौ । तद्वद्बभूवेत्यर्थः । अत एवोपमालङ्कारः ।। ८ ।।

बस अब क्या था झटपट सायंकाल ने अपना प्रभुत्व जमाया उसकी जरा शक्ल तो देखिये—
दिवसावसान प्रभात की समानता करता हुआ उपस्थित हो गया, दोनों समय एक काल में आहारार्थं और दूसरे काल (सायंकाल) में नीड-निवासार्थ प्रस्थित विहङ्गम समूहों से व्याप्त रहते हैं। दोनों समयों में किसी भी राग का पता नहीं रहता। वही दशा सूर्य भगवान् की रहती है (उनका भी पता नहीं रहता) अन्धकार भी दोनों कालों में नहीं रहता। (दोनों कालों के लक्षण एक से दिखलाई पड़ते हैं) ।। ८ ।।

आस्थितः स्थगितवारिदपङ्क्त्या संध्यया गगनपश्चिमभागः ।
सोर्मिविद्रुमवितानविभासा रञ्जितस्य जलधेः श्रियमूहे ।। ९ ।।

आस्थितः इति ।। स्थगितवारिदपङ्क्त्या पिहितमेघवृन्दया संध्ययाऽऽस्थित आक्रान्तो व्याप्तो गगनपश्चिमभागः । सोर्मिः । ऊर्मिसंक्रान्त इत्यर्थः । तया विद्रुमवितानविभासा प्रवालप्रकरकान्त्या रञ्जितस्य स्वसावर्ण्यमापादितस्य जलधेः श्रियमूहे । संध्याया रक्तवर्णत्वादिति भावः । वहतेः कर्तरि लिट् । तत्सदृशीं श्रियमुवाहेत्यर्थः । अत एव निदर्शनालङ्कारः ।। ९ ।।

आकाश का पश्चिमीय भाग जो मेघमालाओं से आच्छादित था, सन्ध्याकाल से आक्रान्त होकर लहरों से संक्रान्त प्रवालपुञ्ज की किरणों से रञ्जित जलनिधि (समुद्र) की तरह शोभित हुआ ।। ९ ।।

प्राञ्जलावपि जने नतमूर्ध्नि प्रेम तत्प्रवणचेतसि हित्वा ।
संध्ययाऽनुविदधे विरमन्त्या चापलेन सुजनेतरमैत्री ।। १० ।।

प्राञ्जलाविति ।। प्रबद्धोऽञ्जलिर्येन तस्मिन् प्राञ्जलौ बद्धाञ्जलौ । 'तौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः । 'प्रादिभ्यो धातुजस्य बहुव्रीहिर्वाच्यो वोत्तरपदलोपश्च ।' नतमूर्ध्नि नमस्कुर्वाणे तत्प्रवणं तत्र संध्यायामेवाहितं चेतो यस्य तस्मिन्नेवंविधेऽपि जने विषये प्रेम हित्वा विहाय विरमन्त्या निवर्तमानया । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् संध्यया चापलेनास्थैर्येण । युवादित्वादणप्रत्ययः । सुजनादितरो दुर्जनस्तस्य मैत्री सख्यमनुविदधेऽनुचक्रे । कर्मणि लिट् । यथा दुर्जनमैत्री स्निह्यन्तमपि जहाति तद्वत् संध्यापि सेवमानं जनमहासीदित्यर्थः । मित्रस्य कर्म मैत्री । अणन्तान्ङीप् । अत्र संध्यादुर्जनमैत्र्योश्चापलं समानधर्मोऽनुविधानम् । अत एवार्थरूपेणेयमुपमा ।। १० ।।

जिस व्यक्ति ने हाथ जोड़कर प्रणाम करने के लिये शिर झुका लिया है तथा उसमें अपनी आस्था भी रखता है ऐसे व्यक्ति-विषयक प्रेम का परित्याग कर, उससे अपना पिण्ड छुड़ाती हुई सन्ध्या ने अपनी मैत्री अधिक काल तक एक पात्र में स्थिर न रखकर दुर्जन के साथ मैत्री की । अर्थात् सन्ध्या के लिये लोग प्रेम करते रहते हैं तथापि वह स्वयं

तटस्थ होकर दुर्जनों के साथ अपनी नयी मित्रता जोड़ लेती है पुराने मित्रों का कुछ भी ख्याल नहीं करती। तात्पर्य यह कि सन्ध्या बहुत शीघ्र ही चली गई ॥ १० ॥

औषसातपभयादपलीनं वासरच्छविविरामपटीयः।
सन्निपत्य शनकैरथ निम्नादन्धकारमुदवाप समानि ॥ ११ ॥

औषसेति ॥ औषसात् प्राभातिकादातपाद्भयं तस्मादिवेत्युत्प्रेक्षा। अपलीनं क्वचिद्गूढं वासरच्छवेरातपस्य विरामाद्धेतोः पटीयः प्रभविष्णुतरम्। अन्धं करोतीत्यन्धकारं ध्वान्तम्। 'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्' इत्यमरः। अथ संध्यापगमनानन्तरं शनकैर्मन्दमन्दं निम्नात् सन्निपत्यागत्य समानि समस्थलानि। उदवाप व्यानशे। अत्र प्रस्तुतान्धकारविशेषणसाम्यादप्रस्तुतार्थप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः। उत्प्रेक्षा त्वङ्गतः स्यात् ॥ ११ ॥

सन्ध्या के हटते ही अन्धकार झाँक-झूँक करने लगा। अवसर मिलते ही सामने उपस्थित हुआ—

उस (अन्धकार) ने प्रभातकाल के आतप के भय से लुकते-छिपते धीरे से नीचे की ओर से आकर सब स्थलों पर अधिकार जमा लिया। और वह दिनश्री के अवसान होने से क्रमशः प्रबल होता गया ॥ ११ ॥

एकतामिव गतस्य विवेकः कस्यचिन्न महतोऽप्युपलेभे।
भास्वता निदधिरे भुवनानामात्मनीव पतितेन विशेषाः ॥ १२ ॥

एकतामिति ॥ एकतामभेदं गतस्येव। तमोव्याप्त्या तथा प्रतीतेरियमुत्प्रेक्षा। महतः शैलादेरपि कस्यचित् कस्यापि पदार्थस्य विवेको भेदो नोपलेभे न गृहीतः। अत एवोत्प्रेक्षते—पतितेनास्तमितेन भास्वता सूर्येण। 'भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्व—' इत्यमरः। भुवनानाम्। भुवनस्थपदार्थानामित्यर्थः। विशेषा भूधरादिभेदा आत्मनि स्वस्मिन्नेव निदधिरे इव निहिता इव। कथमन्यथा नोपलभ्येरन्नित्यर्थः। अत्रोत्प्रेक्षयोः सजातीययोः सापेक्षत्वादङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ १२ ॥

किसी छोटे-बड़े का विचार न रहा, अन्धकार के राज्य में कोई विशेषता नहीं रही। विदित होता है कि सूर्य्य भगवान् विवेक को अपने साथ लेकर चले गये। जिसके कारण संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं में भेद नहीं मालूम पड़ता ॥ १२ ॥

इच्छतां सह वधूभिरभेदं यामिनीविरहिणां विहगानाम्।
आपुरेव मिथुनानि वियोगं लङ्घ्यते न खलु कालनियोगः ॥ १३ ॥

इच्छतामिति ॥ वधूभिः स्वकामिनीभिः सह। अभेदमवियोगमिच्छताम्। तथा संकल्पवतामपीत्यर्थः। यामिनीषु विरहिणाम्। नियतवियोगानामित्यर्थः। रहतेरावश्यकेऽर्थे णिनिः। यद्वा—निन्दायामिनिः। तेषां विहगानां चक्रवाकाणां मिथुनानि

वियोगमापुरेव । न तु नापुरित्ययोगव्यवच्छेदः । तथा हि—कालनियोगो दैवाज्ञा न लङ्घ्यते खलु । दुर्वार इत्यर्थः ॥ १३ ॥

रात्रिकाल में जिन पक्षियों के दम्पती स्वभावतः पृथक् हो जाते हैं, वे चाहते भी रहते हैं कि हम लोग वियुक्त न हों तथापि वे वियुक्त हो ही जाते हैं। दैव की आज्ञा कौन भङ्ग कर सकता है ॥ १३ ॥

यच्छति प्रतिमुखं दयितायै वाचमन्तिकगतेऽपि शकुन्तौ ।
नीयते स्म नतिमुज्झितहर्षं पङ्कजं मुखमिवाम्बुरुहिण्या ॥ १४ ॥

यच्छतीति ॥ शकुन्तौ चक्रवाकपक्षिणि । सामान्यस्य प्राकरणिकविशेषपर्यवसानात् । 'शकुन्तिपक्षिशकुनिशकुन्तशकुनद्विजाः' इत्यमरः । अन्तिकगते समीपस्थेऽपि दयितायै चक्रवाक्यै प्रतिमुखमभिमुखं यथा तथा वाचं यच्छति वाचमेव ददाने । न तु संगच्छमाने सतीत्यर्थः । पाघ्राध्मा—' इत्यादिना दाणो यच्छादेशः । अम्बुरुहिण्या नलिन्या । उज्झितहर्षं चक्रवाकदुर्दशादर्शनादिव त्यक्तविकासं पङ्कजं मुखमिव नतिं नम्रत्वं नीयते स्म नीतम् । 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति नयतेर्द्विकर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि लिट् । प्रायेण दुःखदर्शनात्स्त्रियः खिद्यन्ते । विशेषेण विरहदर्शनादिति भावः । अत्र पङ्कजावनतेश्चक्रवाकविक्रोशानन्तर्यात्तद्धेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते । तच्च मुखोपमेयमम्बुरुहिण्या कामिनीसाम्यं गमयन्त्या निरुह्यत इत्युपमोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः । व्यञ्जकाप्रयोगात्प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ॥ १४ ॥

उस काल चक्रवाकपक्षी अपनी वल्लभा के समीप ही था और सामने से उससे केवल वार्तालाप कर सकता था (न कि उसका स्पर्श कर सकता था), उसकी इस दयनीय दशा को देख सरोरुहिणी का पुष्प, जो मुख के सदृश होता है, अपनी पंखड़ियों को संकुचित कर मनोवेदना प्रकट करने लगा ॥ १४ ॥

रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु ।
पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण ॥ १५ ॥

रञ्जिता इति ॥ तिमिरेणान्धकारेण विविधास्तरवः शैलाश्च रञ्जिताः स्वसावर्ण्यमापादिता नु । अन्यथा कथमेषां नीलाढ्यत्वमिति भावः । गगनं नामितं नु । आभूतलादिति शेषः । 'मितां ह्रस्वः' इत्यत्र वाशब्दानुवृत्त्या व्यवस्थितविभाषाश्रयणान्न ह्रस्वः । यद्वा—गगनं स्थगितमाच्छादितं नु । उभयत्रापि तमसावृतत्वान्न दृश्यत इति भावः । तथा धरित्री विषमेषु निम्नोन्नतेषु पूरिता समीकृता नु । अन्यथा तद्विवेकः कथं न स्यादिति भावः । ककुभो दिशश्च संहृता नु लुप्ताः किम् । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः । कथमन्यथा न दृश्यन्त इति भावः । अत्र तिमिरे तरुशैलाद्यनेकविषयरञ्जकत्वादिकमारोप्य संदिग्ध इति संदेहालङ्कारः । अनेन 'नु' शब्दस्य संभावनाद्योतकत्वमत्रोत्प्रेक्षाप्रकारमित्यलङ्कारसर्वस्वकारः ॥ १५ ॥

अन्धकार एक विलक्षण जादूगर भी मालूम होता है, उसका जादू तो देखा जाय। वह कामरूप देश से सीख कर अभी लौटा है—

अनेक प्रकार के वृक्ष और पर्वतों को अपने सरीखे काले रङ्ग में रँग डाला क्या ? आकाश को नीचे की तरफ झुका तो नहीं दिया ! (यह लो) आकाश पर काला परदा तो नहीं डाल दिया ? सब दिशाओं को चुरा कर अपने झोले में तो नहीं डाल लिया ? (देखिये इसकी तलाशी ली जाय) पृथ्वी के ऊँचे-नीचे स्थानों को समतल बना दिया क्या ? ॥ १५ ॥

रात्रिरागमलिनानि विकासं पङ्कजानि रहयन्ति विहाय ।
स्पष्टतारकमियाय नभः श्रीर्वस्तुमिच्छति निरापदि सर्वः ॥ १६ ॥

रात्रीति ॥ श्रीः शोभा कर्त्री रात्रेः संध्याया रागेण स्वच्छायोपरञ्जनेन मलिनानि अत एव विकासं रहयन्ति त्यजन्ति । रहतेस्त्यागार्थाच्छतृप्रत्ययः । पङ्कजानि विहाय त्यक्त्वा स्पष्टतारकं नभः खम् । इयाय प्राप । तथा हि—सर्वो जनो निरापदि निर्बाधस्थले वस्तुं स्थातुम् । 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इतीट्प्रतिषेधः । 'घसिश्च सान्तेषु वसिः प्रसारिणि' इति वचनात् । इच्छति ॥ १५ ॥

जब तक कमलों का अच्छा समय था तब तक शोभा उनके साथ रही, अब वह भी मारे डर के दूसरी जगह चली गई। ध्यान दीजिये, देखिये कहाँ जाती है ?—

पङ्कजश्री रात्रि के राग से उदास होकर प्रफुल्लता का त्याग करते हुए कमलों को छोड़कर आकाश-मण्डल में चली गई जहाँ पर तारे चमचमा रहे थे। सब लोग सुरक्षित स्थान में निवास करने के अभिलाषी रहते हैं (मुसीबत में कौन किसकी मदद करता है ?)॥ १६ ॥

अस्तादिसंध्यान्तं वर्णयित्वा चन्द्रोदयवर्णनमारभते—

व्यानशे शशधरेण विमुक्तः केतकीकुसुमकेसरपाण्डुः ।
चूर्णमुष्टिरिव लम्भितकान्तिर्वासवस्य दिशमंशुसमूहः ॥ १७ ॥

व्यानश इति ॥ शशधरेण चन्द्रेण विमुक्तः क्षिप्तः केतकीकुसुमकेसर इव पाण्डुः लम्भिता प्रापिता कान्तिर्यस्य सोंऽशुसमूहो रश्मिसमूहः । चूर्णस्य कर्पूरक्षोदस्य मुष्टिरिव । 'मुष्टि' शब्दस्य द्विलिङ्गत्वेऽप्यत्र पुंल्लिङ्गतैव ग्राह्या । उपमेयानुसारात् । वासवस्येन्द्रस्य दिशं प्राचीं व्यानशे व्याप । अनेन दिशानिशाकरयोर्नायिकानायकौपम्यं गम्यते ॥ १७ ॥

अन्धकार ने बड़ा उपद्रव मचाया। अपने शासन के समय में जो मन में आया कर डाला। समझता था कि मेरा कोई कुछ नहीं कर सकता। किन्तु सब दिन एक समान नहीं जाता, जो बहुत तपता है, परमेश्वर उसका नाश करके छोड़ता है। अतः खरगोश को लिये हुए चन्द्रदेव ने अन्धकार की होली जलायी। अब वे हाथ में अबीरबुक्का लेकर होली खेलने की तय्यारी करने लगे—

चन्द्रमा ने केतकी-पुष्प के पराग के सदृश पाण्डुर वर्ण की किरणों को हाथ में लेकर कर्पूर के चूर्ण (पाउडर) की तरह उड़ा दिया। उससे प्रकाश आ गया। उन किरणों का समूह (झट) इन्द्र की दिशा (पूर्व) को व्याप्त कर लिया ॥ १७ ॥

उज्झती शुचमिवाशु तमिस्रामन्तिकं व्रजति तारकराजे।
दिक्प्रसादगुणमण्डनमूहे रश्मिहासविशदं मुखमैन्द्री ॥ १८ ॥

उज्झतीति ॥ इन्द्रस्येयमैन्द्री दिक् प्राची तारकराजे नक्षत्रनाथे। 'कनीनिकायां नक्षत्रे तारकं तारकापि च' इति विश्वः। अन्तिकं समीपं व्रजति सति। आशु तमिस्रामन्धतमसम्। 'तमिस्रा स्त्री ध्वान्तनिशि निश्यन्धतमसे न ना' इति वैजयन्ती। शुचमिव। विरहदुःखमिवेत्यर्थः। उज्झती विजहती। प्रसादो नैर्मल्यमेव गुणः स एव मण्डनं यस्य तत्। रश्मयो हास इव तेन विशदं मुखमिव मुखमग्रभागम्। श्लिष्टोपमेयम्। ऊहे वहति स्म। अत्र दिक्चन्द्रयोर्नायिकानायकौपम्यं गम्यते ॥ १८ ॥

प्राची दिशा ने चन्द्रमा को समीप आते हुए देख अन्धकार को दूर भगा कर निर्मलता रूप गुण से युक्त तथा हास के समान किरणों से विशद मुख धारण किया अर्थात् जिस तरह किसी प्रोषितपतिका रमणी का मुख-मण्डल उसके पतिदेव के समीप आने पर विरहोत्थ शोक का परित्याग करके हासयुक्त होकर प्रसन्न हो जाता है उसी तरह प्राची दिशा का मुख अर्थात् अग्रभाग चन्द्रमा के उदय होने पर अन्धकार को दूर भगा कर प्रकाशित हो उठा ॥ १८ ॥

नीलनीरजनिभे हिमगौरं शैलरुद्धवपुषः सितरश्मेः।
खे रराज निपतत्करजालं वारिधेः पयसि गाङ्गमिवाम्भः ॥ १९ ॥

नीलेति ॥ शैलरुद्धवपुष उदयगिरितिरोहितमण्डलस्य सितरश्मेरिन्दोः संबन्धि नीलनीरजनिभे श्यामकमलतुल्ये खे आकाशे निपतत् प्रसरत्। हिमवद् गौरं शुभ्रं करजालमंशुसमूहो वारिधेः पयसि निपतद्गाङ्गमम्भ इव रराज। उपमानेऽपि विशेषणानि योज्यानि ॥ १९ ॥

हिमांशु (चन्द्र) की, जिसका मण्डल उदयाचल की ओट में था, तुषार के सदृश शुभ्र किरणों का पुञ्ज नील कमल सदृश नील नभ में प्रसरण करता हुआ इस प्रकार शोभित हुआ जिस प्रकार (नील) समुद्र में गिरता हुआ जाह्नवी का (शुभ्र) जल विशोभित होता है ॥ १९ ॥

द्यां निरुन्धदतिनीलघनाभं ध्वान्तमुद्यतकरेण पुरस्तात्।
क्षिप्यमाणमसितेतरभासा शंभुनेव करिचर्म चकासे ॥ २० ॥

द्यामिति ॥ द्यां निरुन्धत् आकाशमावृण्वत्। अतिनीलघनाभं मेचकम्। उद्यन्तः करा अंशवो हस्ताश्च यस्य तेन। असिताभ्य इतराः शुभ्रा भासो यस्य तेन चन्द्रेण

पुरस्तात् प्राच्यामग्रे च क्षिप्यमाणं नुद्यमानं ध्वान्तं शंभुना क्षिप्यमाणं करिचर्मेव चकासे । उपमानेऽपि विशेषणानि योज्यानि ॥ २० ॥

शुभ्र कान्तिधारी चन्द्रदेव के द्वारा, जिसकी किरणें उदीयमान थीं, काले मेघ के सदृश अन्तरिक्षव्यापी अन्धकार को दूर भगा दिया गया । उस समय का वह दृश्य ऐसा सुहावना मालूम पड़ता था मानों शङ्कर भगवान् का गजचर्म ताण्डव नृत्य के पश्चात् दूर (अलग) फेंक दिया गया हो और सुन्दर मालुम पड़ रहा हो ॥ २० ॥

अन्तिकान्तिकगतेन्दुविसृष्टे जिह्मतां जहति दीधितिजाले ।
निःसृतस्तिमिरभारनिरोधादुच्छ्वसन्निव रराज दिगन्तः ॥ २१ ॥

अन्तिकेति ॥ अन्तिकान्तिकेऽतिसमीपे । 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः । कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक् । अन्तिकान्तिकगतेनेन्दुना विसृष्टे मुक्ते दीधितिजाले किरणसमूहे जिह्मतां संकोचं जहति त्यजति सति तिमिरभारैस्तमःस्तोमैर्निरोधादुपरोधात् । निःसृतो निर्गतो दिगन्त उच्छ्वसन् प्राणन् इव रराजेत्युत्प्रेक्षालङ्कारः ॥२१॥

जिस समय अंशुजाल चन्द्रमा से छुटकारा पाकर फैलता हुआ ज्यों ज्यों क्षितिज के सन्निकट पहुँच रहा था उस समय निविड अन्धकार के अवरोध से छुटकारा पाकर क्षितिज उद्भासित हो उठा ॥ २१ ॥

लेखया विमलविद्रुमभासा संततं तिमिरमिन्दुरुदासे ।
दंष्ट्रया कनकटङ्कपिशङ्ग्या मण्डलं भुव इवादिवराहः ॥ २२ ॥

लेखयेति ॥ इन्दुर्विमलविद्रुमभासा स्वच्छप्रवालसवर्णया लेखया कलया संततं सान्द्रं तिमिरमादिवराहः कनकस्य टङ्कः शिलाभेदकं शस्त्रम् । 'टङ्कः पाषाणदारणः' इत्यमरः । तद्वत् पिशङ्ग्या लोहितवर्णया । 'पिशङ्गादुपसंख्यानम्' इति ङीप् । दंष्ट्रया भुवो मण्डलमिव । उदास उच्चिक्षिपे । अस्यतेः कर्तरि लिट् । सोपसर्गादस्यतेरात्मनेपदं विकल्पात् ॥ २२ ॥

चन्द्रदेव ने अपनी स्वच्छ प्रवाल सदृश कला से निविड अन्धकार को इस तरह दूर फेंक दिया जिस तरह शूकरावतार विष्णु भगवान् ने अपने सुवर्ण की टाँकी की सदृश जरदरङ्ग के दाँत से पृथ्वी-मण्डल को उठाकर फेंक दिया था ॥ २२ ॥

दीपयन्नथ नभः किरणौघैः कुङ्कुमारुणपयोधरगौरः ।
हेमकुम्भ इव पूर्वपयोधेरुन्ममज्ज शनकैस्तुहिनांशुः ॥ २३ ॥

दीपयन्निति ॥ अथ उदयानन्तरं किरणौघैर्नभो दीपयन् प्रकाशयन् कुङ्कुमेनारुणो यः पयोधरः कुचस्तद्वद् गौरोऽरुणः । उदयरागादिति भावः । तुहिनांशुरिन्दुः शनकैः पूर्वपयोधेः पूर्वसागरात् । हेम्नः कुम्भ इव । उन्ममज्ज उज्जगामेत्युत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥

कुङ्कुम के समान अरुण पयोधर के तुल्य अरुण तुषारांशु (चन्द्र) अपने किरण-पुञ्जों से

गगन-मण्डल को उद्भासित करते हुए धीरे-धीरे पूर्वीय समुद्र से सुवर्ण-कलश के समान ऊपर उठ आये ॥ २३ ॥

उद्गतेन्दुमविभिन्नतमिस्रां पश्यति स्म रजनीमवितृप्तः ।
व्यंशुकस्फुटमुखीमतिजिह्मां व्रीडया नववधूमिव लोकः ॥ २४ ॥

उद्गतेन्दुमिति ॥ लोको जनः । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । उद्गतेन्दुमुदितचन्द्राम् । अविभिन्नतमिस्रामनिःशेषितध्वान्तां रजनीं व्यंशुकमपनीतावगुण्ठनमत एव स्फुटं दृश्यमानं मुखं यस्याः सा तां तथापि व्रीडयातिजिह्मां वक्रां नववधूं नवोढाम् । 'वधूर्नवोढयोषायां स्नुषाभार्याङ्गनासु च' इति धरणिः । स्त्रियमिवावितृप्तः सन् पश्यति स्म ॥ २४ ॥

चन्द्रोदय हो जाने पर भी जब तक अन्धकार भलीभाँति नष्ट नहीं हो गया था तब तक निशा (रात्रि) को जनता ने एक (नूतन परिणीता) नव विवाहिता वधू की तरह, जिसके मुख का घूँघट हट गया हो तथा वह लज्जा के भार से दबी जाती हो, सतृष्ण दृष्टि से देखा ॥ २४ ॥

न प्रसादमुचितं गमिता द्यौर्नोद्धृतं तिमिरमद्रिवनेभ्यः ।
दिङ्मुखेषु न च धाम विकीर्णं भूषितैव रजनी हिमभासा ॥ २५ ॥

नेति ॥ हिमभासा चन्द्रेण द्यौराकाशम् । उचितं योग्यं प्रसादं न गमिता । अद्रयो वनानि च तेभ्यः । तिमिरं नोद्धृतं नोत्सारितम् । दिशां मुखेषु धाम तेजश्च न विकीर्णं न पर्यस्तम् । तथापि रजनी भूषितैव । उक्तगुणासम्पत्ताविति भावः । अत्र प्रसाधनकारणाभावेऽपि तत्कार्यभूषणोक्त्या विभावनालङ्कारः ॥ २५ ॥

यद्यपि चन्द्रदेव के द्वारा अन्तरिक्ष पूर्णतया विभासित नहीं हो चुका था। पर्वतों तथा जङ्गलों से अन्धकार भी दूर नहीं किया जा चुका था। और दिगन्तों में प्रकाश भी न पहुँच पाया था तथापि रजनी (रात्रि) देवी अलंकृता दिखलाई पड़ती थीं ॥ २५ ॥

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णबाष्पकलुषान् प्रतिगृह्णन् ।
मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं भीतभीत इव शीतमयूखः ॥ २६ ॥

मानिनीति ॥ उदितः शीतमयूख उष्णेन विरहजन्येन बाष्पेण कलुषानाविलान् । मानिनीजनस्य कलहान्तरितनायिकाजनस्य विलोचनपातान् । मानभङ्गजनितरोषेण भीषणानिति भावः । 'कोपात्कान्तं पराणुद्य पश्चात्तापसमन्विता । कलहान्तरिता' इति दशरूपके । प्रतिगृह्णन् स्वीकुर्वन् । अपरिहार्यत्वादिति भावः । अत एव भीतभीतो भीतप्रकार इवेत्युत्प्रेक्षा । मन्दमन्दं मन्दप्रकाशम् । उभयत्रापि 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावे कर्मधारयवद्भावात्सुलोपः । खमाकाशं प्रययौ ॥ २६ ॥

मानवती युवतियों के कटाक्षपातों को, जो वियोग के कारण गरम-गरम आँसू के

निकलने से कलुषित हो रहे थे, सहन करते हुए हिमरश्मि (चन्द्रमा) उदित होकर भी डरते-डरते हुए की भाँति धीरे-धीरे आकाश में पहुँच गये ॥ २६ ॥

श्लिष्यतः प्रियवधूरुपकण्ठं तारकास्ततकरस्य हिमांशोः ।
उद्वमन्नभिरराज समन्तादङ्गराग इव लोहितरागः ॥ २७ ॥

श्लिष्यत इति ॥ ततः प्रसारिताः करा एव करा अंशुहस्ता येन तस्य ततकरस्य तारका एव प्रियवधूरुपकण्ठमन्तिके कण्ठे वा । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । श्लिष्यतः प्रत्यासीदत आलिङ्गतश्च हिमांशोः सम्बन्धी समन्तादुद्वमन् उत्सर्पन् । अर्थान्तरत्वादकर्मकत्वम् । 'धातोरर्थान्तरे वृत्तेः' इति वचनात् । लोहितरागोऽरुणप्रभः । अङ्गराग इवाभिरराज । आलिङ्गनाद्रागो गलतीति प्रसिद्धिः । अत्र रूपकोपमयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ २७ ॥

चन्द्रमा ने अपने किरणरूपी हाथों को फैला कर अपनी तारकारूपिणी नायिका का कण्ठश्लेषपूर्वक आलिङ्गन किया उस समय उसकी किरणों की लालिमा सर्वत्र फैलती हुई अङ्गराग (उबटन) की तरह विशोभित होने लगी । तात्पर्य यह कि चन्द्रमा की किरणें निकल कर ताराओं से मिलने लगीं और सर्वत्र लालिमा छा गई । इसी दृश्य को एक नायक के द्वारा नायिका के आलिंगन से उपमित किया है ॥ २७ ॥

प्रेरितः शशधरेण करौघः संहतान्यपि नुनोद तमांसि ।
क्षीरसिन्धुरिव मन्दरभिन्नः काननान्यविरलोच्चतरूणि ॥ २८ ॥

प्रेरित इति ॥ शशधरेण चन्द्रेण प्रेरितो विसृष्टः करौघः संहतानि सान्द्राणि अपि तमांसि मन्दरेण मन्दराचलेन भिन्नो नुन्नः क्षीरसिन्धुरविरलाः सान्द्रा उच्चा उन्नताश्च तरवो येषु तानि काननानीव नुनोद दूरीचकार ॥ २८ ॥

चन्द्रमा से प्रेरित होकर किरण-समूह ने ढेर के ढेर अन्धकार को ढक लिया जैसे (समुद्र-मन्थन के समय) मन्दराचल से भिन्न होकर क्षीरसागर ने (समीप के) सब जंगलों को जिनमें घने-घने और ऊँचे वृक्ष थे, (अपने स्वच्छ क्षीर रूप जल से) ढक लिया ॥ २८ ॥

शारतां गमितया शशिपादैश्छायया विटपिनां प्रतिपेदे ।
न्यस्तशुक्लबलिचित्रतलाभिस्तुल्यता वसतिवेश्ममहीभिः ॥ २९ ॥

शारतामिति ॥ शशिपादैश्चन्द्ररश्मिभिः । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः । शारता शबलतां गमितया । 'शारः शबलपीतयोः' इति विश्वः । विटपिनां तरूणां छायया न्यस्तैर्निक्षिप्तैः शुक्लबलिभिः श्वेतपुष्पाद्युपहारैश्चित्राणि तलानि उपरिभागा यासां ताभिः । 'करोपहारयोः पुंसि बलिः प्राण्यङ्गजे स्त्रियाम्' इत्यमरः । वसतिवेश्ममहीभिर्निवासगृहभूमिभिः । तुल्यता साम्यं प्रतिपेदे प्राप्ता । कर्मणि लिट् । आर्थीयमुपमा ॥ २९ ॥

चन्द्रमा की किरणों से वृक्षों की छाया शवलित होकर (वृक्षों के पत्तों और शाखाओं के अन्तराल से चन्द्रमा की किरणें छन-छन कर उसकी छाया पर पड़ती हैं उस समय वह कहीं २ सफेद और कहीं २ काली रहती है) उस निवास के घर की भूमि की समानता करती है जहाँ पर देवताओं की पूजा की गई हो और पूजनोत्तर भी कहीं २ फूल इधर-उधर बिखरे हुए चित्रकारी की हुई की भाँति दिखलाई पड़ते हों ॥ २९ ॥

आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन ।
सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमसह्यम् ॥ ३० ॥

आतप इति ॥ आतपे । दुःखकरेऽपीति भावः । वध्वा चक्रवाक्या सह । अत एव धृतिमता संतोषवता यामिनीषु विरहिणा नियतविरहेणात एव विहगेन चक्रवाकेण हिमरश्मेश्चन्द्रस्य किरणा न सेहिरे । तथा हि—दुःखिते संजातदुःखे मनसि सर्वम् । मनोहरमपीति भावः । असह्यं सोढुमशक्यम् । 'शकिसहोश्च' इति यत्प्रत्ययः । पूर्वे तु 'आतपाः' इति पेठुः । तत्र वध्वा सहातपा अपि सेहिरे । तद्विरहिणा तु शशिकिरणा अपि न सेहिरे इति योज्यम् । फलं तु समानम् ॥ ३० ॥

रात्रिकाल के वियोगी चक्रवाक पक्षी ने अपनी स्त्री के साथ रहकर धैर्यपूर्वक सूर्य की प्रखर किरणों को सह लिया परन्तु (रात्रि में वियोगावस्था में) चन्द्रमा की (शीतल) किरणों को न सह सका क्योंकि जब हृदय वेदना से व्यथित रहता है तब सभी वस्तुएँ असह्य हो जाती हैं ॥ ३० ॥

गन्धमुद्धतरजः कणवाही विक्षिपन्विकसतां कुमुदानाम् ।
आदुधाव परिलीनविहङ्गा यामिनीमरुदपां वनराजीः ॥ ३१ ॥

गन्धमिति ॥ अपां कणवाही । योग्यान्वये व्यवधानमपि सोढव्यम् । विकसतां कुमुदानां गन्धं सौरभम्, उद्धतं रजः परागो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । 'शेषाद्विभाषा' इति । विकल्पान्न कप् । विक्षिपन् विकिरन् । इत्थं शिशिरः सुरभिः । यामिनीमरुत् रात्रिवायुः । परितो लीनाः शयिता विहङ्गा यासु ता वनराजीः । 'आदुधाव ईषत्कम्पयामास । विहङ्गशयनाविरोधेन वनराजिः किञ्चित्कम्पितेत्यर्थः । 'आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ' इत्यमरः । तथा कश्चित् कामिनीं गन्धोदकादिना सिञ्चन्नाकर्षति तद्वदिति भावः ॥ ३१ ॥

जल के कणों के वहन-कर्ता रात्रिकालीन वायु ने खिली हुई कुमुदिनी के सौरभ को, जिसमें पराग उड़ रहा था, बिखेरता हुआ वनराजियों को, जिनमें चिड़ियाँ सो रही थीं, थोड़ा-थोड़ा झकझोर दिया ॥ ३१ ॥

संविधातुमभिषेकमुदासे मन्मथस्य लसदंशुजलौघः ।
यामिनीवनितया ततचिह्नः सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दुः ॥ ३२ ॥

संविधातुमिति ॥ यामिनी वनितेव तथा रात्रिरूपया कान्तया मन्मथस्याभिषेकं

त्रिभुवनजैत्रयात्राभिषेकं संविधातुं सम्यक्कर्तुम्। अंशवो जलानीव तेषामोघः पूरो लसन् यस्मिन्सः। ततचिह्नः स्फुटलाञ्छन इन्दुः सोत्पलो रजतकुम्भ इव। उदास उत्क्षिप्तः। अस्यतेः कर्मणि लिट्। अत्र संविधातुमिति तुमुना प्रतीयमानोत्प्रेक्षयानुप्राणितोऽयमुपमोत्प्रेक्षयोः संकरः ॥ ३२ ॥

राका-रमणी (रात्रिरूपिणी स्त्री) ने कामदेव का अभिषेक करने के लिये, जिसकी किरणें ही जलराशि हैं; और जिसका चिह्न कमल के समान हैं ऐसे चन्द्रमा को रजत कलश के समान उठा लिया। (यहाँ पर आचार्य ने चन्द्रमा को कलश से उपमित किया है; उसकी ज्योत्स्ना को जल से और उसके चिह्न को नीलकमल के पुष्प से। कामदेव यात्री है उसकी विजय के लिये अभिषेकार्थ रात्रिरमणी अपनी सामग्री से तैयार है) ॥ ३२ ॥

ओजसापि खलु नूनमनूनं नासहायमुपयाति जयश्रीः।
यद्विभुः शशिमयूखसखः सन्नाददे विजयि चापमनङ्गः ॥ ३३ ॥

ओजसेति ॥ ओजसा। अनूनं संपूर्णमपि। असहायं सहायरहितम्। पुरुषमिति शेषः। जयश्रीर्नोपयाति खलु नूनम्। कुतः। यद् यस्मात्। विभुः तमर्थोऽप्यनङ्गः शशिमयूखानां सखा सहचरस्तथोक्तः। ससहायः सन्नित्यर्थः। विजयि विजयशीलम्। 'जिदृक्षि—' इत्यादिनेनिप्रत्ययः। चापमाददे। विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३३ ॥

'सामर्थ्य-सम्पन्न होने पर भी सहायक-विहीन पुरुष के पास विजय-श्री नहीं जाती' यह निर्विवाद है। क्योंकि समर्थ भी रतिवल्लभ (काम) ने हिमांशु से मित्रता करके ही विजयी धनुष को ग्रहण किया ॥ ३३ ॥

इत्थमुद्दीपनसामग्रीमुपवर्ण्य संप्रति तत्कार्यभूतं रतिवर्णनमारभते—

सद्मनां विरचनाहितशोभैरागतप्रियकथैरपि दूत्यम्।
सन्निकृष्टरतिभिः सुरदारैर्भूषितैरपि विभूषणमीषे ॥ ३४ ॥

सद्मनामित्यादि ॥ संनिकृष्टरतिभिरासन्नसुरतोत्सवैरत एव सुरदारैः सुरवधूभिः। आहितशोभैः प्रागेव विहितकेलिगृहमण्डनैरपि पुनः सद्मनां केलिगृहाणां विरचना मण्डनम्। ईषेऽभिलेषे। इषेः कर्मणि लिट्। आगतप्रियकथैः प्राप्तप्रियजनवृत्तान्तैरपि दूतस्य कर्म दूत्यं दूतीव्यापार ईषे। दूतस्य भावकर्मणोर्यत् प्रत्ययः। तथा भूषितैरपि विभूषणं प्रसाधनम्। ईषे। औत्सुक्यातिरेकादिति भावः ॥ ३४ ॥

इस तरह उद्दीपन-सामग्रियों का वर्णन करके तत्फल रूप रति का वर्णन प्रारम्भ करते हैं :—

देव-युवतियों ने, जिनके विलास का समय सन्निकट था, केलिभवन को विभूषित कर रक्खा था तो भी केलिगृहों की रचना के लिये अभिलाष किया। अपने प्राणेश्वरों का

समाचार प्राप्त करके भी वे दूती भेजने के लिये तय्यारी करने लगीं। वे भूषणों से विभूषित होकर भी पुनः अपने को विभूषित करने की अभिलाषा करने लगीं॥ ३४॥

न स्रजो रुरुचिरे रमणीभ्यश्चन्दनानि विरहे मदिरा वा।
साधनेषु हि रतेरुपधत्ते रम्यतां प्रियसमागम एव॥ ३५॥

नेति॥ विरहे वियोगावस्थायां स्रजो माल्यानि चन्दनानि गन्धा मदिरा मद्यानि वा रमणीभ्यः। 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति संप्रदानत्वाच्चतुर्थी। न रुरुचिरे न रोचन्ते स्म। हि यस्मात् प्रियसमागम एव रतेः साधनेन स्रगादिषु रम्यतां मनोहरत्वम्। रुचिकरत्वमिति यावत्। उपधत्त आदत्ते। तदभावादरुचिर्युक्तैवेत्यर्थः। अत एव वैधर्म्यात्कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः। रम्यन्त एष्विति रम्याणि। 'पोरदुपधात्' इति यत्प्रत्ययः, 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इत्यधिकरणार्थः॥ ३५॥

उन अप्सराओं को अपने प्राणेश्वर की विरहावस्था में न तो पुष्पमाला, न चन्दन और न मद्य ही रुचिकर प्रतीत हुआ क्योंकि रति के सहायक सामग्रियों में प्रिय का समागम ही रमणीयता की उपलब्धि करता है॥ ३५॥

प्रस्थिताभिरधिनाथनिवासं ध्वंसितप्रियसखीवचनाभिः।
मानिनीभिरपहस्तितधैर्यः सादयन्नपि मदोऽवललम्बे॥ ३६॥

प्रस्थिताभिरिति॥ अधिनाथनिवासं प्रियगृहं प्रति प्रस्थिताभिः प्रचलिताभिर्ध्वंसितानि खण्डितानि प्रियसखीवचनानि स्वयं प्रस्थानं लाघवायेत्येवंरूपाणि याभिस्ताभिः। मानिनीभिः कोपनाभिः। 'स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' इति लक्षणात्। अपहस्तितं निरस्तं धैर्यं येन सः। तथा सादयन् मानं शरीरं च कर्षयन्नपि सदोषोऽपीत्यर्थः। मदोऽवललम्बे स्वीकृतः। अज्ञानव्याजेन लाघवाद्व्रवसौकर्यादिति भावः॥ ३६॥

जो अप्सरायें मान कर बैठी थीं (मानमोचनोपरान्त) वे अपनी प्रिय सहेलियों की बातों की आनाकानी करके पतिदेव के घर के लिये चल पड़ीं। (मद्य) मद, जिसने उन्हें धैर्यभ्रष्ट कर दिया और जिसने उनके शरीर और मान को कृश कर दिया था, वे उसी का सहारा लीं॥ ३६॥

कान्तवेश्म बहु सन्दिशतीभिर्यातमेव रतये रमणीभिः।
मन्मथेन परिलुप्तमतीनां प्रायशः स्खलितमप्युपकारि॥ ३७॥

कान्तेति॥ रतये सुरताय बहु संदिशतीभिरनेकं कथयन्तीभिः। संदेशव्यसनाद्गन्तव्यमप्यजानतीभिरित्यर्थः। रमणीभिः। कान्तवेश्म यातं प्राप्तमेव। न तु मध्येमार्गान्निवृत्तमित्यर्थः। तथा हि—मन्मथेन परिलुप्तमतीनां स्खलितं विरुद्धाचरणमपि प्रायश उपकारि भवति॥ ३७॥

अनेक प्रकार के वार्तालाप करती हुई अप्सरायें रमणार्थ पति के घर पहुँच ही गईं

(बीच में कहीं वे भूली नहीं) प्रायः कामदेव के द्वारा उपहत बुद्धि वाले व्यक्तियों की भूल भी उपकारक हो जाती है ॥ ३७ ॥

आशु कान्तमभिसारितवत्या योषितः पुलकरुद्धकपोलम् ।
निर्जिगाय मुखमिन्दुमखण्डं खण्डपत्रतिलकाकृति कान्त्या ॥ ३८ ॥

आश्विति ॥ आशु कान्तमभिसारितवत्याः अभिगतवत्याः । स्वार्थे णिच् । योषितः सम्बन्धि पुलकै रुद्धावावृतौ कपोलौ यस्य तत् । खण्डा प्रमृष्टा पत्राणां पत्र-लेखानां तिलकस्य च आकृतिः संनिवेशो यस्य तत्तथोक्तं मुखं कान्त्याऽखण्डं पूर्णम् । इन्दुं निर्जिगाय जयति स्मेत्यार्थीयमुपमा । 'जयति द्वेष्टि' इति दण्डिना सादृश्यार्थेषु गणनात् ॥ ३८ ॥

शीघ्रता से प्रिय के समीप जाती हुई सुरयुवतियों के मुखमण्डल ने, जिनके कपोल श्रमकण से आवृत हो रहे थे; और जिस पर बनी हुई पत्रलेखा और तिलक की रचना मिट रही थी, अपनी शोभा से पूर्ण चन्द्र-मण्डल को भी जीत लिया ॥ ३८ ॥

उच्यतां स वचनीयमशेषं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥ ३९ ॥

उच्यतामिति ॥ तत्र नायिकाह—स धूर्तोऽशेषमखिलं वचनीयं वक्तव्यमुच्यताम् । निःशङ्कमुपालभ्यतामित्यर्थः । ब्रूञो दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि लोट् । अथ सख्याह—हे सखि, ईश्वरे भर्तरि नायके विषये परुषता पारुष्यं न साध्वी न हिता । अथ नायिकाह—तर्हि एनमनुनीय सान्त्वयित्वा, आनय । पुनः सख्याह—विप्रियाणि जनयन् अप्रियाणि कुर्वन् स कथं वाऽनुनेयोऽनुनयार्हः ॥ ३९ ॥

श्लो० सं० ३९ और ४० में उस नायिका और उसकी सखी का वार्तालाप है जो मान-परित्याग कर अपने पति के पास नहीं गई ।

नायिका—'(सखि), उस (ठग) से स्पष्ट कह देना कुछ बात छिपा न रखना ।'

सखी—'(नहीं सखि, यह ठीक नहीं) पति के साथ क्रूरता का व्यवहार अच्छा नहीं ।'

नायिका—'अच्छा तो फिर किसी प्रकार समझा-बुझाकर यहाँ बुला लाना ।'

सखी—'अप्रियकारी उस व्यक्ति के साथ अच्छा व्यवहार करके क्यों बुलाया जाय । (यह भी तो ठीक नहीं) ।' ॥ ३९ ॥

किं गतेन न हि युक्तमुपैतुं कः प्रिये सुभगमानिनि मानः ।
योषितामिति कथासु समेतैः कामिभिर्बहुरसा धृतिरूहे ॥ ४० ॥

किमिति ॥ पुनर्नायिकाह—तर्हि गतेन तं प्रति गमनेन किम् । कोऽर्थ इत्यर्थः । अत उपैतुं गन्तुं न युक्तं हि । पुनः सख्याह—हे सुभगमानिनि सौन्दर्यमानिनि । सुभगमात्मानं मन्यत इति । 'आत्ममाने खश्च' इति चकाराण्णिनिप्रत्ययः । तस्मिन्, प्रिये विषये को मानः । मानो न कर्तव्य इत्यर्थः । यद्वा—नहीत्यादि सखीवाक्यम् ।

तत्र नहीत्येकं वाक्यम् । यदुक्तं सखीत्यर्थः । हे सखि, किं तूपेतुं युक्तम् । कुतः । सुभगमानिनि प्रिये को मानः । तादृग्जनस्य दुर्लभत्वादिति भावः । इति एवंरूपासु योषितां कथासु विषये समेतैः । समीपमागत्याकर्णयद्भिरित्यर्थः । कामिभिर्बहुरसाऽनेकास्वादा धृतिः संतोष ऊहे ऊढा । अत्र परोक्षौत्सुक्यनिर्वेदाद्यनेकभावशाबल्यपरिपूर्णकान्ताकथाकर्णनादुत्तरोत्तरमपूर्वहृदयानन्दनिष्यन्दमानन्दसंदोहमविंदन्नित्यर्थः । प्रायेणात्र प्रौढाः कलहान्तरिताश्च नायिकाः ॥ ४० ॥

नायिका—'तो फिर उसके पास जाना ठीक नहीं, वहाँ जाने का प्रयोजन ही क्या ?"

सखी—ऐ अपने को सुन्दरी मानने वाली ! प्रिय के विषय में मान ही क्या ? (अर्थात् मान नहीं करना चाहिये)।

सुर-सुन्दरियाँ परस्पर इस प्रकार का वार्तालाप कर रही थीं कि उनके प्रेमीजन स्वयं उपस्थित हो गये और उनके वार्तालाप को सुनकर असीम आनन्द प्राप्त किये ॥ ४० ॥

योषितः पुलकरोधि दधत्या घर्मवारि नवसङ्गमजन्म ।
कान्तवक्षसि वभूव पतन्त्या मण्डनं लुलितमण्डनतैव ॥ ४१ ॥

योषित इति ॥ पुलकरोधि रोमाञ्चव्यापि नवसंगम एव जन्म यस्य तत् । घर्मवारि स्वेदोदकं दधत्या इति सात्त्विकोक्तिः । कान्तवक्षसि पतन्त्या इत्यौत्सुक्योक्तिः । योषितो या लुलितमण्डनता उत्सृष्टप्रसाधनत्वम् । भावे तल् । सैव मण्डनं बभूव । तादृशफलत्वात्तस्येति भाव ॥ ४१ ॥

(पति के प्राप्त कर लेने पर) रमणियाँ अपने-अपने पति के वक्षस्थल पर लेटी हुई थीं और रोमाञ्च हो जाने पर नये-नये सम्पर्क (संगम) से उत्पन्न श्रमकण धारण करती थीं जिससे उनके मण्डन (शोभा) की सामग्री मिट गई, किन्तु वही उनकी शोभा हो गई ॥ ४१ ॥

शीधुपानविधुरासु निगृह्णन्मानमाशु शिथिलीकृतलज्जः ।
सङ्गतासु दयितैरुपलेभे कामिनीषु मदनो नु मदो नु ॥ ४२ ॥

शीध्विति ॥ शेरतेऽनेनेति शीधु पक्वेक्षुरसविकारो मद्यविशेषस्तस्य पानेन विधुरासु विमूढासु । तथा दयितैः संगतासु स्वयंप्राप्तासु च कामिनीषु अतिमानवतीषु । आशु मानं कोपं निगृह्णन् निवर्तयन् शिथिलीकृता लज्जा येन स मदनो नु मदो नु । उपलेभे । लक्ष्यते स्मेत्यर्थः । प्रियसमागमशीधुपानरूपोभयकारणामङ्गादुभयथा माननिग्रहाद्यनुभावसाधारण्याच्च संदेहः । स एवालङ्कारः ॥ ४२ ॥

शीधु (ईख के रस से बनाया जाता है और यह एक प्रकार की शराब है) पान करने से वे अप्सरायें मतवाली हो गई थीं और अपने प्राणेश्वरों के पास स्वयं पहुँच गई थीं । उनमें उनके मान को शीघ्र ही भङ्ग करते हुए तथा उनकी लज्जा को भी दूर करते हुए काम-

देव और मद दोनों लक्षित होने लगे (परन्तु यह नहीं कहा जा सकता था कि उनकी यह दशा किसके द्वारा हुई काम के द्वारा अथवा मद (नशा) के द्वारा !) ॥ ८२ ॥

द्वारि चक्षुरधिपाणि कपोलौ जीवितं त्वयि कुतः कलहोऽस्याः ।
कामिनामिति वचः पुनरुक्तं प्रीतये नवनवत्वमियाय ॥ ४३ ॥

द्वारीति ॥ द्वारि त्वदागमनमार्ग एव चक्षुः, इत्यौत्सुक्योक्तिः । अधिपाणि पाणौ करे कपोलौ इति चिन्तोक्तिः । किं बहुना, जीवितं त्वयि त्वदधीनम् । त्वां विना न जीवतीत्यर्थः । इति गाढानुरागोक्तिः । अतोऽस्याः कलहो विग्रहः कुतः । इति एवं कामिनां प्रीतये पुनरुक्तं पुनःपुनरुच्यमानं वचो दूतीवाक्यं नवनवत्वं नवप्रकारत्वम-पूर्ववद्भावम् । इयाय । प्रकारार्थे द्विर्भावः । कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक् । कान्तानु-रागप्रकटनात् कामिनः प्रहृष्यन्तीति भावः । कलहान्तरितेयम् ॥ ४३ ॥

कतिपय सुरांगनाओं के कलह से उनके प्रेमीजन भी कुछ कुछ रूठ बैठे थे, उन युवतियों ने अपनी सखियों से प्रेरणा की कि वे उनकी वल्लभा को प्रसन्न कर दें अतः वे (सखियाँ) उनके प्राणाधारों से कहती हैं :—'वह (आपकी प्रियतमा—आप के आगमन की प्रतीक्षा करने के लिए) दरवाजे पर दृष्टि लगाये रहती है । अपनी हथेली पर कपोल रखकर बैठी रहती है (अर्थात् चिन्ता में पड़ी रहती है) उसका जीवन आपके अधीन है । फिर उसका झगड़ा (कलह) कहाँ' इस प्रकार की बातचीत से, जो सखी के द्वारा की गई, कामियों के हृदय में नये-नये प्रेम के अङ्कुर जमने लगे ॥ ४३ ॥

साचि लोचनयुगं नमयन्ती रुन्धती दयितवक्षसि पातम् ।
सुभ्रुवो जनयति स्म विभूषां सङ्गतावुपरराम च लज्जा ॥ ४४ ॥

साचीति ॥ लोचनयुगं साचि तिर्यक् नमयन्ती प्रिये तिर्यक् पातयन्ती । न तु समरेखयेत्यर्थः । दयितवक्षसि पातं रुन्धती इष्टमपि प्रतिबध्नती लज्जा सुभ्रुवो नायिकाया विभूषां शोभां जनयति स्म । सङ्गतौ सुरतप्रसङ्गे सति, उपरराम च । एवं यतस्तदा चाभूषणमेवेति भावः । 'विभाषाकर्मका' इति परस्मैपदम् ॥ ४४ ॥

जो सङ्कोच सुर-रमणियों को सीधे अवलोकन करने में असमर्थ बनाया था अर्थात् कनौड़ी दृष्टि से देखने को बाध्य करता था और पतिदेव की तरफ अवलोकन करने के लिए भी मना करता था और सुलोचनाओं की शोभा की वृद्धि करता था वह पति के साथ सङ्गम-काल में उन युवतियों के यहाँ से धीरे-धीरे विदा हो चला ॥ ४४ ॥

सव्यलीकमवधीरितखिन्नं प्रस्थितं सपदि कोपपदेन ।
योषितः सुहृदिव स्म रुणद्धि प्राणनाथमभिबाष्पनिपातः ॥ ४५ ॥

सव्यलीकमिति ॥ सव्यलीकं सापराधम्, अत एव अवधीरितोऽवज्ञातः सन् खिन्नस्तम् । 'पूर्वकाल—' इत्यादिना तत्पुरुषः । सपदि कोपस्य पदेन व्याजेन प्रस्थितं

निर्गच्छन्तं प्राणनाथं प्रियं योषितः संबन्धी अभिबाष्पनिपात आभिमुख्येनाश्रुमोक्षः सुहृदिव रुणद्धि स्म रुरोध। वाष्पपातस्य मन्युमोक्षलिङ्गतया प्रस्थानप्रतिबन्धकत्वात् सुहृदौपम्यम्। इयमधीरा खण्डिता -- ज्ञातेऽन्यासङ्गिनि पतौ खण्डितेर्ष्याकषायिता। अधीराश्रु विमुञ्चन्ती विज्ञेया चात्र नायिका ॥' इति दशरूपके ॥ ४५ ॥

उनमें से किसी अप्सरा के हृदयेश (पति); जो कुछ अपराध कर बैठे थे उसके कारण किये गये तिरस्कार से खिन्न होकर क्रोध की मुद्रा बनाकर शीघ्र ही चल पड़े। यह देख उस रमणी ने अधीर होकर आँसू बहाया जिसके कारण पतिदेव रुक गये। इस अश्रुपात ने उनके लिये मित्र का काम किया ॥ ४५ ॥

शङ्कितायकृतवाष्पनिपातामीर्ष्यया विमुखितां दयिताय।
मानिनीमभिमुखाहितचित्तां शंसति स्म घनरोमविभेदः ॥ ४६ ॥

शङ्कितायेति ॥ शङ्किताय दयितायाविश्वस्ताय नायकाय। ईर्ष्यया विमुखितां विमुखीकृताम्। अत एव कृतबाष्पनिपातां मानिनीं घनरोमविभेदः सान्द्रपुलकोदयोऽभिमुखमाहितं चित्तं यया ताम्। निष्कोपामित्यर्थः। शंसति स्म। व्यनक्तिस्मेत्यर्थः। अन्यथा सात्त्विकानुदयादिति भावः। अत्रापि पूर्वोक्तैव नायिका ॥ ४६ ॥

उन सुरबालाओं में से किसी एक ने ईर्ष्या से अपने पति से मुख फेर लिया और उसके नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लगने लगी। उसके शरीर के रोमाञ्च ने प्राणनाथ से जो सन्देहग्रस्त थे, सूचना दी कि वह अब अनुरक्त है और आप में उसका चित्त भी लगा हुआ है ॥ ४६ ॥

अथ संभोगशृङ्गारमाह, तत्रापि बाह्यरतमाह—

लोलदृष्टि वदनं दयितायाश्चुम्बति प्रियतमे रभसेन।
व्रीडया सह विनीवि नितम्बादंशुकं शिथिलतामुपपेदे ॥ ४७ ॥

लोलेति ॥ प्रियतमे लोलदृष्टि चञ्चलेक्षणं दयिताया वदनं रभसेन बलात्कारेण चुम्बति सति विनीवि निर्गतबन्धनम्। अंशुकं नितम्बाद् व्रीडया सह शिथिलतामुपपेदे। उभयमपि शिथिलमासीदित्यर्थः। अत्र व्रीडांशुकरूपसंबन्धिभेदभिन्नवृत्तिस्रंसनरूपशैथिल्यस्याभेदाध्यवसायनिबन्धनातिशयोक्तिमूलः सहोक्तिविशेषोऽलङ्कारः। अत एव व्रीडांशुकौपम्यं च कल्प्यम्। अत्र वात्स्यायनः—'बाह्यमाभ्यन्तरं चेति द्विविधं रतमुच्यते। तत्राद्यं चुम्बनाश्लेपनखदन्तक्षतादिकम् ॥ द्वितीयं सुरतं साक्षान्नानाकरणकल्पितम् ॥' इति ॥ ४७ ॥

पति के द्वारा वल्लभा के जिसके नेत्र चञ्चल हो रहे थे, मुख का चुम्बन करने पर नीवी (वस्त्रग्रन्थि) खुल जाने से लज्जा के साथ-साथ वस्त्र भी नितम्ब से खिसक पड़ा (अर्थात् वस्त्र तो नितम्ब से हट ही गया लज्जा ने भी अपनी राह ली) ॥ ४७ ॥

ह्रीतया गलितनीवि निरस्यन्नन्तरीयमवलम्बितकाञ्चि ।
मण्डलीकृतपृथुस्तनभारं सस्वजे दयितया हृदयेशः ॥ ४८ ॥

ह्रीतयेति ॥ गलितनीवि गलितबन्धं तथापि अवलम्बिता काञ्ची येन तत् । काञ्चीलग्नमित्यर्थः । तत्, अन्तरीयमधोंशुकम् । 'अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंशुके' इत्यमरः । निरस्यन् आक्षिपन् । हृदयेशः प्रियो ह्रीतया वस्त्रापगमाल्लज्जितया । ह्रीधातोः कर्तरि क्तः । दयितया मण्डलीकृतो वर्तुलीकृतः पृथुस्तनभारो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । गाढमित्यर्थः । सस्वजे आश्लिष्टः । प्रियदृष्टेः प्रतिबन्धार्थमित्यर्थः ॥४८॥

पतिदेव नीवीविस्रंसन के बाद (अपनी) प्रियतमा के परिधान को जो काञ्ची के सहारे रुके हुए थे दूर हटाते हुये प्राणेश्वरी के द्वारा खूब स्तनों को दबाकर (गाढ़) आलिङ्गित किये गये ॥ ४८ ॥

आदृता नखपदैः परिरम्भाश्चुम्बितानि घनदन्तनिपातैः ।
सौकुमार्यगुणसंभृतकीर्तिर्वाम एव सुरतेष्वपि कामः ॥ ४९ ॥

आदृता इति ॥ परिरम्भा आलिङ्गनानि नखपदैर्हेतुभिः । आदृता अभिमताः । 'हेतौ' इति तृतीया । तथा चुम्बितानि चुम्बनानि घनदन्तनिपातैर्गाढदन्तक्षतैर्हेतुभिराद‍ृतानीति लिङ्गविपरिणामः । सुरतसुखोद्दीपकत्वान्नखन्तक्षतपूर्वकेष्वालिङ्गनचुम्बनेष्वादरः संवृत्त इत्यर्थः । ननु सुकुमारे कामतन्त्रे कथं पीडाकरेष्वादर इति न वाच्यमित्याह—सौकुमार्येति । सौकुमार्यमेव गुणस्तेन संभृतकीर्तिर्लब्धयशाः कामः सुरतेषु संभोगेष्वपि । न केवलं विप्रलम्भेष्विति भावः । वामः क्रूर एव । सुकुमारः काम इति प्रवादमात्रम् । वस्तुतस्तु पीडयन्नेव सुखमावहतीति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४९ ॥

आलिङ्गन की प्रशंसा नखक्षतों के कारण ही होती है। चुम्बन की शोभा घने दाँतों के द्वारा किये गये क्षत से होती है। जो सुकुमारता के कारण आज तक प्रशंसनीय है वह मदन (कामदेव) सुरत समय विपरीत (क्रूर) हो जाता है। नखक्षत और दन्तक्षत ये सब क्रूरों के ही काम हैं ॥ ४९ ॥

अथाभ्यन्तरं रतमाह—

पाणिपल्लवविधूननमन्तः सीत्कृतानि नयनार्धनिमेषाः ।
योषितां रहसि गद्गदवाचामस्त्रतामुपययुर्मदनस्य ॥ ५० ॥

पाणीति ॥ रहसि एकान्त इति विश्रम्भातिशयोक्तिः । गद्गदवाचां स्खलद्गिरां योषितां संबन्धीनि पाणिपल्लवयोर्विधूननं कम्पनम् । अन्तः सीत्कृतानि सीत्काराः । एतेन कुट्टमिताख्या भाव उक्तः । अधरपीडनादौ सुखेऽपि 'दुःखवदुपचारः कुट्टमितम्' इति लक्षणात् । नयनानामर्धनिमेषा अर्धनिमीलितानि । रहस्येकान्ते गद्गद-

वाचां योषितामिति विशेषणसामर्थ्याद् गद्गदकण्ठत्वं चेत्येतानि मदनस्यास्त्रतामुपययुः। अस्त्रवत् पुंसामुद्दीपनान्यासन्नित्यर्थः। सीत्कारार्धनिमेषादिना सुखपारवश्यं व्यज्यते। तदुक्तं रतिरहस्ये—'स्रस्तता वपुषि मीलनं दृशोर्मूर्च्छना च रतिलालसाक्षणम्। श्लेषयेत्स्वजघनं मुहुर्मुहुः सीत्करोति गतलज्जिताकुला॥' इति॥ ५०॥

(सुरतकाल में) सुरयुवतियों के स्खलित वचन, करकिसलय का सञ्चालन, सीत्कार के शब्द और अर्द्धनिमीलित नेत्र—ये सब कामदेव के लिये अस्त्र बन गये (अर्थात् इन्हीं क्रियाओं के द्वारा कामदेव धीरे-धीरे अपना काम (प्रहार) करने लगा॥ ५०॥

अथ मधुपानवर्णनमारभते—

पातुमाहितरतीन्यभिलेषुस्तर्षयन्त्यपुनरुक्तरसानि।
सस्मितानि वदनानि वधूनां सोत्पलानि च मधूनि युवानः॥ ५१॥

पातुमिति॥ युवान आहितरतीनि वर्धितरागाण्यत एव अपुनरुक्तरसानि पुनःपुनः पानेनाप्यपूर्वस्वादान्यत एव तर्षयन्ति तृष्णोत्पादकानि। अतृप्तिकराणीत्यर्थः। सस्मितानि वधूनां वदनानि सोत्पलानि मधूनि च पातुमभिलेषुरिच्छन्ति स्म। अत्र प्रस्तुतानामेव वदनानां मधूनां च पानक्रियौपम्यस्य गम्यत्वात्केवलं प्राकरणिकविषयतया तुल्ययोगितालङ्कारः। 'प्रस्तुतानां तथान्येषां केवलं तुल्यधर्मतः। औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता॥' इति लक्षणात्॥ ५१॥

सुरयुवतियों का अपने-अपने प्रियों के साथ मद्यपान करने का वर्णन किया है—

(युवक गन्धर्वों ने मद्य और युवतियों के मुख) में अनुरक्त होकर युवतियों के मुखों तथा कमलयुक्त मदिराओं का पान करने के लिये इच्छा प्रकट की। युवतियों के मुख पर मन्दहास सुशोभित हो रहा था। उनसे उन लोगों की तृप्ति भी नहीं हो पाती थी और बारबार उनका स्वाद लिया था तथापि उनके लिये वे अनास्वादित से मालूम होते थे॥ ५१॥

कान्तसंगमपराजितमन्यौ वारुणीरसनशान्तविवादे।
मानिनीजन उपाहितसंधौ संदधे धनुषि नेषुमनङ्गः॥ ५२॥

कान्तेति॥ कान्तसंगमेन पराजितमन्यौ त्यक्तरोषे। तदवधिकत्वात्तस्येति भावः। किंच, वारुणीरसनेन मद्यास्वादेन शान्तो विवादो वाक्कलहादिर्यस्य तस्मिन्। अत उपाहितसंधौ प्रियैः सह कृतसंधाने मानिनीजने विषयेऽनङ्गो धनुषीषुं न संदधे संधानं नाकरोत्। सिद्धसाध्ये साधनवैयर्थ्यादिति भावः॥ ५२॥

प्रिय के संयोग से मानिनी जन का क्रोध ठंडा पड़ गया; मदिरा के आस्वादनसे कलह भी मिट गया; और अब उन्होंने अपने प्रिय के साथ सन्धि भी कर ली। अतः कामदेव ने धनुष की प्रत्यञ्चा पर शर-सन्धान नहीं किया॥ ५२॥

कुप्यताशु भवतानतचित्ताः कोपितांश्च वरिवस्यत यूनः ।
इत्यनेक उपदेश इव स्म स्वाद्यते युवतिभिर्मधुवारः ॥ ५३ ॥

कुप्यतेति ॥ यूनः प्रियान् कुप्यत यूनां कोपं जनयत । नात्र 'क्रुधद्रुह—' इत्यादिना यूनां संप्रदानत्वे चतुर्थी । तस्य 'यं प्रति कोपः' इति नियमात् । अत्र कोपस्तावत्कृत्रिम इति आशु आनतचित्ता अनुकूलचित्ता भवत । किंच, कोपितांस्तान् वरिवस्यत परिचरत । 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' इति क्यच् । वरिवसः परिचर्यायामित्यर्थे तस्य नियमश्च । इति एवम् । अनेकोऽनेकप्रकारो यः उपदेशः प्रवर्तकवाक्यं स इव मधुवारो मधुपानावृत्तिः । 'मधुवारा मधुक्रमाः' इत्यमरः । युवतिभिः स्वाद्यते स्म । मधुवारस्य कोपादिकार्यप्रवर्तकत्वसाम्यादुपदेश इवेत्युत्प्रेक्षा । अनियता खलु मत्तचेष्टा इति भावः ॥ ५३ ॥

'प्रेमियों को क्रुद्ध हो जाने दो; उनके अनुकूल हो जाओ; क्रुद्ध हो गये हैं (अच्छा) सेवा करके मना लो, इस प्रकार के अनेकों उपदेशों की तरह युवतियों ने बार-बार मद्य-रसास्वादन किया ॥ ५३ ॥

भर्तृभिः प्रणयसंभ्रमदत्तां वारुणीमतिरसां रसयित्वा ।
ह्रीविमोहविरहादुपलेभे पाटवं नु हृदयं नु वधूभिः ॥ ५४ ॥

भर्तृभिरिति ॥ भर्तृभिः प्रणयसंभ्रमाभ्यां प्रेमादराभ्यां दत्ताम् । 'संभ्रमः साध्वसेऽपि स्यात्संवेगादरयोरपि' इति विश्वः । अत एव, अतिरसामधिकस्वादां वारुणीं वरुणात्मजाम् । 'सुरा हलिप्रिया हाला परिस्रुद्वरुणात्मजा' इत्यमरः । रसयित्वाऽऽस्वाद्य वधूभिर्ह्रीविमोहविरहाद् मदेन लज्जाजाड्यापगमाद्धेतो पाटवं पटुत्वं नु हृदयं ज्ञानविशेषं नु उपलेभे । अत एव हृदयस्य तत्कार्यज्ञानसामर्थ्याद्धृदयमेव प्रागसत्पश्चाल्लब्धमिति संदेहः । अन्यथा कथं प्रियं प्रति वक्रोक्त्याद्यर्थेषु प्रवृत्तिरिति भावः । संदेहालङ्कारः ॥ ५४ ॥

अप्सराओं ने अपने-अपने प्रेमियों के द्वारा प्रेम और आदर के साथ प्रदान की हुई मदिरा को खूब पान किया । अब मद के कारण लज्जा और जड़ता का कहीं पता न रहा । यह दशा उनकी पटुता के कारण अथवा ज्ञान के कारण हुई पता नहीं ॥ ५४ ॥

स्वादितः स्वयमथैधितमानं लम्भितः प्रियतमैः सह पीतः ।
आसवः प्रतिपदं प्रमदानां नैकरूपरसतामिव भेजे ॥ ५५ ॥

स्वादित इति ॥ स्वयं स्वादितः । आदौ स्वयमेवादाय पीतः, अथ अनन्तरं प्रियतमैरेधितमानं वर्धितबहुसंमानं यथा तथा लम्भितो ग्राहितः । स्वहस्तेन पायित इत्यर्थः । ततः प्रियतमैः सह पीतः । युगपदेकपात्रेण पीत इत्यर्थः । आसवः प्रमदानां प्रतिपदं प्रतिवारं नैकरूपरसतामनेकविधस्वादुत्वम् । नञर्थस्य 'नशब्दस्य सुप्सुपेति

समासः । नञ्समासे नलोपः स्यात् । भेज इव प्रापेव । उपचारविशेषाद्भोज्येषु रसविशेषः स्यादिति भावः । आस्वादनादिपदार्थानामनेकरसताप्राप्तिहेतुत्वात् काव्यलिङ्गं तावदेकं स्वादनादीनामनेकधर्माणामेकस्मिन्नेव सर्वक्रमेण संबन्धात्पर्यायभेदश्च, तयोश्च संसृष्टयोरनेकरसत्वोत्प्रेक्षाबीजत्वात्तया सहाङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ५५ ॥

मद्य (शराब) पहले स्वयं पान किया गया फिर आदरपूर्वक प्रियतमों के द्वारा प्राप्त कराया गया । पश्चात् एक ही पात्र में उनके साथ पान किया गया । प्रति बार (जितनी बार मद्यपान किया गया उसमें हर बार) एक तरह के स्वाद का अनुभव न हुआ किन्तु बार-बार उसका स्वाद बदलता गया ॥ ५५ ॥

भ्रूविलाससुभगाननुकर्तुं विभ्रमानिव वधूनयनानाम् ।
आददे मृदुविलोलपलाशैरुत्पलैश्चषकवीचिषु कम्पः ॥ ५६ ॥

भ्रूविलासेति ॥ भ्रूविलासैः सुभगान् सुन्दरान् । वधूनयनानां विभ्रमाननुकर्तुं तैरात्मानं समीकर्तुमिवेति फलोत्प्रेक्षार्थत्वात् । मृदुविलोलपलाशैरीषच्चञ्चलदलैः । उत्पलैः । चषकेषु या वीचयो मधूर्मयस्तासु यः कम्पः आददे स्वीकृतः । न तु स्वकम्पस्तस्य विलोलविशेषणेनैवोक्तत्वात्तत्स्वीकारश्च तद्योग एव । पूर्वं नेत्रमात्रसाम्यभाजामुत्पलानां कम्पमानवीचियोगात्सुभ्रूविलासनेत्रसाम्यं जातमित्यर्थः ॥ ५६ ॥

चषक में पड़े हुए कोमल और चल दल युक्त कमल मदिरा में उठने वाली लहरियों से कम्पित हो रहे थे, उस समय यह मालूम पड़ता था मानो वे सुरयुवतियों के नेत्रों के चाञ्चल्य का जो कटाक्षपात के कारण परम रम्य था, अनुकरण कर रहे थे । अर्थात् जब वे अप्सरायें मद्यपान कर रही थीं उस क्षण मद्यपात्रस्थ मदिरा में तरङ्गें उठ रही थीं जिससे कमल के पत्र विचलित हो उठे जिसे देखने पर प्रतीत होता था कि मानो वह अप्सराओं की आँखों की नकल करने चला है ॥ ५६ ॥

ओष्ठपल्लवविदंशरुचीनां हृद्यतामुपययौ रमणानाम् ।
फुल्ललोचनविनीलसरोजैरङ्गनास्यचषकैर्मधुवारः ॥ ५७ ॥

ओष्ठेति । ओष्ठ एव पल्लवस्तस्य विदंशे दंशने रुचिरभिलाषो येषां तेषाम् । मुखसुरापानमिषेणाधरं पिपासतामित्यर्थः । रमणानां फुल्लानि लोचनान्येव विनीलसरोजानि येषु तैः, मधुवारो मधुपानवृत्तिर्हृद्यतां हृदयप्रियतामुपययौ । 'हृदयस्य प्रियः' इति यत्प्रत्ययः । 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु–' इति हृद्भावः । रमणविशेषणार्थहेतुककाव्यलिङ्गसङ्कीर्णरूपकालङ्कारः ॥ ५७ ॥

रमण करने वाले प्रेमीजन प्रेमिकाओं के अधर पल्लवों का रसपान करने की अभिलाषा

करके युवतियों के मुख, जो मद्यपात्र के समान थे उनके विकसित नेत्र, जो पात्रस्थ नील-कमल के सदृश थे, इस प्रकार से मानो वे मद्यपान की आवृत्ति कर रहे थे वह उन्हें बहुत ही आनन्दप्रद हुआ ॥ ५७ ॥

प्राप्यते गुणवतापि गुणानां व्यक्तमाश्रयवशेन विशेषः ।
तत्तथा हि दयिताननदत्तं व्यानशे मधु रसातिशयेन ॥ ५८ ॥

प्राप्यत इति ॥ गुणवताप्याश्रयवशेन गुणानां विशेषः प्रकर्षः प्राप्यते व्यक्तम् । तत्तथा । यदुक्तं तत्तथैवेत्यर्थः । हि यस्मात् । दयितानां आननेन करणेन दत्तं मधु रसातिशयेन स्वादुप्रकर्षेण कर्त्रा व्यानशे व्याप्तम् । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५८ ॥

'गुणों से सम्पन्न आश्रय के कारण गुणों में विशेषता आ ही जाती है' यह बात स्पष्ट है क्योंकि प्रियतमा के द्वारा प्रदत्त मद्य ने स्वाद के आधिक्य से मद्यपान के कर्ता को अपनी तरफ खींच लिया ॥ ५८ ॥

वीक्ष्य रत्नचषकेष्वतिरिक्तां कान्तदन्तपदमण्डनलक्ष्मीम् ।
जज्ञिरे बहुमता प्रमदानामोष्ठयावकनुदो मधुवाराः ॥ ५९ ॥

वीक्ष्येति ॥ रत्नचषकेषु स्फटिकादिमणिपात्रेषु । अतिरिक्तां यावकापगमात्पूर्वाभ्यधिकां कान्तस्य यत् दन्तपदमण्डनं तस्य लक्ष्मीं शोभाम् । प्रतिबिम्बितामिति शेषः । वीक्ष्य । ओष्ठयावकनुदोऽधरलाक्षारागहारिणो मधुवारा मधुपानाभ्यासाः प्रमदानां बहुमता अभिमताः । वर्तमाने क्तः । तद्योगात्षष्ठी । जज्ञिरे जाताः । तेषां प्रियानुरागचिह्नप्रकाशकत्वादिति भावः ॥ ५९ ॥

मद्य के बार-बार पान करने से युवतियों के ओष्ठ प्रदेश की लाली छूट गई थी तथापि युवतियों ने रत्न के बने हुए मद्यपान पात्र में प्रियतम के द्वारा किये गये दन्त-क्षत-रूप आभूषण की शोभा को स्पष्ट प्रतिबिम्बित देखकर पुनः-पुनः मद्यपान को अपना अभीष्ट समझा ॥ ५९ ॥

लोचनाधरकृताहृतरागा वासिताननविशेषितगन्धा ।
वारुणी परगुणात्मगुणानां व्यत्ययं विनिमयं नु वितेने ॥ ६० ॥

लोचनेति ॥ लोचने चाधरश्च लोचनाधरम् । 'समुद्राभ्राद्घः—' इति व्यभिचारज्ञापकाज्ज्ञात्राधरशब्दस्य पूर्वनिपातः । कृतश्चासावाहृतश्चेति विशेषणसमासः । लोचनाधरस्य कृताहृतो रागो यया सा तथोक्ता । लोचनयोः कृतरागाधरादासमन्तादधृतरागा चेत्यर्थः । षष्ठ्याश्चार्थसंबन्धात्सामान्यस्य योगविशेषे पर्यवसाननियमेना-

धिकरणापादानार्थयोराक्षेपात्। तथा चाधरलोचनगुणयो रागतद्विरहयोः स्थानपरिवृत्ति कृतवतीत्यर्थः। तथा वासितेन स्वगन्धसंक्रान्तिसुरभितेन आननेन विशेषितोऽतिशयितो गन्धो यस्याः सा। यद्वा,—वासितानना चासवर्थादाननेनैव विशेषितगन्धा चेति कृतबहुव्रीहिविशेषणसमासः। उभयथाप्याननसंक्रान्तास्वगन्धा स्वसंक्रान्ताननगन्धा चेत्यर्थः। एवंभूता वारुणी मदिरा परगुणात्मगुणानां परयोर्लोचनाधरयोर्गुणौ च परस्याननस्य गुण आत्मनो वारुण्या गुणश्च परगुणात्मगुणास्तेषां परगुणात्मगुणानां व्यत्ययं विनिमयं नु वितेने विस्तरयामास। चित्तेन प्रामादिकी वस्तुपरिवृत्तिर्व्यत्ययः। बुद्धिपूर्वा तु विनिमयः। अत्र तन्त्रोच्चरितस्य 'परगुण'शब्दस्यावृत्त्या परगुणौ च परगुणात्मगुणौ चेति विग्रहः कथंचिदगत्या सोढव्यः। उपमानपूर्वपदबहुव्रीहिवत्। तथा चायमर्थः—परगुणयोरधरलोचनगुणयो रागतद्विरहयोर्व्यत्ययं नु विनिमयं नु वितेने, तथा परगुणात्मगुणयोराननगन्धात्मगन्धयोश्च व्यत्ययं नु वितेने। अन्यथा कथमन्यस्मिन्नन्यधर्मोपलम्भः संभवतीति भावः। अत्र लोचनाधररागयोस्तदभावयोर्वा भेदेऽप्यभेदाध्यवसायादेकत्ववाचोयुक्तिः। तस्मात्तन्मूलातिशयोक्त्यनुप्राणिता चेयं व्यत्ययविनिमययोरन्यतरकरणादुत्प्रेक्षेति संक्षेपः। सा च प्रतीयमाना व्यञ्जकाप्रयोगात्। 'नु' शब्दस्तु संशये॥ ६०॥

'मदिरा ने (सुन्दरियों के) नेत्रों को रञ्जित कर दिया था और उनके अधरों की रक्तिमा [जो लाली लगाने से थी] को अपहरण कर ही लिया था।' उसने उनके मुख को अपनी गन्ध से सुवासित कर दिया था तथा वह उनके मुखसुरभि से स्वयं सुरभित हो गई थी यह उसने अपने गुणों से दूसरे के गुणों का विनिमय [अदल-बदल] किया था अथवा भ्रम से उलट-फेर ही कर दिया था॥ ६०॥

तुल्यरूपमसितोत्पलमक्ष्णोः कर्णगं निरुपकारि विदित्वा।
योषितः सुहृदिव प्रविभेजे लम्भितेक्षणरुचिर्मदरागः॥ ६१॥

तुल्येति। अक्ष्णोस्तुल्यरूपमक्षितुल्याकृति योषितः कर्णगं कर्णावतंसीकृतम्। असितोत्पलं निरुपकारि अनुपकारकं विदित्वा ज्ञात्वा। तत्कार्यशोभायाः कर्णान्तविश्रान्तेनाक्ष्णैव कृतत्वादिति भावः। मदरागः सुहृदिव उत्पलस्य बन्धुरिव। अनिष्टवारकत्वादिति भावः। लम्भितेक्षणरुचिराहितनयनकान्तिः सन्। प्रविभेजे वर्णान्तरापादनेन प्रविभक्तवान्। अवैलक्षण्यकरादक्ष्णो व्यावर्तयामास। ततो विच्छित्तिकरत्वादिति भावः॥ ६२॥

एक अप्सरा ने अपने कान पर नीलकमल को धारण कर रक्खा था। वह बिल्कुल नेत्र के रंग से मिलता-जुलता था उसी के विषय में कवि वर्णन कर रहा है :—

मदराग ने कर्णोत्पल को आँखों के समान नीले रंग का देखकर और उसे व्यर्थ समझ कर नेत्र के रंगों को अरुणिमा में परिणत कर मित्र के समान कमल की सेवा की; तात्पर्य

यह है कि उस सुन्दरी ने अपने कानों पर जो नीलकमल का पुष्प धारण कर रक्खा था—वह ठीक आँखों के रंग का था, उसकी विशाल आँखें कानपर्यन्त दौड़ गई थीं, जिससे कर्णोत्पल की जगह को तो वह ही शोभित कर देती फिर उसकी क्या आवश्यकता होती बिल्कुल व्यर्थ हो जाता और वह नायिका उसे फेंक देती ये सब बातें सोच-समझ कर मदराग ने आँखों को ही लाल रंग में रंग दिया। जिससे आँखों से अलग शोभा होने लगी और कर्णोत्पल से अलग। अतः वह बेकार न हो पाया ॥ ६१ ॥

क्षीणयावकरसोऽप्यतिपानैः कान्तदन्तपदसंभृतशोभः।
आययावतितरामिव वध्वाः सान्द्रतामधरपल्लवरागः ॥ ६२ ॥

क्षीणेति ॥ अतिपानैः क्षीणयावकरसः क्षीणलाक्षारागोऽपि कान्तस्य दयितस्य दन्तपदेन दन्तक्षतेन संभृता शोभा यस्य सः। वध्वा अधरपल्लवरागोऽतितरामतिमात्रम्। 'अति' शब्दात्तरप्प्रत्यये 'किमेत्तिङव्यय—' इत्यादिनाम्प्रत्ययः। 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययसंज्ञा। सान्द्रतां घनत्वम्। आययाविव। प्रियोपभोगचिह्नमण्डितानां कामिन्यवयवानां किमन्यैर्मण्डनैरिति भावः। तत्र क्षीणस्यापि सान्द्रतेति विरोधात् कान्तदन्तेत्यादिविशेषणगत्या सान्द्रत्वे हेतूक्त्या काव्यलिङ्गं तत्संकीर्णा चोत्प्रेक्षा ॥ ६२ ॥

बार-बार मद्यपान करने से सुररमणियों के ओष्ठ पर लगाये गये अलक्तक धुलकर साफ हो गये थे तथापि ओष्ठपल्लव की अरुणिमा, जो प्राणेश्वरों के द्वारा किये गये दन्तक्षत से शोभित हो रही थी और अधिक बढ़ गई ॥ ६२ ॥

रागकान्तनयनेषु नितान्तं विद्रुमारुणकपोलतलेषु।
सर्वगापि दहृशे वनितानां दर्पणेष्विव मुखेषु मदश्रीः ॥ ६३ ॥

रागेति ॥ वनितानां सर्वगाऽपि सर्वाङ्गगतापि। 'अन्तात्यन्त—' इत्यादिना डः। मदश्री रागेण कान्तानि नयनानि येषु तेषु। विद्रुमवदरुणानि कपोलतलानि येषु तेषु। मुखेषु दर्पणेष्विव नितान्तं ददृशे। तेषां नयनादिनैर्मल्येन रागाभिव्यक्तिसंभवादिति भावः। अत्र मदश्रीः सर्वगतापि मुखेष्वेव ददृश इति विरोधः। तस्य मुखविशेषणः समाधानात् काव्यलिङ्गानुप्राणितो विरोधवदाभासोऽलङ्कारः। स चोपमया संसृज्यते ॥ ६३ ॥

मदश्री यद्यपि उन युवतियों के अङ्गप्रत्यङ्ग में झलक रही थी तथापि मदराग से रञ्जित [अरुण] नेत्र अत्यन्त सुन्दर दिखलाई पड़ते थे। कपोलस्थली भी प्रवाल [मूँगे] के सदृश लाल दिखलाई पड़ती थी। अतः वह [मदश्री] दर्पण की भाँति मुख में अधिक झलक रही थी ॥ ६३ ॥

बद्धकोपविकृतीरपि रामाश्चारुताभिमततामुपनिन्ये ।
वश्यतां मधुमदो दयितानामात्मवर्गहितमिच्छति सर्वः ॥ ६४ ॥

बद्धेति ॥ बद्धा कोपेन विकृतिर्याभिस्तास्तथाभूता अपि रामाः कर्म चारुता तासां सौन्दर्यं कर्त्री अभिमततां प्रियवाल्लभ्यम् । उपनिन्ये । सौन्दर्यं हि विकृतिमपि रोचयत इति भावः । मधुमदो दयितानां वश्यतां विधेयत्वमुपनिन्ये । तथाहि सर्वं आत्मवर्गहितमिच्छति । अतश्चारुता स्त्रीत्वात् स्त्रीणामुपचकार । मधुमदस्तु पुंस्त्वात् पुंसामिति युक्तमित्यर्थः । अत्र विकृता अप्यभिमताः कुपिता अपि वश्या इति विरोधस्य चारुतामदाभ्यां समाधानादुभयथापि विरोधाभासो भवन्नर्थान्तरन्यासेन संसृज्यते ॥ ६४ ॥

क्रोध करने के कारण [नाक भौंह सिकोड़ने से] युवतियों में कुछ विकार आ गया था परन्तु सुन्दरता ने उसे अभीष्ट बना दिया । मधमदने उन सुन्दरियों को अपने-अपने पति के वश में कर दिया । क्योंकि सभी लोग अपने-अपने पक्ष का कल्याण चाहते हैं । तात्पर्य्य यह है कि 'सुन्दरता' शब्द स्त्रीलिङ्ग है और 'मदराग' पुंलिङ्ग है, सुन्दरता ने स्त्रियों के सौन्दर्य्य को क्रोधादिकके कारण विकृत न होने दिया । यहाँ स्त्री ने स्त्री का उपकार किया । मदराग को देख स्त्रियाँ पतियों पर मुग्ध हो गईं । यहाँ पुरुष (मदराग) ने पुरुष जाति का उपकार किया ॥ ६४ ॥

वाससां शिथिलतामुपनाभि ह्रीनिरासमपदे कुपितानि ।
योषितां विदधती गुणपक्षे निर्ममार्ज मदिरा वचनीयम् ॥ ६५ ॥

वाससामिति ॥ उपनाभि नाभिसमीपे वाससां शिथिलतां ह्रीनिरासं लज्जात्यागम् । अपदे कुपितानि अस्थानकोपांश्च गुणपक्षे गुणकोटौ विदधती निवेशयन्ती । दोषानप्येतान्गुणान्कुर्वतीत्यर्थः । मदिराऽपि योषितां वचनीयम् 'न नाभिं दर्शयेत्' इति शास्त्रनिषिद्धाचरणनिन्दां निर्ममार्ज । तथा दोषाणामपि वस्त्रशैथिल्यादीनां तदानीं गुणत्वान्न कश्चिद्वचनीयावकाश इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

मदिरा ने सुन्दरियों के नाभिप्रदेश के परिधान को शिथिल कर दिया; [जिससे आवृत नाभि खुल गयी] लज्जा को दूर भगाया, और विना कारण उन्हें [सुन्दरियों को] कुपित किया । इस तरह उन्हें गुण की श्रेणी में रखकर [नाभि दिखलाना, निर्लज्ज बनना तथा अकारण क्रोध करना]—इत्यादि अपवादों को उनके पास फटकने नहीं दिया (उन्हें मिटा ही दिया) भाव यह है कि शास्त्र में लिखा है, 'स्त्रियों को नाभि नहीं दिखलानी चाहिये; निर्लज्ज भी नहीं होनी चाहिये तथा किसी पर अकारण क्रोध भी नहीं करना चाहिये ।' मदिरा पान करने से ये तीनों दोष उसमें आ गये । उन्होंने सब कुछ कर डाला इसलिये वे निन्दा के पात्र थीं तो भी मदिरा पान करनेवालों के लिये ये

सब दोषावह नहीं होते। यही कारण है कि वे उत्तम श्रेणी में ही रह गईं। कोई किसी प्रकार की निन्दा न कर सका ॥ ६५ ॥

भर्तृषूपसखि निक्षिपतीनामात्मनो मधुमदोद्यमितानाम्।
व्रीडया विफलया वनितानां न स्थितं न विगतं हृदयेषु ॥ ६६ ॥

भर्तृष्विति ॥ उपसखि सखीसमीपे। समीपार्थेऽव्ययीभावः। आत्मनः स्वदेहान्। 'आत्मा जीवे धृतौ देहे स्वभावे परमात्मनि' इति वैजयन्ती। भर्तृषु निक्षिपतीनां निपातयन्तीनाम्। भर्तॄणामुपरि पतन्तीनामित्यर्थः। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः। कुतः। मधुमदेनोद्यमितानां प्रेरितानाम्। न तु स्वच्छयेति भावः। वनितानामनुरक्तस्त्रीणाम्। 'वनिता जनितात्यर्थानुरागायां च योषिति' इति विश्वः। हृदयेषु विफलया। अनुचिताचरणादिति भावः। व्रीडया न स्थितं न विगतम्। वैफल्यात्तस्या मदोपाधिकत्वाच्चेति भावः। अत एव नोभयनिषेधविरोधः ॥ ६६ ॥

उन अनुरागवती अप्सराओं ने, जो मदिरा के नशे से प्रेरित हो रही थीं, सखियों के समीप अपनेको पतिदेवोंके ऊपर गिरा दिया। उस तरह उनका लज्जा करना व्यर्थ हो गया। इससे यह स्पष्ट न हो पाया कि लज्जा उनके हृदय में वर्तमान है अथवा चली गई ॥ ६६ ॥

रुन्धती नयनवाक्यविकासं सादितोभयकरा परिरम्भे।
व्रीडितस्य ललितं युवतीनां क्षीवता बहुगुणैरनुजह्रे ॥ ६७ ॥

रुन्धतीति ॥ नयनानां वाक्यानां च विकासं प्रागल्भ्यं रुन्धती प्रतिबध्नती। तथा परिरम्भ आलिङ्गने सादितौ स्तम्भितौ उभौ करौ यया सा युवतीनां संबन्धिनी क्षीवता मत्तता। कर्तरि क्तः। 'अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' इति निपातनात्साधुः। क्षीबो मत्तः तस्य भावः क्षीवता। त्वतलोर्गुणवचनस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः। बहुगुणैर्दृष्टिसङ्कोचादिभिर्व्रीडितस्य व्रीडायाः। भावे क्तः। ललितं विलासम्। अनुजह्रेऽनुचक्रे। कर्तरि लिट्। व्रीडाकार्यकरत्वाद् व्रीडानुकरणमित्युपमालङ्कारः ॥ ६७ ॥

मत्तता (मतवालापन) ने नेत्र और वाक्यों के विस्तार को रोक दिया (अर्थात् आँखें झेंपने लगीं और मुख से बात बन्द हो गई) आलिङ्गन के लिये हाथों को जडवत् बना दिया। इस प्रकार के अनेकों गुणों से युवतियों की लज्जा के द्वारा किये गये हाव भावादिकों का अनुसरण किया अर्थात् लज्जा के कारण आँखें सामने की तरफ देख नहीं सकतीं, मुखमें बात नहीं निकल पातीं, और हाथ स्तम्भित हो जाते हैं यही दशा मदिरापान के पश्चात् मतवालापन में भी हुई इससे कहा गया है कि मतवालापनने लज्जा से ही यह सब कुछ सीखा है ॥ ६७ ॥

योषिदुद्धतमनोभवरागा मानवत्यपि ययौ दयिताङ्कम्।
कारयत्यनिभृता गुणदोषे वारुणी खलु रहस्यविभेदम् ॥ ६८ ॥

योषिदिति ॥ उद्धत उत्कटो मनोभवेन यो रागः प्रीतिः स यस्याः सा योषित् मानवत्यपि दयितस्याङ्कं ययौ । यतो मानाद्रागो बलीयानिति भावः । लाघवदोषं परिहरति—कारयतीति । अनिभृता चपला । न कार्यकारिणीत्यर्थः । वारुणी मदिरा गुणेषु दोषेषु च विषये । सर्वोऽपि द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवति । रहस्यविभेदं रहस्यभङ्गं कारयति खलु । बलान्निगूहितावपि गुणदोषौ प्रकाशयतीत्यर्थः । यतोऽतिगूढरागप्रकटनं प्रकटमानत्यागश्च प्रमत्ताया न लाघवमावहति । अबुद्धिपूर्वकत्वादिति भावः ॥ ६८ ॥

जो सुरांगना मान कर बैठी थी वह भी कामदेव के कारण अनुराग दिखला कर अपने प्राणाधिप के अङ्क में स्वयं उपस्थित हो गई (मान से राग प्रबल होता है) चञ्चला मदिरा गुण और दोषों के विषय में निश्चय रहस्योद्घाटन कर देती है (भेद खोल देती है) मतलब यह है कि मदिरा में यह बड़ा विलक्षण बात है कि वह किसी की मुखदेखी नहीं करती जो उसके पास गया चट उसके गुण और दोष को खोल करके ही छोड़ती है ॥ ६८ ॥

आहिते नु मधुना मधुरत्वे चेष्टितस्य गमिते नु विकासम् ।
आबभौ नव इवोद्धतरागः कामिनीष्ववसरः कुसुमेषोः ॥ ६९ ॥

आहित इति ॥ मधुना मद्येन चेष्टितस्य रतिव्यापारस्य मधुरत्वे माधुर्ये आहिते नु संपादिते नु प्रागसत्येव मनोहरत्वे संप्रत्युत्पादिते वा । विकासं गमिते नु प्राक्सत्येव माधुर्ये प्रकर्षं प्रापिते वा । उद्धतराग उद्रिक्तरागः । अत एव कुसुमेषोः कामिनीषु अवसरः प्रवेशो नव इवाबभौ । नित्यसन्निहितोऽपि मदनः कामिनीषु मदकृततात्कालिकचेष्टामाधुर्याद्रागोदये सत्यपूर्ववदुद्दीप्तोऽभूदित्यर्थः । संशयानुप्राणितेयमुत्प्रेक्षा ॥६९॥

वारुणी के द्वारा सम्भोगव्यापार में आनन्द के सम्पादित करने पर अथवा उस आनन्द में और उत्कर्ष वृद्धि करने पर रमणियों के विषय में पुष्पबाण [कामदेव] का अत्यन्त उद्रिक्त राग के साथ प्रवेश नवीनता धारण करता हुआ उद्दीप्त हो उठा । तात्पर्य यह है कि पहले इतना आनन्द नहीं प्राप्त हुआ था जितना मद्यपान के अनन्तर प्राप्त हुआ ॥ ६९ ॥

मा गमन्मदविमूढधियो नः प्रोज्झ्य रन्तुमिति शङ्कितनाथाः ।
योषितो न मदिरा भृशमीषुः प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि ॥ ७० ॥

मा गमन्निति ॥ शङ्कितनाथा अविश्वस्तपुरुषा योषितो मदेन विमूढधियः स्तब्धबुद्धयो नोऽस्मान् प्रोज्झ्य विसृज्य । प्रपूर्वादुज्झतेः समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् । रन्तुं मा गमन् न गच्छन्तु इति । मनीषयेति शेषः । गमेर्माङि लुङ् । 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः । मदिरां भृशमतिमात्रं नेषुर्नेच्छन्ति स्म । किंतु भर्तृवियोगभयादीषदेव पपुरित्यर्थः । तथा हि—प्रेम स्नेहः । अपदेऽस्थानेऽपि भयानि अनिष्टानि पश्यत्युत्प्रेक्षते । शङ्कत इति यावत् । शङ्काहेतौ प्रेम्णि कर्तृत्वोपचारः ॥ ७० ॥

अपने-अपने बल्लभों [प्रियतमों] के विषय में सशङ्कित सुरवधुओं ने यह समझ करके

कि मद के कारण हम लोगों की बुद्धि जड़ हो गई हैं, अतः हम लोगों का त्याग करके अन्यत्र कहीं रमण करनेके लिये हमारे प्राणनाथ न चले जायें, अधिक मात्रा में मद्यास्वादन की अभिलाषा न की क्योंकि जो शङ्का के आस्पद नहीं हैं वहाँ भी प्रेम को शङ्का दिखलाई पड़ती है ॥ ७० ॥

चित्तनिर्वृतिविधायि विविक्तं मन्मथो मधुमदः शशिभासः ।
संगमश्च दयितैः स्म नयन्ति प्रेम कामपि भुवं प्रमदानाम् ॥ ७१ ॥

चित्तेति ॥ चित्तस्य निर्वृतिविधायि सुखकरं विविक्तं रहः । 'विविक्तं रहसि स्मृतम्' इति विश्वः । मन्मथो मधुमदो मद्यमदः शशिभासश्चन्द्रिका दयितैः सह संगमश्च । 'वृद्धो यूनां–' इति निर्देशात् 'सह' शब्दाप्रयोगेऽपि सहार्थे तृतीया । एतानि प्रमदानां स्त्रीणां प्रेम वियोगासहत्वावस्थासंभोगं कामपि भुवं काञ्चिद्दशां नयन्ति स्म । रत्यवस्थामप्यतिक्रम्य शृङ्गारावस्थां क्रीडामयीं निन्युरित्यर्थः । 'प्रेमाभिलाषो रागश्च स्नेहः प्रेमरतिस्तथा । शृङ्गारश्चेति संभोगः सप्तावस्थः प्रकीर्तितः ॥' इत्युक्तं रसरत्नाकरे । 'प्रेक्षा दिदृक्षा रम्येषु तच्चिन्ताप्यभिलाषकः । रागस्तत्सङ्गबुद्धिः स्यात्स्नेहस्तत्प्रवणक्रिया । तद्वियोगासहं प्रेम रतिस्तत्सहवर्तनम् । शृङ्गारस्तत्समं क्रीडा संभोगः सप्तधा क्रमः ॥' इति ॥ ७१ ॥

चित्त को शान्ति पहुँचाने वाला एकान्तस्थान, मनोभव [कामदेव], मदिराका मद [नशा], चन्द्रमाकी किरणें- और अपने हृदयेशों का संगम इन सब सामग्रियों ने रमणियों के प्रेमोत्कर्ष को किस अवस्था तक पहुँचा दिया ॥ ७१ ॥

क्रीडावस्थामाह—

धाष्टर्यलङ्घितयथोचितभूमौ निर्दयं विलुलितालकमाल्ये ।
मानिनीरतिविधौ कुसुमेषुर्मत्तमत्त इव विभ्रममाप ॥ ७२ ॥

धाष्टर्येति ॥ धाष्टर्येन प्रागल्भ्येन लङ्घिताऽतिक्रान्ता यथोचिता योग्या भूमिर्मर्यादा यस्मिंस्तथोक्ते । चुम्बनताडनमणितसीत्कारपुरुषायितादौ स्वयमुच्छृङ्खलवृत्तिरिति भावः । निर्दयं यथा तथा विलुलितानि आकर्षणाकुलितानि अलका माल्यानि च यस्मिंस्तस्मिन् । मानिनीरतिविधौ सुरते कुसुमेषुः कामो मत्तमत्तो मत्तप्रकार इव विभ्रमं विजृम्भणम् । आप प्राप । मत्तः किं न करोतीति भावः । कारयितरि कर्तृत्वोपचारादुत्प्रेक्षा ॥ ७२ ॥

मानवती सुरनारियों के सम्भोग विधान में धृष्टता के कारण उचित मर्यादा नहीं रही । जितनी क्रूरता बन पड़ी उतनी क्रूरता से केशपाश पर बंधे हुये सुमन मालाओंको कुचल डाला गया [यह सब करतूत कामदेव की थी] उसने मतवाले पुरुषों की तरह विलासिता प्राप्त की ॥ ७२ ॥

शीधुपानविधुरेषु वधूनां निघ्नतामुपगतेषु वपुःषु ।
ईहितं रतिरसाहितभावं वीतलक्ष्यमपि कामिषु रेजे ॥ ७३ ॥

शीध्विति ॥ शीधुपानेन मद्यपानेन विधुरेषु विह्वलेषु । 'मैरेयमासवः शीधुः' इत्यमरः । अत एव वपुःषु अङ्गेषु निघ्नतां प्रियपराधीनताम् । उपगतेषु सत्सु । अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः । वधूनां संबन्धिनि रतिरसे सुरतरसास्वाद आहित-भावं दत्तचित्तं कामिषु विषय ईहितं चुम्बनताडनादिचेष्टितं वीतलक्ष्यं निर्विषयम् । अस्थानकृतमपीत्यर्थः । रेजे । रागिणां स्खलितमपि शोभत इति भावः ॥ ७३ ॥

सुरसुन्दरियों के अङ्ग मद्यपान से विह्वल हो गये थे अत एव प्रेमियों के अधीन हो गये। कामुकों ने रतिरसाविष्ट चित्त होकर जो ताड़न चुम्बनादि किये वे यथास्थान नहीं हुए तथापि वे सुशोभित हो रहे थे ॥ ७३ ॥

अन्योन्यरक्तमनसामथ बिभ्रतीनां चेतोभुवो हरिसखाप्सरसां निदेशम् ।
वैबोधिकध्वनिविभावितपश्चिमार्धा सा संहृतेव परिवृत्तिमियाय रात्रिः ॥७४॥

अन्योन्येति ॥ अथ हरिसखा इन्द्रसचिवा गन्धर्वास्तेषाम् । अप्सरसां चान्योन्य-रक्तमनसां परस्परानुरक्तचित्तानां चेतोभुवः कामस्य निदेशमाज्ञां बिभ्रतीनां स्मर-विधेयानाम् । तासु रममाणस्यैवेत्यर्थः । 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी । विबोधः प्रबोधनं शीलमेषां ते वैबोधिका वैतालिकाः । 'शीलम्' इति ठक् । तेषां ध्वनिभिर्मङ्गलरवैर्वि-भावितोऽभ्यूहितो ज्ञातः पश्चिमार्धश्चरमभागो यस्याः सा तथोक्ताः सा रात्रिः संहृता संक्षिप्तेवेत्युत्प्रेक्षा । सुखिनां भूयानपि कालो लघीयानिव भवतीति भावः । परिवृत्तिं विवृत्तिम् । इयाय । प्रभातकल्पाऽभूदित्यर्थः ॥ ७४ ॥

परस्पर अनुरक्त चित्त होकर गन्धर्वों और सुराङ्गनाओं ने मनोभव [कामदेव] की आज्ञा का पालन किया [अर्थात् काम के वशीभूत होकर जो उसने कहा वह किया] वन्दीजनों की ध्वनि से उन लोगों को रात्र्यवसान का पता चल गया। रात्रि भी मानो संकुचित (छोटी) होकर बीत गई। अर्थात् इस प्रकार वे सुरतव्यापार में लग गये कि उनको यह पता न चला कि रात्रि कितनी चली गई और कितनी अवशेष है अगर कुछ पता चला तो बन्दीजनों के स्तुतिपाठ से चला ॥ ७४ ॥

निद्राविनोदितनितान्तरतिक्लमानामायासिमङ्गलनिनादविबोधितानाम् ।
रामासु भाविविरहाकुलितासु यूनां तत्पूर्वतामिव समादधिरे रतानि ॥७५॥

निद्रेति ॥ निद्रया विनोदितोऽपनीतो नितान्तमत्यर्थं यो रत्याः क्लमः स येषां तेषाम् । आयासिभिरायामवद्भिर्दीर्घैर्मङ्गलनिनादैर्वैबोधिकध्वनिभिर्विबोधितानां यूनां रामासु । 'सुन्दरी रमणी रामा' इत्यमरः । भाविविरहेणाकुलितासु सतीषु रतानि तान्येव पूर्वाणि प्रथमानि तत्पूर्वाणि तेषां भावः तत्पूर्वता ताम् । भावे तल्प्रत्ययः ।

समादधिरे प्रापुरिवेत्युत्प्रेक्षा । आद्यसुरतवदादरात्प्रवर्तन्त इत्यर्थः । यदुत्तरकालं दुर्लभं तदतितृष्णयानुभूयत इत्यर्थः ॥ ७५ ॥

युवक गन्धर्वों का, जिनके रतिखेद निद्रा के द्वारा दूर कर दिये गये थे, और जिन्होंने उच्च स्वर से वैतालिकों के द्वारा पढ़े गये मङ्गल पाठ से निद्रा का त्याग किया था, प्रेम ने आगामी वियोग से व्याकुल सुन्दरियों के विषय में नवीनता को धारण किया ॥ ७५ ॥

कान्ताजनं सुरतखेदनिमीलिताक्षं संवाहितुं समुपयानिव मन्दमन्दम् ।
हर्म्येषु माल्यमदिरापरिभोगगन्धानाविश्चकार रजनीपरिवृत्तिवायुः ॥ ७६ ॥

कान्तेति ॥ सुरतखेदेन निमीलितान्यक्षीणि येन तं कान्ताजनं स्त्रीसमूहं संवाहितुं सेवितुमिव । खेदापनोदार्थमङ्गमर्दनं कर्तुमिवेत्यर्थः । 'संवाहनं वाहनेऽपि नरादेरङ्गमर्दने' इति विश्वः । 'वाहृ प्रयत्ने' इति धातोरण्यन्तात्तुमुन् । अन्यथा णिज्ग्रहणे संवाहयितुमिति स्यात् । मन्दमन्दं मन्दप्रकारम् । 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावे कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक् । समुपयात् संवान् । रजनीपरिवृत्तिवायुः निशावसानमरुत् । हर्म्येषु माल्यानि च मदिरा च परिभोगो विमर्दश्च तेषां गन्धानाविश्चकार । बहिःप्रसारयामासेत्यर्थः । अत्र संवाहितुमिवेत्युत्प्रेक्षा । मान्द्यगुणमूलत्वाद् गुणनिमित्तक्रियाफलोत्प्रेक्षा ॥ ७६ ॥

निशावसान का वायु इस प्रकार मन्द मन्द चल रहा था मानो वह उनकी सुरसुन्दरियों की, जिन्होंने रतिखेद से अपनी आँखों को थोड़ा निर्मीलित कर रक्खा था, सेवा करने जा रहा हो और उस (वायु) ने अटारियों पर पुष्पमाला, मद्य तथा अङ्गरागादि सामग्रियों को बिखेर दिया ॥ ७६ ॥

आमोदवासितचलाधरपल्लवेषु निद्राकषायितविपाटललोचनेषु ।
व्यामृष्टपत्रतिलकेषु विलासिनीनां शोभां बबन्ध वदनेषु मदावशेषः ॥ ७७ ॥

आमोदेति ॥ आमोदेन मद्यगन्धेन वासिताः सुरभिताश्चला दष्टमुक्तत्वात्स्फुरन्तश्चाधरपल्लवा येषु तेषु निद्रया कषायितानि अपटूकृतानि विपाटलानि लोचनानि येषु तेषु । 'कषायस्तुवरे न स्त्री निर्यासे रञ्जकादिके । सुरभावपटौ रक्ते सुन्दरे लवणेऽपि च' इति केशवः । व्यामृष्टानि प्रमृष्टानि पत्राणि तिलकाश्च येषां तेषु विलासिनीनां वदनेषु मदावशेषः शोभां बबन्ध । मण्डनान्तरापाये मदशेष एव मण्डनं बभूवेत्यर्थः । स्त्रीणां मद एव विभूषणमिति भावः ॥ ७७ ॥

उन कामिनियों के अधर-पल्लव सुगन्धों से सनकर स्फुरण कर रहे थे निद्रा से अलसाये हुए उन (बालाओं) के नेत्र अरुण उपलक्षित हो रहे थे । उनकी तिलक-रचना भी मिट (छूट) गयी थी । उनके मुखमण्डल पर जो कुछ बचा खुचा मदिरा का मद था उसी ने उनकी शोभा को जीवित रक्खा था ॥ ७७ ॥

गतवति नखलेखालक्ष्यतामङ्गरागे समददयितपीताताम्रबिम्बाधराणाम् ।
विरहविधुरमिष्टासत्सखीवाङ्गनानां हृदयमवललम्बे रात्रिसंभोगलक्ष्मीः ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये नवमः सर्गः ।

गतवतीति ॥ अङ्गरागेऽङ्गविलेपने नखलेखासु नखपदेषु लक्ष्यतां दृश्यतां गतवति सति । विमर्दात्तन्मात्रावशेषे सतीत्यर्थः । 'किंच, बिम्बतुल्या अधरा बिम्बाधरा । 'शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समानाधिकरणसमासः' इति वामनः । समदैर्दयितैः पीताः पीडिता अत एवातिपीडनात् आताम्रा आसमन्ताद्रक्ता बिम्बाधरा यासां तासामङ्गनानां संबन्धि विरहेणाह्निकेन वियोगेन विधुरं विह्वलं हृदयम् । रात्रिसंभोगलक्ष्मीः । नखपदादिशोभेत्यर्थः । इष्टाप्ता सत्सखीव निपुणसहचरीवावलम्बे धारयामास । प्रियसंभोगचिह्नशोभा स्पष्टा बभूवेत्यर्थः । प्रियोपभोगचिह्नशोभावलोकनलालसाः कथं विरहमसहन्तेत्यर्थः । श्रुतिपूर्णोपमालङ्कारः । मालिनीवृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ ७८ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां नवमः सर्गः समाप्तः ।

उन देववनिताओं के अङ्गराग (उबटन; विलेपन) केवल नखक्षतों पर दिखलाई पड़ रहे थे । उनके अधर, जो बिम्बी [पका हुआ कुन्दुरु] फल के समान थे, मत्त प्रेमियों के द्वारा निपीड़न किये गये थे अतएव [तामे के समान] ताम्राभ [लोहित] वर्ण धारण कर लिये थे । प्रिय समागम जनित नखपद की शोभा ने उन बालाओं के हृदय पर प्रिय सहचरी के सदृश स्थान जमाया अर्थात् रात्रि-संभोग की दशा स्पष्ट प्रतीत होने लगी ॥ ७८ ॥

नवम सर्ग समाप्त ।

दशमः सर्गः

अथागन्तुकसहजशोभासंपन्नतया समग्रसाधनाः स्त्रियो मुनिमनःप्रलोभनार्थं प्रास्थिषतेत्याह—

अथ परिमलजामवाप्य लक्ष्मीमवयवदीपितमण्डनश्रियस्ताः ।
वसतिमभिविहाय रम्यहावाः सुरपतिसूनुविलोभनाय जग्मुः ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथ प्रभाते परिमलजां संभोगसंभूतां लक्ष्मीं शोभाम् । अवाप्य । 'संभोगः स्यात्परिमले' इति वैजयन्ती । संभोगात्स्त्रियः शोभन्त इति भाव । एते-

नागन्तुकशोभासंपत्तिरुक्ता। अत एव सुरतादिवर्णनस्य प्रस्तुतोपयोगित्वं चोक्तम्। अथ सहजशोभासंपत्तिमाह—अवयवेति। अवयवैः स्तनादिभिर्दीपिता मण्डिता च मण्डनश्रीः प्रसाधनशोभा याभिस्ताः। रम्यहावा मनोहरविलासास्ताः स्त्रियः। 'हावो विलासश्चेष्टायाम्' इति विश्वः। वसति शिविरम्। अभिविहाय सर्वतस्त्यक्त्वा सुरपतिसूनोरर्जुनस्य विलोभनाय जग्मुः। अत्रावयवदीपकतया प्रसिद्धस्य मण्डनस्य तद्दीप्यत्वासंबन्धेऽपि संबन्धाभिधानादवयवसौन्दर्यातिशयद्योतनार्थत्वादतिशयोक्तिरलङ्कारः। अस्मिन्सर्गे पुष्पिताग्रावृत्तम्—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात्॥ १॥

प्रभात होते ही सुराङ्गनायें भोग-विलास से उत्पन्न होने वाली शोभा को प्राप्त करके अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गों की शोभा से आभूषणों को सुशोभित करती हुई मनोहर हाव-भाव के साथ अपने निवासस्थान से इन्द्रपुत्र [अर्जुन] को आकृष्ट करने के लिये चल दीं॥ १॥

द्रुतपदमभियातुमिच्छतीनां गगनपरिक्रमलाघवेन तासाम्।
अवनिषु चरणैः पृथुस्तनीनामलघुनितम्बतया चिरं निषेदे॥ २॥

द्रुतेति॥ गगनपरिक्रमलाघवेन गगनगमनवेगेन द्रुतपदं यथा तथा, अभियातुं गन्तुमिच्छतीनाम्। किंच, पृथुस्तनीनां तासामप्सरसाम्। किंच, अलघुनितम्बया न लघवो नितम्बा यासां तासां भावस्तत्ता तया स्थूलनितम्बतया चरणैरवनिषु चिरं निषेदे स्थितम्। अभ्यासपाटवेन मनसा त्वरमाणानामपि तासां स्तनजघनभाराच्चरणा नोत्तस्थुरित्यर्थः॥ २॥

वे सुन्दरियाँ जिस वेगसे आकाश में उड़ रही थीं उसी तरह शीघ्र चलने की इच्छा करने लगीं [किन्तु] उनके उरोज और नितम्ब भारी थे जिसके कारण उनके चरण पृथ्वीपर धीरे-धीरे पड़ने लगे [अर्थात् वे चाहती थीं आकाश में उड़ने की तरह पृथ्वी पर भी जल्दी-जल्दी चलें पर वे ऐसा करने में असमर्थ हो गईं]॥ २॥

निहितसरसयावकैर्बभासे चरणतलैः कृतपद्धतिर्वधूनाम्।
अविरलविततेव शक्रगोपैररुणितनीलतृणोलपा धरित्री॥ ३॥

निहितेति॥ निहिता आरोपिताः सरसयावकाः सान्द्रलाक्षारागा येषु तैर्वधूनां चरणतलैश्चरणन्यासैः कृतपद्धतिः कृतमार्गरेखा। अत एव अरुणिता अरुणीकृता नीलास्तृणोलपास्तृणानि दूर्वादीन्युलपा बल्वजाख्यास्तृणविशेषाश्च यस्याः सा। 'उलपा बल्वजाः प्रोक्ताः' इति हलायुधः। 'उलपा उशीरतृणानि' इति क्षीरस्वामी। ब्राह्मणपरिव्राजकवदुलपानां पृथङ्निर्देशः। धरित्री शक्रगोपैरिन्द्रगोपाख्यैः कीटकैः। 'इन्द्रगोपस्त्वग्निरजः' इति हैमः। अविरलं निरन्तरं यथा तथा वितता व्याप्तेवेत्युत्प्रेक्षा। बभासे॥ ३॥

अप्सराओं के पैर के तलवों से, जिसमें लगाया हुआ महावर कुछ गीला था, पृथ्वीपर पदचिह्न पड़कर नीले रङ्ग के खस के तृण से आच्छन्न वह भूमि लालरंग से रंग कर निरन्तर वीरवहूटियों (कीट विशेष) से व्याप्त जैसी होकर सुशोभित होने लगी ॥ ३ ॥

ध्वनिरगविवरेषु नूपुराणां पृथुरशनागुणशिञ्जितानुयातः ।
प्रतिरववितततो वनानि चक्रे मुखरसमुत्सुकहंससारसानि ॥ ४ ॥

ध्वनिरिति ॥ अगविवरेषु नगरन्ध्रेषु । गुहास्वित्यर्थः । प्रतिरवैः प्रतिध्वनिभिर्विततः संमूर्च्छितः पृथुमी रशनागुणानां शिञ्जितैः स्वनितैरनुयातोऽनुगतः । मिलित इति यावत् । 'स्वनिते वस्त्रपर्णानां भूषणानां तु शिञ्जितम्' इत्यमरः । नूपुराणां ध्वनिभिर्ध्वानर्वनानि मुखराः शब्दायमानाः समुत्सुका उत्कण्ठिता हंसाः सारसाश्च 'येषां तानि चक्रे । अत्र हंसादिषु मुखरसमुत्सुकीकरणरूपेण वस्तुना तेषां नूपुरादिध्वनौ सादृश्याद्धंससारसान्तरकूजितभ्रान्तिप्रतीतेर्भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते ॥ ४ ॥

उनके [सुरनारियों के] नूपुरों [पायजेबों] की ध्वनि ने, जो करधनी की मोटी-मोटी लरों के शिञ्जन से मिश्रित होकर झङ्कृत हो रही थी, पहाड़ की कन्दराओं से प्रतिध्वनित होकर सम्पूर्ण वनस्थलियों को मुखरित कर दिया, जिसे सुनकर वहाँ के निवासी हंस और सारस भ्रम में पड़कर उत्कण्ठित हो उठे उन्हें यह प्रतीत हुआ कि हमारी जाति के और पक्षी बोल रहे हैं ॥ ४ ॥

अवचयपरिभोगवन्ति हिंस्रैः सहचरितान्यमृगाणि काननानि ।
अभिदधुरभितो मुनिं वधूभ्यः समुदितसाध्वसविक्लवं च चेतः ॥ ५ ॥

अवचयेति ॥ अवचयः पुष्पफलादिच्छेदनं परिभोग उपभोगस्तद्वन्ति । हिंस्रा घातुका व्याघ्रादयः । 'शरारुर्घातुको हिंस्रः' इत्यमरः । तैः सहचरिताः सहचरन्तः । कर्तरि क्तः । 'मतिबुद्धि–' इत्यादिसूत्रेण चकारात् शीलितादिवद्वर्तमानार्थता । अन्ये हिंस्रेतरे मृगा हरिणादयो येषु तानि सहचरितान्यमृगाणि काननानि । तथा समुदितेन साध्वसेन विक्लवं विवशं चेतश्च वधूभ्यः । 'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । अभितो मुनिमभिदधुः । आसन्नं सूचयामासुरित्यर्थः । अवचयादिलिङ्गचतुष्टयेनासन्नो मुनिरित्यन्वमीयतेत्यर्थः ॥ ५ ॥

उन वनों में पशु-पक्षी अपने घातक जन्तुओं के साथ स्वच्छन्द विचरण करते थे; तथा आहारार्थ अवचित फल-मूलादि सामग्री ज्यों की त्यों पड़ी हुई थी और उन युवतियों का चित्त महामुनि अर्जुन से आगत भय की आशंका से विकल हो रहा था। इन दोनों ने [वन और चित्त ने] उन्हें अर्जुन के निकट होने की सूचना [उन सब लक्षणों के द्वारा] दी ॥ ५ ॥

नृपतिमुनिपरिग्रहेण सा भूः सुरसचिवाप्सरसां जहार तेजः ।
उपहितपरमप्रभावधाम्नां न हि जयिनां तपसामलङ्घ्यमस्ति ॥ ६ ॥

नृपतिमुनिपरिग्रहेणेति। सा भूर्नृपतिरेव मुनिस्तस्य परिग्रहेणाधिष्ठानेन हेतुना सुरसचिवानां गन्धर्वाणामप्सरसां च तेजो जहार। तदाश्रमप्रवेशादेव निस्तेजस्का अभूवन्नित्यर्थः। ननु कथं मानुषेण तेजसाऽमानुषं तेजो निरस्तमित्याशङ्क्याह—हि यस्मात्। उपहित आहिते परमे प्रभावधाम्नी सामर्थ्यतेजसी येषां तेषां जयिनां जयनशीलानाम्। 'महताम्' इति पाठे महतामुत्कटानाम्। तपसामलङ्घ्यं नास्ति। किमप्यसाध्यं नास्तीति भावः॥ ६॥

उस वनभूमिने राजर्षि [अर्जुन] के अधिष्ठित होने से [उन] गन्धर्वों और अमर-रमणियों के तेज को अपहरण कर लिया, क्योंकि परम प्रभाव-सम्पन्न, परम तेजस्वी और विजयी तपस्वियों के लिये कोई कार्य ऐसा नहीं जो दुष्कर हो [अर्थात् तपस्वी सब कुछ कर सकते हैं]॥ ६॥

सचकितमिव विस्मयाकुलाभिः शुचिसिकतास्वतिमानुषाणि ताभिः।
क्षितिषु ददृशिरे पदानि जिष्णोरुपहितकेतुरथाङ्गलाञ्छनानि॥ ७॥

सचकितमिति॥ विस्मयाकुलाभिस्ताभिः स्त्रीभिः कर्त्रीभिः शुचयः सिकता यासु तासु। पादरेखाभिव्यक्तियोग्यास्वित्यर्थः। क्षितिषूपहितानि विन्यस्तानि केतुरथाङ्ग-लाञ्छनानि रेखास्वरूपध्वजचक्राण्येव चिह्नानि येषु तान्यत एव, अतिमानुषाणि जिष्णोरर्जुनस्य पदानि सचकितमिव सभयमिव यथा तथा ददृशिरे दृष्टानि। अद्भुत-वस्तुदर्शनाद्भयविस्मयौ भवत इति भावः॥ ७॥

अर्जुन के पदचिह्न, जिसमें ध्वजा और चक्र की रेखा अङ्कित थी जिसके कारण वे अमान-वीय प्रतीत हो रहे थे, आश्चर्यान्वित सुरसुन्दरियों के द्वारा जो चकपका-सी गई थीं, शुभ्र बालुकामयी भूमि पर देखे गये॥ ७॥

अतिशयितवनान्तरद्युतीनां फलकुसुमावचयेऽपि तद्विधानाम्।
ऋतुरिव तरुवीरुधां समृद्ध्या युवतिजनैर्जगृहे मुनिप्रभावः॥ ८॥

अतिशयितेति॥ अतिशयिता अतिक्रान्ता वनान्तराणां द्युतिर्याभिस्तासाम्। कुतः। फलानां कुसुमानां चावचयेऽपि लवनेऽपि सैव विधा प्रकारो यासां तद्विधा-नाम्। तथैव समग्राणामित्यर्थः। तरूणां वीरुधां च समृद्ध्या लिङ्गेन युवतिजनैर्मुनि-प्रभावो ऋतुरिव जगृहे निश्चितः। कारणतयेति शेषः। उपमालङ्कारः॥ ८॥

जिस वनमें मुनि (अर्जुन) निवास करते थे उस वन की वृक्ष-लताओं के, जो फल-फूलों के चुन लेने पर भी हरे भरे दिखलाई पड़ते थे अतएव और वनों की शोभा से वे अधिक शोभा सम्पन्न थे, चिह्न से जिस तरह ऋतु का निश्चय होता है उसी तरह सुरसुन्दरियों ने महामुनि अर्जुन के प्रभाव का निश्चय किया॥ ८॥

मृदितकिसलयः सुराङ्गनानां ससलिलवल्कलभारभुग्नशाखः।
बहुमतिमधिकां ययावशोकः परिजनतापि गुणाय सद्गुणानाम् ॥ ९ ॥

मृदितेति ॥ ससलिलमार्द्रं यद्वल्कलं तदेव भारस्तेन भुग्नशाखो नम्रशाखः 'वल्कं वल्कलमस्त्रियाम्' इत्यमरः। अत एव मृदितकिसलयो विलुलितपल्लवः। 'क्वचिन्न' इति प्रतिषेधान्न मृदेर्गुणः। अशोको वृक्षविशेषः। सुराङ्गनानामप्सरसां सम्बन्धिनीम्। अधिकां बहुमतिं तत्कर्तृकसम्मानं सज्जनसेवी धन्योऽयमिति ययौ प्राप। ननु सेवकेषु का श्लाघेत्यत्राह—परीति। सद्गुणानां महतां परिजनतापि अनुचरत्वमपि। भावे तल्। गुणायोत्कर्षाय। भवतीति शेषः। एतेन तासां मुनेः प्रभावदर्शनादेव तत्पारवश्यं गम्यते ॥ ९ ॥

(महामुनि अर्जुन के तपोवन का) अशोकवृक्ष जिसकी शाखायें गीले वल्कलवस्त्र से झुकी हुई थीं और उनके सुकोमल पल्लव मसल गये थे, उन देववधूटियों के अतिशय सम्मान का भाजन बन गया। क्योंकि उत्तमगुणशाली व्यक्तियों की परिचर्या भी उत्कर्ष की वृद्धि करती है ॥ ९ ॥

यमनियमकृशीकृतस्थिराङ्गः परिददृशे विधृतायुधः स ताभिः।
अनुपमशमदीप्ततागरीयान् कृतपदपंक्तिरथर्वणेव वेदः ॥ १० ॥

यमेति ॥ यमो देशकालाद्यनपेक्षया शुद्धिहेतुरहिंसादिः नियमस्तदपेक्षया शुद्धिहेतुस्तपःस्वाध्यायादिः ताभ्यां कृशीकृतान्यपि स्थिराणि दृढान्यङ्गानि यस्य सः। विधृतायुधो धृतशस्त्रोऽत एव तपःक्षात्रयुक्तः सोऽर्जुनः शमः शान्तिरभ्युदयकाण्डे दीप्तता उग्रताऽभिचारकाण्डे ताभ्यामनुपमाभ्यां गरीयानुदग्रः। अथर्वणा वसिष्ठेन कृता रचिता पादानां पंक्तिरानुपूर्वी यस्य स वेदः। चतुर्थवेद इत्यर्थः। अथर्वणस्तु मन्त्रोद्धारो वसिष्ठकृत इत्यागमः। स इव ताभिः स्त्रीभिः परिददृशे दृष्टः ॥ १० ॥

उन अमरललनाओं ने तपस्वी अर्जुन को देखा कि उनके अङ्ग यम और नियम के पालन करने से क्षीण थे तो भी अटल थे और सशस्त्र थे। उस समय उन्हें साक्षात् मूर्तिधारी चौथे (अथर्व) वेद का भान हुआ, जो (अथर्ववेद) सर्वोत्तम अभ्युदय काण्ड और अभिचार काण्ड से उदग्र है और जिसके मन्त्रों की रचना महामुनि वशिष्ठ के द्वारा हुई है (कवि का भाव यह है कि अथर्ववेद से शान्ति का कार्य और अभिचार (हिंसादिक) सम्पादित होता है उसी तरह अर्जुन के शरीर से शान्ति भी झलकती थी और शस्त्र धारण करने से उग्रता भी थी अतः अथर्ववेद से उपमा दी गई है) ॥ १० ॥

अथ चतुर्भिस्तमेव विशिनष्टि—सशधर इत्यादिभिः—

शशधर इव लोचनाभिरामैर्गगनविसारिभिरंशुभिः परीतः।
शिखरनिचयमेकसानुसद्मा सकलमिवापि दधन्महीधरस्य ॥ ११ ॥

शशधर इति ॥ शशधरश्चन्द्र इव लोचनाभिरामैर्नेत्राह्लादकरैर्गगनविसारिभिरंशुभिस्तेजोभिः परीतो व्याप्तोऽम्बरवदेकं सानुसद्म यस्य सः । एकदेशस्थोऽपीत्यर्थः । महीधरस्येन्द्रकीलस्य सकलं शिखरनिचयमपि दधत् आवृण्वन्निवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ११ ॥

नेत्रानन्दकर तथा आकाशव्यापी किरणों से आवृत मृगलाञ्छन (चन्द्र) की तरह महामुनि (अर्जुन) एक ही शिलासीन थे तो भी इन्द्रकील पर्वत के सम्पूर्ण शिखरों को व्याप्त कर लिये थे । अर्थात् अर्जुन के शरीर से प्रभा निकल रही थी जिससे सम्पूर्ण पर्वत प्रदेश देदीप्यमान हो रहा था ॥ ११ ॥

सुरसरिति परं तपोऽधिगच्छन् विधृतपिशङ्गबृहज्जटाकलापः ।
हविरिव विततः शिखासमूहैः समभिलषन्नुपवेदि जातवेदाः ॥ १२ ॥

सुरेति ॥ पुनः, सुरसरिति गङ्गाकूले परं तपोऽधिगच्छन्नर्जयन् । फलाभिलाषेणेति शेषः । हविः समभिलषन्नित्युपमानविशेषणसामर्थ्यात् । तथा विधृतः पिशङ्गबृहज्जटाकलापो येन सः । अत एव. उपवेदि वेद्याम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । शिखासमूहैर्ज्वालाजालैर्विततो विस्तृतो हविराज्यादिकं समभिलषन् । जात वेदो हिरण्यम् । भोज्यं कर्मफलमिति यावत् । यस्मादिति जातवेदा वह्निरिव स्थितः ॥ १२ ॥

कपिशवर्ण की लम्बी-लम्बी जटाओं का जाल (समूह) धारण किये हुये जिष्णु (अर्जुन) गङ्गा के तटपर अभिलाप-सिद्धि के लिये उत्कट तपश्चर्या कर रहे थे । उस समय वह वेदी के समीप ज्वालाजाल से विस्तृत हवि की अभिलापा करते हुए अग्निदेव के समान मालूम पड़ते थे ॥ १२ ॥

सदृशमतनुमाकृतेः प्रयत्नं तदनुगुणामपरैः क्रियामलङ्घ्याम् ।
दधदलघु तपः क्रियानुरूपं विजयवतीं च तपःसमां समृद्धिम् ॥ १३ ॥

सदृशमिति ॥ पुनः, आकृतेर्वपुषः । 'आकृतिः कथिता रूपे सामान्यवपुषोरपि' इति विश्वः । सदृशं तुल्यमतनुं महान्तं प्रयत्नमुद्योगं दधत् । तथा तदनुगुणां प्रयत्नानुकूलामपरैरन्यैरलङ्घ्याम् । कर्तुमशक्यामित्यर्थः । क्रियां व्यापारं दधत् । तथा क्रियानुरूपं क्रियानुगुणमलघु गुरु तपो दधत् । तथा विजयवतीं सर्वोत्कर्षवतीं विजयफलां वा तपःक्रियानुरूपां तपःसमां समृद्धिमैश्वर्यं दधत् । अत्र पूर्वं प्रत्युत्तरस्य विशेषणतया स्थापनात्प्रथमेकावल्यलंकारः—'यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनं एकावली' इति सर्वस्वसूत्रात् ॥ १३ ॥

आकृति (शरीर की बनावट) के अनुकूल उनका उद्योग महान् था । प्रयत्नानुकूल ही उनकी क्रिया थी । वह किसी के द्वारा अतिक्रमण नहीं की जा सकती थी । क्रिया के अनुसार उनका तप (शरीर साधन) भी उत्कृष्ट था । तप के समान ही विजयरूपफलयुक्त उनका ऐश्वर्य था ॥ १३ ॥

चिरनियमकृशोऽपि शैलसारः शमनिरतोऽपि दुरासदः प्रकृत्या ।
ससचिव इव निर्जनेऽपि तिष्ठन्मुनिरपि तुल्यरुचिस्त्रिलोकभर्तुः ॥ १४ ॥

चिरनियमेति ॥ पुनश्च, चिरनियमेन दीर्घकालतपसा कृशः क्षीणाङ्गोऽपि शैलसारः । उपमानपूर्वपदो बहुव्रीहिः । शमे निरतोऽपि प्रकृत्या स्वभावेन दुरासदो दुर्धर्षो निर्जने विजने देशे तिष्ठन्नपि ससचिवः सपरिवार इव । किंच, मुनिरपि । ऐश्वर्यरहितोऽपीत्यर्थः । त्रयाणां लोकानां भर्तुरिन्द्रस्य । 'तद्धितार्थ–' इत्यादिनोत्तरपदसमासः । तुल्यरुचिः शमानतेजाः 'अपि'शब्दः सर्वत्र विरोधद्योतनार्थः । स च मुनेरतर्क्यमहिमत्वेन निरस्त इति विरोधालंकारः'—विरोधाभासत्वं विरोधः' इति सूत्रात् ॥ १४ ॥

दीर्घकाल से व्रती रहने के कारण दुर्बल हो गये थे तथापि पर्वत के सदृश बलवान थे । यद्यपि शान्ति के पुजारी थे तथापि स्वभावतः उनका तेज असह्य था । निर्जन प्रदेशमें रहते थे । तथापि मालूम पड़ता था—अपने भित्रादिकों के साथ वर्तमान हैं मुनिवेषधारी थे तथापि त्रिभुवनाधिपति (इन्द्र) के सदृश तेजस्वी थे ॥ १४ ॥

तनुमवजितलोकसारधाम्नीं त्रिभुवनगुप्तिसहां विलोकयन्त्यः ।
अवययुरमरस्त्रियोऽस्य यत्नं विजयफले विफलं तपोधिकारे ॥ १५ ॥

तनुमिति ॥ अवजिते तिरस्कृते लोकानां सारधाम्नी सत्त्वतेजसी यया ताम् । 'अन उपधा–' इत्यादिना ङीप् । त्रयाणां भुवनानां समाहारः त्रिभुवनम् । 'तद्धितार्थ–' इत्यादिना समाहारार्थे तत्पुरुषः । पात्रादित्वात्स्त्रीत्वप्रतिषेधः । तस्य गुप्तौ रक्षणे सहां समर्थाम् । पचाद्यच् । तनुं मूर्तिं विलोकयन्त्योऽमरस्त्रियोऽप्सरसो विजयफले विजयार्थे तपोधिकारे तपोनुष्ठानेऽस्यार्जुनस्य यत्नं विफलमवययुर्मेनिरे । त्रैलोक्याधिपत्यादिमहाफलसाधनसमर्थस्य तुच्छफलाभिलाषा मत्तमातङ्गमांसभोगोचितस्य कण्ठीरवस्य जीर्णतृणचर्वणोत्कण्ठेव न शोभामावहतीति भावः । अत्र विशिष्टतनुविलोकनस्य स्त्रीविशेषणवैफल्यजननहेतुत्वोक्त्या पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः ॥ १५ ॥

अमरललनाओं तीनों लोक की रक्षा करने में समर्थ अर्जुन के शरीर को, जो संसार के पराक्रम और तेज को तिरस्कृत कर रहा था, देखती हुई उस अर्जुन के विजयार्थ तपोनुष्ठान विषयक यत्न को व्यर्थ समझीं; तात्पर्य यह है कि उनके शरीर की आकृति को देखते ही सुरसुन्दरियों ने सोचा कि यह तो यों हीं जो चाहे कर सकता है तपस्या तो इसके लिये तुच्छ साधन है ॥ १५ ॥

मुनिदनुतनयान् विलोभ्य सद्यः प्रतनुबलान्यधितिष्ठतस्तपांसि ।
अलघुनि बहु मेनिरे च ताः स्वं कुलिशभृता विहितं पदे नियोगम् ॥ १६ ॥

मुनीति ॥ प्रतनुबलानि अनुत्कृष्टसाराणि तपांस्यधितिष्ठतोऽनुतिष्ठतो मुनीन्

दनुतनयान् दानवांश्च सद्यस्तत्क्षणमेव विलोभ्याकृष्य चिरात् कुलिशभृता शक्रेण। अलघुनि महति पदे स्थाने विहितं दत्तं स्वं स्वकीयं नियोगमधिकारं ताः श्रियो बहु यथा तथा मेनिरे। निकृष्टपदवृत्तीनामुत्कृष्टपदलाभो महान्। बहुमानमूलमिति भावः। विलोभ्य मेनिरे इत्यन्वयः। यद्वा—विलोभ्य लोभं कारयित्वा विहितं शक्रेणेत्यन्वयात् समानकर्तृत्वनिर्वाहः ॥ १६ ॥

उत्कृष्टचारहीन तपश्चर्या सम्प्रदान करते हुये मुनि और दानवों को शीघ्र ही मोहित करके उन सुरबालाओं ने सुरराज (इन्द्र) के द्वारा की गई उत्कृष्ट स्थान की अपनी नियुक्ति को बहुत समझा अर्थात् उन लोगों ने सोचा कि अब तक साधारण मुनि और राक्षसों को हमने लुभाया है अगर कहीं इस तपस्वी पर हमलोगों की चल गई तो इन्द्र हम लोगों का उचित सत्कार करेंगे ॥ १६ ॥

अथ कृतकविलोभनं विधित्सौ युवतिजने हरिसूनुदर्शनेन।
प्रसभमवततार चित्तजन्मा हरति मनो मधुरा हि यौवनश्रीः ॥ १७ ॥

अथेति ॥ अत्र अनन्तरं कृतकविलोभनं कृत्रिमं विलोभनं विधित्सौ विधातुमिच्छौ। विपूर्वाद्धधातेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। युवतिजने हरिसूनोरर्जुनस्य दर्शनेन चित्तजन्मा कामः प्रसभं बलात् अवततार। दैवतत्परं वञ्चयितुमागतस्य मोहो भवति, यतः स्वयं मुनिवञ्चनप्रवृत्ताः स्त्रियस्तेन वञ्चिता इत्यर्थः। युक्तं चैतत्। हि यस्मात्। मधुरा मनोहरा यौवनश्रीर्मनो हरति। बलादिति शेषः ॥ १७ ॥

(इसके अनन्तर) अप्सरायें कृत्रिम रूप से मोहन करने की अभिलाषा से आयी थीं। किन्तु ज्योंही उन्होंने अर्जुन को देखीं त्योंही उनके मनमें मनोमत्र (काम) का अवतार हो गया (अर्थात् अर्जुन को देखते ही वे उनपर मुग्ध हो गईं) क्योंकि युवावस्था की रम्य शोभा मन का हरण कर लेती है ॥ १७ ॥

सपदि हरिसखैर्वधूनिदेशाद्ध्वनितमनोरमवल्लकीमृदङ्गैः।
युगपदृतुगणस्य संनिधानं वियति वने च यथायथं वितेने ॥ १८ ॥

सपदीति ॥ सपदि वधूनां निदेशान्नियोगात् ध्वनिता नादिता मनोरमा वल्लक्यो वीणा मृदङ्गाश्च येस्तैर्हरिसखैर्गन्धर्वैर्वियति आकाशे वने च युगपदृतुगणस्य ऋतुषट्कस्य संनिधानमाविर्भावो यथायथं यथास्वम्। अलंकरेणेत्यर्थः। 'यथास्वं तु यथायथम्' इति निपातः। वितेने विस्तरे। उद्दीपनसामग्री संपादितेत्यर्थः ॥ १८ ॥

शीघ्र ही सुरयुवतियों के आदेशानुसार—गन्धर्वों ने मनोरम वीणा और मृदङ्ग बजाकर पुनः एक ही काल में छहों ऋतुओं को अलग-अलग व्योम तथा वनों में आविष्कृत करके विस्तृत कर दिया ॥ १८ ॥

अथ वर्षाक्रमेण ऋतून्वर्णयति—सजलेत्यादि—

सजलजलधरं नभो विरेजे विवृतिमियाय रुचिस्तडिल्लतानाम् ।
व्यवहितरतिविग्रहैर्वितेने जलगुरुभिः स्तनितैर्दिगन्तरेषु ॥ १९ ॥

सजलेति । सजला जलधरा यस्मिंस्तत् । नभो विरेजे । तडितो लता इव तासां रुचिः प्रभा विवृतिं विजृम्भणम् । इयाय । तथा व्यवहितरतिविग्रहैर्दूरीकृतरतिप्रकल्पितप्रणयकलहैर्जलगुरुभिः । जलभारादगम्भीरैरित्यर्थः । स्तनितैर्गर्जितैः । दिगन्तरेषु वितेने विततैरभावि भावे लिट् । अकर्मकत्वं वैवक्षिकम् । अत एव दिगन्तरेष्वित्यधिकरणत्वेन प्रयोगः । अन्यथा कर्मत्वमेव स्यात् ॥ १९ ॥

नील नीरद से आकाश आच्छन्न हो सुशोभित होने लगा । विद्युल्लता की दमक स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगी तथा जलभार से गम्भीर मेघगर्जन, जिससे रतिकालिक प्रणयिनों का कलह दूर हो गया था, दिगन्तों में गूँज उठा ॥ १९ ॥

परिसुरपतिसूनुधाम सद्यः समुपदधन्मुकुलानि मालतीनाम् ।
विरलमपजहार बद्धबिन्दुः सरजसतामवनेरपां निपातः ॥ २० ॥

परीति ॥ परिसुरपतिसूनुधाम अर्जुनाश्रमं प्रति । परीति लक्षणार्थे कर्मप्रवचनीयस्य योगाद् द्वितीया । यद्वा—वर्जनार्थस्य तस्यात्र विरोधाद्विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । तथा च सुरपतिसूनुधाम्नीत्यर्थः । सद्यो मालतीनां जातीलतानाम् । 'सुमना मालती जातिः' इत्यमरः । मुकुलानि समुपदधत् जनयन् । विरलं यथा तथा बद्धबिन्दुरपां निपातो वृष्टिरवनेः संबन्धिनीं सरजसतां सरजस्कत्वम् । 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिसूत्रेण साकल्यार्थेऽव्ययीभावः 'समासान्तनिपातश्च बहुव्रीह्यार्थस्तु लक्ष्यते । अव्ययीभावदर्शनं तु प्रायिकम्' इति केचित् । अपजहार । धूलिं शमयामासेत्यर्थः ॥ २० ॥

शीघ्र ही अर्जुन के आश्रम के अगल-बगल में मालती के पुष्प विकसित हो गये बूँद-बूँद करके जल वृष्टि ने भूमि की धूलि को शान्त कर दिया ॥ २० ॥

प्रतिदिशमभिगच्छताभिमृष्टः ककुभविकाससुगन्धिनानिलेन ।
नव इव विबभौ सचित्तजन्मा गतधृतिराकुलितश्च जीवलोकः ॥ २१ ॥

प्रतिदिशमिति । दिशि दिशि प्रतिदिशम् । यथार्थेऽव्ययीभावः । शरत्प्रभृतित्वात् समासान्तनिपातः । अभिगच्छता संवाता ककुभानि अर्जुनकुसुमानि । 'इन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः' इत्यमरः । तेषां विकासेन सुगन्धिना मनोज्ञगन्धेन गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणं प्रायिकम् । अनिलेनाभिमृष्टः संस्पृष्टोऽत एव सचित्तजन्मा । कामाक्रान्त इत्यर्थः । अत एव गतधृतिर्गतधैर्य आकुलितः क्षोभितश्च । रतिं प्रतीति भावः । एवंभूतो जीवलोको नव इव अवस्थान्तरप्राप्त्या अपूर्व इव विबभौ भाति स्मेत्युत्प्रेक्षा ॥ २१ ॥

वायु ने प्रत्येक दिशाओं की तरफ सञ्चार करते हुए अर्जुन नाम के पुष्प विकास के कारण अद्भुत सुगन्ध से सुगन्धित होकर प्राणीमात्र को तृप्त कर दिया। सबके हृदय में ऋतुराज का आविर्भाव हो गया। सबों ने धैर्य का परित्याग कर दिया और रति के प्रति सबके सब क्षुब्ध हो गये। इस तरह से सब जीवलोकों ने और का और ही होकर अपूर्व शोभा धारण किया ॥ २१ ॥

व्यथितमपि भृशं मनो हरन्ती परिणतजम्बुफलोपभोगहृष्टा।
परभृतयुवतिः स्वनं वितेने नवनवयोजितकण्ठरागरम्यम् ॥ २२ ॥

व्यथितमिति ॥ व्यथितं दुःखितमपि मनो भृशं हरन्ती। किमुत सुखितमिति भावः। जम्ब्वाः फलं जम्बु। 'वार्हतं च फले जम्ब्वा जम्बुः स्त्री जम्बु जाम्बवम्' इत्यमरः। 'जम्ब्वा वा' इत्यणभावपक्षेऽपि 'फले लुक्' इति लुक्। 'लुक्तद्धितलुकि' इति स्त्रीप्रत्ययनिवृत्तिः। जम्बु च तत्फलं चेति सामान्यविशेषयोः सहनिर्देशः। यद्वा—जम्ब्वाः फलमिति विग्रहः। 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' इति ह्रस्वः। तस्य परिणतस्योपभोगेन हृष्टा। अत एव परभृतयुवतिः कोकिलाङ्गना नवनवं नवप्रकारं यथा तथा योजितेन संपादितेन कण्ठरागेण कण्ठमाधुर्येण रम्यम्। सौम्यमित्यर्थः। स्वनं स्वरं वितेने। वर्षास्वपि मधुराः स्वराः कोकिलाया इति प्रसिद्धिः ॥ २२ ॥

दुखियों के चित्त का अपहरण करती हुई कोकिला ने, जो परिपक्व जम्बु फल के उपभोग से प्रसन्न हो रही थी; कूक की, जिसमें नये ढङ्ग से कण्ठ के द्वारा राग अलापा जा रहा था, विस्तार किया अर्थात् सुमधुर राग से कूकने लगी ॥ २२ ॥

अभिभवति मनः कदम्बवायौ मदमधुरे च शिखण्डिनां निनादे।
जन इव न धृतेश्चचाल जिष्णुर्न हि महतां सुकरः समाधिभङ्गः ॥ २३ ॥

अभिभवतीति ॥ कदम्बवायौ कदम्बसंबन्धिनि मारुते मदमधुरे शिखण्डिनां निनादे च मनोऽभिभवति अभिहरति सति जिष्णुर्जयनशीलोऽर्जुनो जनः पृथग्जन इव धृतेर्धैर्यान्न चचाल। वर्षा अपि तदुद्दीपनाय न शेकुरित्यर्थः। हि यस्मात्, महतां समाधिभङ्गो न सुकरः। न केनापि कर्तुं शक्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

कदम्बानिल तथा मद के कारण मनोहर मयूर-विरुत मन को अपनी तरफ आकृष्ट कर रहा था तथापि जयनशील अर्जुन साधारण पुरुषों की तरह धैर्यच्युत नहीं हुए क्योंकि बड़े लोगों की समाधि भङ्ग होना सरल बात नहीं है ॥ २३ ॥

धृतबिसवलयावलिर्वहन्ती कुमुदवनैकदुकूलमात्तबाणा।
शरदमलतले सरोजपाणौ घनसमयेन वधूरिवाललम्बे ॥ २४ ॥

धृतेति ॥ बिसानि वलयानीव तेषामावलिर्धृता यया सा। कुमुदवनमेकं मुख्यं

दुकूलमिव तद्वहन्ती । आत्ता गृहीता बाणा नीलझिण्टी यया सा आत्तबाणा, धृतशरा च 'गृह्णीयात्क्षत्रिया शरम्' इति स्मरणात् । बाणोक्ता नीलझिण्टी च' इति वैजयन्ती । शरद्वधूर्जायेव घनसमयेन वर्षर्तुना । वरेणेति शेषः । अमलतले निर्मलतले सरोजं पाणिरिव तस्मिन् । आललम्बे जगृहे । कर्मणि लिट् । वधूवरसमागमवदृतुसंधिर-शोभतेत्यर्थः । अत्र 'आत्तबाणा' इति झिण्टीशरयोरभेदाध्यवसायच्छ्लेषमूलातिशयोक्ति-रुपमाङ्गमित्यनयोः संकरः ॥ २४ ॥

अत्र वर्षा का अवसान और शरद का प्रारम्भ है। वर्षाऋतु की उपमा वर के साथ और शरदृतु की उपमा वधू के साथ दी गई है। मृणालतन्तुरूप कङ्कण को, (धारण करती हुई) तथा कुमुदिनी के वनरूप वस्त्र को धारण करती हुई शरदरूपी वधू के, जो नील झिण्टी के पुष्प को धारण करती है, सुकोमल करकमलों का आलम्बन वर्षाऋतुरूप वरने किया ॥ २४ ॥

अथ ऋतुसन्धि वर्णयति—

समदशिखिरुतानि हंसनादैः कुमुदवनानि कदम्बपुष्पवृष्ट्या ।
श्रियमतिशयिनीं समेत्य जग्मुर्गुणमहतां महते गुणाय योगः ॥ २५ ॥

समदेति ॥ समदशिखिरुतानि मत्तमयूरकूजितानि हंसनादैः समेत्य तथा कुमुद-वनानि कदम्बपुष्पवृष्ट्या कदम्बपुष्पसंपदा समेत्य । अतिशयिनीमतिशयवतीं श्रियं जग्मुः । तथा हि—गुणमहतां गुणाधिकानां योगः परस्परसमागमो महते गुणायो-त्कर्षाय भवतीति शेषः । अत्र त्रिपाद्यां समालंकारः—सा समालंकृतिर्योग्यवस्तुनो-रुभयोरपि' इति लक्षणात् । सोऽपि चतुर्थेनार्थान्तरन्यासेन स्वसमर्थकेनाङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यते ॥ २५ ॥

इसके पहिले कवि ने वर्षाऋतु का वर्णन किया है। शरदृतु के प्रारम्भ में वर्षा और शरद दोनों का सम्मिश्रण पाया जाता है उसी का वर्णन 'समदशिखिरु०' में किया गया है—

मतवाले मयूरों का कलकूजन राजहंसों के विराव के साथ तथा कुमुदों के वन कदम्ब पुष्प की वृष्टि के साथ होकर अनुपम शोभा धारण करने लगे क्योंकि उत्कट गुणों का संयोग अतुलनीय गुणों का पोषक (वर्द्धक) होता है ॥ २५ ॥

सरजसमपहाय केतकीनां प्रसवमुपान्तिकनीपरेणुकीर्णम् ।
प्रियमधुरसनानि षट्पदाली मलिनयति स्म विनीलबन्धनानि ॥ २६ ॥

सरजसमिति ॥ प्रियमधुरिष्टमकरन्दा । नात्र कप्समासान्तः । 'पुंलिङ्गोत्तरपदो बहुव्रीहिः' इति केचित् नपुंसकलिङ्गस्यैव 'मधु' शब्दस्योरःप्रभृतिषु पाठात् 'मकर-

न्दस्य मद्यस्य माक्षिकस्यापि वाचकः । अर्धर्चादिगणे पाठात्पुंनपुंसकयोर्मधुः ॥' इत्यभिधानात् । षट्पदालि षट्पदावलीः । उपान्तिके यानि नीपानि कदम्बकुसुमानि तेषां रेणुभिः परागैः कीर्णं व्याप्तम् । किंच, स्वतोऽपि सह रजसा सरजसम् । न त्वरजस्कमिति भावः । साकल्येऽव्ययीभावः । 'अचतुर–' इत्यादिना निपातः । केतकीनां प्रसवं पुष्पम् । अपहाय । विनीलबन्धनानि मलिनवृन्तानि । असनानि प्रियकपुष्पाणि । मकरन्दभरितानीति भावः । 'सर्जकासनबन्धूकपुष्पप्रियकजीवकाः' इत्यमरः । मलिनयति स्म । यथा वृन्तादन्यत्रापि मालिन्यं स्यात्तथा मधुलोभाच्छादयामासेत्यर्थः । न हि मध्वासक्तो मधुलाभेऽसति विभूतिष्वासज्जतीति भावः ॥ २६ ॥

भ्रमरों को मकरन्द अतीव प्यारा होता है अतः उनका समूह, आसपास के कदम्बपुष्पपराग से व्याप्त जो केतकी का पुष्प, पराग से भरा हुआ था, उसे छोड़ कर मकरन्दपूर्ण बन्धूक पुष्प को मलिन करने लगा अर्थात् वे केतकी के पुष्प का त्याग कर बन्धूक पुष्प पर मन ज़माये ॥ २६ ॥

मुकुलितमतिशय्य बन्धुजीवं धृतजलबिन्दुषु शाद्वलस्थलीषु ।
अविरलवपुषः सुरेन्द्रगोपा विकचपलाशचयश्रियं समीयुः ॥ २७ ॥

मुकुलितमिति ॥ घृता जलबिन्दवो यासु तासु शाद्वलस्थलीषु शादहरितप्रदेशेषु । अविरलवपुषः स्थूलमूर्तयः सुरेन्द्रगोपाः कीटविशेषा मुकुलीकृतं बन्धुजीवम् । बन्धुजीवकमुकुलमित्यर्थः । 'बन्धूको बन्धुजीवकः' इत्यमरः । अतिशय्यातिक्रम्य विकचपलाशचयो विकसितकिंशुकराशिः । 'पलाशे किंशुकः पर्णः' इत्यमरः । तस्य श्रियम् । तत्सदृशीं श्रियमित्यर्थः । अत एव निदर्शनालंकारः । समीयुः प्रापुः ॥ २७ ॥

वीरबहूटियाँ, जिनके शरीर मोटे ताजे हो गये थे, नीहारकणों से व्याप्त हरे-हरे तृण से आच्छादित भूमिपर बन्धूक पुष्प के मुकुल की शोभा का अतिक्रमण करके प्रफुल्ल पलाश पुष्प की शोभा को प्राप्त हुईं ॥ २७ ॥

अथ हेमन्तवर्णनमाह—

अविरलफलिनीवनप्रसूनः कुसुमितकुन्दसुगन्धिगन्धवाहः ।
गुणमसमयजं चिराय लेभे विरलतुषारकणस्तुषारकालः ॥ २८ ॥

अविरलेति ॥ अविरलानि घनानि फलिनीवनानां प्रियङ्गुवनानां प्रसूनानि यस्मिन् सः । 'प्रियङ्गुः फलिनी फली' इत्यमरः । कुसुमितैः कुन्दैर्माघ्यकुसुमैः सुगन्धिर्गन्धवाहो यस्मिन् सः । 'माघ्यं कुन्दम्' इत्यमरः । शैशिराणामपि कुन्दानां हेमन्ते प्रादुर्भावादविरोधः । विरलतुषारकण इति प्रारम्भोक्तिः । तुषारकालो हेमन्तः । चिरायासमयजमकालसंभवं गुणमुत्कर्षं लेभे ॥ २८ ॥

अप्सरायें शरदृतु की विभूति दिखलाने के पश्चात् हेमन्तऋतु के प्रादुर्भाव से अर्जुन के विलोभन के लिये प्रयत्न करने लगीं :—

हेमन्त के प्रादुर्भाव होने पर प्रियङ्गुवन के पुष्प विकसित हो उठे। प्रफुल्लित कुन्द के गन्ध से पवन सुरभित हो उठा। हेमन्त के प्रारम्भ होने के कारण नीहारकण विरल थे। इस प्रकार चिरकाल तक इस ऋतु ने अकाल-सम्भूत गुण की उत्कृष्टता को प्राप्त किया ॥ २८ ॥

निचयिनि लवलीलताविकासे जनयति लोध्रसमीरणे च हर्षम् ।
विकृतिमुपययौ न पाण्डुसूनुश्चलति नयान्न जिगीषतां हि चेतः ॥ २९ ॥

निचयिनीति ॥ निचयिनि उपचयवति लवलीलतानां विकासे पुष्पविजृम्भणे तथा लोध्रसमीरणे हर्षं चोत्कण्ठां जनयति सति पाण्डुसूनुर्विकृतिं नोपययौ। कुतः। हि यस्मात्, जिगीषतां जेतुमिच्छतां चेतो नयान्नीतेर्न चलति। न हि क्रोधाक्रान्ते चेतसि शृङ्गाररसस्य विकासः। तद्विरुद्धत्वाद्रोषस्येति भावः ॥ २९ ॥

लवली नाम की लता के विकसित पुष्पों के समूह से तथा लोध्र संसर्ग से सुरभित वायु के द्वारा अर्जुन के मन में उत्कण्ठा हो रही थी तथापि उनका मन विकृत न हुआ क्योंकि विजयाभिलाषियों का चित्त नीतिपथ से विचलित नहीं होता ॥ २९ ॥

कतिपयसहकारपुष्परम्यस्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवारः ।
सुरभिमुखहिमागमान्तशंसी समुपययौ शिशिरः स्मरैकबन्धुः ॥ ३० ॥

कतिपयेति ॥ कतिपयैरेव सहकारपुष्पैश्चूतकुसुमै रम्यः। न तु वसन्तवत्समग्रैः, नापि हेमन्तवत्तद्रहितैरिति भावः। तनुतुहिनोऽल्पहिमः। न तु हेमन्तवद्बहुतुहिनः, नापि वसन्तवद्विरलतुहिन इति भावः। अल्पानि कतिपयानि विनिद्राणि सिन्दुवाराणि विकसितनिर्गुण्डीकुसुमानि यस्मिन् सः। अत्रापि सहकारवदभिप्रायो द्रष्टव्यः। 'सिन्दुवारेन्द्रसुरसौ निर्गुण्डीन्द्राणिकेत्यपि' इत्यमरः। इत्थं सुरभिमुखं वसन्तप्रारम्भं हिमागमान्तं हेमन्तावसानं शंसति सूचयतीति स तथोक्तः। स्मरस्यैकबन्धुः सहकारी। उभयर्तुधर्मसंपत्तेरिति भावः शिशिरः समुपययौ ॥ ३० ॥

हेमन्त से भी अर्जुन का मन न डिगा तो अप्सराओं ने शिशिर के प्रादुर्भाव का प्रदर्शन किया :—

शिशिरऋतु, जो कामदेव का एकमात्र सहायक है, प्रादुर्भूत हो गया। यह कहीं-कहीं आम्र की मञ्जरियों के विकसित हो उठने से रम्य रहता है। इस ऋतु में (नीहार) तुषारकण की न तो बहुलता रहती है और न विरलता तथा निर्गुण्डी अर्द्धविकास को प्राप्त हो जाती है। शिशिरऋतु वसन्त के प्रारम्भ तथा हेमन्त के अवसान का सूचक होती है।

अथ वसन्तप्रारम्भमाह—

कुसुमनगवनान्युपैतुकामा किसलयिनीमवलम्ब्य चूतयष्टिम् ।
क्वणदलिकुलनूपुरा निरासे नलिनवनेषु पदं वसन्तलक्ष्मीः ॥ ३१ ॥

कुसुमेति ॥ कुसुमप्रधानानां नगानां वृक्षाणां, कुसुमानां नगा वृक्षा । वा तेषां वनानि । उपैतुमारोढुं कामो यस्याः सा । 'शैलवृक्षौ नगावगौ' इत्यमरः । 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः । वसन्तलक्ष्मीः किसलयिनीं पल्लविनीं चूतयष्टिम् । चूतशाखामिवेति भावः । अवलम्ब्यावष्टभ्य । अन्यथारोढुमशक्यत्वादिति भावः । क्वणत् शिञ्जमानं शब्दायमानमलिकुलं नूपुरमिव यस्याः सा तथोक्ता सती । 'क्वणदलिकुलनूपुरम्' इत्यपि पाठः । अन्यत्र—अलिकुलवन्नूपुरम् । नलिनवनेषु पदं निरासे निदधे । तेषु प्रथमं प्रादुरासीदित्यर्थः । उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा इति वचनादात्मनेपदम् । अत्र प्रक्रान्तवसन्तलक्ष्मीविशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतनायिकाव्यवहारसमारोपात्समासोक्तिरलंकारः ॥ ३१ ॥

सुरसुन्दरियों ने देखा—अब इससे भी कार्य में सफलता प्राप्त न हुई तो ऋतुराज वसन्त को निमन्त्रण दिया :—

प्रसून प्रधान पर्वतोपवनों में पहुँचने का अभिलाष किये हुए ऋतुराज ने नवपल्लवयुक्त आम्रयष्टि का सहारा लेकर सरोजिनी वन में नूपुरानुकारी भ्रमर कुल के गुञ्जार के साथ-साथ पदार्पण किया ॥ ३१ ॥

विकसितकुसुमाधरं हसन्तीं कुरबकराजिवधूं विलोकयन्तम् ।
ददृशुरिव सुराङ्गना निषण्णं सशरमनङ्गमशोकपल्लवेषु ॥ ३२ ॥

विकसितेति ॥ विकसितो विश्लिष्टः कुसुममेवाधरो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा हसन्तीं स्मयमानां कुरबकराजिरेव वधूस्तां विलोकयन्तम् । कामुकनयेति भावः । अत एव, अशोकपल्लवेषु पल्लवसंस्तरेषु निषण्णम् । स्थितमित्यर्थः । रिरंसयेति शेषः । सशरम् । नित्यविजयित्वादिति भावः । इत्थं शृङ्गारवीरयोरेकाधिकरणभूतम्, अनङ्गं सुराङ्गना ददृशुरिवेत्युत्प्रेक्षा । अशोकाद्यवलोकनान्मदनसाक्षात्कारादिव महान्मनःक्षोभस्तासामासीदित्यर्थः । अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ ३२ ॥

वसन्त ऋतुमें मानों सुरबालाओं ने देखा—कामदेव ने बाण धारण कर अशोक किसलयों पर बैठकर कुरवक पङ्क्ति रूप वधू को जो हँस रही थी, देखा । प्रफुल्लित पुष्प उस हास्य में अधर का काम कर रहे थे ॥ ३२ ॥

मुहुरनुपतता विधूयमानं विरचितसंहति दक्षिणानिलेन ।
अलिकुलमलकाकृति प्रपेदे नलिनमुखान्तविसर्पि पङ्कजिन्याः ॥ ३३ ॥

मुहुरिति ॥ अनुपतताऽनुधावता दक्षिणानिलेन मलयमारुतेन मुहुर्विधूयमानं कम्पितम्, अत एव विरचिता संहतिर्येन। तत्संभूतमित्यर्थः। पङ्कजिन्या यन्नलिनं-मुखमिव तस्य अन्तर्विसर्पि प्रान्तचारि। अलिकुलं कर्तृ अलकाकृतिमलकसादृश्यं प्रपेदे ॥ ३३ ॥

वार-बार सञ्चरण करते हुये दक्षिण दिशा के समीप से भ्रमरों का परिवार एक दूसरे पर उलझ पड़ता था। पद्मिनी के विकसित पुष्प के, जो मुखमण्डल के सदृश थे, चतुर्दिक गुञ्जार कर रहे थे उस क्षण वह केशपाश की शोभा वहन करने लगे। अर्थात् मुख के चारों तरफ अलकें लटकी हुई रहती हैं उसी तरह मुखानुकारी कमलपुष्प के चारों तरफ घूमते हुये भ्रमर-समूह दक्षिण पवन के झोकों से परस्पर उलझ कर चिकुरजाल के सदृश मालूम पड़ने लगे ॥ ३३ ॥

श्वसनचलितपल्लवाधरोष्ठे नवनिहितेर्ष्यमिवावधूनयन्ती।
मधुसुरभिणि षट्पदेन पुष्पे मुख इव शाललतावधूश्चुचुम्बे ॥३४॥

श्वसतेति ॥ षट्पदेन अलिना। शाललता सर्जतरुशाखा वधूरिव शाललतावधूः। 'प्रकारग्रहयोः शालः शालः सर्जतरुः स्मृतः' इति शाश्वतः। श्वसनेन वायुना निःश्वासेन च चलितः पल्लवोऽधरोष्ठ इव पल्लवाधरोष्ठो यत्र तस्मिन्। 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा पररूपं वक्तव्यम्'। मधुना मकरन्देन मद्येन च सुरभिणि सुगन्धिनि पुष्पे मुख इव नवं यथा तथा निहितेर्ष्यं कृतकोपमिवेति क्रियाविशेषणम्। तथा, अवधूनयन्ती कम्पयन्ती। 'धूञ् प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' इति णिचि नुगागमः। चुचुम्बे चुम्बिता। अत्र 'श्वसन' शब्दार्थं 'मधु'शब्दार्थयोश्च स्वस्वभेदाध्यवसायाच्छ्लेषमूलातिशयोक्तिः। सा चोपमाङ्गमित्यनयोः संकरः ॥ ३४ ॥

भ्रमर ने काँपतीं हुई शाललता वधू के पुष्प मुखका, जिसमें मकरन्द मद्य की गन्ध व्यक्त हो रही थी, चुम्बन किया। पवनरूप निश्वास से अधरानुकारी पल्लव हिल रहे थे। वह पुष्प-मुख मानों मानिनी के मुखका अनुकरण कर रहा था ॥ ३४ ॥

प्रभवति न तदा परो विजेतुं भवति जितेन्द्रियता यदात्मरक्षा।
अवजितभुवनस्तथा हि लेभे सिततुरगे विजयं न पुष्पमासः ॥ ३५ ॥

प्रभवतीति ॥ परः शत्रुः। तदा तस्मिन्काले विजेतुं न प्रभवति न शक्नोति। यदा जितेन्द्रियता इन्द्रियजयित्वम्। आत्मरक्षा भवति जायते। तथा हि—अवजितभुवनस्त्रैलोक्यविजयी पुष्पमासो वसन्तः। सिततुरगेऽर्जुने विषये विजयं न लेभे। अतो जितेन्द्रिया दुर्जया इत्यर्थः। विशेषेण सामान्यार्थसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥ ३५ ॥

तवतक शत्रु विजय प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता जबतक इन्द्रियवश्यता रक्षा करने के लिये सन्नद्ध रहती है। त्रिभुवनविजयी वसन्त ऋतु अर्जुन पर विजय प्राप्त न कर सका क्योंकि अर्जुन के पास जितेन्द्रियता थी ॥ ३५ ॥

अथ ग्रीष्मं वर्णयति—

कथमिव तव संमतिर्भवित्री सममृतुभिर्मुनिनावधीरितस्य।
इति विरचितमल्लिकाविकासः स्मयत इव स्म मधुं निदाघकालः ॥ ३६ ॥

कथमिति ॥ विरचितमल्लिकाविकासो निदाघकालो ग्रीष्मो ऋतुभिर्वर्षादिभिः समं मुनिनाऽवधीरितस्य तिरस्कृतस्य तव संमतिर्लोके योग्यत्वेनानुमतिर्मान्यत्वं कथमिव भवित्री? न संमानः कथंचिद्भविष्यतीत्यर्थः। इति इत्थं मधुं वसन्तम्। 'चैत्रे दैत्ये वसन्ते च जीवे कोके मधुः स्मृतः' इति विश्वः। स्मयते स्मेव जहास किमित्युत्प्रेक्षा। 'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट्। प्रहासस्य शुभ्रत्वेन कविप्रसिद्धेर्मल्लिकाविलासे हासत्वाध्यवसायः। अत्रर्तुभिः सममवधीरितस्येत्यत्राभेदाध्यवसायमूला सहोक्तिरलंकारः। संबन्धभेदभिन्नस्यावधीरणस्याभिन्नतयाध्यवसायात् तदेवावधीरणमसंमतिद्वारा स्मयोत्प्रेक्षेत्यनयनोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ ३६ ॥

ऋतुराज भी अर्जुन से हार मान गये। अब निदाघ (ग्रीष्म) ने देखा—अर्जुन के द्वारा सम्पूर्ण ऋतुओं का तिरस्कार हो गया फिर मेरा सम्मान किस तरह हो सकेगा अतः उसने मल्लिका को, जो मनोहर हास के सदृश थी, विकसित कर वसन्त को हँसता हुआ सा पदार्पण किया ॥ ३६ ॥

बलवदपि बलं मिथोविरोधि प्रभवति नैव विपक्षनिर्जयाय।
भुवनपरिभवी न यत्तदानीं तमृतुगणः क्षणमुन्मनीचकार ॥ ३७ ॥

बलवदिति ॥ बलवदपि प्रबलमपि। प्रकृष्टाङ्गमिति यावत्। मिथोविरोधि परस्परस्पर्धि बलं सैन्यम्। 'वरूथिनी बलं सैन्यम्' इत्यमरः। विपक्षनिर्जयाय शत्रुविजयाय। 'तुमर्थाच्च' इत्यादिना चतुर्थी। शत्रुञ्जेतुमित्यर्थः। न प्रभवति न शक्नोत्येव। कुतः। यत् यस्मात् कारणात्, भुवनानां परिभवी जेतापि। 'जिदृक्षि—' इत्यादिनेनिप्रत्ययः। ऋतुगणस्तदानीम्। तम् अर्जुनं क्षणमपि नोन्मनीचकारानुन्मनसमुन्मनसं न चकार। 'अरुर्मनश्चक्षुः—' इत्यादिनाऽभूततद्भावे च्विप्रत्ययः सलोपश्च। विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३७ ॥

प्रबल होते हुये भी परस्परस्पर्द्धी सेना शत्रु के विजय में समर्थ नहीं होती क्योंकि त्रिलोक विजयी ऋतुओं का समूह क्षणभर के लिये भी उस तपस्वी (अर्जुन) को व्यग्र न कर सका ॥ ३७ ॥

एवं तटस्थस्योद्दीपनसामग्री विफलेत्युक्तम्, संप्रति विपरीता जातेत्याह—

श्रुतिसुखमुपवीणितं सहायैरविरललाञ्छनहारिणश्च कालाः ।
अविहितहरिसूनुविक्रियाणि त्रिदशवधूषु मनोभवं वितेनुः ॥ ३८ ॥

श्रुतीति ॥ सहायैस्तासां सहचरैर्गन्धर्वैः । कृतमिति शेषः । 'नलोक–' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । कर्तरि तृतीया । श्रुतिसुखं श्रोत्रमधुरम् । उपवीणितं वीणयोपगानम् । 'सत्यापपाश–' इत्यादिना 'वीणा'शब्दाण्णिजन्ताद्भावे क्तः । अविरलैर्भूयोभिर्लाञ्छनैः पूर्वोक्तैः फलकुसुमादिभिश्चिह्नैर्हारिणो मनोहराः काला वसन्तादिऋतवः । अविहिताऽकृता हरिसूनोरर्जुनस्य विक्रिया मनोविकृतिर्यैस्तानि तथाभूतानि सन्ति । 'नपुंसकमनपुंसक–' इत्यादिना नपुंसकैकशेषः । त्रिदशवधूषु मनोभवं वितेनुर्विस्तारयामासुः । सोऽयं परप्रहारार्थमुद्यतमायुधं स्वात्मानमेव प्रहरतीति न्यायवज्जात इति भावः । अत्र मुनिविक्रियार्थं स्त्रीणां विक्रियारूपानर्थोत्पत्तिकथनाद्द्वितीयो विषमालंकारः । तथा च सूत्रम्—'विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिरूपसंघटनाद्विषमालंकारः' इति ॥ ३८ ॥

उन सुरसुन्दरियों के सहायक गन्धर्वों ने श्रोत्राभिराम वीणा बजायी, समय भी ऋतुओं के प्रादुर्भाव से फल–कुसुमादि चिह्नों द्वारा मनोहर था तथापि इन्द्रपुत्र (अर्जुन) का मन विकृत न हुआ जिसके कारण सुरबालाओं पर कामदेव ने अपना प्रभाव जमाया ॥ ३८ ॥

तटस्थवदालम्बनगणोऽपि विपरीतोऽभूदिति श्लोकद्वयेनाह—

न दलति निचये तथोत्पलानां न च विषमच्छदगुच्छयूथिकासु ।
अभिरतिमुपलेभिरे यथासां हरितनयावयवेषु लोचनानि ॥ ३९ ॥

नेत्यादि ॥ आसां लोचनानि हरितनयावयवेषु यथा तथा दलति विकसति उत्पलानां निचयेऽभिरतिं नोपलेभिरे न प्रापुः । तथा च विषमच्छदगुच्छाः सप्तपर्णस्तवका यूथिका मल्लिकाश्च तास्वभिरतिं नोपलेभिरे । 'सप्तपर्णो विशालत्वक्शारदो विषमच्छदः' इत्यमरः । तथा रमणीयत्वात्तदवयवानामित्यर्थः । इति चक्षुःप्रीतिरुक्ता ॥ ३९ ॥

इन सुरसुन्दरियों के नेत्र जितना अर्जुन के अङ्ग–प्रत्यङ्गों को देखकर प्रसन्न हुये उतना विकसित कमलों के समूह से तथा सप्तपर्ण के स्तवक और मालती से तृप्त न हुये ॥ ३९ ॥

अथ मनःसङ्गं सूचयति—

मुनिमभिमुखतां निनीषवो याः समुपययुः कमनीयतागुणेन ।
मदनमुपदधे स एव तासां दुरधिगमा हि गतिः प्रयोजनानाम् ॥ ४० ॥

मुनिमिति ॥ याः स्त्रियः कमनीयता सौन्दर्यं सैव गुणस्तेन । मुनिमर्जुनम् । अभिमुखतां वश्यतां निनीषवो नेतुमिच्छवः समुपययुः । तासां स्त्रीणां स मुनिरेव मदनमुपदधे जनयामास । तथा हि—प्रयोजनानामुद्देश्यानां गतिः परिणतिर्दुरधिगमा हि दुर्ज्ञेया खलु । अतः 'क्वचिद्भवति, क्वचिन्न भवतीति भावः ॥ ४० ॥

जो अमरललनायें अपने सौन्दर्य्य रूप गुण से अर्जुन को मोहित करने के लिये गईं थीं वे उन्हें देखते ही स्वयं कामदेव से पीड़ित हो गईं। किसी उद्देश्य का अन्तिम परिणाम क्या होता है, अन्धकार में छिपा रहता है ॥ ४० ॥

अथासामनुरागमेव कार्यतः प्रपञ्चयति—

प्रकृतमनुससार नाभिनेयं प्रविकसदङ्गुलि पाणिपल्लवं वा ।
प्रथममुपहितं विलासि चक्षुः सिततुरगे न चचाल नर्तकीनाम् ॥ ४१ ॥

प्रकृतमिति ॥ विलासि सविलासं नर्तकीनां संबन्धि । 'शिल्पिनि ष्वुन्' इति ष्वुन्प्रत्यय-'नृतिखनिरञ्जिभ्य एव' इति नियमः । चक्षुः कर्तृ प्रकृतं प्रक्रान्तं अभिनेयमभिनेतव्यं रसभावादिव्यञ्जकं नानुससार । तद्दूषणं तदानुगुण्येनैव दृष्टिप्रयोगनियमादिति भावः । तथा प्रविकसदङ्गुलि चञ्चलाङ्गुलि पाणिपल्लवं वा नानुससार । स च दोषः, 'यतो हस्तस्ततो दृष्टिः' इति नियमादिति भावः । 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः । 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थेन च समुच्चये' इति विश्वः । किंतु, प्रथमं प्रवेश एव सिततुरगेऽर्जुन उपहितं सन्न चचाल तत्रैव लग्नं तस्थौ । रागातैर्न किंचित्करणीयमनुसंधेयमिति भावः ॥ ४१ ॥

हावभाव में दक्ष उन अप्सराओं के नेत्र अभिनयकालिक भ्रूविक्षेपादिरूप अपने कर्तव्यों का अनुसरण न किये (अर्थात् ज्यों के त्यों एकटक पड़े रहे) उनके करकिसलय भी, जिसमें अँगुलि सुशोभित हो रही थी, अभिनयानुकूल इतस्ततः सञ्चालित न हुये प्रत्युत जडतुल्य बने रहे । किन्तु अर्जुन की तरफ प्रथम बार में ही संलग्न होकर जड़ के समान बन गये । तात्पर्य यह कि वे देववधूटियाँ अपनी नृत्यकला से अर्जुन को मोहित करने आई थीं । नृत्य तो उन्होंने प्रारम्भ कर दिया । नृत्य में हाव-भाव की व्यञ्जना नेत्र और हाथों द्वारा की जाती है परन्तु अर्जुन की शोभा देख कर उनके नेत्र इस प्रकार उनमें उलझ गये कि नृत्य काल के भाव व्यञ्जना में असमर्थ हो गये ॥ ४१ ॥

अभिनयमनसः सुराङ्गनाया निहितमलक्तकवर्तनाभिताम्रम् ।
चरणमभिपपात षट्पदाली धृतनवलोहितपङ्कजाभिशङ्का ॥ ४२ ॥

अभिनयेति ॥ अभिनयो रसभावादिव्यञ्जकचेष्टाविशेषः । 'व्यञ्जकाभिनयौ समौ' इत्यमरः । तत्र मनो यस्यास्तस्याः । व्यासङ्गादभृङ्गपातमजानत्या इत्यर्थः । सुरा-

ङ्गनायाः संबन्धि अलक्तकवर्तनेन लाक्षारसरञ्जनेन अमिताम्रं निहितं न्यस्तं चरणं षट्पदाली कर्त्री धृता नवलोहितपङ्कजानामभिशङ्का प्रत्यग्रकोकनदभ्रमो यया सा। अभिपपाताभिधावति स्म। अत्र षट्पदाल्याः स्त्रीचरणे पङ्कजभ्रमाभिधानाद् भ्रान्तिमदलङ्कारः। तेन चोपमा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः॥ ४२॥

रसभावादि व्यञ्जक चेष्टा विशेष पर ध्यान रखनेवाली सुररमणियों के चरण पर, जो महावर के विलेप से ताम्रवर्ण की अरुणिमा वहन करते थे, भ्रमरपंक्ति अभिनव अरुण कमल (कोकनद) की आशङ्का से टूट पड़ने लगी॥ ४२॥

अविरलमलसेषु नर्तकीनां द्रुतपरिषिक्तमलक्तकं पदेषु।
सवपुषमिव चित्तरागमूहुर्नमितशिखानि कदम्बकेसराणि॥ ४३॥

अविरलमिति॥ नमितशिखानि नर्तकीपादपीडनान्नमिताग्राणि कदम्बकेसराणि। रङ्गपूजादत्तानीति शेषः। अविरलं सान्द्रं यथा तथा द्रुतः रागोष्मणा विगलितोऽत एव परिषिक्तः प्रसृतस्तं द्रुतपरिषिक्तं नर्तकीनामलसेषु पदेषु पादन्यासेषु। अलक्तकं लाक्षारागं सवपुषं मूर्तिमन्तं चित्तरागमुत्कटतया कायाद्बहिर्निःसृतं मुनिविषयकं रागमिवेत्युत्प्रेक्षा। ऊहुर्वहन्ति स्म॥ ४३॥

रङ्ग पूजामें समर्पित कदम्ब-केसर, जिनकी शिखाओं का प्रान्त भाग झुक गया था, नर्तन क्रिया में रत अप्सराओं के चरणों में, जो स्थूलता से आलस्यपूर्ण थे, संसक्त लाक्षाराग की ऊष्मा से द्रवित साक्षात् मूर्तिधारी अनुराग के सदृश धारण किये॥ ४३॥

अथासां शृङ्गारचेष्टां कथयति—

नृपसुतमभितः समन्मथायाः परिजनगात्रतिरोहिताङ्गयष्टेः।
स्फुटमभिलषितं बभूव वध्वा वदति हि संवृतिरेव कामितानि॥ ४४॥

नृपेति॥ नृपसुतमर्जुनम्। अभितः संमुखं परिजनस्य सखीजनस्य गात्रेण तिरोहिता लज्जया स्वाकारगोपनायान्तर्हिताङ्गयष्टिर्यस्याः सा तस्याः समन्मथाया वध्वाः अभिलषितं मुनि प्रत्यनुरागः स्फुटो बभूव। न च संव्रियमाणस्याभिव्यक्तिविरुद्धेति वाच्यमित्याह—यतः संवृतिः सम्यग्गोपनमेव कामितानि अनुरागान्। कामयतेर्भावे क्तः। वदति हि। प्रकटयतीत्यर्थः। अयमनुरागस्य स्वभाव उक्तः। यया चेष्टया रागः संव्रियते सैवास्य प्रकाशिका जातेति भावः॥ ४४॥

काम से पीड़ित एक अमरललना का, जो अर्जुन के सम्मुख आने पर सखियों के शरीर से अपने अङ्ग को तिरोहित कर रही थी, अनुराग, जो अभिलषित अर्जुन के प्रति था, व्यक्त हो गया (छिपाने से भी छिप न सका) क्योंकि सम्यक् गोपनचेष्टा ही अनुराग को व्यक्त कर देती है (यह अनुराग का स्वभाव है कि जिस चेष्टा के द्वारा उसे निगूहित किया जाता है वह उसको द्योतिका होती है)॥ ४४॥

अभिमुनि सहसा हृते परस्याः घनमरुता जघनांशुकैकदेशे ।
चकितमवसनोरु सत्रपायाः प्रतियुवतीरपि विस्मयं निनाय ॥ ४५ ॥

अभिमुनीति ॥ अभिमुनि मुनिसमक्षं घनेन मरुता जघनांशुकस्यैकदेशे सहसा हृते सति सत्रपायाः सलज्जायाः परस्याः संबन्धि अवसनौ निरावरणौ ऊरू यस्मिस्तत् । चकितं भयसंभ्रमः प्रतियुवतीरपि सपत्नीरपि विस्मयं निनाय । किमुतान्यजनमित्यपिशब्दार्थः । न तु मुनिमित्याशयः ॥ ४५ ॥

तपस्वी अर्जुन के सम्मुख वायु के झोंके से अन्य किसी नायिका के जघन वसन (वस्त्र) के उड़ाये जाने पर लज्जाभाराक्रान्त युवती के चकपकाहट ने, जिसका कारण विवस्त्र जघन ही था, सपत्नीजनों को भी आश्चर्यचकित कर दिया अन्य लोगों का तो कहना ही क्या ? ये सब कुछ होते हुए भी अर्जुन के मनने मर्यादा को भङ्ग न किया ॥ ४५ ॥

धृतबिसवलये निधाय पाणौ मुखमधिरूषितपाण्डुगण्डलेखम् ।
नृपसुतमपरा स्मराभितापादमधुमदालसलोचनं निदध्यौ ॥ ४६ ॥

धृतेति ॥ अपरा स्त्री स्मराभितापाद् हेतोः । धृतानि बिसान्येव वलयानि येन तस्मिन् पाणावधिरूषिते चन्दनादिचर्चिते पाण्डू गण्डलेखे गण्डस्थले यस्य तत् । मुखं निधायारोप्य । अमधुमदे मधुमदरहिते तथापि अलसे लोचने यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा तं नृपसुतं निदध्यौ पश्यति स्म । 'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः ॥ ४६ ॥

एक तीसरी सुराङ्गना ने कामदेव से संतप्त होकर अपने हाथ में मृणाल-तन्तु का (कमल के डण्ठल के भीतर का सफेद रेसा) कङ्कण धारण कर लिया था । उसी करतल प्रदेश पर मुख, जिसमें चन्दन विलेप के कारण चन्दन की रेखा और कपोल पाण्डुवर्ण के हो गये थे, रखकर यद्यपि मधुमद नहीं था तथापि अलसाये हुए नेत्रों से तपस्वी (अर्जुन) को देखने लगी ॥ ४६ ॥

अथ पञ्चभिर्मुनिं प्रति दूतीवाक्यमाह—

सखि दयितमिहानयेति सा मां प्रहितवती कुसुमेषुणाभितप्ता ।
हृदयमहृदया न नाम पूर्वं भवदुपकण्ठमुपागतं विवेद ॥ ४७ ॥

सखीति ॥ कुसुमेषुणा कामेनाभितप्ता पीडिता सा नायिका । हे सखि ! दयितं मुनिम् । इहानयेति मां प्रहितवती भवदन्तिकं प्रेषितवती । किंत्वविमृश्यकारिणीयमित्याह—हृदयमिति । अहृदयाऽमनस्का । तस्यास्त्वद्गतत्वादिति भावः । अत एव सा पूर्वं प्रागेव भवदुपकण्ठं त्वत्समीपम् । उपागतं हृदयं मनो न विवेद । नाम संभावनायाम् । अतो मत्प्रेषणं व्यर्थं तस्यान्तरङ्गत्वाद्बहिरङ्गस्य दुर्बलत्वादिति भावः । एतेन मनःसङ्गः उक्तः । चक्षुःप्रीतिस्तु प्रागेव सर्वासामुक्तेति न पृथगुच्यते ॥ ४७ ॥

श्लोक संख्या ४७–५१ तक मुनि के प्रति दूती के वाक्य हैं :—

उस सुरबाला ने कामदेव से पीड़ित होकर 'हे सखि ! उस प्राणाधार तपस्वी को यहाँ बुला लाओ' इस प्रकार से आदेश देकर मुझे भेजा है, हृदय (मन) को प्रथम ही उसने आपके समीप सम्प्रेषित कर दिया, अत एव हृदयहीन होने के कारण उसने नहीं जाना कि हृदय तो मैंने उनके पास भेज दिया, फिर दूती क्यों भेजती हूँ ॥ ४७ ॥

'दृङ्मनःसङ्गसंकल्पा जागरः कृशता रतिः। ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ॥' इति। तत्राद्यमवस्थाद्वयमभ्यधायि। संप्रति काचित् क्रमनैरपेक्ष्येण सूचयति—

चिरमपि कलितान्यपारयन्त्या परिगदितुं परिशुष्यता मुखेन ।
गतघृण ! गमितानि मत्सखीनां नयनयुगैः सममार्द्रतां मनांसि ॥ ४८ ॥

चिरमिति ॥ चिरं कलितान्यपि संदेशार्थं बुद्ध्या योजितान्यपि। वचनानीति शेषः। परिशुष्यता मुखेनेति जागरोक्तिः। परिगदितुमपारयन्त्याऽशक्नुवत्या तया। हे गतघृण ! अद्यापि तां नानुकम्पस इति भावः। मत्सखीनां मनांसि नयनयुगैः सममार्द्रतां गमितानि। उपचयं गमितानीत्यर्थः। शोकबाष्पैरिति भावः। अत्र सखीशोकोक्त्या मूर्च्छावस्था सूच्यते। अत्र शोकबाष्परूपकारणभेदात् प्रतियोगिभेदाच्चार्द्रत्वभेदेऽप्यभेदाध्यवसायः। तन्मूला चेयं नयनयुगैः सममिति सहोक्तिरलंकारः ॥ ४८ ॥

बहुत दिनों से सन्देश भेजने के विचार से पहले से ही मन में सोचे गये वचनों को भी इदानीं मुख-शोष होने के कारण व्यक्त करने में वह (नायिका) अपने को असमर्थ पाती है। हे कठोरहृदय ! [अर्थात् अब भी उस पर ध्यान नहीं करते हो] मेरी सखियों के अन्तःकरण दोनों नेत्रों के साथ-साथ आर्द्र हो गये हैं अर्थात् शोकाश्रुओं से भींग गये हैं ॥ ४८ ॥

अचकमत सपल्लवां धरित्रीं मृदुसुरभिं विरहय्य पुष्पशय्याम् ।
भृशमरतिमवाप्य तत्र चास्यास्तव सुखशीतमुपैतुमङ्कमिच्छा ॥ ४९ ॥

अचकमतेति ॥ किं वाच्यं चेत्याह—सा स्त्री मृद्वी सुरभिश्च या तां मृदुसुरभिं पुष्पशय्यां विरहय्य विहाय सपल्लवां धरित्रीम्। अचकमत ऐच्छत्। तस्यास्ततोऽपि शीतलत्वादिति भावः। कर्मेणिङन्ताल्लुङ्। 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति द्विर्भाव इति केचित्। तन्न। अचीकमतेति प्रसङ्गात्। अतो णिङभावपक्षे 'कमेश्च्लेश्चङ् वक्तव्यः' इति वक्तव्याच्चङि रूपमेतत्। अस्या नयिकायाः। तत्र धरित्र्यामपि भृशमरतिं दुःखम्। अवाप्य। सुखयतीति सुखः शीतः शीतलश्च तं सुखशीतं तवाङ्कमुत्सङ्गम्। उपैतुमिच्छा। वर्तत इति शेषः। अस्याश्चौत्सुक्यं कथितम्। अत्रारतिजागरो

सुव्यक्ताविस्यस्या नायिकायाः क्रमेण पुष्पशय्याद्यनेकाधारसंबन्धकथनात् प्रथमः पर्यायालंकारः। तदुक्तम्—'क्रमेणैकमनेकस्मिन्नाधारे वर्तते यदि। एकस्मिन्नथवानेकं पर्यायालंकृतिर्द्विधा॥' इति लक्षणात् ॥ ४९ ॥

उस नायिका ने सुन्दर सुगन्धमयी पुष्पशय्या का परित्याग करके पल्लव से व्याप्त भूमि की इच्छा की है [पल्लव को फूल से भी शीतल होने के कारण फूल छोड़ पल्लव को पसन्द करती है] इस सपल्लवा भूमि पर भी वह व्यथा से संतप्त होकर सुखकर शीतल तुम्हारे क्रोड में विश्रान्ति प्राप्त करने की इच्छा करती है ॥ ४९ ॥

तदनघ तनुरस्तु सा सकामा व्रजति पुरा हि परासुतां त्वदर्थे।
पुनरपि सुलभं तपोऽनुरागी युवतिजनः खलु नाप्यतेऽनुरूपः ॥ ५० ॥

तदिति ॥ तत् तस्मात्कारणात् तस्या दुरवस्थत्वाद्धेतोः। हे अनघ ! निष्पाप ! तनुः कृशेति कार्श्यावस्थाकथनम्। सा नायिका सकामा सफलमनोरथा अस्तु। हि यस्मात्, त्वमेवार्थः प्रयोजनं वा तस्मिन् त्वदर्थे निमित्ते, सतीति शेषः। त्वामुद्दिश्येत्यर्थः। परासुतां निष्प्राणत्वं पुरा व्रजति व्रजिष्यति। मरिष्यतीत्यर्थः। तथा च तेऽनिमित्तहत्ययाऽनघत्वव्याघातः स्यादिति भावः। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यदर्थे लट्। इदं च दशमावस्थाप्रदर्शनम्। न च तपोनिष्ठत्वाद्भेतव्यमित्याह—पुनरिति। पुनरपि पश्चादपि। 'पुनरप्रथमे भेदे' इति विश्वः। तपः सुलभम्। अनुरागी अनुरूपो योग्यश्च युवतिजनस्तु नाप्यते न लभ्यते खलु ॥ ५० ॥

इसलिए उसकी दुरवस्था के कारण हे निष्पाप ! उस अतीव क्षीण का मनोऽभिलाष सफल हो जाय क्योंकि तुम्हारे लिए पहले वह मरणासन्न हो गई है कदाचित् मर न जाय। (उसकी दशापर आपको अवश्य ध्यान देना चाहिये) तपश्चर्या तो बाद में पुनः सरलतापूर्वक सम्पादन की जा सकती है परन्तु प्रेमी और योग्य युवतिजन की उपलब्धि नहीं होती ॥ ५० ॥

एवं प्रलोभितस्यापि मुनेर्मौनं न भग्नमित्याह—

जहिहि कठिनतां प्रयच्छ वाचं ननु करुणामृदु मानसं मुनीनाम्।
उपगतमवधीरयन्त्यभव्याः स निपुणमेत्य कयाचिदेवमूचे ॥ ५१ ॥

जहिहीति ॥ कठिनतां निःस्पृहतां जहिहि। त्यजेत्यर्थः। जहातेः 'आ च हौ' इतीकारः। वाचं प्रयच्छ। संधत्स्वेत्यर्थः। मुनीनां मानसं मनः करुणामृदु ननु दयार्द्रं खलु। 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः। किंच, अभव्या निर्भाग्या उपगतं प्राप्तम्। विषयमिति शेषः। अवधीरयन्ति अवमन्यन्ते। एवमुक्तप्रकारेण सोऽर्जुनः कयाचिदेत्य समीपमागत्य निपुणं चतुरं यथा स्यात्तथा ऊचे उक्तः। नायिकया दूतीं प्रति वचनमुक्तम्, तया दूत्या च मुनिं प्रति कथितमित्यर्थः। अत्र पञ्चश्लोक्यां विप्रलम्भशृङ्गारस्यौत्सुक्यनाम्नो व्यभिचारिभावस्य चापुनरुक्तिः। अनौचित्येन नायिकायाः प्रवृत्तेराभासत्व-

मनुसंधेयम् । तदुक्तम्—'एकत्र चेन्नानुरागस्तिर्यङ्म्लेच्छगतोऽपि वा । योषितां बहुसक्तिश्चेद्रसाभासस्त्रिधा मतः ॥' इति । तन्निबन्धनादूर्जस्वलमलंकारः । तथा च सूत्रम्—'रसभेदतदाभासतत्प्रकाशमानां निबन्धने रसवत्प्रेयोर्जस्विसमाहितानि' इति । [समाहितातिरसबन्धे रसवदलंकारः । भावनिबन्धेन प्रेयोऽलंकारः । रसभावनिबन्धे तूर्जस्वलालंकारः । तत्प्रशमनिबन्धे समाहितालंकार इति सूत्रार्थः] ॥ ५१ ॥

पारुष्य (निष्ठुरता) का परित्याग कीजिये । वाग्दान दीजिये । क्योंकि तपस्विजन का हृदय करुणा से कोमल होता है । किञ्च भाग्यहीन व्यक्ति प्राप्त वस्तु की अवहेलना करते हैं । इस प्रकार किसी कामपीडित सुराङ्गना का सन्देश किसी दूती ने आकर अर्जुन के प्रति निवेदन किया ॥ ५१ ॥

सललितचलितत्रिकाभिरामा शिरसिजसंयमनाकुलैकपाणिः ।
सुरपतितनयेऽपरा निरासे मनसिजजैत्रशरं विलोचनार्धम् ॥ ५२ ॥

सललितेति ॥ सललितं सविलासं यथा तथा चलितेन विवर्तितेन त्रिकेण कटिभागेन । 'पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्' इत्यमरः । अभिरामा । शिरसि जाताः शिरसिजाः । 'सप्तम्यां जनेर्डः' । 'अमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे' इत्यलुक् । 'उपपदमतिङ्' इति समासः । एतेन मनसिजो व्याख्यातः । तेषां संयमने बन्धन आकुलो व्यग्र एकः पाणिर्यस्याः सा । अपरा स्त्री सुरपतितनयेऽर्जुने । जेतैव जैत्रः । जेतृशब्दात्तृजन्ताद 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इत्यण्प्रत्ययः । मनसिजस्य जैत्रः शरस्तं तथाभूतम् । विलोचनस्यार्धमेकदेशम् । कटाक्षमित्यर्थः । निरासे विससर्ज ॥ ५२ ॥

अन्य सुरबाला ने, जिसका त्रिक (कटिभाग) सविलास चल रहा था, और जिसका एक हाथ केशपाश के बाँधने में लगा हुआ था, कामदेव के अमोघ बाणभूत कटाक्ष का देवेश के पुत्र (अर्जुन) पर प्रक्षेप किया ॥ ५२ ॥

कुसुमितमवलम्ब्य चूतमुच्चैस्तनुरिभकुम्भपृथुस्तना नताङ्गी ।
तदभिमुखमनङ्गचापयष्टिविसृतगुणेव समुन्ननाम काचित् ॥ ५३ ॥

कुसुमितमिति ॥ इभकुम्भवत् पृथुभ्यां स्तनाभ्यामानतमङ्गं यस्याः सा । 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यश्च' इति ङीष् । काचित् तनुस्तन्वी । 'वोतो गुणवचनात्' इति विकल्पान्न ङीष् । कुसुमितमुच्चैरुन्नतं चूतमवलम्ब्य । अत एव चूतलतायोगाद्विसृतो विस्तृतो गुणो ज्या यस्याः सा । 'विसृतं विस्तृतं ततम्' इति, 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इति चामरः । अनङ्गचापयष्टिरिव । आकृष्टमुक्तेति भावः । तदभिमुखं समुन्ननाम समुज्जजृम्भे । अङ्गभङ्गं चकारेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

किसी और कृश-देवबाला ने, जो हाथी के कपोल के समान स्थूल कुचों के भार से झुकी जाती थी, विकसित, उन्नत आम्र की शाखा का, जो विस्तृत धनुष की प्रत्यञ्चा के सदृश थी, अवलम्बन करके कामदेव के धनुष दंड के समान आकृष्ट कर छोड़ दी ॥ ५३ ॥

सरभसमवलम्ब्य नीलमन्या विगलितनीवि विलोलमन्तरीयम् ।
अभिपतितुमनाः ससाध्वसेन च्युतरशनागुणसंदितावतस्थे ॥ ५४ ॥

सरभसमिति ॥ अन्याऽपरा विगलितनीवि श्लथबन्धनमत एव विलोलं स्थानचलितम् । नील्या रक्तं नीलम् । 'नील्या अन्वक्तव्यः' इत्यन्प्रत्ययः । अन्तरीयं परिधानम् । अवलम्ब्य हस्तेन गृहीत्वा । सरभस सत्वरम् । अभिपतितुं मनो यस्याः सा तथोक्ता । अपगन्तुमुद्युक्तेत्यर्थः । तथापि ससाध्वसेव । नतु वस्तुतः ससाध्वसा, किंतु च्युतेन गलितेन रशनागुणेन संदिता सती । अवतस्थे स्थिता । 'बद्धे संदानितं मूतमुदितं संदितं सितम्' इत्यमरः । कर्मणि क्तः । 'द्यतिस्यतिमास्थाम्—' इतीकारः ॥ ५४ ॥

एक सुराङ्गना की नीवी खुल गई जिससे नीली सारी सरक गई उसे हाथ से पकड़ कर वह भागने का विचार कर रही थी तथापि काञ्ची (करधनी) से बँधकर उसकी सारी रुक गई और वह भी अन्यत्र न भगी ॥ ५४ ॥

काचिद्युग्मेनाह—

यदि मनसि शमः किमङ्ग चापं शठ विषयास्तव वल्लभा न मुक्तिः ।
भवतु दिशति नान्यकामिनीभ्यस्तव हृदये हृदयेश्वरावकाशम् ॥५५॥

यदीत्यादि ॥ तव मनसि शमः शान्तिर्यदि । अस्तीति शेषः । अङ्ग भोः ! चापं किम् । किमर्थमित्यर्थः । किं तु हे शठ हे वञ्चक ! तव विषयाः शब्दादयो वल्लभाः प्रियाः । न तु मुक्तिः । तदेव द्रढयितुमाह—भवतु । को दोष इति शेषः । यद्यहं रागी तर्हि किमिति भवतीर्न गणयामीति शङ्कां निवारयति—दिशतीति । तव हृदये मनसि हृदयेश्वरा काचित्तव प्रेयसी । अन्यकामिनीभ्यः स्त्र्यन्तरेभ्योऽवकाशं न दिशति न प्रयच्छति । स्त्र्यान्तरासक्त्या नास्मान्गणयसि न तु वैराग्यात् । तदर्थमेवायं ते सकलः प्रयासोऽपीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

किसी सुन्दरी ने कहा—ऐ, (तपस्विन्) यदि तुम्हारे हृदय में शान्ति का निवास है तो फिर यह धनुष किसलिये धारण करते हो ? किन्तु अरे ठग इन्द्रियों के विषय शब्दादिक तुम्हें अत्यन्त प्रिय हैं उनसे तुम अलग नहीं हो । जो तुम हमलोगों की तरफ न देखकर बगुला भक्त बने हो इसका कारण यह है कि तुम्हारे मन में कोई और रमणी बसी हुई है अतः वहाँ अवकाश नहीं है जिससे हम लोगों को स्थान न मिले ॥ ५५ ॥

इति विषमितचक्षुषाभिधाय स्फुरदधरोष्ठमसूयया कयाचित् ।
अगणितगुरुमानलज्जयाऽसौ स्वयमुरसि श्रवणोत्पलेन जघ्ने ॥ ५६ ॥

इतीति ॥ इतीत्थम् । असूयया मत्सरेण स्फुरन्नधरोष्ठो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथाभिधायोक्त्वा विषमितचक्षुषा कुटिलीकृतदृष्ट्याऽगणिता गुरव आचार्यादयो

मानोऽभिमानो लज्जा च यया तया । कयाचित् । असौ मुनिः । उरसि स्वयं स्वहस्तेनैव श्रवणोत्पलेन जघ्ने हतः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार के वाक्य कह कर किसी दूसरी नायिका ने, जिसके अधर-पुट जुगुप्सा के कारण फड़क रहे थे, अपने अभिमान और लज्जा का कुछ विचार न करके कुटिल दृष्टि करती हुई कर्णोत्पल से स्वयं अर्जुन के हृदय में मारा ॥ ५६ ॥

सविनयमपराभिसृत्य साचि स्मितसुभगैकलसत्कपोललक्ष्मीः ।
श्रवणनियमितेन तं निदध्यौ सकलमिवासकलेन लोचनेन ॥ ५७ ॥

सविनयमिति ॥ अपरा सविनयमनौद्धत्येन । साचि तिर्यक् । अभिसृत्य समीपं गत्वा स्मितेन मन्दहासेन सुभगा एकस्य लसतः कपोलस्य लक्ष्म्यो यस्याः सेति बहुवचनपदोत्तरो बहुव्रीहिः । अन्यथा कप्प्रत्ययः स्यादित्युक्तं प्राक् । श्रवणनियमितेन कर्णान्तप्रापितेन श्रोत्ररुद्धप्रसरेण । तावदायतेनेत्यर्थः । असकलेनासंपूर्णेन, कटाक्षेणेति यावत् । लोचनेन तं मुनिं धनंजयं सकलमिव समग्रप्रायं यथा तथा निदध्यौ पश्यति स्म । कटाक्षेणैव गाढमद्राक्षीदित्यर्थः । एषु श्लोकेषु भावाभासनिबन्धादूर्जस्वलालंकारः । औत्सुक्यमत्र भावः । आभासत्वं चास्य विरक्तमुनावनौचित्यादित्युक्तं प्रागेवेति ॥ ५७ ॥

एक सुरसुन्दरी, विनीत भाव से समीप जाकर मन्द हास करने लगी जिससे उसके कपोल परम सुशोभित हो रहे थे। वह कर्णपर्यन्त विस्तृत अर्द्धनिमीलित नेत्र से ध्यान पूर्वक देखने लगी ॥ ५७ ॥

अथ तासां मुनिविलोभनमुपसंहरति—

करुणमभिहितं त्रपा निरस्ता तदभिमुखं च विमुक्तमश्रु ताभिः ।
प्रकुपितमभिसारणेऽनुनेतुं प्रियमियती ह्यबलाजनस्य भूमिः ॥ ५८ ॥

करुणमिति ॥ ताभिः स्त्रीभिः । तदभिमुखं मुनिसमक्षं करुणं दीनमभिहितमुक्तम् । त्रपा निरस्ता लज्जा त्यक्ता । किंबहुना, अश्रु च विमुक्तम् । ततः परं न किंचिद्विधेयमासीदिति भावः । कुतः । हि यस्मात्, अबलाजनस्याभिसारणे समागमविषये प्रकुपितमननुकूलं प्रियमनुनेतुमनुकूलयितुम् । इयती भूमिरित्येतावती सीमा । साधनानां परमावधिरिति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ५८ ॥

वे सुरसुन्दरियाँ दीनतापूर्वक अर्जुन के समक्ष बोलीं, लज्जा छोड़ीं और कहाँ तक कहा जाय आसुओं की धारायें बहाईं। इससे अधिक वे क्या कर सकती थीं क्योंकि समागम में प्रतिकूल प्रिय को अनुकूल बनाने के लिए अबलाजनोंके साधनोंकी सीमा भी यहीं तक है ॥

अथासामनुरागदार्ढ्यं निगमयति—

असकलनयनेक्षितानि लज्जा गतमलसं परिपाण्डुता विषादः ।
इति विविधमियाय तासु भूषां प्रभवति मण्डयितुं वधूरनङ्गः ॥ ५९ ॥

असकलेति ॥ असकलनयनेक्षितानि नयनार्धविलोकितानि लज्जाऽलसं गतं मन्द-गमनं परिपाण्डुता पाण्डुरवर्णत्वं विषाद इष्टानवाप्तिनिमित्तश्चेतोभङ्गः । इति एवं प्रकारं विविधं नानाविचेष्टितम् । 'नपुंसकमनपुंसकेन' इत्यादिना नपुंसकैकशेष-त्वम् । तासु भूषामियायेति भावप्राधान्येन योज्यम् । तथा हि—अनङ्गो मदनो वधूर्मण्डयितुं प्रभवति । सर्वावस्थास्विति शेष. । अतस्तासामनङ्गभूषितानामखिलं भूषणमेवेति भावः ॥ ५९ ॥

उन देववधूटियों का किञ्चिन्निमीलित नेत्रों से अवलोकन, लज्जा, मन्थर गति (धीरे चलना), शरीर की पीतिमा और इष्ट के न प्राप्त होने के कारण विषाद ये अनेक प्रकार की क्रियायें उनकी अलङ्कारिणी होती हैं क्योंकि कामदेव सभी दशाओं में अबलाजनों को विभूषित करने में समर्थ होता है ॥ ५९ ॥

इदानीं तासां त्रिभिर्मुनिविलोभने प्रयासवैफल्यमाह—

अलसपदमनोरमं प्रकृत्या जितकलहंसवधूगति प्रयातम् ।
स्थितमुरुजघनस्थलातिभारादुदितपरिश्रमजिह्मितेक्षणं वा ॥ ६० ॥
भृशकुसुमशरेषुपातमोहादनवसितार्थपदाकुलोऽभिलापः ।
अधिकविततलोचनं वधूनामयुगपदुन्नमितभ्रु वीक्षितं च ॥ ६१ ॥

अलसेति ॥ वधूनां संबन्धि प्रकृत्यालसैः पदैर्मनोरमं मनोज्ञमत एव जिता कल-हंसवधूनां गतिर्येन तद् । प्रयातं गमनम् । भावे क्तः । तथा उरुणोऽतिविपुलस्य जघन-स्थलस्यातिभारादतिगौरवात् । उदितपरिश्रमेणोद्गतश्रमेण जिह्मिते घूर्णिते ईक्षणे यस्मिन्, स्थितं वा स्थितिश्च । सर्वत्र 'वा' शब्द समुच्चये ॥ ६० ॥

भृशेति ॥ तथा भृशेन गाढेन कुसुमशरस्य कामस्य इषोर्निपातेन यो मोहो मूर्च्छा तस्माद्धेतोः, अनवसितार्थैरस्फुटोच्चारणादनवधारिताभिधेयैः पदैः सुप्तिङन्ता-दिभिः क्षुभितशब्दैराकुलः संकीर्णोऽभिलापो वाक्यप्रयोगश्च । अधिकं वितते विस्तृते लोचने यस्मिंस्तदयुगपत् । पर्यायेण । उन्नमिते भ्रुवौ यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वः । वीक्षितं वीक्षणं च ॥ ६१ ॥

जिनके प्रकृति से आलस्ययुक्त चरणों का प्रक्षेप, जो अतीव मनोहर था, और राजहंस की युवती की गति को जीत लेता था; वे अतीव स्थूल जघन भार से थके हुये नेत्रों से वक्रता-पूर्वक देखती थीं; पुष्पबाण (कामदेव) के तीक्ष्ण बाण-प्रहार के कारण उत्पन्न मूर्च्छावस्थामें प्रयुक्त अत एव अस्पष्ट सुबन्तादि वाक्यों से भाव व्यक्त नहीं होता था और वे आँखों को खूब खोलकर (अर्थात् घूर-घूर कर देखने से) बार-बार भौहों को ऊपर उठाकर अर्जुन की तरफ देख रही थीं ॥ ६०–६१ ॥

रुचिकरमपि नार्थवद् बभूव स्तिमितसमाधिशुचौ पृथातनूजे ।
ज्वलयति महतां मनांस्यमर्षे न हि लभतेऽवसरं सुखाभिलाषः ॥ ६२ ॥

रुचिकरमिति ॥ पूर्वोक्तं रुचिकरं स्पृहाजनकमपि । 'रुचिः कान्त्यर्चिषोर्मासि स्त्रियां शोभास्पृहार्थयोः इति वैजयन्ती । स्तिमितेन स्थिरेण समाधिना तपोयोगेन शुचौ शुद्धे । निर्विकारचेतसीत्यर्थः । पृथातनूजेऽर्जुनविषये । अर्थवत् सप्रयोजनं न बभूव । तथा हि—महतां धीराणां मनास्यमर्षे क्रोधे ज्वलयति सति सुखाभिलाषोऽवसरमवकाशं न लभते । रौद्रस्य शृङ्गारविरोधित्वादिति भावः । अत्र विशेषकेऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ६२ ॥

यद्यपि सुरसुन्दरियों के सभी मनोमोहक प्रयोग हृदयहारी थे तथापि वे अविचल समाधिके कारण अविकृत चित्त शाली अर्जुन के विषय में सफल न हो सके, क्योंकि क्रोध के उद्दीप्त होने पर धीर पुरुषों के मन में सुख की लिप्सा स्थान नहीं पाती ॥ ६२ ॥

स्वयं संराध्यैवं शतमखमखण्डेन तपसा
परोच्छित्त्या लभ्यामभिलषति लक्ष्मीं हरिसुते ।
मनोभिः सोद्वेगैः प्रणयविहतिध्वस्तरुचयः
सगन्धर्वा धाम त्रिदशवनिताः स्वं प्रतिययुः ॥ ६३ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये दशमः सर्गः ।

स्वयमिति ॥ एवं हरिसुतेऽर्जुने स्वयमखण्डेनाविलुप्तेन तपसा शतमखमिन्द्रं संराध्य प्रीणयित्वा परोच्छित्त्या शत्रुवधेन लभ्यां साध्यां लक्ष्मीं राज्यलक्ष्मीम् । अभिलषति सति सोद्वेगैः कार्यसिद्ध्यभावात्सनिर्वेदैर्मनोभिरुपलक्षिताः । किंच, प्रणयविहत्या प्रार्थनाभङ्गेन ध्वस्तरुचयो नष्टकान्तयः सगन्धर्वा गन्धर्वसहितास्त्रिदशवनिताः स्वं धाम स्वस्थानं प्रतिययुः । शिखरिणीवृत्तमेतत्—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' इति लक्षणात् ॥ ६३ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां दशमः सर्गः समाप्तः ॥

इन्द्र-तनय (अर्जुन) अविच्छिन्न तपश्चर्या के द्वारा शतक्रतु (इन्द्र) को स्वयं आराधित करके शत्रुवध के द्वारा प्राप्त होने योग्य राजश्री की अभिलाषा कर रहे थे । उनमें जिन अप्सराओं के सम्पूर्ण यत्न विफल हो गये उनका मन उद्विग्न हो उठा । प्रणयविषयिणी याच्ञा के विफल होने के कारण उनके शरीर की कान्ति विरस हो गई और वे गन्धर्वों को लिये-दिये अपने निवासस्थान (अमरावती, इन्द्र की नगरी) को चली गईं ॥ ६३ ॥

दशम सर्ग समाप्त

एकादशः सर्गः

अथामर्षान्निसर्गाच्च जितेन्द्रियतया तया।
आजगामाश्रमं जिष्णोः प्रतीतः पाकशासनः ।। १ ।।

अथेति ।। अथ अप्सरसां प्रतिप्रयाणानन्तरम्। पाको नाम कश्चिद्राक्षसस्तस्य शासन इन्द्रः। नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः। तथाऽप्सरोमुखाच्छ्रुतया अमर्षाद् द्विषद्द्वेषान्निसर्गाच्च या जितेन्द्रियता तयाऽऽगन्तुकानागन्तुकोभयविधहेतुकया प्रतीतो हृष्टः सन्। 'ख्याते हृष्टे प्रतीतः' इत्यमरः। जिष्णोरर्जुनस्य। 'जिष्णुः शक्रे धनंजये' इत्यमरः। आश्रममाजगाम। अत्रामर्षनिसर्गयोर्जितेन्द्रियताहेतुकं काव्यलिङ्गं स्फुटमवगम्यते ॥ १ ॥

अप्सराओं के लौट आने पर स्वभावसिद्ध तथा शत्रु के साथ विद्वेष के कारण अर्जुन की जितेन्द्रियता सुन कर पाकदानव के मालिक इन्द्र अर्जुन के आश्रम में गये ।। १ ।।

किमिन्द्रो निजरूपेणैवागतो नेत्याह—

मुनिरूपोऽनुरूपेण सूनुना ददृशे पुरः।
द्राघीयसा वयोतीतः परिक्लान्तं किलाध्वना ।। २ ।।

मुनिरूप इति ।। मुने रूपमिव रूपं यस्य स मुनिरूपः। मुनिवेषधारीत्यर्थः। इन्द्रोऽनुरूपेण दर्शनप्रदानयोग्येनेत्यर्थः। सूनुना पुत्रेणार्जुनेन पुरोऽग्रे ददृशे दृष्टः। कथंभूतः। वयो यौवनादिकमतीतो वृद्धः। 'द्वितीया श्रित–' इत्यादिना द्वितीयासमासः। द्राघीयसाऽतिदीर्घेण ॥ 'प्रियस्थिर–' इत्यादिना 'दीर्घ'शब्दस्य द्राघादेशः। अध्वना। अध्वगमनेनेत्यर्थः। परिक्लान्तः परिश्रान्तः। किलेत्यलीके। 'किल संभाव्यवार्तयोः। हेत्वरुच्योरलीके च' इति हेमचन्द्रः। वृद्ध एव दूराध्वश्रान्त इव स्थित इत्यर्थः। 'इव' इति पाठे स्पष्टार्थः ॥ २ ॥

मुनिवेषधारी, युवावस्था के अतिक्रमण-कर्त्ता, बहुत दूर से आने के कारण थके हुए इन्द्रको दर्शन-प्रदान योग्य अर्जुन ने सामने देखा ।। २ ।।

अथ चतुर्भिरिन्द्रं विशिनष्टि—

जटानां कीर्णया केशैः संहत्या परितः सितैः।
पृक्तयेन्दुकरैरह्नः पर्यन्त इव संध्यया ।। ३ ।।

जटानामिति ॥ परितः सितैः केशैः कीर्णया व्याप्तया जटानां संहत्या समूहेनोपलक्षितः। अत एव, इन्दुकरैः पृक्तया युक्तया संध्ययोपलक्षितोऽह्नः पर्यन्तो दिनान्त

इव स्थितः। तस्याप्युपपरिणतरूपत्वाद् वृद्धोपमानत्वम्। जटानां संहत्येत्युक्तत्वाद संध्यासाम्यम्॥ ३॥

सुरराज (इन्द्र) धवलित केशों से व्याप्त जटाओं की संहति से उपलक्षित होकर चन्द्रमा की किरणों से युक्त सन्ध्या से व्याप्त दिवसावसान के सदृश दिखलाई पड़ते थे॥ ३॥

विशदभ्रूयुगच्छन्नवलितापाङ्गलोचनः ।
प्रालेयावततिम्लानपलाशाब्ज इव ह्रदः॥ ४॥

विशदेति॥ पुनश्च, विशदेन पलितपाण्डुरेण भ्रूयुगेन छन्ने वलितापाङ्गे वलिमत्प्रान्ते लोचने यस्य स तथोक्तः 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ' इत्यमरः। पामादित्वाल्लोमादिसूत्रेण वलच्प्रत्ययः। प्रालेयावतत्या हिमसंहत्या म्लानपलाशानि क्लान्तदलानि अब्जानि यस्मिन्स ह्रद इव स्थितः॥ ४॥

पलित पाण्डुर वर्ण के भौंहों से उन (इन्द्र) के दोनों नेत्र ढके हुए से थे। उन नेत्रों के कोनों में सिकुड़न पड़ गई थी। वे (इन्द्र) तुषार के ढेर से मुरझाये हुए कमल दल से व्याप्त सरोवर के सदृश मालूम पड़ते थे॥ ४॥

आसक्तभरनीकाशैरङ्गैः परिकृशैरपि।
आद्यूनः सद्गृहिण्येन प्रायो यष्ट्यावलम्बितः॥ ५॥

आसक्तेति॥ पुनश्च, परिकृशैः परिक्षीणैरपि, आसक्तभरनीकाशैर्भाराक्रान्तसदृशैः। सभारवद्गुरूभवद्भिरित्यर्थः। 'इकः काशे' इति दीर्घः। अङ्गैरुपलक्षितः। कार्श्यल्लघून्यपि स्वाङ्गानि स्वयं वोढुमसमर्थ इत्यर्थः। अत एव आद्यून औदरिकः। 'आद्यूनः स्यादौदरिको विजिगीषाविवर्जिते' इत्यमरः। आङ्पूर्वाद्दीव्यतेः क्तः। 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यूठादेश। 'दिवोऽविजिगीषायाम्' इति निष्ठानत्वम्। सद्गृहिण्याऽनुकूलकलत्रेण इव प्रायः प्राचुर्येण यष्ट्याऽवलम्बनदण्डेन। अवलम्बितो धारितः। न तु स्वशक्त्येति भावः॥ ५॥

सुरराज (इन्द्र) के अङ्ग दुर्बल थे अतः भार से दबे हुए के सदृश प्रतीत होते थे। लाठी के सहारे चलते हुए बड़े पेटवाले पुरुष के सदृश मालूम पड़ते थे, जो अपनी स्त्री के सहारे उठता-बैठता है॥ ५॥

गूढोऽपि वपुषा राजन् धाम्ना लोकाभिभाविना।
अंशुमानिव तन्वभ्रष्टपटलच्छन्नविग्रहः॥ ६॥

गूढ इति॥ वपुषा गूढोऽपि। प्रच्छन्नरूपोऽपीत्यर्थः। प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानात्तृतीया। तन्वभ्रष्टपटलच्छन्नविग्रहः स्तोकाभ्रवृन्दान्तरितमूर्तिः। अंशुमानिव लोकाभिभाविना लोकव्यापिना धाम्ना तेजसा। धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति हेमचन्द्रः। राजन् दीप्यमानो ददृश इति पूर्वेण संबन्धः॥ ६॥

यद्यपि इन्द्रदेव प्रच्छन्न होकर चलते थे तथापि संसारव्यापी तेज से उस सूर्य की तरह दीप्त हो रहे थे जो (सूर्य) हलके बादलों की सतह से ढका हुआ रहता है ॥ ६ ॥

जरतीमपि बिभ्राणस्तनुमप्राकृताकृतिः ।
चकाराक्रान्तलक्ष्मीकः ससाध्वसमिवाश्रमम् ॥ ७ ॥

जरतीमिति ॥ जरतीं जीर्णाम् । 'जीनो जीर्णो जरन्नपि' इत्यमरः । जीर्यतेरतीतार्थे शतृप्रत्ययः । 'उगितश्च' इति ङीप् । तनुं शरीरं बिभ्राणोऽपि दधदपि अप्राकृताऽलोकसामान्या आकृतिर्मूर्तिर्यस्य स इन्द्र आक्रान्ताऽभिभूता लक्ष्मीराश्रमशोभा येन स आक्रान्तलक्ष्मीकः । अत्र 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' इति नित्यकवाश्रयणम् । एकवचनोत्तरपदस्यैव 'लक्ष्मी'शब्दस्योरःप्रभृतिषु पाठात् । 'शेषाद्विभाषा' इति विकल्पाश्रयणे तु बहुवचनोत्तरपद इति विवेकः । आश्रमं ससाध्वसमिव चकार । तेजस्विदर्शनाद्भयं भवति । यत्तु न दुःखजनकं तस्यामानुषत्वादिति सूचयितुम् 'इव' शब्दः ॥ ७ ॥

जीर्ण तथापि अलौकिक शरीर धारण किये हुये इन्द्र ने आश्रम की शोभा को आक्रान्त करके आश्रम को भयाकुल की तरह कर दिया ॥ ७ ॥

अभितस्तं पृथासूनुः स्नेहेन परितस्तरे ।
अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात्प्रह्लादते मनः ॥ ८ ॥

अभित इति ॥ पृथासूनुरर्जुनः । तम् इन्द्रम् । अभितस्तं प्रति स्नेहेन परितस्तरे । तद्गोचरेण प्रेम्णा पर्यावृतः । स्तृणोतेः कर्मणि लिट् । 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' इति गुणः । नन्वज्ञातसम्बन्धविशेषस्य तस्येन्द्रे कथं स्नेहोदय इत्यत आह—अविज्ञात इति । बन्धौ सुहृदि । अविज्ञातेऽपि बन्धुरयमित्यज्ञातेऽपि बलाद्वान्धवसत्तावशादेव मनः प्रह्लादते हि स्निह्यतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

इन्द्र के पास बैठे हुये पृथापुत्र (अर्जुन) स्नेह से परिप्लुत हो गये । क्योंकि अगर अपने बान्धव को कोई नहीं पहचान सकता है तथापि उसके मन में बलात् हर्षोद्रेक होता ही है ॥ ८ ॥

आतिथेयीमथासाद्य सुतादपचितिं हरिः ।
विश्रम्य विष्टरे नाम व्याजहारेति भारतीम् ॥ ९ ॥

आतिथेयीमिति ॥ अथ हरिरिन्द्रः सुतादर्जुनात् । आतिथेयीम् । अतिथिषु साध्वीम् । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' । अपचितिं पूजाम् । आसाद्य प्राप्य । 'पूजा नमस्याऽपचितिः' इत्यमरः । विष्टर आसने । 'ऋदोरप्, इति स्तृणातेरप्प्रत्ययः । "वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वम् । विश्रम्य नाम विश्रम्य किल । श्रममपनीयेत्यर्थः ।

इति वक्ष्यमाणप्रकारां भारतीं व्याजहार उक्तवान् । 'व्याहार उक्तिर्लपितम्' इत्यमरः ॥ ९ ॥

सुरेन्द्र (इन्द्र) पुत्र से आतिथ्य-सत्कार के उपयुक्त पूजा ग्रहण करके थोड़ी देर तक आसन पर विश्राम करके (अर्जुन से) बोले ॥ ९ ॥

अथ प्रथमं तावन्मुनिवदेनं मुमुक्षुं कृत्वाह—

त्वया साधु समारम्भि नवे वयसि यत्तपः ।
ह्रियते विषयैः प्रायो वर्षीयानपि मादृशः ॥ १० ॥

त्वयेति ॥ त्वया साधु समारम्भि सम्यगुपक्रान्तम् । रभेः कर्मणि लुङ् । कुतः । यद् यस्मात् । नवे वयसि यौवने । तपः चर्यत इति शेषः । तथा हि—अहमिव दृश्यतेऽसौ मादृशो वर्षीयानतिवृद्धोऽपि । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना 'वृद्ध' शब्दस्य वर्षादेशः । प्रायो विषयैर्ह्रियत आकृष्यते । किमु भवादृशो यवीयानिति भावः ॥ १० ॥

इन्द्र ने कहा :—

तुमने अच्छा किया जो इस अल्पावस्था में ही तपश्चर्या प्रारम्भ कर दी, मुझ जैसे व्यक्ति अधिक अवस्था के होते हुये भी विषयों के द्वारा आकृष्ट हो जाते हैं ॥ १० ॥

अथैवमनारम्भे तव स्वाकारलाभोऽपि विफलः स्यादित्याशयेनाह—

श्रेयसीं तव संप्राप्ता गुणसंपदमाकृतिः ।
सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम् ॥ ११ ॥

श्रेयसीमिति ॥ तवाकृतिर्मूर्तिः । रम्येति शेषः । श्रेयसीं श्रेष्ठां गुणसंपदं तपःसमारम्भरूपां संप्राप्ता । अतो न निष्फलेति भावः । न च स्वाकारा गुणाढ्याश्च कियन्तो न सन्तीति वाच्यमित्याह—लोक इति । लोके रम्यता रम्याकारता सुलभा हि, गुणार्जनं गुणसंपादनं दुर्लभम्; त्वयि तूभयं संपद्यत इति हेम्नः परमामोदः इति भावः ॥ ११ ॥

तुम्हारी आकृति परम रम्य है, कल्याणकारी गुणों की सम्पत्ति भी तुम्हें मिल गई है सौन्दर्य का तो संसार में मिलना कोई कठिन बात नहीं है परन्तु गुणों का प्राप्त करना कठिन काम है । तुममें तो सौन्दर्य और गुण दोनों मिलते हैं, ये तुम्हारे लिये सोने में सुगन्ध का काम देते हैं ॥ ११ ॥

यदुक्तम् 'त्वया साधु समारम्भि' (श्लो० १०) इति, तदेव साधुत्वं संसारनिःसारताख्यापनाय युग्मेनोपपादयति—

शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रियः ।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥ १२ ॥

शरदिति ।। यौवनश्रियस्तावत् शरदम्बुधरच्छाया इव गत्वर्यश्चञ्चलाः । 'गत्वरश्च' इति क्वरबन्तो निपातः । 'टिड्ढाणञ् –' इत्यादिना ङीप् । विषयाः शब्दादयस्तु आपातरम्यास्तत्कालरमणीयाः । 'तदात्वे पात आपातः' इति वैजयन्ती । पर्यन्तेऽवसाने परितापयन्ति दुःखं कुर्वन्तीति तथोक्ताः ।। १२ ।।

युवावस्था की शोभा शरत्काल के मेघ की तरह चञ्चल हैं (जैसे शरत्काल का बादल आया और गया) शब्दादिक जो तत्त१ इन्द्रियों के विषय हैं वे उसी काल म रम्य प्रतीत होते हैं परन्तु अन्तिमावस्था में सन्तापप्रद ही होते हैं ।। १२ ।।

अन्तकः पर्यवस्थाता जन्मिनः सततापदः ।
इति त्याज्ये भवे भव्यो मुक्तावुत्तिष्ठते जनः ।। १३ ।।

अन्तक इति ।। किच, संतता अनवच्छिन्ना आपदः क्लेशा यस्य तस्य जन्मिनः प्राणिनः । 'प्राणी तु चेतनो जन्मी' इत्यमरः । व्रीह्यादित्वादिनिः । अन्तको मृत्युः पर्यवस्थाता प्रतिरोद्धा । प्रथमं तावज्जन्मिनो जन्मदुःखमेव दुस्तरम्, ततो जातस्य जीवनमपि सततं दुःखसंमिन्नतया विषयुक्तान्नप्रायम्, तदपि मृत्युग्रस्तमिति सोऽयम् "काकमांसं शुनोच्छिष्टं [दुर्गन्धं क्रिमिसकुलम् । म्लेच्छपक्वं सुरासिक्तम्] स्वल्पं तदपि दुर्लभम् ।।' इति न्यायादिति भावः । इति उक्तहेतोः । त्याज्ये भवे संसारे । भवतीति भव्यो योग्यो जनः । भवादृश इति शेषः । 'भव्यं सुखे शुभे चापि भेद्यवद्योग्यभाविनोः' इति विश्वः । 'भव्यगेय—' इत्यादिना कर्तरि निपातः । मुक्तौ मोक्ष उत्तिष्ठत उद्युक्तो भवति । 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' इत्यात्मनेपदम् ।। १३ ।।

जन्मधारण करनेवाले प्राणी सर्वदा विपत्तियों से ऊवे रहते हैं । अन्त में मृत्यु तो अवश्यंभाविनी है (तात्पर्य यह कि पहिले तो प्राणी को जन्मजनित दुःख भोगना पड़ता है फिर जीवन-यात्रा अनेक आपत्तियों से पूर्ण है अन्त में मृत्यु के विषय मे कहना ही क्या, सब लोग जानते ही हैं) इसलिये यह संसार हेय है, जो सज्जन लोग हैं वे मुक्तिप्राप्ति के लिये सतत यत्नशील रहते हैं ।। १३ ।।

संप्रति प्रशंसापूर्वकं स्वाभिसन्धि दर्शयति—

चित्तवानसि कल्याणी यत्त्वां मतिरुपस्थिता ।
विरुद्धः केवलं वेषः संदेहयति मे मनः ।। १४ ।।

चित्तवानिति ।। चित्तवान् प्रशस्तचित्तोऽसि । प्रशंसायां मतुप् । कुतः । यत् यतः, त्वां कल्याणी साध्वी । 'बह्वादिभ्यश्च' इति ङीष् । मतिरुपस्थिता संगता । किंतु केवलमेकं यथा तथा विरुद्धो वेषो मे मनः संदेहयति संशययुक्तं करोति । यद्वा—वेषः केवलम् । वेष एवेत्यर्थः । 'केवलः कृत्स्न एके च केवलं चावधारिते' इत्युभयत्रापि शाश्वतः ।। १४ ।।

तुम्हारा मन शुद्ध है जो तुममें इस तरह की मङ्गलमयी बुद्धि का विकास हुआ है। एक तुम्हारा विरुद्ध-वेप ही मेरे मन को क्षुब्ध कर रहा है ॥ १४ ॥

वेषविरोधमेवाह—

युयुत्सुनेव कवचं किमामुक्तमिदं त्वया।
तपस्विनो हि वसते केवलाजिनवल्कले ॥ १५ ॥

युयुत्सुनेति ॥ युयुत्सुनेव योद्धुमिच्छुनेव त्वया। युधेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। किमिदं कवचं वर्म। आमुक्तमर्पितम्। तत्र को विरोध इत्यत्राह—हि यस्मात्, तपस्विनः केवले एके। कवचाद्यसहचरिते इति यावत्। ते च ते अजिनवल्कले च। निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयोः' इत्यमरः। वसत आच्छादयन्ति। अतस्तपस्विनस्ते कवचधारणं विरुद्धमित्यर्थः ॥ १५ ॥

विरुद्ध वेष क्या है :—

युद्धार्थी की तरह यह कवच तुमने किस लिये धारण कर रक्खा है? तपस्वी तो केवल मृगचर्म और वल्कल धारण करते हैं ॥ १५ ॥

प्रपित्सोः किं च ते मुक्तिं निःस्पृहस्य कलेवरे।
महेषुधी धनुर्भीमं भूतानामनभिद्रुहः ॥ १६ ॥

प्रपित्सोरिति ॥ किं च, मुक्तिं प्रपित्सोः प्राप्तुमिच्छोः। 'सनि मीमा—' इत्यादिनेसादेशः। अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः। अतो मुमुक्षुत्वादेव कलेवरे शरीरे गतस्पृहस्य निःस्पृहस्य। अतो नात्मरक्षार्थं धनुर्धारणं युक्तमित्यर्थः। नापि परहिंसार्थमित्याह—भूतानां जन्तूनाम्। 'क्ष्मादौ जन्तौ च भूतानि' इति वैजयन्ती। 'क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म' इति कर्मसंज्ञायां 'कर्तृकर्मणोः कृति—' इति कर्तरि षष्ठी। अनभिद्रुहोऽहिंसकस्य। 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप्। ते तव महेषुधी महानिषङ्गौ भीमं त्रासजनकं धनुश्च। न समर्थयते शममित्युत्तरेणान्वयः। समर्थयतः इति वचनविपरिणामः कार्यः ॥ १६ ॥

तुम मुक्ति के अभिलाषी हो, शरीर के विषय में तुम्हें निस्पृह होना स्वाभाविक है ऐसी दशा में तुम्हें किसी प्राणी से द्रोहबुद्धि नहीं रखनी चाहिये, अतः यह महान् तूणीर (तरकस) और भीषण धनुष धारण करना तुम्हारी शान्ति का समर्थन नहीं करता ॥ १६ ॥

भयंकरः प्राणभृतां मृत्योर्भुज इवापरः।
असिस्तव तपःस्थस्य न समर्थयते शमम् ॥ १७ ॥

भयंकर इति। तथा, मृत्योरपर भुज इव प्राणभृतां प्राणिनां भयं करोतीति भयंकरः। 'मेघर्तिभयेषु कृञः' इति खच्प्रत्ययः। 'अरुर्द्विष—' इत्यादिना मुमागमः।

असिः खड्गः। तपसि तिष्ठतीति तपःस्थः। तपश्चरन्नित्यर्थः। 'सुपि स्थः' इति कप्रत्ययः। तस्य, तव शमं शान्तिं न समर्थयते न संभावयति। किं शान्तस्य शस्त्रेणेति भावः॥ १७॥

यह कृपाण (तलवार) जो जीवधारियों के लिए मृत्यु की दूसरी भुजा के सदृश भयावह है, धारण करते हो वह तपोनिष्ठ तुम्हारी शान्ति का समर्थन नहीं करता (शान्त पुरुष को शस्त्र से क्या प्रयोजन ?)॥ १७॥

नन्वशान्तस्य किं तपसेत्याशङ्क्य जयार्थमित्याह—

जयमत्रभवान्नूनमरातिष्वभिलाषुकः।
क्रोधलक्ष्म क्षमावन्तः क्वायुधं क्व तपोधनाः॥ १८॥

जयमिति॥ अत्रभवान्। पूज्य इत्यर्थः। 'इतरेभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति प्रथमार्थे प्राग्दिशीयस्त्रल्प्रत्ययः। सुप्सुपेति समासः। 'त्रिषु तत्रभवान् पूज्यस्तथैवात्रभवानपि' इति यादवः। अरातिषु शत्रुषु विषये जयमभिलाषुको जयमिच्छुः। 'लषपत—' इत्यादिनोकञ्प्रत्ययः। 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। नूनमिति निश्चये। 'नूनं तर्केऽपि निश्चये' इत्यमरः। क्रोधस्य लक्ष्म कोपस्य लिङ्गम्। आयुधं क्व। क्षमावन्तः शान्ताः तपोधनाः क्व। क्रोधशान्त्योर्विरोधात् तत्कार्ययोः शस्त्रतपसोरप्येकत्रासङ्गतेश्च शस्त्रिणस्ते तपो जयार्थं न तु मोक्षार्थमिति निश्चय इत्यर्थः॥ १८॥

यह निश्चय हो रहा है कि तुम शत्रु से विजय-प्राप्ति की अभिलाषा रखते हो (मोक्ष की नहीं) क्योंकि क्रोधसूचक शस्त्र कहाँ और क्षमाशील तपस्वी कहाँ ? अर्थात् जो शत्रु को जीतने की इच्छा रखता है वही शस्त्र धारण करता है और जो मुमुक्षु हैं उन्हें तो क्षमा की ही आवश्यकता पड़ती है॥ १८॥

तपसो जयार्थत्वे दोषमाह—

यः करोति वधोदर्का निःश्रेयसकरीः क्रियाः।
ग्लानिदोषच्छिदः स्वच्छाः स मूढः पङ्कयत्यपः॥ १९॥

स इति॥ यः पुमान्। निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसं मुक्तिः। 'अचतुर—' इत्यादिना समासान्तो निपातः। 'मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयोनिःश्रेयसामृतम्' इत्यमरः। निःश्रेयसं कुर्वन्तीति निःश्रेयसकरीः। निःश्रेयसहेतूनित्यर्थः। 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति हेत्वर्थे टप्रत्ययः। टित्त्वान्ङीप्। क्रियास्तपोदानादिकर्माणि वधोदर्का हिंसाफलकाः करोति। 'उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमरः। अत एव मूढः स पुमान्। ग्लानिरेव दोषस्तं छिन्दन्तीति ग्लानिदोषच्छिदः पिपासाहारिणीः। क्विप्। स्वच्छा निर्मला अपः पङ्कयति पङ्कवतीः करोति। 'णाविष्ठवद्भावे विन्मतोर्लुक्'

इति मतुपो लुक् । महाफलसाधनस्य तपसस्तुच्छफलैर्विनियोगः स्वच्छाम्बुनः पङ्कसंकरवत् प्रेक्षावद्भिर्गर्हित इत्यर्थः । अत्र 'यत्तपसो वधोदर्कीकरणं तन्निर्मलस्य पयसः पङ्कसंकरीकरणम्' इति वाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरमारोप्य प्रतिबिम्बकरणाक्षेपादसंभवद्वस्तुसंबन्धाद्वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनालंकारः ॥ १९ ॥

जो पुरुष मोक्षसाधिका क्रिया को हिंसात्मक बनाता है वह मूर्ख तृषाशान्ति-समर्थ पवित्र जल को गँदला बना देता है ॥ १९ ॥

नन्वर्थकामयोरपि मोक्षवत्पुरुषार्थत्वात्तपसस्तदर्थत्वे को दोषस्तत्राह—

मूलं दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ स्म मा पुषः ।
तौ हि तत्त्वावबोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ ॥ २० ॥

मूलमिति ॥ हिंसादेरिति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । 'आदि'शब्दात् अनृतस्तेयादीनां संग्रहः । दोषस्य अवगुणस्य मूलं कारणभूतौ । 'स्त्रीकामा धनकामाश्च किं न कुर्वन्ति पातकम्' इति भावः । अर्थकामौ मा स्म पुषो नोपचिनुष्व । स्मोत्तरे लङ् च' इति लङ् । 'पुषादि—' इत्यादि च्लेरङादेशः । हि यस्मात्, तौ अर्थकामौ तत्त्वावबोधस्य तत्त्वज्ञानस्य । मोक्षसाधनस्येति शेषः । दुरुच्छेदौ दुर्वारौ उपप्लवौ हिंसादिप्रवर्तकत्वादन्तकौ । अतः पुरुषार्थपरिपन्थिनावेतौ न पुरुषार्थावित्यर्थः ॥ २० ॥

यहाँ कदाचित् यह कहा जा सकता है कि मोक्ष के लिये नहीं, अर्थ और काम के लिये तपस्या कर रहे हैं उसका उत्तर यह है :—

हिंसादिक जो अवगुण हैं उनके ये अर्थ और काम जड़ हैं (इन्हीं के कारण हिंसा होती है) अतः इनकी पुष्टि नहीं करनी चाहिये क्योंकि ये दोनों तत्त्वज्ञान के ऐसे लुटेरे हैं जिनका कोई उपाय नहीं है ॥ २० ॥

मुक्तिप्रतिबन्धकत्वादपुरुषार्थावर्थकामावित्युक्तम्, तत्रार्थस्य दुःखैकनिदानत्वादप्यपुरुषार्थत्वमिति पञ्चभिः प्रपञ्चयति—

अभिद्रोहेण भूतानामर्जयन् गत्वरीः श्रियः ।
उदन्वानिव सिन्धूनामापदामेति पात्रताम् ॥ २१ ॥

अभिद्रोहेणेत्यादि ॥ भूतानामभिद्रोहेण हिंसया गत्वरीरस्थिताः श्रियः संपदोऽर्जयन् जनः । उदकमस्तीति उदन्वानुदधिः । 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातनात्साधुः । सिन्धूनां नदीनामिव आपदां विपदां पात्रतां मूलत्वम् । एति ॥ २१ ॥

जो पुरुष प्राणिमात्र के साथ ईर्ष्या करके चञ्चल लक्ष्मी को एकत्रित करता है वह ठीक उसी तरह विपत्ति का भाजन बनता है जैसा कि समुद्र नदियों का (आश्रय) पात्र बनता है ॥ २१ ॥

१६ कि०

आपत्पात्रतामेव व्यनक्ति—

या गम्याः सत्सहायानां यासु खेदो भयं यतः।
तासां किं यन्न दुःखाय विपदामिव संपदाम्॥ २२॥

या इति॥ याः संपदः सत्सहायानां विद्यमानसाधनानामेव पुंसां गम्याः प्राप्याः। विपदोऽपि सत्सहायानामेव गम्याः। निस्तीर्या इत्यर्थः। 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी। यासु सतीषु खेदो रक्षणादिक्लेशः। विपत्सु स्वत एवेति विशेषः। यतो याभ्यः संपद्भ्यो भयम्। अनेकानर्थमूलत्वादिति भावः। विपद्भ्यस्तु स्वरूपत एवेति भावः। किं बहुना, विपदामिव तासां संपदां संबन्धि न किम्। अस्तीति शेषः। यद्दुःखाय न भवति। सर्वं दुःखावहमेवेति भावः। यदाहुः—'अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे। नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्॥' इति। अतो हेया इति भावः। अत्र 'यन्न दुःखाय' इत्युत्तरवाक्यस्य यच्छब्दसामर्थ्यात्तासां किमिति पूर्ववाक्ये तच्छब्दोपादानं नापेक्षते। तदेतत्काव्यप्रकाशे स्पष्टम्॥ २२॥

वह विपत्ति का पात्र किस प्रकार बनता है कवि विवरण कर रहे हैं :—

जिस तरह विपत्ति अच्छी सहायक-सामग्रियों से टाली जा सकती है उसी तरह सम्पत्ति भी अच्छे साधनों के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। विपत्तियों के आने से दुःख होता है और सम्पत्तियों की रक्षा करने में अनेकों कष्ट उठाने पड़ते हैं। सम्पत्तिशाली बनने पर प्राण पर संकट लगा रहता है और विपत्ति तो स्वयं भयोत्पादिका है। क्या इनमें से कोई भी विपत्ति ऐसी है, जो दुःख का कारण न हो?॥ २२॥

दुरासदानरीनुग्रान् धृतेर्विश्वासजन्मनः।
भोगान्भोगानिवाहेयानध्यास्यापन्न दुर्लभा॥ २३॥

दुरासदानिति॥ किंच, दुरासदान् दुष्प्रापान्। विश्वासाज्जन्म यस्यास्तस्याः। जन्मोत्तरपदत्वाद् व्यधिकरणो बहुव्रीहिः। धृतेः संतोषस्य। उग्रानरीन्। धनिकस्य सर्वत्रानाश्वाससंभवाद्विस्रम्भसुखभञ्जकानित्यर्थः। भुज्यन्त इति भोगास्तान् भोगान् धनानि। आहेयान् अहिषु भवान्। 'दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यहेर्ढञ्'। भोगान् फणानिव। 'भोगः सुखे धने चाहेः शरीरफणयोरपि' इत्युभयत्रापि विश्वः। अध्यास्य अधिष्ठाय। आपत् विपत्। न दुर्लभा। आशीविषमुखमिव नेच्छन्तमेव भोगिनं पुमांसं बलादापदोऽनुसंदधतीत्यर्थः॥ २३॥

भोग-विलासादि दुष्प्राप्य हैं, ये सन्तोष के, जिसकी उत्पत्ति विश्वास के कारण होती है; प्रबल शत्रु हैं; और ये सर्प के फणि की तरह हैं अतः भोगी पुरुष विपत्ति से छुटकारा कभी नहीं पा सकते॥ २३॥

इतोऽपि श्रियो हेया इत्याह—

नान्तरज्ञाः श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते।
आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तवः ॥ २४ ॥

नेति ॥ श्रियः संपदो जातु कदाचित्। अन्तरज्ञा नीचानीचविशेषाभिज्ञा न भवन्ति। अत एव, आसां श्रियां प्रियैर्न भूयते। न ताः कुत्राप्यनुरज्यन्तीत्यर्थः। नन्वयं श्रीदोषो न पुरुषदोष इति चेत्तत्राह—मूढा अमी जनाः तासु अननुरक्तास्वपि श्रीषु आसक्ताः। स्त्रीष्विव श्रीष्वननुरक्तास्वनुरागः पुंसामेवायं दोष इत्यर्थः। किमर्थं तर्हि तास्वेव सर्वेषामासक्तिरित्यर्थान्तरं न्यस्यति—वामेति। जन्तवो वामशीला वक्रस्वभावा हि। स्वभावस्य दुर्वारत्वादिति भावः ॥ २४ ॥

सम्पत्ति कभी भी किसी प्रकार का भेदभाव (ऊँच-नीच का विचार) नहीं रखती। इन सम्पत्तियों के लिए प्रिय कोई नहीं। क्योंकि मूर्ख प्राणी इनमें आसक्त होकर दुःशील हो जाते हैं ॥ २४ ॥

यदुक्तम्-'नान्तरज्ञाः श्रियः' (श्लो० २४) इति, तदेव भङ्ग्यन्तरेणाह—

कोऽपवादः स्तुतिपदे यदशीलेषु चञ्चलाः।
साधुवृत्तानपि क्षुद्रा विक्षिपन्त्येव संपदः ॥ २५ ॥

क इति ॥ यत् संपदोऽशीलेषु दुःशीलेषु विषये चञ्चला अस्थिराः। न तद्विरुद्धमुच्यते, यतः चञ्चला इति। अतः स्तुतिपदे स्तुतिविषये तत्र कोऽपवादः का निन्दा। किंतु क्षुद्राः संपदः साधुवृत्तानपि विक्षिपन्त्येव जहत्येव। तदेव तासां निन्दापदमित्यर्थः। तस्मादर्थो न पुरुषार्थ इति संदर्भार्थः ॥ २५ ॥

सम्पत्तियाँ दुःशील पुरुषों के विषय में चञ्चल रहती हैं यदि चञ्चला कहें तो इसमें निन्दा की कौन-सी बात है, कारण यह है कि ये चञ्चल तो हैं ही। निन्दा का पात्र अर्थात् ये नीच तब होती हैं जब कि भले मानुषों को भी छोड़ देती हैं ॥ २५ ॥

ननु नार्थमहमर्थये, किंतु वीरधर्ममनुपालयन् वैरनिर्यातनमिच्छामीत्याशङ्क्य तदपि परपीडात्मकत्वादयुक्तमिति श्लोकचतुष्टयेनाचष्टे—

कृतवानन्यदेहेषु कर्ता च विधुरं मनः।
अप्रियैरिव संयोगो विप्रयोगः प्रियैः सह ॥ २६ ॥

कृतवानिति। तत्रात्मदृष्टान्तेनैव परपीडातो निर्वर्तितव्यमित्याशयेनाह—अप्रियैरनिष्टवस्तुभिः संयोग इव प्रियैरिष्टवस्तुभिः सह विप्रयोगो विरहोऽन्यदेहेषु स्वस्यैव देहान्तरेषु अतीतानागतेष्विति शेषः। मनो विधुरं दुःखितं कृतवान् कर्ता करिष्यति च। भविष्ये लुट्। तद्वर्तमाने चानुभूयत इति शेषः। इष्टनाशो दुःखहेतुरिति सर्वत्रापि त्रैकालिकसिद्धमिति श्लोकार्थः ॥ २६ ॥

ऊपर के इन्द्र के कहे हुए वाक्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि 'मोक्ष जिस तरह पुरुषार्थ माना गया उसी तरह अर्थ भी पुरुषार्थ माना जाय' यह ठीक नहीं।

यदि अर्जुन यह कहें कि 'मैं अर्थार्थी नहीं हूँ, किन्तु वीरों का जो कर्तव्य है उसका पालन करते हुए शत्रु का नाश चाहता हूँ।' यह भी दूसरों को पीडाप्रद ही है अतः अयुक्त है, इसी की पुष्टि आगे के चार श्लोकों द्वारा की जायगी।

जिस प्रकार अनिष्ट वस्तुओं का समागम शरीरान्तर में मन को कष्ट पहुँचाता रहता है और पहुँचेगा उसी प्रकार प्रिय वस्तु से वियुक्त होना भी देहान्तर में कष्टप्रद होता रहता है और होगा ॥ २६ ॥

संप्रतीष्टसमागमस्य सुखहेतुत्वमाह—

शून्यमाकीर्णतामेति तुल्यं व्यसनमुत्सवैः।
विप्रलम्भोऽपि लाभाय सति प्रियसमागमे ॥ २७ ॥

शून्यमिति ॥ प्रियसमागम इष्टजनसंयोगे सति शून्यं रिक्तमपि आकीर्णतां संपूर्णताम्, एति। समृद्धिमिव प्रतीयत इत्यर्थः। व्यसनं विपदपि उत्सवैस्तुल्यम्। 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' इत्यमरः। विप्रलम्भो वञ्चना। प्रतारणमिति यावत्। सोऽपि लाभाय। किं बहुना, प्रियसङ्गस्य सर्वावस्थास्वपि सुखमेवेत्यर्थः ॥ २७ ॥

अभीष्ट के समागम से न्यूनता भी पूर्ण हो जाती हैं; दुःख (विपत्तियाँ) भी सुख के समान ही प्रतीत होता है। इष्ट के द्वारा की गई प्रतारणा (छलछद्म) भी लाभप्रद होती है। अधिक क्या कहें अभीष्ट-संसर्ग सभी अवस्थाओं में सुख का कारण होता है ॥ २७ ॥

पुनः प्रकारान्तरेण विप्रयोगस्य दुःखहेतुत्वमाह—

तदा रम्याण्यरम्याणि प्रियाः शल्यं तदासवः।
तदैकाकी सबन्धुः सन्निष्टेन रहितो यदा ॥ २८ ॥

तदेति ॥ तदा रम्याण्यपि अरम्याणि अमनोहराणि भवन्ति। किं बहुना, प्रिया असवः प्राणा अपि शल्यम्। शल्यवदसह्या भवन्तीत्यर्थः। किंच, तदा सबन्धुः सन्नपि, एकाकी असहाय एव। 'एकादाकिनिच्चासहाये' इत्याकिनिच्प्रत्ययः। यदा इष्टेन रहितो भवति तदा सर्वमसह्यमिति ॥ २८ ॥

प्रिय की वियोगावस्था में मनोऽभिराम वस्तुयें भी कुरूप प्रतीत होती हैं, कहाँ तक कहें प्रियप्राण भी हृदय में कंटक की तरह खटकते हैं। उस अवस्था में कुटुम्ब-परिवार के रहते हुए भी (वियोगी) अपने को अकेला समझता है ॥ २८ ॥

युक्तः प्रमाद्यसि हितादपेतः परितप्यसे ।
यदि नेष्टात्मनः पीडा मा सञ्जि भवता जने ।। २९ ।।

युक्त इति ।। किंच, युक्तः, हितेनेति शेषः । हितेनेष्टेन युक्तः सन् । प्रमाद्यसि प्रकर्षेण माद्यसि हृष्यसि । हितादपेतः परितप्यसे परितप्तो भवसि । तपेर्दैवादिकात्कर्तरि लट् । सत्यमेवं ततः किमत आह—यदीति । पीडा आत्मनः स्वस्य च नेष्टा यदि तर्हि भवता जने परिस्मन्नपि मा सञ्जि न सञ्ज्यताम् । सञ्जतेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । आत्मदृष्टान्तेन परपीडातो निवर्तितव्यमित्यर्थः । पीडायाः परात्मनोः समत्वात् ॥ २९ ॥

यदि प्रिय के समागम से प्रसन्न होते हो तो उसके वियोग से अवश्य दुःखी होगे (यह प्राकृतिक नियम है) यदि आप अपने को दुःख से बचाना चाहते हों तो किसी भी व्यक्ति के साथ आसक्त न हों (आसक्ति ही उसके अभाव में दुःख का कारण हो जाती है) ।। २९ ।।

अथ देहास्थैर्यश्रद्धया च परपीडा न कार्येत्याह—

जन्मिनोऽस्य स्थितिं विद्वांल्लक्ष्मीमिव चलाचलाम् ।
भवान्मा स्म वधीन्न्याय्यं न्यायाधारा हि साधवः ।। ३० ।।

जन्मिन इति ।। अस्य जन्मिन उत्पत्तिधर्मिकस्य शरीरिणः । व्रीह्यादित्वादिनिः । स्थितिं लक्ष्मीमिव चलाचलां चञ्चलां जन्मिधर्मत्वादेव चलाम् । अनित्यामित्यर्थः । चलतेः पचाद्यच् । 'चरिचलिपतिवदीनां वा द्वित्वमच्याक्चाभ्यासस्येति वक्तव्यम्' इति द्विर्भावः । अभ्यासस्यागागमश्च । विद्वान् । जानन्नित्यर्थः । 'विदेः शतुर्वसुः' इति वैकल्पिको वसुरादेशः । भवान् । न्यायादनपेतं न्याय्यम् । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः । मा स्म वधीत् । मा नाशयेत्यर्थः । 'स्मोत्तरे लुङ् च' इति लुङ् । 'लुङि च' इति हनो वधादेशः । 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः । हि यस्मात्, साधवो न्यायाधारा न्यायावलम्बाः । बहुव्रीहिस्तत्पुरुषो वा । न्यायत्यागे साधुत्वमेव न स्यादिति भावः । 'न्यायाचाराः' इति पाठे न्यायमाचरन्तीति तथोक्ताः । कर्मण्यण् ॥ ३० ॥

जिस प्रकार लक्ष्मी चञ्चला है (स्थायी नहीं है) उसी प्रकार शरीरी (उत्पन्न होने वाले) भी स्थायी नहीं हैं (अनित्य हैं] (पता नहीं, कब रहा और कब नहीं रहा) अतः आप भी न्याय के गर्दन पर कुठाराघात न करें क्योंकि सज्जन पुरुष सर्वदा न्यायपथावलम्बी होते हैं ।। ३० ।।

तर्हि किं मे कर्तव्यं तत्राह—

विजहीहि रणोत्साहं मा तपः साधु नीनशः ।
उच्छेदं जन्मनः कर्तुमेधि शान्तस्तपोधन ! ।। ३१ ।।

विजहीहीति ॥ हे तपोधन! रणोत्साहं रणोद्योगम्। लोकोत्तरेषु कार्येषु स्थेयान्प्रयत्न उत्साहस्तं विजहीहि त्यज। 'आ च हौ' इतीकारः। साधु समीचीनम्। निःश्रेयसकरत्वादिति भावः। तपो मा नीनशो न नाशय। नश्यतेर्ण्यन्तान्माङ्योगादा- शिषि लुङ् अडागमनिषेधश्च। किंतु जन्मन उच्छेदं कर्तुम्। मोक्षं साधयितुमित्यर्थः। शान्त एधि। विजिगीषानिवृत्तो भवेत्यर्थः। 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इति धिः। 'घ्वसोरेद्धा- वभ्यासलोपश्च' इत्येकार इति ॥ ३१ ॥

कदाचिद् अर्जुन यह कहें कि फिर मेरा कर्तव्य क्या है ? अतः इन्द्रदेव निम्नाङ्कित रीति से उनके कर्तव्य का उपदेश कर रहे हैं :—

अये तपस्विन्! युद्धविषयक उद्योग से पराङ्मुख हो जाओ। अपनी तपश्चर्या को खण्डित न करो। किन्तु जन्म-मरण से मुक्त होनेके लिए शम का आश्रय लेकर जय की अभिलाषा का परित्याग कर दो ॥ ३१ ॥

अथ सर्वथा मे विजयकण्डूतिः न निवर्तत इत्याशङ्क्य तर्ह्यन्तःशत्रुविजयेन विधीयतां तदपनोद इत्याह—

जीयन्तां दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः।
जितेषु ननु लोकोऽयं तेषु कृत्स्नस्त्वया जितः ॥ ३२ ॥

जीयन्तामिति ॥ दुर्जया अजय्याः। चक्षुरादयो देहे वर्तमाना रिपवो जीयन्ताम्। यस्मात् तेषु अन्तःशत्रुषु जितेषु सत्सु त्वयाऽयं कृत्स्नो लोको जितो ननु। किमुतान्ये शत्रवस्तदन्तर्गता इत्यर्थः। जितेन्द्रियस्येन्द्रियार्थनिःस्पृहस्य निर्भरवैरानुदयाद्विजयव्य- पदेशः ॥ ३२ ॥

अर्जुन यह भी कह सकते थे कि क्या करें, विजयाभिलाषिता बड़ी प्रबल है, मानती नहीं, इसलिए इन्द्रने फिर कहा :—

यदि तुम्हें जीतने की इच्छा हो तो चक्षु, श्रोत्रादि इन्द्रियाँ जो अजेय शत्रु हैं उन्हें जीतो। इन सबों के जीत लेनें पर तुम सारा संसार जीत लोगे ॥ ३२ ॥

अजितेन्द्रियस्यानिष्टमाचष्टे—

परवानर्थसंसिद्धौ नीचवृत्तिरपत्रपः।
अविधेयेन्द्रियः पुंसां गौरिवैति विधेयताम् ॥ ३३ ॥

परवानिति ॥ अर्थसंसिद्धौ अभ्यवहारादिस्वार्थसाधके परवान् पराधीनः। 'पर- तन्त्रः पराधीनः परवान्' इत्यमरः। नीचवृत्तिः कर्षणवहनादिनिकृष्टकर्मा। अपत्रपो निर्लज्जोऽविधेयेन्द्रियोऽजितेन्द्रियः पुमान् गौर्बलीवर्द इव पुंसां विधेयतां यथोक्तका- रिताम्। प्रेष्यतामिति यावत्। 'विधेयो विनयग्राही वचने स्थित आश्रवः' इत्यमरः।

एति प्राप्नोति। उपमालंकारोऽयम्—'प्रकृताप्रकृतयोरर्थसाधर्म्यात् श्लेषे तु शब्दमात्रसाधर्म्यम्' इति ॥' ३३ ॥

द्रव्योपार्जन में मनुष्य को पराधीन रहना पड़ता है। नीचवृत्ति का अवलम्बन करना पड़ता है; निर्लज्ज बनना पड़ता है; अजितेन्द्रिय होकर रहना पड़ता है। पुरुषों की ठीक बैल की दशा हो जाती है ॥ ३३ ॥

न केवलं हिंसादिदोषमूलत्वाद्विषयाणां हेयत्वम्, किन्तु अपारमार्थिकत्वादपीत्याह—

श्वस्त्वया सुखसंवित्तिः स्मरणीयाऽधुनातनी।
इति स्वप्नोपमान् मत्वा कामान् मा गास्तदङ्गताम् ॥ ३४ ॥

श्व इति ॥ अधुना भवा अधुनातनी इदानींतनी। 'सायंचिरं—' इत्यादिना ट्युप्रत्ययः। सुखसंवित्तिः सुखानुभवः श्वः परेऽहनि त्वया स्मरणीया। न त्वनुभवनीया। इति हेतोः। काम्यन्त इति कामा विषयास्तान्। स्वप्नोपमान् स्वप्नतुल्यान्। मत्वाऽतात्त्विकान्निश्चित्य तदङ्गतां तच्छेषत्वं कामपरतन्त्रतां मा गा न गच्छ। 'इणो गा लुङि' इति गादेशः ॥ ३४ ॥

आज का सुखोपभोग दूसरे दिन के लिये केवल स्मरणीय रह जाता है अतः विषयोपभोगों को स्वप्न के तुल्य समझ कर अपने को उन (विषयों) का अङ्ग (अवयव) मत बनाओ ॥ ३४ ॥

अतो हेयाः कामा इत्याह—

श्रद्धेया विप्रलब्धारः प्रिया विप्रियकारिणः।
सुदुस्त्यजास्त्यजन्तोऽपि कामाः कष्टा हि शत्रवः ॥ ३५ ॥

श्रद्धेया इति ॥ श्रद्धातुमर्हा श्रद्धेया विश्वसनीयास्तथा विप्रलब्धारः प्रतारकाः। विश्वासघातका इत्यर्थः। तथा, प्रीणयन्तीति प्रियाः प्रीतिजनकाः। 'इगुपध—' इत्यादिना कप्रत्ययः। तथापि विप्रियकारिणो दुःखजननशीलाः। किंच, त्यजन्तोऽपि पुरुषं विहाय गच्छन्तोऽपि सुदुस्त्यजाः स्वयत्नेन त्यक्तुमशक्याः कामा विषयाः कष्टाः कुत्सिताः शत्रवो हि प्रसिद्धशत्रवः। वैधर्म्यादिति भावः। अत्र श्रद्धेयत्वादीनां विप्रलम्भकत्वादीनां चैकत्र विरोधो विषयस्वाभाव्येन समाधीयत इति विरोधाभासोऽलंकारः। तेन च कामानां प्रसिद्धशत्रुवैधर्म्यं व्यतिरेकेण व्यज्यत इत्यलंकारेणालंकारध्वनिः ॥ ३५ ॥

और अन्य प्रकार के शत्रुओं का परित्याग करके कष्ट से छुटकारा मिल सकता है, परन्तु काम, क्रोधादिक शत्रु बड़े विलक्षण हैं :—

इन कामादि शत्रुओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाय तो भी ये ठगने में देर नहीं

लगाते। ये प्रिय (अभीष्ट) होते हुये भी अपकारक हैं। इनका परित्याग करके दूर भागना चाहें तो भी ये पिण्ड नहीं छोड़ते, ये महान् कष्टप्रद शत्रु हैं ॥ ३५ ॥

तर्हि किं कर्तव्यमित्याशङ्क्योपसंहरन्नाह—

विविक्तेऽस्मिन्नगे भूयः प्लाविते जह्नुकन्यया।
प्रत्यासीदति मुक्तिस्त्वां पुरा मा भूरुदायुधः ॥ ३६ ॥

विविक्त इति ॥ विविक्ते विजने। 'विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः' इत्यमरः। जह्नुकन्यया गङ्गया भूयो भूयिष्ठं पुनः पुनर्वा। 'भूयः पुनः पुनः ख्यातं भूतार्थे पुनरव्ययम्' इति विश्वः। प्लाविते सिक्ते। 'पाविते' इति पाठे पवित्रीकृत इत्यर्थः। अस्मिन्नग इन्द्रकीले त्वां मुक्तिः पुरा निकटे प्रत्यासीदति। संनिकृष्टा भविष्यतीत्यर्थः। 'पुरा पुराणे निकटप्रबन्धातीतभाविषु' इति विश्वः। उदायुधो गृहीतशस्त्रो मा भूः। शस्त्रं विमुञ्चेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

मुक्ति के विषय में यदि 'अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्' इसका ध्यान किया जाय तो फिर इस जन्म में मुक्ति मिलना टेढ़ी खीर है, ऐसा नहीं, बहुत सरल है :—

इस निर्जन पर्वत पर, जो जाह्नवी के द्वारा बार बार सेचन कर दिया जाता है, मुक्ति तुम्हारे सम्मुख स्वयं उपस्थित हो जायगी, शस्त्रधारी मत बनो [शस्त्रों का परित्याग कर दो]॥ ३६॥

व्याहृत्य मरुतां पत्याविति वाचमवस्थिते।
वचः प्रश्रयगम्भीरमथोवाच कपिध्वजः ॥ ३७ ॥

व्याहृत्येति ॥ मरुतां पत्यौ देवेन्द्रे, इति वाचं व्याहृत्य उक्त्वा, अवस्थिते सति तूष्णीं स्थिते सति। अथ कपिध्वजोऽर्जुनः प्रश्रयगम्भीरं विनयमधुरम्। 'विनयप्रश्रयौ समौ' इति यादवः। वच उवाच उक्तवान् ॥ ३७ ॥

उपर्युक्त प्रकार से उपदेश कर सुरराज के मौन धारण कर लेने पर अर्जुन ने विनयपूर्वक मधुर वाणी में उत्तर दिया ॥ ३७ ॥

किमुवाचेत्यपेक्षायां चतुर्भिरिन्द्रवाक्यमुपश्लोकयन्नाह—

प्रसादरम्यमोजस्वि गरीयो लाघवान्वितम्।
साकाङ्क्षमनुपस्कारं विष्वग्गति निराकुलम् ॥ ३८ ॥

प्रसादेति ॥ प्रसादोऽत्र प्रसिद्धार्थपदत्वं तेन रम्यम्। 'प्रसिद्धार्थपदत्वं यत्स प्रसादो निगद्यते' इति लक्षणात्। ओजस्वि समासभूयिष्ठम्। 'ओजः समासभूयस्त्वम्' इति शासनात्। गरीयोऽर्थभूयस्त्वपरिगतम्। न तु शब्दाडम्बरमात्रमित्यर्थः। लाघवान्वितं विस्तरदोषरहितम्। साकाङ्क्षम् आकाङ्क्षावत्पदकदम्बात्मकम्। न तु

दशदाडिमादिवाक्यवदनाकाङ्क्षितमित्यर्थः । अनुपस्कारं अध्याहारदोषरहितम् । विष्वग्गति कृत्स्नार्थप्रतिपादकम् । न तु सावशेषार्थमत एव निराकुलमसंकीर्णार्थम् ॥ ३८ ॥

समासों का प्राचुर्य रहने के कारण यह [वाक्य] ओजस्वी है। अर्थ गुरुता-पूर्ण है। अधिक दोष से बचा हुआ है। इसके पद परस्पर साकांक्ष हैं। न कि 'दश दाडिमानि षडपूपाः' की तरह निराकांक्ष हैं अध्याहार दोष से भी मुक्त है। पूर्ण अर्थ प्रतिपादक हैं। अर्थ भी इसका संकुचित नहीं है ॥ ३८ ॥

न्यायनिर्णीतसारत्वान्निरपेक्षमिवागमे ।
अप्रकम्प्यतयाऽन्येषामाम्नायवचनोपमम् ॥ ३९ ॥

न्यायेति ॥ पुनः, न्यायेन युक्त्या निर्णीतसारत्वान्निश्चितार्थत्वाद्धेतोः, आगमे शास्त्रे विषये निरपेक्षं स्वतन्त्रमिव । युक्तिदार्ढ्यादेवं प्रतीयते । वस्तुतस्तु शास्त्रसिद्धार्थमिवेति 'इव'शब्दार्थः । किंच, अन्येषां प्रतिवादिनाम् । अप्रकम्प्यतयाऽनुमानादिभिरबाध्यत्वादप्रत्याख्याततया आम्नायवचनोपमम् । वेदवाक्यतुल्यमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

युक्तिपूर्वक इसका तत्त्व निर्णय कर दिया गया है। अतएव इसके लिए शास्त्रप्रमाण की भी आवश्यकता नहीं। तर्क के द्वारा अखण्ड है इसलिये वेद-वाक्य सदृश है ॥ ३९ ॥

अलङ्घ्यत्वाज्जनैरन्यैः क्षुभितोदन्वदूर्जितम् ।
औदार्यादर्थसंपत्तेः शान्तं चित्तमृषेरिव ॥ ४० ॥

अलङ्घ्यत्वादिति ॥ अन्यैर्जनैरलङ्घ्यत्वाद अनुलङ्घनीयत्वात् । क्षुभितोदन्वदूर्जितम् उद्वेलाम्भोधिगम्भीरम् । औदार्यादुक्तिविशेषत्वात् । श्लाघ्यविशेषणत्वाद्वा । तदुक्तं दण्डिना—'उत्कर्षवान्गुणः कश्चिदुक्ते यस्मिन्प्रतीयते । तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः । श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते ॥' इति अग्राम्यार्थत्वात्' इति केचित् । अन्यत्र—त्यागित्वादित्यर्थः । अर्थसंपत्तेः प्रयोजनसंपत्तेः । अन्यत्र—अणिमादिसमृद्धेः ऋषेर्मुनेश्चित्तमिव शान्तं सौम्यम् ॥ ४० ॥

इतर लोगों के लिये अनुल्लंघ्य है अतः उद्वेलित जलराशि [समुद्र] के समान है। उत्कर्षगुणोंसे युक्त होने से ऋषि-महर्षियों के चित्त की तरह शान्त है ॥ ४० ॥

इदमीदृग्गुणोपेतं लब्धावसरसाधनम् ।
व्याकुर्यात्कः प्रियं वाक्यं यो वक्ता नेदृगाशयः ॥ ४१ ॥

इदमिति ॥ इदमीदृग्गुणोपेतं यथोक्तगुणयुक्तम् । इदमुपपदाद् दृशेः क्विप् । 'इदंकिमोरीश्की' इतीशादेशः । लब्धे प्राप्तेऽवसरसाधने कालोपायौ येन तत् प्रियं प्रीतिकरं वाक्यं को वक्ता व्याकुर्यात् व्याहरेत् । यो वक्ता सोऽनीदृगाशय ईदृग्विवक्षायाम् न भवति । अबुद्धिरित्यर्थः । तस्यार्थस्य वक्तुमशक्यत्वादिति भावः ॥ ४१ ॥

कौन ऐसा वक्ता, जिसका अभिप्राय इस तरह का नहीं है ऐसा प्रिय वाक्य मुख से निकाल सकता है। इस वाक्य में जो पद-समूह आये हैं, प्रसिद्धार्थ-प्रतिपादक हैं अतएव यह वाक्य परम हृदयहारी है। सुअवसर प्राप्त होने पर कार्य का साधक भी है ।। ४१ ।।

एवमिन्द्रवाक्यमुपश्लोक्य नाहमस्योपदेशस्याधिकारीति परिहरति—

न ज्ञातं तात यत्नस्य पौर्वापर्यममुष्य ते।
शासितुं येन मां धर्मं मुनिभिस्तुल्यमिच्छसि ॥ ४२ ॥

नेति ॥ हे तात ! अमुष्य यत्नस्य तपोरूपस्यास्य मदीययोगस्य पूर्वं चापरं च पूर्वापरे। त एव पौर्वापर्यं कारणं फलं च। चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः। ते तव न ज्ञातम्। त्वया न ज्ञायत इत्यर्थः। 'मतिबुद्धि—' इत्यादिना वर्तमाने क्तः। तद्योगादेव षष्ठी। कुतः। येन कारणेन मां मुनिभिस्तुल्यं सदृशं धर्मं मोक्षधर्मं शासितुमुपदेष्टुम्। इच्छसि। शासिरयं दुहादित्वाद् द्विकर्मको ज्ञेयः ॥ ४२ ॥

हे तात ! आप मेरे इस उद्योग के विषय में आरम्भ से लेकर अन्त तक नहीं जानते हैं, यही कारण है कि आप मुझे मुनियों के सदृश धर्म का उपदेश करना चाहते हैं ॥ ४२ ॥

अथ पौर्वापर्यमज्ञात्वाप्युपदेशे दोषमाह—

अविज्ञातप्रबन्धस्य वचो वाचस्पतेरपि।
व्रजत्यफलतामेव नयद्रुह इवेहितम् ॥ ४३ ॥

अविज्ञातेति ॥ अविज्ञातः प्रबन्धः पूर्वापरसंगतिर्येन तस्य वाचस्पतेर्बृहस्पतेरपि। कस्कादित्वात्सः। अथवा—'षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु' इति सकारः। एतस्मादेव ज्ञापकादलुगिति केचित्। वच उपदेशो नयद्रुहो नीतिविरुद्धकारिणः पुरुषस्य। ईहितमुद्योग इव। अफलतां निष्फलत्वं व्रजत्येव गच्छत्येव ॥ ४३ ॥

पूर्वापर [प्रसङ्ग] जाने बिना बृहस्पति का वाक्य भी उसी तरह विफल हो जाता है जिस तरह नीति-विरुद्ध किया गया उद्योग विफल हो जाता है ॥ ४३ ॥

ननु सदुपदेशस्य कुतो वैफल्यमित्याशङ्क्य सोऽप्यस्थाने प्रयुक्तश्चेदूषरक्षेत्रे शालिबीजवद्विफल एवेत्याशयेनाह—

श्रेयसोऽप्यस्य ते तात वचसो नास्मि भाजनम्।
नभसः स्फुटतारस्य रात्रेरिव विपर्ययः ॥ ४४ ॥

श्रेयस इति ॥ हे तात ! 'पुत्रे पितरि पूज्ये च तातशब्दं प्रचक्षते' इति। श्रेयसोऽपि हितार्थयोगात्प्रशस्ततरस्यापि। अस्य ते तव वचसो हितोपदेशरूपस्य रात्रेर्विपः-

यंयो दिवसः स्फुटतारस्य व्यक्ततारकस्य नभस इव भाजनं पात्रं नास्मि। अनधिकारित्वादिति भावः। अत्राह्नो नभोमात्रसंबन्धसंभवेऽपि तारासंबन्धासंभवात्तद्विशिष्टनभःसंबन्धविरोधादुक्तं तारकितस्य नभसो न पात्रमहरिति ॥ ४४ ॥

हे तात ! यद्यपि आपका यह वचन कल्याणकारक है तथापि मैं इसका पात्र नहीं हूँ, क्योंकि नक्षत्रराशि-विशोभित आकाश रात्रि के विपरीत [दिन] में नहीं होता [दिन में अधिक तारों का होना असम्भव है] दिन में तारे भले ही हों परन्तु दृष्टिगोचर नहीं होते हैं ॥ ४४ ॥

कुतस्ते मोक्षोपदेशानधिकारित्वम्, किंच, ते तपसः पौर्वापर्यं कथं न जाने इत्याशङ्क्य तत्सर्वं स्वजात्यादिकथनपूर्वकं निरूपयति—

क्षत्त्रियस्तनयः पाण्डोरहं पार्थो धनंजयः।
स्थितः प्रास्तस्य दायादैर्भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासने ॥ ४५ ॥

क्षत्त्रिय इति ॥ अहं क्षत्त्रियः क्षत्त्रियकुले जातः। तत्रापि महाकुले प्रसूतः, वीरसंतानश्चेत्याह— पाण्डोस्तनय इति। तत्रापि कौन्तेयोऽस्मि, न माद्रेय इत्याह—पार्थ इति। पृथा कुन्ती, तत्सुतः पार्थः। 'तस्यापत्यम्' इत्यण्। अर्जुनोऽहं महावीरश्चेत्याह— धनंजय इति। उत्तरकुरून्विजित्य धनाहरणाद्धनंजयोऽस्मीत्यर्थः। 'खचि मुमागमः' इत्युक्तं प्राक्। धनंजय इत्युक्ते शरीरस्थो वायुः सर्पविशेषो वा स्यात्तदर्थः पार्थः, गन्धर्वोपि कश्चित्पृथासुतोऽस्ति तदर्थं पाण्डोः सुतः, नैमिषारण्ये पाण्डुविप्रस्तत्पत्नी पृथा नाम काचिद् ब्राह्मणी तत्पुत्रोऽपि स्यात्तदर्थं क्षत्त्रिय इति। अथैवं चेत्किमर्थं तर्हि तपस्यसि, मोक्षार्थं वा किं न तपस्यसि, तत्राह—स्थित इति। दायं पैतृकं धनमाददत इति दायादा ज्ञातयः। 'दायादा ज्ञातिपुत्रयोः' इति, 'विभक्तव्यं पितृद्रव्यं दायमाहुर्मनीषिणः' इति च विश्वः। 'स्वामीश्वरादि'सूत्रेण सोपसर्गादपि दायादेति कप्रत्ययान्तो निपातनात्साधुः। तैः, प्रास्तस्य राज्यान्निरस्तस्य। वैरिनिर्यातनार्थिन इत्यर्थः। ज्येष्ठस्य भ्रातुर्युधिष्ठिरस्य। 'वृद्ध'शब्दादिष्ठन्प्रत्ययः। वृद्धस्य च ज्यादेशः। शासने निदेशे स्थितः। तदाज्ञया तपस्यामीत्यर्थः। अन्यथा मानहानिः सौभ्रात्रभङ्गः पूज्यपूजाव्यतिक्रमदोषश्च स्फुरतीति भावः। अत एव हिंसैकरसस्य रागद्वेषकषायितचेतसः कुतो मे मोक्षाधिकार इति तात्पर्यार्थः। सार्थविशेषणत्वात्परिकरालंकारः ॥४५॥

मैं क्षत्त्रिय हूँ। पाण्डु का पुत्र तथा पृथापुत्र हूँ। धनञ्जय मेरा नाम है। अपने दायादों के द्वारा निर्वासित हूँ। अपने ज्येष्ठ भ्राता [युधिष्टिर] की आज्ञा पालन के लिये तय्यार रहता हूँ। जितने विशेषण यहाँ प्रयुक्त किये गये हैं सब साभिप्राय हैं। इन्द्र को पूर्वापर का ज्ञान कराने के लिये अर्जुन ने इस तरह का उत्तर दिया है। सर्वप्रथम अपनी जाति बतला कर परिचय दे रहे हैं। इससे भी उनके उच्चकुल में जन्म लेने के प्रमाण में न्यूनता देखकर उन्होंने अपने पिता पाण्डु का नाम लिया। इतने पर भी उत्तर

सन्देहग्रस्त हैं क्योंकि पाण्डु के दो स्त्रियाँ थीं माद्री और कुन्ती। दोनों में यह किसके पुत्र थे ? इस शंका को निरस्त करने के लिये इन्होंने 'पार्थ' शब्द से अपने को कुन्ती का पुत्र बतलाया। धनञ्जय शब्द विशेषित करके अपनी वीरता का परिचय दिये हैं क्योंकि उत्तर कुरुदेश निवासियों को जीत कर इन्होंने धन आहरण किया था। इसलिये धनञ्जय नाम से पुकारे जाते थे। 'मोक्ष का पात्र मैं नहीं हूँ किन्तु मैं विजयाभिलाषी हूँ' इस बात की पुष्टि में 'दायादैः प्रास्तस्य' इस पद से सूचित किया है। इन सब बातों के रहते हुए कदाचित् इन्द्रको यह शङ्का हो सकती थी कि कहीं सर्वतन्त्र (बिलकुल) स्वतन्त्र न हो इसलिये 'ज्येष्ठस्य भ्रातुः शासने स्थितः' इस पद से शंका का निराकरण कर देते हैं ॥ ४५ ॥

यदुक्तम्—'विरुद्धः केवलं वेषः' (श्लो० १४) इति तत्रोत्तरमाह—

कृष्णद्वैपायनादेशाद्बिभर्मि व्रतमीदृशम्।
भृशमाराधने यत्तः स्वाराध्यस्य मरुत्वतः ॥ ४६ ॥

कृष्णेति ॥ द्वीपोऽयनं जन्मभूमिर्यस्य स द्वीपायनः, स एव द्वैपायनो व्यासः। प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽण्प्रत्ययः। स एव कृष्णवर्णत्वात् कृष्णद्वैपायनश्च। तस्यादेशादुपदेशात्। ईदृशम्। विरुद्धवेषमित्यर्थः। व्रतं तपोनियमं बिभर्मि धारयामि। न तु स्वेच्छयेति भावः। अथोपास्यां देवतामाह—भृशमिति। स्वाराध्यस्य सुखमाराध्यस्य। प्रादिसमासः। 'स्वाराधस्य' इति पाठ उपसृष्टात्खल्प्रत्ययः। मरुत्वत इन्द्रस्य। भृशं सम्यक्। आराधने यत्तः प्रयत्नवानित्यर्थः। तस्य क्षत्रियदैवतत्वादिति भावः ॥ ४६ ॥

वेदव्यास की आज्ञा से इस प्रकार का व्रत कर रहा हूँ। मैं इन्द्र की आराधना समुचित रूप से करनेके लिये यत्नशील हूँ क्योंकि ये सुखपूर्वक अनुकूल किये जा सकते हैं ॥ ४६ ॥

ननु भवादृशभ्रातृसहायस्य महावीरस्य युधिष्ठिरस्य कथमरिपरिभवप्राप्तिरित्यत आह—

दुरक्षान्दीव्यता राज्ञा राज्यमात्मा वयं वधूः।
नीतानि पणतां नूनमीदृशी भवितव्यता ॥ ४७ ॥

दुरक्षानिति ॥ दुरक्षान्। कपटपाशकैरित्यर्थः। 'दिवः कर्म च' इति करणे कर्मसंज्ञा। दीव्यता क्रीडता। 'आहूतो न निवर्तेत द्यूतादपि रणादपि' इति शास्त्रात्। न तु व्यसनितयेति भावः। राज्ञा युधिष्ठिरेण राज्यं राष्ट्रम्, आत्मा स्वयं, वयं चत्वारोऽनुजाः, वधूर्जाया द्रौपदी च, पणतां ग्लहत्वम्। 'पणोऽक्षेषु ग्लहोऽक्षास्तु देवनाः पाशकाश्च ते' इत्यमरः। नीतानि। सर्वं द्यूते राज्ञा हारितमित्यर्थः। नीतानीति नपुंसकैकशेषः। नयतेर्द्विकर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि क्तः। ननु सर्वज्ञस्य

राज्ञः कथमियमविमृश्यकारिता तत्राह—भवितव्यताऽनर्थानामवश्यं भाविता। ईदृशी नूनं निश्चितम्। नात्र संशय इत्यर्थः। बुद्धिरपि भवितव्यतानुसारिण्येव, न स्वतन्त्रेत्यर्थः ॥ ४७ ॥

राजा युधिष्ठिर ने जुआ खेलते हुए राज्यको, स्वयं अपने को, हम लोगों को तथा सहधर्मिणी (स्त्री) को दाँव पर रख दिया। होनहार ऐसी ही थी (उनका क्या दोष?) ॥ ४७ ॥

ननु तथापि तवैव तेष्वासङ्गो न तेषां त्वयि तत्राह—

तेनानुजसहायेन द्रौपद्या च मया विना।
भृशमायामियामासु यामिनीष्वभितप्यते ॥ ४८ ॥

तेनेति ॥ अनुजाः सहजाताः सहाया यस्य तेन। अनुजयुक्तेनेत्यर्थः। तुल्ययोगः सहायार्थः। तेन युधिष्ठिरेण द्रौपद्या च मया विना। मद्विरहादित्यर्थः। आयामिनो दीर्घा यामाः प्रहरा यासां तास्तासु। दुःखितस्य तथाभावादिति भावः। यामिनीष्वभितप्यते। भावे लट्। तेषु मद्वत्तेषां मय्यप्यासङ्गान्न वैराग्यावकाश इत्यर्थः ॥४८॥

वे राजा युधिष्ठिर, जिनकी सहायता उनके भ्रातृवर्ग करते हैं, और श्रीमती द्रौपदी मेरे विना रात्रिकाल में अत्यन्त दुःखीं होती हैं तथा रात्रि की घड़ियाँ उनके लिए युगों के समान व्यतीत होती हैं ॥ ४८ ॥

अथ वैरिनिर्यातनस्यावश्यंभावद्योतनाय चतुर्भिः परापकृतिं दर्शयन् परनिकारान् वर्णयति—

हृतोत्तरीयां प्रसभं सभायामागतह्रियः।
मर्मच्छिदा नो वचसा निरतक्षन्नरातयः ॥ ४९ ॥

हृतेत्यादि ॥ अरातयः शत्रवः सभायां प्रसभं बलात्कारेण हृतोत्तरीयाम्, अत एव, आगतह्रियः संप्राप्तलज्जान् नोऽस्मान्। मर्मच्छिदा मर्मच्छेदिना वचसा निरतक्षन् अशातयन्। वस्त्राद्यपहारवाक्पारुष्याभ्यां तथा व्यथयामासुरित्यर्थः। 'तक्षण'शब्दसामर्थ्याद्वचसो वास्योपम्यं गम्यत इति वस्तुनालङ्कारध्वनिः ॥ ४९ ॥

शत्रुओं ने बलात्कार करके सभा में द्रौपदी के उत्तरीय वस्त्र को खींचा था जिससे हम लोग लज्जा में डूब से गए थे। (इतना ही नहीं बल्कि) मर्मस्पर्शी कटुवाक्यों से हम लोगों के हृदय को छील भी डाला था ॥ ४९ ॥

अथातिदुःसहनिकारान्तरमाह—

उपाधत्त सपत्नेषु कृष्णाया गुरुसन्निधौ।
भावमानयने सत्याः सत्यङ्कारमिवान्तकः ॥ ५० ॥

उपाधत्तेति ॥ अन्तको मृत्युः गुरुसंनिधौ भीष्मद्रोणादिसमक्षमेव सत्याः पतिव्रतायाः कृष्णाया द्रौपद्या आनयने केशाम्बरादिकर्षणे भावं चित्ताभिप्रायमितः परम-

ऽनेन पाण्डवाभिभवेनैतान् स्वनगरं नेष्यामीत्येवंभूत सत्यङ्कारमिव । क्रियतेऽनेनेति कारः । करणे घञ् । सत्यस्य कारः सत्यङ्कारः सत्यापनम् । चिकीर्षितस्य कार्यस्यावश्यं क्रियास्थापनार्थं परहस्ते यद्दीयते स सत्यङ्कारः । क्रयादौ सत्यदार्ढ्याय प्राग्दीयमानो मूल्यैकदेशश्च । 'क्लीवे सत्यापनं सत्यङ्कारः सत्याकृतिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । 'कारे सत्यागदस्य' इति मुमागमः । तमिव, सपत्नेषूपावत्त निहितवान् । तेषां विनाशकाले विपरीतबुद्धिमुत्पादितवानित्यर्थः ॥ ५० ॥

शत्रुओं के द्वारा बड़े लोगों के समक्ष पतिव्रता पाञ्चाली (द्रौपदी) के केश वस्त्रादि आहरण किये जाते समय मृत्यु ने यह निश्चय कर लिया कि इन्हें (कौरवों को) भी हम अपने नगर में घसीट ले जायेंगे ॥ ५० ॥

केनेयमाकृष्टा, सभ्यैर्वा किं कृतं तत्राह—

तामैक्षन्त क्षणं सभ्या दुःशासनपुरःसराम् ।
अभिसायार्कमावृत्तां छायामिव महातरोः ॥ ५१ ॥

तामिति ॥ दुःशासनः पुरःसरो यस्यास्तां तथोक्ताम् । दुःशासनेन सभां प्रत्याकृष्यमाणामित्यर्थः । 'अनुपसर्जनात्' इति न ङीप् । तां कृष्णाम् । सभायां साधवः सभ्याः । 'सभाया यः' इति यप्रत्ययः । अभिसायार्कं दिनान्तसूर्याभिमुखम् । स्थितस्येति शेषः । 'सायो नाशदिनान्तयोः' इति विश्वः । 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' इत्यव्ययीभावः । महातरोः संबन्धिनीम्, आवृत्तां छायामिव तां कृष्णां क्षणमैक्षन्त । न चिरं जुगुप्सितत्वात् । नापि किंचिद्व्याप्रियन्त माध्यस्थ्यभङ्गभयात् । ते त्वकिंवदेव साक्षित्वमात्रमास्थिता इत्यर्थः । अत्राकृष्यमाणायाः कृष्णाया आक्रष्टारं प्रति पराङ्मुखत्वादावृत्तच्छायौपम्यम् । तथापि तां न मुञ्चन्तीति दुःशासनस्य तरुसाम्यम् ॥ ५१ ॥

दुश्शासन के द्वारा सभा में आकृष्यमाण द्रौपदी को सायङ्काल के समय विशाल वृक्ष की आवृत्त छाया की तरह उन सभ्यों (भीष्म, द्रोण प्रभृति) ने क्षण मात्र देखा ॥ ५१ ॥

अथास्यास्तादात्विकमायथार्थ्यं वर्णयति—

अयथार्थक्रियारम्भैः पतिभिः किं तवेक्षितैः ।
अरुध्येतामितीवास्या नयने बाष्पवारिणा ॥ ५२ ॥

अयथार्थेति ॥ अयथार्था मिथ्याभूताः क्रियारम्भाः 'पतिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतकर्मोद्योगाः येषां तैः । तामरक्षद्भिरित्यर्थः । तव संबन्धिभिः । पान्ति रक्षन्तीति पतयो भर्तारः । 'पातेर्डतिः' इत्यौणादिको डतिप्रत्ययः । तैः, ईक्षितैरवेक्षितैः किम् । न किंचित्फलमस्तीत्यर्थः । इतीव इत्थं विचार्येवेत्युत्प्रेक्षा । बाष्पवारिणाऽस्याः कृष्णाया नयने अरुध्येतामावृते । रुधेः कर्मणि लङ् । अशरणा रुरोदेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

पति शब्द पा रक्षणे धातु से 'डति' प्रत्यय करके सिद्ध होता है इसलिये इसका अर्थ 'रक्षा करने वाला' होता है ; 'पति शब्द के अर्थ के अनुकूल कार्य्य न करनेवाले इन पतियों को तुम्हारे देखते रहने से क्या प्रयोजन ?' इस बातको सोचकर द्रौपदी के नेत्र अश्रुधाराओं से परिप्लुत हो गये थे अर्थात् द्रौपदीने यह सोचा कि ये पतिदेव लोग मेरी रक्षा करने में विवश हैं अतः इनकी ओर रक्षार्थ देखने से क्या प्रयोजन ?॥ ५२ ॥

ननु भवद्भिः किमर्थमसमर्थैरिवोपेक्षितं तत्राह—

सोढवान्नो दशामन्त्यां ज्यायानेव गुणप्रियः ।
सुलभो हि द्विषां भङ्गो दुर्लभा सत्स्ववाच्यता ॥ ५३ ॥

सोढवानिति ॥ गुणाः प्रिया यस्य स गुणप्रियः प्रियगुणः । 'वा प्रियस्य' इति परनिपातः । ज्यायान् अग्रजो युधिष्ठिर एव । 'वृद्ध'शब्दादीयसुनि 'ज्यायादीयसः' इत्याकारादेशः । नोऽस्माकम् । अन्ते भवाम्, अन्त्यां निकृष्टां दशामवस्थां सोढवान्, न तु वयम् । किन्तु तदवरुद्धा इति भावः । ननु शत्रूपेक्षा महाऽनर्थकारिणीत्याशङ्क्याह—सुलभ इति । द्विषां विद्विषां भङ्गः सुलभः । कालान्तरेऽपीति शेषः । सत्सु सज्जनेषु । अवाच्यतानिन्द्यता दुर्लभा, न तु शत्रूपेक्षा । हि प्रसिद्धौ । शत्रूपेक्षातो लोकापवाद एव वलवान् । तस्योत्पन्नस्य पुनरप्रतिविधेयत्वात्, स च समयोल्लङ्घने स्यादेवेति भावः ॥ ५३ ॥

हम लोगों के ज्येष्ठ भ्राता ने ही जो गुण के पक्षपाती हैं हम लोगों की दुर्दशा को सह लिया । शत्रु का नाश करना कोई बड़ी बात नहीं किन्तु सज्जनविषयिणी निन्दा (जुगुप्सा) दुर्लभ है ॥ ५३ ॥

ननु शत्रुवधे राज्ञां को नामापवादः प्रत्युत कीर्तिरेवेत्याशङ्क्य, सत्यं स एव समयोल्लङ्घनकलङ्कितकीर्त्या महानिन्दानिदानमित्याशयेनाह—

स्थित्यतिक्रान्तिभीरूणि स्वच्छान्याकुलितान्यपि ।
तोयानि तोयराशीनां मनांसि च मनस्विनाम् ॥ ५४ ॥

स्थितीति ॥ तोयराशीनां समुद्राणां तोयानि मनस्विनां मनांसि च स्थित्यतिक्रान्तेर्मर्यादोल्लङ्घनाद्धेतोः भीरूणि, अत एव, आकुलितानि संक्षोभितान्यपि स्वच्छानि अकलुषाणि । न त्वरन्त इत्यर्थः । मनस्व्ययं युधिष्ठिर इति भावः । अत्र तोयानां सामान्यतो मनस्विनां चापकृतानामेव गुणतौल्यादौपम्यस्य गम्यतया तुल्ययोगितालङ्कारः । गुणश्चात्र भीरुत्वं स्वच्छता च ॥ ५४ ॥

जल की राशि समुद्र का जल और मनस्वियों के मन मर्यादा के उलंघन होने के भय से क्षुब्ध हो जाते हैं तथापि कलुषित नहीं होते (किन्तु स्वच्छ ही रह जाते हैं) ॥ ५४ ॥

नन्वजातशत्रोः स्वजनवैरे किं कारणमित्याशङ्क्यास्मत्सौहार्दमेवेत्याह—

धार्तराष्ट्रैः सह प्रीतिर्वैरमस्मास्वसूयत ।
असन्मैत्री हि दोषाय कूलच्छायेवसेविता ॥ ५५ ॥

धार्तराष्ट्रैरिति । धार्तराष्ट्रैर्धृतराष्ट्रपुत्रैः सह प्रीतिः सौहार्दमेव, अस्मासु विषये वैरमसूयत सूतवती । सूयतेर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । ननु सौहार्दं वैरजनकं चेद्विप्रतिषिद्धं तत्राह—असदिति । हि यस्मात्, असन्मैत्री दुर्जनेन सङ्गतिः कूलस्यासन्नपातस्य नदीतटस्य छायेव सेविता श्रिता सती दोषायानर्थाय भवति । न खलु दुर्जनः सुजनवन्मित्रद्रोहपातकं पश्यतीति भावः । उपमाप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यासलङ्कारः ॥ ५५ ॥

अजातशत्रु होते हुए भी युधिष्ठिर के जो शत्रु हो गये हैं उसमें हम लोगों की शत्रुविषयक आसक्ति ही कारण है—

धृतराष्ट्र की सन्तानों के साथ हम लोगों का प्रेमव्यवहार ही शत्रुता की उत्पत्ति का कारण है। क्योंकि दुष्टों की मित्रता नदी के तट प्रदेश की छाया के समान है जिसके सेवन से भयङ्कर अनर्थ होने की सम्भावना बनी रहती है ॥ ५५ ॥

नन्वादावेव तेषां वृत्तमविज्ञाय कथं मैत्री कृतेत्याशङ्क्य—किं कुर्मः, दुर्जनवृत्तं दुर्विज्ञेयमित्याह—

अपवादादभीतस्य समस्य गुणदोषयोः ।
असद्वृत्तेरहो वृत्तं दुर्विभावं विधेरिव ॥ ५६ ॥

अपवादादिति ॥ अपवादात् जनाक्रोशात् । अभीतस्य । अजुगुप्समानस्येत्यर्थः । गुणदोषयोः समस्य तुल्यबुद्धेः । निग्रहानुग्रहौ गुणदोषयोरननुरुन्धत इत्यर्थः । विधावप्येतद्विशेषणं योज्यम् । अहो ! असद्वृत्तेर्दुराचारस्य धूर्तस्य । वृत्तमीहितं विधेर्दैवस्य वृत्तमिव दुर्विभावं विभावयितुमशक्यम् । किंतु कार्यैकसमधिगम्यमित्यर्थः । भवतेर्ण्यन्तात्कृच्छ्रार्थे खल्प्रत्ययः ॥ ५६ ॥

पहले ही से उन सबों के गुण-दोष का विचार करके हम लोग मित्रता किये होते तो यह दशा न उपस्थित होती परन्तु करें क्या ? धूर्त (दुराचारी) लोग तो लोकापवाद से कभी भयभीत नहीं होते उनके लिए गुण और दोष दोनों बराबर हैं जिस तरह भाग्य का पता नहीं चलता उसी तरह दुर्जनों के चेष्टित विचार का पता नहीं चलता ॥ ५६ ॥

नन्वेवं मानी कथं परिभूतो जीवसि तत्राह—

ध्वंसेत हृदयं सद्यः परिभूतस्य मे परैः ।
यद्यमर्षः प्रतीकारं भुजालम्बं न लम्भयेत् ॥ ५७ ॥

ध्वंसेतेति ॥ परैः शत्रुभिः परिभूतस्य मे हृदयं सद्यो ध्वंसेत । भ्रश्येदित्यर्थः ।

अमर्षः कर्ता प्रतीकारं प्रतिक्रियारूपं भुजालम्बं हस्तावलम्बनं न लम्भयेन्न प्राहयेद्यदि। हृदयेनेति शेषः। सत्यं जीवामि प्रतिविधित्सया। न तु निर्लज्जतयेति भावः॥ ५७॥

मानी पुरुष मानहानि की अपेक्षा प्राणहानि को अच्छा समझता है परन्तु करे क्या? शत्रु से तिरस्कृत होकर हम लोगों का हृदय शीघ्र ही खण्ड-खण्ड हो जाता (इसमें कोई सन्देह नहीं) परन्तु यदि क्रोध (अमर्ष) प्रतिकार स्वरूप होकर सहारा न देता तो॥ ५७॥

ननु तवैव कोऽयमभिमानस्तत्राह—

अवधूयारिभिर्नीता हरिणैस्तुल्यवृत्तिताम्।
अन्योन्यस्यापि जिह्रीमः किं पुनः सहवासिनाम्॥ ५८॥

अवधूयेति॥ अरिभिरवधूय परिभूय हरिणैर्मृगैस्तुल्यवृत्तितां तुल्यजीवनत्वम्। वन्याहारतामित्यर्थः। नीताः प्रापिता वयम्। पश्चापीति शेषः। अन्योन्यस्यापि जिह्रीमो लज्जामहे। सहवासिनां सहचारिणां किं पुनः। प्रागेव जिह्रीम इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः। क्रियायोगे संबन्धसामान्ये षष्ठी। अत्र वयं पश्चापि तुल्याभिमाना एव। इदं तु मदेकसाध्यं कर्मेति मुनिशासनान्मयानुष्ठीयत इति भावः॥ ५८॥

शत्रुओं से तिरस्कृत होकर हम लोगों की दशा ठीक वन्य पशुओं की सी हो गयी है हम लोग परस्पर पाँचों भाई एक दूसरे से लज्जित होते हैं यदि सहचर वर्गों (मित्रों) का सामना पड़ता हैं तो कहना ही क्या? (अर्थात् वन्य पशु पत्र-पुष्प-फलाहारादि से जीवन-यात्रा करते हैं हमलोग भी वही करते हैं)॥ ५८॥

ननु तर्हि दुःखैकनिदानमन्तःशत्रु मान एव त्यज्यतामित्याशङ्क्य तत्त्यागे दोषमाह—

शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वाल्लघीयसः।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः॥ ५९॥

शक्तीति॥ शक्तिवैकल्येनोत्साहादिशक्तिवैधुर्येणाऽवष्टम्भसामर्थ्यविरहेण च नम्रस्य प्रह्वीभूतस्य विधेयभूतस्य च निःसारत्वात् दुर्बलत्वात् स्थिरांशरहितत्वाच्च। 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमरः। लघीयसो गौरवहीनस्य। नीरसस्येत्यर्थः। मानहीनस्य जन्मिनो जन्तोः। व्रीह्यादित्वादिनिः। तृणस्य च गतिरवस्था समा इति। मानहीनस्य तृणादपि निकृष्टत्वान्न त्याज्यो मान इति भावः। श्लेषालंकारोऽयं तदनुप्राणितेयमुपमेत्यनेकार्थदीपिकेति व्यज्यते॥ ५९॥

इस दुर्दशा का कारण मान ही यदि हो तथापि हम लोग इसे नहीं छोड़ सकते क्योंकि—मान का परित्याग करने पर उत्साहादि शक्तियों से शून्य तथा साररहित होने के कारण गौरवहीन पुरुष तृण के समान हो जाता है॥ ५९॥

मानत्यागे दोषमुक्त्वा तत्सद्भावे षड्भिर्गुणमाह—

अलङ्घ्यं तत्तदुद्वीक्ष्य यद्यदुच्चैर्महीभृताम्।
प्रियतां ज्यायसीं मागान्महतां केन तुङ्गता॥ ६०॥

अलङ्घ्यमिति ॥ महीभृतां पर्वतानां संबन्धि यद्यत् शृङ्गादिकम् । उच्चैरुन्नतं तत्तदलङ्घ्यमुद्वीक्ष्योत्प्रेक्ष्य । तर्कयित्वेति यावत् । महतां महात्मनां तुङ्गता मानौन्नत्यं ज्यायसीं प्रियतां प्रियत्वं केन हेतुना मागात् । न केनापि प्रियत्वं गच्छत्वेवेत्यर्थः । आशिषि माङि लुङ् । अटोऽपवादः । दैवमनिच्छन्नपीच्छामुत्पादयत्यौषधवदस्मिन्नर्थे इत्याशंसनार्थमाशीः प्रयोगः । 'उद्वीक्ष्येत्यसमानकर्तृकत्वनिर्देशः क्वचित्प्रयोगदर्शनात्सोढव्यः । केचित् 'उद्वीक्ष्यम्' इति पठन्ति । तत्र यद्यदुच्चैस्तत्तलङ्घ्यमुद्वीक्ष्यमवलोकनीयं न चोल्लङ्घनीयमिति । अतो महतामित्यादि योजयन्ति ॥ ६० ॥

मान के परित्याग में दोष तो हैं ही परन्तु मान रहने में गुण भी बहुत से हैं—

उन्नत होने के ही कारण पर्वत अलङ्घ्य हैं अर्थात् उन्हें कोई उल्लंघन नहीं कर सकता तो फिर कौन सा ऐसा कारण है—'जो औनत्य बड़े लोगों के लिये प्रिय न होगा ?' ॥६०॥

तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः ।
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते ॥ ६१ ॥

तावदिति ॥ किंच, तावदेवासौ लक्ष्म्याऽऽश्रीयते । तावदस्य पुंसो यशः स्थिरम् । तावदेव असौ पुरुषः । पुरुषत्वेन गण्यत इत्यर्थः । यावत् मानादभिमानात् । न हीयते न भ्रश्यति । मानहीनस्य न किंचिच्छुभमस्तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

तभी तक पुरुष लक्ष्मी का आश्रय बना रहता है, तभी तक उसका यश स्थिर रहता है, और तभी तक वह पुरुष है जब तक मान का परित्याग नहीं करता (जहाँ मान को छोड़ा कि गया) ॥ ६१ ॥

स पुमानर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुरःस्थिते ।
नान्यामङ्गुलिमभ्येति संख्यायामुद्यताङ्गुलिः ॥ ६२ ॥

स इति ॥ स पुमान्, अर्थवज्जन्मा सार्थकजन्मा यस्य पुंसो नाम्नि पुरोऽग्रे स्थिते सति संख्यायां पुरुषगणनाप्रस्ताव उद्यता गुणमधिकृत्योन्नमिताऽङ्गुलिरन्यां द्वितीयाम् । अङ्गुलिम् । उद्यतामिति शेषः । नाभ्येति न प्राप्नोति । अद्वितीयत्वादस्येत्यर्थः । एतन्मानरहितस्य न संभवतीति भावः ॥ ६२ ॥

उसी पुरुष का जन्म इस संसार में सफल है जिसका नाम गणना के समय में प्रथम अँगुलि पर ही आता है न कि दूसरी अङ्गुलि पर ॥ ६२ ॥

दुरासदवनज्यायान् गम्यस्तुङ्गोऽपि भूधरः ।
न जहाति महौजस्कं मानप्रांशुमलङ्घ्यता ॥ ६३ ॥

दुरासदेति ॥ दुरासदैर्वनैर्ज्यायान् प्रवृद्धस्तथापि तुङ्गोऽपि भूधरो गम्यो गन्तुं शक्य एव । प्रसिद्धं चैतदिति भावः । महौजस्कं प्रतापसंपन्नं मानप्रांशुं मानोन्नतम् । पुरुषमिति शेषः । अलङ्घ्यता न जहाति । कदाचिन्मानी लंघयितुं न शक्यत इत्यर्थः ।

गिरेरपि गरीयान् मानाधिक इति भावः। अत्रोपमानाद्भूधरादुपमेयस्य मानिनो धर्मान्तरसाम्येऽप्यलङ्घ्यत्वेनाधिक्यकथनाद्व्यतिरेकालंकारः ॥ ६३ ॥

घने घने जङ्गलों से प्रवृद्ध तथा अत्यन्त उन्नत पर्वत का उल्लंघन किया जा सकता है परन्तु अविलङ्घ्यता महान् पराक्रमशाली तथा मान से उन्नत पुरुषों का परित्याग नहीं करती ॥ ६३ ॥

गुरुन्कुर्वन्ति ते वंश्यानन्वर्था तैर्वसुन्धरा।
येषां यशांसि शुभ्राणि ह्रेपमन्तीन्दुमण्डलम् ॥ ६४ ॥

गुरूनिति। ते नराः। वंश्यान् अन्वये भवान्। गुरून् कुर्वन्ति प्रथयन्ति। स्वनाम्ना व्यपदेशयन्ति रघुदिलीपादिवदित्यर्थः। तैर्नरैः। वसूनि धनानि धरतीति वसुन्धरा। 'संज्ञायां भृतृवृजि–' इत्यादिना खच्प्रत्यये 'खचि ह्रस्वः' इति ह्रस्वान्नुमागमश्च। अन्वर्थाऽनुगतार्था। तेषां वसुभूतानां धारणादितिभावः। येषां शुभ्राणि यशांसि इन्दुमण्डलं ह्रेपयन्ति लज्जयन्ति। यशसो निष्कलङ्कत्वादिति भावः। ईदृशं हि यशो मानमहत एव संभवतीति तात्पर्यार्थः। ह्रीधातोर्ण्यन्ताल्लट्। 'अर्तिह्री–' इत्यादिना पुगागमः। अत्र ह्रेपणस्य सादृश्यपर्यवसानादुपमालंकारः ॥ ६४ ॥

जिन पुरुषों के विमल यश चन्द्रमण्डल को भी लज्जित करते हैं वे ही लोग अपने-अपने नाम से अपने वंश का विस्तार करते हैं और उन्हीं से यह वसुन्धरा (पृथ्वी) अन्वर्था है अर्थात् वसु का अर्थ है धन और धरा का अर्थ है धारण करनेवाली। यदि पृथ्वी धन धारण करनेवाली हो तो वसुन्धरा है अन्यथा नहीं ॥ ६४ ॥

उदाहरणमाशीःषु प्रथमे ते मनस्विनाम्।
शुष्केऽशनिरिवामर्षो यैररातिषु पात्यते ॥ ६५ ॥

उदाहरणमिति। यैरमर्षः क्रोधः शुष्के नीरसे। अशनिरिव अरातिषु विषये पात्यते प्रक्षिप्यते। मनस्विनां मानिनां प्रथमेऽग्रेसरास्ते आशीःषु पुरुषैरेवं भवितव्यमेवंरूपासु। उदाहरणं निदर्शनम्। भवन्तीति शेषः। रामादिवदुपमानं भवन्तीत्यर्थः। अतो न त्याज्यो मान इति संदर्भार्थः ॥ ६५ ॥

शुष्क तृणपुञ्ज पर वज्रपात के सदृश जो पुरुष अपने क्रोध को शत्रु पर प्रक्षिप्त करते हैं वे ही मनस्वी पुरुष मानियों में अग्रगण्य हैं और 'मनुष्य मात्र को कैसा होना चाहिये' इसके उदाहरण भी वे ही हैं ॥ ६५ ॥

यदुक्तम्–'अभिद्रोहेण भूतानाम्' (श्लो० २१) इत्यादि, तत्र युग्मेनोत्तरमाह—

न सुखं प्रार्थये नार्थमुदन्वद्वीचिचञ्चलम्।
नानित्यताशनेस्त्रस्यन् विविक्तं ब्रह्मणः पदम् ॥ ६६ ॥

नेत्यादि। उदन्वद्वीचिरिव चञ्चलं समुद्रतरङ्गवदस्थिरं सुखं कामं न प्रार्थये नेच्छामि। तथा, चञ्चलं अर्थं च न प्रार्थये। किंच अनित्यता विनाशिता सैव अशनि-

स्तस्मात् त्रस्यन् बिभ्यन् । 'वा भ्राश–' इत्यादिना श्यन्प्रत्ययः । विविक्तं निर्बाधं ब्रह्मणो वेधस आत्मनः पद्यत इति पदं स्थानमैक्यलक्षणं मुक्तिं च न प्रार्थये । एतेन यदुक्तम् 'उच्छेदं जन्मनः कर्तुम्' (श्लो० ३१) इत्यादि, तत् समाहितम् ॥ ६६ ॥

आपने जो कहा था कि 'तुम सुख की कामना तथा धन की लिप्सा से तपःसाधन कर रहे हो' यह ठीक नहीं, मोक्ष के लिये प्रयत्न करो, शीघ्र ही सफलता प्राप्त हो जायगी ये सब बातें कुछ नहीं—

न मैं सुख के लिये तपश्चर्या कर रहा हूँ न तो समुद्र की लहरियों के सदृश अस्थिर द्रव्य की कामना करता हूँ और न तो मैं विनश्वरता रूप विद्युत्पात से ही डरता हूँ । अतः मुझे मुक्ति की भी इच्छा नहीं है ॥ ६६ ॥

प्रमार्ष्टुमयशःपङ्कमिच्छेयं छद्मना कृतम् ।
वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभिः ॥ ६७ ॥

प्रमार्ष्टुमिति । किंतु, छद्मना कपटेन कृतम् । शत्रुभिरिति शेषः । अयश एव पङ्कमिति रूपकालंकारः । वैधव्येन तापितानां दुःखीकृतानामरातिवनितानां लोचनाम्बुभिः प्रमार्ष्टुं क्षालयितुम् । इच्छेयमभिलषेयम् । इषिधातोर्लिङि रूपम् । वैरिनिर्यातनातिरिक्तं न किंचिदिच्छामीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

यदि इच्छा है तो एक यह है कि शत्रुओं के द्वारा किये गये कपट व्यवहार से जो हमलोगों को कलङ्क का टीका लगा है वह विधवापन से सन्तप्त शत्रुरमणियों के लोचन-जल से धुल जाय ॥ ६७ ॥

एवं तर्हि 'यः करोति वधोदर्काः' (श्लो० १९) इत्याद्युक्तदोषःस्यादित्याशङ्कामङ्गीकृत्य ग्लानिर्न दोषायेति न्यायमाश्रित्य युग्मेनोत्तरमाह—

अपहस्येऽथवा सद्भिः प्रमादो वास्तु मे धियः ।
अस्थानविहितायासः कामं जिह्रेतु वा भवान् ॥ ६८ ॥

अपहस्य इत्यादि । अथवा, सद्भिः पण्डितैः अपहस्ये । अपहसिष्य इत्यर्थः । 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति हसतेरण्यन्तात्कर्मणि लट् । ण्यन्तस्तु भ्रान्त पाठः : मे धियः प्रमादोऽनवधानत्वं वाऽस्तु । भवान् अस्थानेऽयोग्यविषये विहित आयासो हितोपदेशप्रयासो येन स तथोक्तः । विफलप्रयत्नः सन्नित्यर्थः । कामं वा जिह्रेतु लज्जताम् ॥ ६८ ॥

चाहे सज्जन लोग मेरी निन्दा करें अथवा मेरी बुद्धि ही भ्रान्त हो जाय अथवा अयोग्यता में उपदेश देने का जो आपने प्रयत्न किया उसके विफल होने से आप लज्जित हों ॥ ६८ ॥

वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य समुच्छेदेन विद्विषाम् ।
निर्वाणमपि मन्येऽहमन्तरायं जयश्रियः ॥ ६९ ॥

वंशेति ॥ अहं तु विद्विषां शत्रूणां समुच्छेदेन विनाशेन करणेन वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्यापुनरावर्त्यं निर्वाणं मोक्षमपि जयश्रियोऽन्तरायं विघ्नं मन्ये । न तु पुरुषार्थमित्यर्थः । किमुतान्योत्सवादिकमिति भावः ॥ ६९ ॥

शत्रुओं का संहार करके वंशपरम्परा की श्री का उद्धार किये बिना मैं मोक्ष को भी विजयलक्ष्मी की प्राप्ति में विघ्न ही समझता हूँ ॥ ६९ ॥

नन्वयं ते दुराग्रह इत्यत आह—

अजन्मा पुरुषस्तावद्गतासुस्तृणमेव वा ।
यावन्नेषुभिरादत्ते विलुप्तमरिभिर्यशः ॥ ७० ॥

अजन्मेति ॥ पुरुषो यावत् अरिभिर्विलुप्तं संहृतं यश इषुभिर्नादत्ते । अरिवधेन न प्रत्याहरतीत्यर्थः । तावद् अजन्मा । अजातप्राय इत्यर्थः । नन्वजातो जननान्तरमुपयुज्यत एवेत्यरुच्या पक्षान्तरमाह—गतासुर्मृतः । मृततुल्य इत्यर्थः । मृतोऽपि प्रागुपयुक्तवानित्यरुच्याह—तृणमेवेति । तृणतुल्य इत्यर्थः । अकिंचित्करस्तु त्रैकाल्यानुपयोगाज्जीवन्मृत इत्यर्थः । अतो नाहमाग्रहाद्ब्रवीमि, किं तु वीरधर्ममनुपालयामीति भावः ॥ ७० ॥

ये सब बातें मैं आग्रह से भी नहीं कहता क्योंकि—

शत्रुओं के द्वारा विलुप्त यश का जो पुरुष जब तक अपने बाणों के द्वारा उद्धार नहीं करता तब तक वह पुरुष अजन्मा है अर्थात् उसने संसार में जन्म ही नहीं लिया है, मृत प्राय हैं, तृण से भी गया बीता है ॥ ७० ॥

सर्वथा वैरनिर्यातनं कर्तव्यमित्युक्तम्, तदकरणे पुरुषगुणानां हानिदोषमाह—

अनिर्जयेन द्विषतां यस्यामर्षः प्रशाम्यति ।
पुरुषोक्तिः कथं तस्मिन् ब्रूहि त्वं हि तपोधन ॥ ७१ ॥

अनिर्जयेति ॥ यस्यामर्षः क्रोधो द्विषतां शत्रूणाम् । अनिर्जयेन निर्जयं विनैव प्रशाम्यति । उपलक्षणे तृतीया । तस्मिन् पुरुष इत्युक्तिः 'पुरुष' शब्दः कथम् । न कथंचिदित्यर्थः । प्रवर्तत इति शेषः । प्रवृत्तिनिमित्तस्य पुरुषकारस्याभावादिति भावः । हे तपोधन ! त्वं हि त्वमेव ब्रूहि कथय । न च ते किंचिदविदितमस्तीति भावः । 'हि हेतावपधारणे' इत्यमरः ॥ ७१ ॥

'वैरियों से बदला अवश्य लेना चाहिये' ऐसा न करने से दोष होता है—

हे तपस्विन् ! भला आप ही बतलाइये, 'शत्रु से बदला चुकाये बिना जिसका क्रोध शान्त हो जाता है उसे पुरुष पद से कैसे पुकारा जा सकता है' ॥ ७१ ॥

ननु पुरुषत्वजात्यैव पुरुषोक्तिप्रवृत्तेः किं पुरुषकारेण, तत्राह—कृतमित्यादिद्वयेन—

कृतं पुरुषशब्देन जातिमात्रावलम्बिना ।
योऽङ्गीकृतगुणैः श्लाघ्यः सविस्मयमुदाहृतः ॥ ७२ ॥

कृतमिति ।। जातिमात्रावलम्बिना जातिमात्राभिधायिना पुरुषशब्देन कृतमलम् । न तेन किंचित्साध्यत इत्यर्थः । अत्र गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीयेत्युक्तं प्राक् । 'कृतम्' इति निषेधार्थकमव्ययं चादिषु पठ्यते । सत्यं जातिमात्रेऽपि 'पुरुष' शब्दः प्रवर्तते । परन्तु नासौ पुंसामाशास्यः पश्वादिसाधारण्यादिति तात्पर्यार्थः । तर्हि कीदृक्श्लाघ्य इत्याशङ्क्याह—य इत्यादिनार्धद्वयेन । अङ्गीकृतगुणैर्गुणपक्षपातिभिः । यः पुमान् श्लाघ्यः स्तुत्यः सन्, सविस्मयं ससंभ्रमम् । उदाहृतः कथित । पुंसा ईदृशेन भवितव्यमिति निर्दशितः ।। ७२ ।।

'पुरुष का चिह्न (पुल्लिंग) जिसमें पाया जाता है उसे पुरुष कहना उचित ही है चाहे वह पौरुषसम्पन्न हो या न हो' यह सिद्धान्त पक्ष नहीं है सुनिये—

जाति मात्र का आश्रयी जो पुरुष शब्द है उससे कुछ भी नहीं हो सकता (वह व्यर्थ ही है) जो गुणियों के द्वारा प्रशंसित हो और सम्भ्रमपूर्वक जिसका उदाहरण दिया जा सकता हो वही पुरुष कहलाने योग्य है ।। ७२ ।।

ग्रसमानमिवौजांसि सदसा गौरवेरितम् ।
नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विषोऽपि स पुमान्पुमान् ।। ७३ ।।

ग्रसमानमिति ।। किंच, सदसा सभया गौरवेणेरितं कथाप्रसङ्गेषु गौरवपूर्वकमुच्चारितं सत् । ओजांसि शृण्वतां तेजांसि ग्रसमानं गिलदिव स्थितं यस्य पुंसो नाम द्विषोऽप्यभिनन्दन्त्यनुमोदन्ते । किमुत सुहृद इति भावः । स पुमान् पुमान् । पुरुषत्वेन गण्यत इत्यर्थः । प्रथमः 'पुं'शब्दो जातिवचनः, द्वितीयो गुणवचनः । स एव श्लाघ्यः । अत्र पुमान्पुमानिति तात्पर्यमात्रभेदभिन्नशब्दार्थपौनरुक्त्यलक्षणो लाटानुप्रासोऽलंकारः । तथा च सूत्रम्—'तात्पर्यभेदयुक्तो लाटानुप्रासः' इति ।। ७३ ।।

जिस पुरुष का नाम सभ्यसमाज म आदर के साथ लिया जाता हो तथा जिस नाम के सुनने से श्रोताओं का तेज मलिन सा हो जाता है और शत्रु भी जिसकी प्रशंसा करे वही पुरुष, पुरुष है ।। ७३ ।।

ननु सत्सु भीमादिषु तवैवायं कोऽभिनिवेश इत्यत्राह—

यथाप्रतिज्ञं द्विषतां युधि प्रतिचिकीर्षया ।
ममैवाध्येति नृपतिस्तृष्यन्निव जलाञ्जलेः ।। ७४ ।।

यथेति ।। नृपतिर्युधिष्ठिरो यथाप्रतिज्ञं युधि द्विषतां प्रतिचिकीर्षया द्विषतः प्रतिकर्तुमिच्छया । प्रतिज्ञानुसारेणैव जिघांसयेत्यर्थः । तृष्यन् पिपासुः जलाञ्जलेरिव ममैवाध्येति इच्छति । कार्यसिद्धेर्मदायत्तत्वान्मामेव स्मरति, अतोऽयं ममाभिनिवेश इत्यर्थः 'अधीगर्थ—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी ।। ७४ ।।

इस शत्रु के प्रतिकार करने का उत्तरदायित्व सब भ्राताओं के शिर पर है तथापि महाराज युधिष्ठिर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार शत्रु से बदला लेने के लिये, तृषार्त व्यक्ति

जिस प्रकार अञ्जलि के जल की इच्छा करता है, उसी प्रकार मेरा ही स्मरण करते हैं ॥ ७४ ॥

ननु युधिष्ठिरः स्वार्थं साधयति, त्वया च स्वार्थमात्रमनुसंधीयतामित्यत आह—

स वंशस्यावदातस्य शशाङ्कस्येव लाञ्छनम् ।
कृच्छ्रेषु व्यर्थया यत्र भूयते भर्तुराज्ञया ॥ ७५ ॥

स इति ॥ स नरोऽवदातस्य स्वच्छस्य वंशस्य शशाङ्कस्येव लाञ्छनं कलङ्कः । यत्र यस्मिन्पुरुषे कृच्छ्रेषु व्यसनेषु भर्तुः स्वामिन आज्ञया व्यर्थया भूयते । भावे लट् । आपदि स्वार्थसाधकः कुलघातकः तत्कथं स्वार्थनिष्ठकार्यता युक्तेत्यर्थः ॥ ७५ ॥

जिस विशुद्ध वंश में विपत्ति के समय जो व्यक्ति स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन करता है वह चन्द्रमा के कलङ्क के समान है ॥ ७५ ॥

यदुक्तम्—'विजहीहि रणोत्साहम्' (श्लो० ३१) इत्यादि, तत्रोत्तरमाह—

कथं वादीयतामर्वाङ्मुनिता धर्मरोधिनी ।
आश्रमानुक्रमः पूर्वैः स्मर्यते न व्यतिक्रमः ॥ ७६ ॥

कथमिति ॥ धर्मरोधिनी धर्मविरोधिनी । अर्वाक् गार्हस्थ्यात्प्रागेव मुनिता वानप्रस्थत्वं चतुर्थाश्रमता वा । वर्णप्रक्रमेण तस्य विधानात् 'त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः' इति सूत्रकारवचनाच्च क्षत्रियस्यापि कैश्चिदिष्टत्वात् । तदेतत्सम्यग्विवेचितमस्माभी रघुवंशसंजीविन्याम् (स० ८।१४)–'स किलाश्रममन्त्यमाश्रितः' इत्यत्र । कथं वा आदीयतां मया कथं वाङ्गीक्रियताम् । संप्रश्ने लोट् । तथा हि—पूर्वैर्मन्वादिभिराश्रमानुक्रमः स्मर्यते । न तु व्यतिक्रमः । 'ब्रह्मचारी भूत्वा गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' इति श्रुत्यनुसारादित्यर्थः । एतदपि 'चत्वार आश्रमाः' इत्येतत्पक्षमाश्रित्योक्तम् । 'यदि चेद्वैराग्यं तदा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा' इति व्युत्क्रमपक्षस्यापि श्रवणात् । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ७६ ॥

आप मुझे पहिले ही धर्म के विरुद्ध मुनियों की वृत्ति पालन करने का उपदेश क्यों दे रहे हैं क्योंकि मनुप्रभृति आचार्य लोग आश्रमों के तारतम्यानुसार उन उन आश्रमों में प्रवेश करने की आज्ञा देते हैं न कि व्यतिक्रम के लिये उपदेश करते हैं ॥ ७६ ॥

ननु भवान्गृहस्थ एव तत्कथमर्वाङ्मुनित्वविरोध इत्याशङ्क्य, सत्यं गृहस्थोऽस्मि, तथापि कृतनिखिलगृहस्थकर्तव्यस्यैव वानप्रस्थाधिकारो न गृहस्थमात्रस्य । न चाहमद्यापि कृतकृत्य इत्युत्तरमाह—

आसक्ता धूरियं रूढा जननी दूरगा च मे ।
तिरस्करोति स्वातन्त्र्यं ज्यायांश्चाचारवान्नृपः ॥ ७७ ॥

आसक्तेति ॥ आसक्ता लग्ना । अवश्यं कर्तव्येत्यर्थः । रूढा प्रसिद्धा । महतीत्यर्थः । इयं पूर्वोक्ता धूः वैरिनिर्यातनभारः । दूरगा दूरवर्तिनी जननी च मातापि ।

तथा, नृपोऽप्याचारवान् । तपोऽधिक इत्यर्थः । तत्रापि ज्यायान् ज्येष्ठो नृपो युधिष्ठिरश्च मे मम स्वातन्त्र्यं स्वाच्छन्द्यं तिरस्करोति दूरीकरोति । आश्रमान्तरं प्रतिबध्नातीत्यर्थः । तिरस्करोतीति प्रत्येकमभिसंबध्यते । अन्यथा बहुवचनप्रसङ्गात् ॥ ७७ ॥

शत्रुका प्रतिशोध करने का भार मुझ पर निर्धारित है । इस समय मेरी माता दूर है, मेरे ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर स्वयं आचार पद्धति में संलग्न हैं और मेरी स्वतन्त्रता को बहुत दूर रख दिये हैं अर्थात् आश्रमान्तर में प्रवेश करने के लिये मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ ॥ ७७ ॥

उक्तमर्थमुसंहरति—

स्वधर्ममनुरुन्धन्ते नातिक्रममरातिभिः ।
पलायन्ते कृतध्वंसा नाहवान्मानशालिनः ॥ ७८ ॥

स्वधर्ममिति ॥ मानशालिनः स्वधर्मं क्षात्रधर्ममनुरुन्धन्तेऽनुवर्तन्ते । अतिक्रमं स्वधर्मातिक्रमं नानुरुन्धन्ते । ततः किमत आह—अरातिभिरिति । अरातिभिः कृतध्वंसाः कृतापकाराः सन्त आहवान्न पलायन्ते । अयमेव स्वधर्मानुरोध इत्यर्थः । 'उपसर्गस्यायतौ' इति रेफस्य लत्वम् । अत्र मनुः—'न निवर्तेत सङ्ग्रामात् क्षात्रधर्ममनुस्मरन्' इति । अत्रोत्तरवाक्यार्थं प्रति पूर्ववाक्यार्थस्य हेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः ॥ ७८ ॥

मानी पुरुष अपने धर्म (छात्र) का अनुसरण करते हैं अर्थात् अपने धर्म का उल्लंघन नहीं चाहते तथा शत्रुओं से अपकृत और विमुख होकर समर से नहीं भागते हैं ॥ ७८ ॥

किं बहुना, ममायं निश्चयः श्रूयतामित्याह—

विच्छिन्नाभ्रविलायं वा विलीये नगमूर्धनि ।
आराध्य वा सहस्राक्षमयशःशल्यमुद्धरे ॥ ७९ ॥

विच्छिन्नेति ॥ विच्छिन्नं वाताहतं यदभ्रं तदिव विलीयेति विच्छिन्नाभ्रविलायं यथा तथा 'उपमाने कर्मणि च' इति कर्तर्युपपदे णमुल् । नगमूर्धनि अस्मिन्गिरिशृङ्गे विलीये विशीर्ये वा । कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः । यद्वा,—सहस्राक्षमिन्द्रम्, आराध्यायश एव शल्यं तत् । उद्धर उद्धरिष्यामि । न तु गत्यन्तरशङ्केत्यर्थः । 'वा' शब्दो विकल्पे ॥ ७९ ॥

या तो मैं पवन से उद्धूत मेघमाला की तरह खण्ड खण्ड होकर इसी इन्द्रनील के शिखर पर अपनी जीवनलीला समाप्त कर दूँगा; या सहस्रलोचन (इन्द्र) की अराधना करके अपकीर्ति रूप कंटक को निकाल कर फेकूँगा ॥ ७९ ॥

इत्युक्तवन्तं परिरभ्य दोर्भ्यां तनूजमाविष्कृतदिव्यमूर्तिः ।
अघोपघातं मघवा विभूत्यै भवोद्भवाराधनमादिदेश ॥ ८० ॥

इतीति ॥ मघवा इन्द्रः । इत्युक्तवन्तं तनूजं पुत्रमर्जुनम् । आविष्कृता प्रकटिता दिव्यमूर्तिर्निजरूपं येन स यथोक्तः सन् । दोर्भ्यां बाहुभ्यां परिरम्य विभूत्यै श्रेयसे । उपहन्यतेऽनेनेत्युपघातम् । करणे घञ्प्रत्ययः । अघानां दुःखानामुपघातं अघोपघातम् । भवः संसारस्तस्योद्भवः कारणमिति भवोद्भवःशिवस्तस्य आराधनमुपासनम् । आदिदेश । शिवमुद्दिश्य तपश्चरेत्याज्ञापयामासेत्यर्थः ॥ ८० ॥

अपना दिव्य रूप प्रकट कर उपर्युक्त प्रकार से उत्तर देते हुये सुरराज (इन्द्र) ने अपने पुत्र अर्जुन को भुजाओं से आलिङ्गन किया और ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये संसार के उत्पत्ति के कारणभूत भगवान शङ्कर की उपासना करने का उपदेश दिया जिससे समस्त पापों का शमन हो जाता है ॥ ८० ॥

प्रीते पिनाकिनि मया सह लोकपालैर्लोकत्रयेऽपि विहिताप्रतिवार्यवीर्यः ।
लक्ष्मीं समुत्सुकयितासि भृशं परेषामुच्चार्य वाचमिति तेन तिरोबभूवे ॥८१॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये एकादशः सर्गः ।

प्रीत इति ।। पिनाकिनि शिवे प्रीते सति लोकपालः सह मया लोकत्रयेऽपि-विहितं दत्तमप्रतिवार्यमनिवार्यं वीर्यं यस्य स तथोक्तः सन् । परेषां शत्रूणां लक्ष्मीं भृशं समुत्सुकयिताऽसि समुत्सुकां त्वय्यनुरक्तां कर्ताऽसि । पुनराहरिष्यसीत्यर्थः । वीरभोग्याः संपद इति भावः 'उत्सुक'शब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्तात्कर्तरि लुट् । इति वाचमुच्चार्य, तेन इन्द्रेण तिरोबभूवेऽन्तर्दधे । भावे लिट् ॥ ८१ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायामेकादशः सर्गः समाप्तः ।

"भगवान् शूली के प्रसन्न होने पर लोकपालों के साथ मैं तुम्हें ऐसी शक्ति प्रदान कर दूँगा जिसका शत्रु लोग प्रतिकार नहीं कर पायेंगे और फिर तुम शत्रुओं की लक्ष्मी को अपनी तरफ समुत्कण्ठित कर लोगे" इस प्रकार की बात कहते हुये सुरराज अन्तर्हित हो गये ॥ ८१ ॥

एकादशसर्ग समाप्त ।

द्वादशः सर्गः

अथ वासवस्य वचनेन रुचिरवदनस्त्रिलोचनम् ।
क्लान्तिरहितमभिराधयितुं विधिवत्तपांसि विदधे धनञ्जयः ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथ इन्द्रतिरोधानानन्तरं रुचिरवदन इन्द्रसाक्षात्कारसंतोषात् प्रसन्नमुखो धनंजयोऽर्जुनो वासवस्य वचनेन उपदेशेन त्रिलोचनं शिवं क्लान्तिरहितं यथा तथा, अभिराधयितुं प्रसादयितुं तपांसि विधिवत् विध्यर्हम् । यथाशास्त्रमित्यर्थः । 'तदर्हम्' इति वतिप्रत्ययः । विदधे चक्रे । अस्मिन्सर्गे उद्गता वृत्तम्—'सजसादिमे सलघुकौ च नसजगुरुकैरथोद्गता त्र्यङ्घ्रिगतभनजला गयुताः सजसा जगौ चरण मेकतः पठेत् ॥' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

सुरराज के तिरोहित हो जाने पर प्रसन्न मुख अर्जुन आलस्य छोड़कर उनकी (इन्द्र की) बात मानकर त्रिनयन भगवान शंकर की आराधना के लिये यथाविधि तपस्साधन करने लगे ॥

अभिरश्मिमालि विमलस्य धृतजयधृतेरनाशुषः ।
तस्य भुवि बहुतिथास्तिथयः प्रतिजग्मुरेकचरणं निषीदतः ॥ १ ॥

अभिरश्मीति ॥ अभिरश्मिमालि अभिसूर्यं सूर्याभिमुखं भुवि एकचरणं नीषीदत एकचरणेन तिष्ठतो विमलस्य बाह्यान्तरशुद्धिमतः । धृता जयधृतिर्जयेच्छा येन तस्य । अनाशुषोऽनश्नतः ! 'उपयेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति निपातः । तस्यार्जुनस्य बहूनां पूरणा बहुतिथाः । बहुसंख्याका इत्यर्थः । 'तस्य पूरणे डट्' । बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक्' इति तिथुगागमः । तिथयो दिनानि प्रतिजग्मुः । अत्र 'तिथि'शब्दः पुँल्लिङ्गः । 'तदाद्यास्तिथयो द्वयोः' इत्यभिधानात् । अन्यथा बहुतिथा इत्यत्र टित्वान्ङीप्स्यात् ॥ २ ॥

भगवान् भास्कर (सूर्य) के समक्ष एक पग से पृथ्वीपर खड़े होकर बाह्य और आन्तरिक शुद्धिपूर्वक विजय की कामना करते हुये निराहार उस अर्जुन के बहुत दिन व्यतीत हो गये ॥

वपुरिन्द्रियोपतपनेषु सततमसुखेषु पाण्डवः ।
व्याप नगपतिरिवस्थिरतां महतां हि धैर्यमविभाव्यवैभवम् ॥ ३ ॥

वपुरिति ॥ पाण्डवोऽर्जुनः सततं वपुष इन्द्रियाणां च उपतपनेषु संतापकरेषु । करणे ल्युट् । असुखेष्वनशनादिदुःखेष्वपि नगपतिर्गिरीन्द्र इव स्थिरतां दाढर्यं व्याप प्राप । तथा हि—महतां धैर्यमविभाव्यं दुर्बोधं वैभवं सामर्थ्यं यस्य तत्तथोक्तम् । धीराणामकिञ्चित्करं दुःखमिति भावः ॥ ३ ॥

पाण्डुपुत्र (अर्जुन) शरीर और इन्द्रियों के सन्तापकारी उपवासादि क्लेशों के निरन्तर रहने पर भी हिमालय की तरह अचल से हो गये क्योंकि बड़े लोगों के धैर्य के वैभव का पता नहीं चलता ॥ ३ ॥

न पपात संनिहितपक्तिसुरभिषु फलेषु मानसम् ।
तस्य शुचिनि शिशिरे च पयस्यमृतायते हि सुतपः सुकर्मणाम् ॥ ४ ॥

नेति ॥ तस्यार्जुनस्य मानसं मनः संनिहितानि समीपस्थानि यानि पक्तिसुरभीणि पाकसुगन्धीनि तेषु फलेषु । तथा, शुचिनि स्वच्छे शिशिरे शीतले पयसि च न पपात । न किंचिदाचकाङ्क्षेति भावः । प्राणधारणं तु तस्य तप एवेत्याह— तथापि — सुकर्मणां सुकृतिनां शोभनं तपः सुतप एव अमृतायतेऽमृतवदाचरति । किं तपस्तृप्तानां तर्पणान्तरैरिति भावः । लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' । 'वा क्यषः' इत्यात्मनेपदम् । लोहितादिराकृतिगणः ॥ ४ ॥

उस तपस्वी (अर्जुन) का मन अत्यन्त समीप के फलों पर, जो परिपक्व होने से सुन्दर सुगन्ध से सने हुये थे, तथा शीतल स्वच्छ जल पर भी चलायमान न हुआ । सुकर्मा व्यक्तियों को तप ही अमृत का काम करता है ।। ४ ॥

न विसिस्मिये न विषसाद मुहुरलसतां न चाददे ।
सत्त्वमुरुधृति रजस्तमसी न हृतः स्म तस्य हृतशक्तिपेलवे ॥ ५ ॥

नेति ॥ सोऽर्ज्जुनो न विसिस्मिये । 'अहो महत्तपस्तप्तम्' इति न विस्मयं जगाम । 'तपः क्षरति विस्मयात्' इति स्मृतेरिति भावः । न विषसाद फलविलम्बाद्गतोत्साहो न बभूव । 'विषादश्चेतसो भङ्गः' इति लक्षणात् । 'सदिरप्रतेः' इति षत्वम् । मुहुरलसतां च नाददे । तपसि मन्दोद्यमत्वं च नागमदिति भाव । किंच, हृतशक्तिनी हृतसारे अत एव पेलवे भङ्गुरे ते हृतशक्तिपेलवे रजस्तमसो गुणौ, उरुधृति महासारं तस्यार्जुनस्य सत्त्वं सत्त्वगुणं न हृतः स्म न हृतवती । हृन्तेः 'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट् ॥ ५ ॥

उस अर्जुन को न अपनी तपश्चर्या पर आश्चर्य हुआ न तो उसका उत्साह भङ्ग हुआ और न तपस्साधनमें उसे आलस्याभिभूत ही होना पड़ा । रजोगुण और तमोगुण ये दोनों क्षीणशक्ति होने के कारण उनके महान् सत्त्व को भी नष्ट न कर सके ॥ ५ ॥

तपसा कृशं वपुरुवाह स विजितजगत्त्रयोदयम् ।
त्रासजननमपि तत्त्वविदां किमिवास्ति यन्न सुकरं मनस्विभिः ॥ ६ ॥

तपसेति ॥ सोऽर्ज्जुनः । तपसा कृशं तथापि विजितो जगत्त्रयस्य भुवनत्रयस्य उदय उत्कर्षो येन तत्तथोक्तम् । किंच तत्त्वविदामपि लोकहितार्थत्वं जानतामपि त्रासजननं भयंकरं वपुः उवाह वहति स्म । न चैतच्चित्रमित्याह—किमिति । यत् मनस्विभिर्न सुकरं तत् किमिवास्ति । न किमपीत्यर्थः । 'इव' शब्दो वाक्यालंकारे । 'मनस्विनाम्' इति पाठे शेषे षष्ठी स्यादेव । कृद्योगलक्षणायाः 'न लोक'— इत्यादिना निषेधात् ॥ ६ ॥

उनका (अर्जुन का) शरीर तपस्या के कारण क्षीण हो गया था तो भी उन्होंने तीनों

लोक के उत्कर्ष को जीत लिया था। उस शरीर के देखने से तत्त्वज्ञ लोगों को भी भय उत्पन्न हो जाता था। कौन ऐसा कार्य है जिसे मनस्वी लोग आसानी से नहीं कर सकते ?॥ ६॥

ज्वलतोऽनलादनुनिशीथमधिकरुचिरम्भसां निधेः।
धैर्यगुणमवजयन्विजयी ददृशे समुन्नततरः स शैलतः॥ ७॥

ज्वलत इति॥ विजयी सोऽर्जुनः। अनुनिशीथमर्धरात्रे। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ' इत्यमरः। ज्वलतो दीप्यमानात्। अनलादग्नेः। 'अधिकरुचिर्दीप्यमानः। तथा, अम्भसां निधेर्धैर्यं गाम्भीर्यं तदेव गुणस्तम्, अवजयन्। किंच, शैलतः शैलादपि समुन्नततरो ददृशे दृष्टः। अत्र रुच्यादिभिरनलाद्याधिक्यासबन्धे संबन्धाभिधानादतिशयोक्तिरलङ्कारः॥ ७॥

विजेता अर्जुन अर्धरात्रि के समय प्रज्वलित अग्नि से भी अधिक देदीप्यमान हो रहे थे तथा जलनिधि (समुद्र) के धैर्य गुण को जीतते हुए वे पर्वत से भी ऊँचे देखे गये॥ ७॥

जपतः सदा जपमुपांशु वदनमभितो विसारिभिः।
तस्य दशनकिरणैः शुशुभे परिवेषभीषणमिवार्कमण्डलम्॥ ८॥

जपत इति॥ सदा उपांशु रहः। गूढमित्यर्थः। 'रहश्चोपांशु चालिङ्गे' इत्यमरः। 'करणवदशब्दमनुप्रयोग उपांशु' इति कौमारलक्षणम्। जप्यत इति जपस्तं जपम्। मन्त्रमित्यर्थः। जपतः पठतः। तस्यार्जुनस्य वदनं कर्तृ अभितो विसारिभिः प्रसरणशीलैः। दशनकिरणैर्हेतुभिः परिवेषभीषणमर्कमण्डलमिव शुशुभे। परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः॥ ८॥

उपांशु (गूढ़) जप करते हुए उस अर्जुन का मुख सर्वत्र प्रसरणशील दाँतों की किरणों से व्याप्त होकर परिधि से आवृत, भीषण, सूर्यमण्डल की तरह सुशोभित होने लगा॥ ८॥

कवचं स बिभ्रदुपवीतपदनिहितसज्यकार्मुकः।
शैलपतिरिव महेन्द्रधनुःपरिवीतभीमगहनो विदिद्युते॥ ९॥

कवचमिति॥ कवचं वर्म बिभ्रदुपवीतपदे यज्ञोपवीतस्थाने निहितमारोपितं सज्यं कार्मुकं येन स तथोक्तः। 'सोऽर्जुनो महेन्द्रधनुषा परिवीतं परिवेष्टितं भीमं गहनं वनं यस्य स शैलपतिरिव हिमवानिव विदिद्युते शुशुभे॥ ९॥

वे (अर्जुन) कवच पहने हुये यज्ञोपवीत के स्थान पर (कन्धे पर) ज्या (धनुष की डोरी) सहित धनुष को धारण किये हुए विशाल इन्द्रधनुष से परिवेष्टित और घने घने दुर्गम वनों से व्याप्त हिमालय की तरह सुशोभित होने लगे॥ ९॥

प्रविवेश गामिव कृशस्य नियमसवनाय गच्छतः।
तस्य पदविनमितो हिमवान् गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहतिः॥ १०॥

प्रविवेशेति॥ नियमसवनाय नियमस्नानाय। 'सवनं त्वध्वरे स्नाने सोमनिर्द-

लनेऽपि च' इति विश्वः। गच्छतः तस्यार्जुनस्य पदैः पादन्यासैर्विनमितो हिमवान् गां भुवं प्रतिवेशेत्युत्प्रेक्षा। ननु कृशस्य कथमियद्गौरवम्, तत्राह—गुणाः सारादयो गुरुतां नयन्ति प्रापयन्ति हि। संहतिः संघातः। मूर्तिरिति यावत्। न नयन्ति। अन्तःसाराद्धि गौरवं भवति, न तु बाह्यात्स्थौल्यात्; तत्र च हेमपिण्डतूलपिण्डावेव निदर्शनमिति भावः ॥ १० ॥

नियमाभिषेक के लिये जाते समय दुर्बल अर्जुन के पादन्यास के भार से दबता हुआ हिमालय पृथ्वी में प्रविष्ट होता हुआ की भाँति प्रतीत हो रहा था। अन्तःसार युक्त पदार्थ में गुरुता (वजन) अधिक होती है बाह्य स्थौल्य (बाहरी मोटाई) कोई वस्तु नहीं (उदाहरण में सुवर्ण और रूई को देखिये) ॥ १० ॥

परिकीर्णमुद्यतभुजस्य भुवनविवरे दुरासदम्।
ज्योतिरुपरि शिरसो विततं जगृहे निजान्मुनिदिवौकसां पथः ॥ ११ ॥

परिकीर्णमिति ॥ उद्यतभुजस्य ऊर्ध्वबाहोस्तस्य शिरस उपरि। 'षष्ठ्यतसर्थ-प्रत्ययेन' इति षष्ठी। विततं विस्तृतं भुवनयोर्विवरे द्यावापृथिव्योरन्तराले परिकीर्णं व्याप्तं दुरासदं दुर्धर्षं ज्योतिस्तेजो मुनीनां दिवौकसां च निजान् नियतान् पथो मार्गान्। जगृहे जग्राह। प्रतिबबन्धेत्यर्थः ॥ ११ ॥

ऊर्ध्वबाहु होकर तपस्या करते हुए उस अर्जुन के असह्य तेज ने, जो पृथ्वी और आकाश के अन्तराल में व्याप्त होकर उसके शिर पर फैल रहा था, ऋषियों और देवताओं के नियत मार्ग को अवरुद्ध कर दिया ॥ ११ ॥

रजनीषु राजतनयस्य बहुलसमयेऽपि धामभिः।
भिन्नतिमिरनिकरं न जहे शशिरश्मिसंगमयुजा नभः श्रिया ॥ १२ ॥

रजनीष्विति ॥ बहुलसमये कृष्णपक्षेऽपि रजनीषु रात्रिषु राजतनस्यार्जुनस्य धामभिस्तेजोभिर्भिन्नस्तिमिरनिकरो यस्य तत्। नभः शशिरश्मीनां संगमेन हेतुना युजा संगतया श्रिया। तच्छ्रीतुल्यया श्रियेत्यर्थः। अत एव निदर्शनालंकारः। न जहे न त्यक्तम्। जहातेः कर्मणि लिट्। ज्योत्स्नातुल्यं ज्योतिर्जातमित्यर्थः ॥ १२ ॥

कृष्ण पक्ष में भी रात्रि के समय उस राजपुत्र अर्जुन के तेज के सम्पर्क से आकाश के अन्धकार समूह का नाश हो गया अतः चन्द्रमा की संगिनी श्री ने उस आकाश को परित्याग नहीं किया तात्पर्य यह कि कृष्णपक्ष में भी अर्जुन के तेज से आकाश प्रकाशित रहता था ॥ १२ ॥

महता मयूखनिचयेन शमितरुचि जिष्णुजन्मना।
ह्रीतमिव नभसि वीतमले न विराजते स्म वपुरंशुमालिनः ॥ १३ ॥

महतेति ॥ जिष्णोरर्जुनाज्जन्म यस्य तेन। जन्मोत्तरपदत्वाद्व्यधिकरणो बहु-व्रीहिः। महता मयूखनिचयेन बहुकिरणसमूहेन शमितरुचि हृतप्रभम्। अंशुमा-

लिनो वपुरर्कबिम्बं ह्रीतं जितत्वाल्लज्जितमिवेत्युत्प्रेक्षा । वीतमले विमले । मेघनीहाराद्यावरणरहितेऽपीत्यर्थः । नभसि न विराजते स्म ॥ १३ ॥

स्वच्छ आकाश में सूर्य का मण्डल अर्जुन के शरीर से निस्सृत महान किरणजाल से हतप्रभ होकर लज्जित हुए की तरह सुशोभित नहीं हो रहा था ॥ १३ ॥

तमुदीरितारुणजटांशुमधिगुणशरासनं जनाः ।
रुद्रमनुदितललाटदृशं ददृशुर्मिमन्थिषुमिवासुरीः पुरीः ॥ १४ ॥

तमिति ॥ उदीरिता उद्गता अरुणाः जटानामंशवो यस्य । तमधिगुणमधिज्यं शरासनं यस्य । तमर्जुनम् । जनाः सिद्धगणाः । आसुरीरसुरसबन्धिनीः पुरीः मिमन्थिषुं मथितुमिच्छुम् । मथेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । तथा, अनुदिताऽनुत्पन्ना ललाटे दृक् यस्य तं साक्षात्त्रिपुरविजयोद्यतमभालाक्षं रुद्रमिव ददृशुः । अत्राभालाक्षस्य रुद्रस्यासम्भवात्स्वतः सिद्धोपमानासिद्धेर्नेयमुपमा, किंतूत्प्रेक्षा । सा चाभालाक्षमित्युपमानादुपमेयस्य न्यूनत्वकथनार्थेऽन्वयव्यतिरेकेणोज्जीवितेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन संकर । उपमा तु व्यज्यत इत्यलंकारेणालंकारध्वनिः ॥ १४ ॥

अर्जुन के जटाभारों से अरुण वर्णकी किरणें निकल रहीं थीं, धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ी हुई थी । उन्हें लोगों ने दानवों के नगर को नष्ट भ्रष्ट करने की इच्छा रखने वाले साक्षात् शिव के समान देखा भेद इतना ही था कि अर्जुन के ललाटस्थल में तीसरा नेत्र नहीं था ॥ १४ ॥

मरुतां पतिः स्विदहिमांशुरुत पृथुशिखः शिखी तपः ।
तप्तुमसुकरमुपक्रमते न जनोऽयमित्यवययेस तापसैः ॥ १५ ॥

मरुतामिति ॥ मरुतां पतिः स्वित् देवेन्द्रो वा । अहिमांशुरुत सूर्यो वा । पृथुशिखो महाज्वालः शिखी पावको वा । असुकरं दुष्करं तपस्तप्तुमुपक्रमते । अयं जनः पुरुषः कश्चित्प्राकृतो न, इति सोऽर्जुनः । तापसैस्तपस्विभिः । 'अण् च' इति मत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः । अवययेऽवगतः । यातेरवपूर्वात्कर्मणि लिट् । अत्रेन्द्रत्वादिकं धर्ममारोप्यं जनत्वापवादात्साम्यमारोप्यापह्नवालंकारः । सामान्यलक्षणं तु—'निषिद्धविषये साम्यारोपो ह्यपह्नवः' इति ॥ १५ ॥

उन्हें (अर्जुन को) देख कर लोगों को अनेक प्रकार की धारणाएँ हुईं —

'ये क्या इन्द्र हैं ? अथवा सूर्य हैं ? विशाल ज्वाल सम्पन्न अग्निदेव तो नहीं हैं ? दुष्कर तपश्चर्या करने के लिये यह पुरुष तैयार है । यह कोई प्राकृत पुरुष नहीं विदित होता' इस प्रकार का भास लोगों को हुआ ॥ १५ ॥

न ददाह भूरुहवनानि हरितनयधाम दूरगम् ।
न स्म नयति परिशोषमपः सुसहं बभूव न च सिद्धतापसैः ॥ १६ ॥

न ददाहेति ॥ दूरगम् । व्यापकमित्यर्थः । हरितनयस्य इन्द्रसुतस्यार्जुनस्य धाम तेजो भूरुहवनानि वृक्षखण्डान् न ददाह । अग्निवदिति भावः । तथा अपो जलानि

परिशोषं न नयति स्म। आर्कवदिति भावः। तथापीति शेषः। सिद्धाश्च तापसाश्च तैः सुसहं न बभूव। अतोऽस्यालौकिकं तेज इति भावः। अत एव दुःसहत्वदाहाद्यजनकत्वयोर्विरोधाद्विरोधाभासोऽलंकारः—'आभासत्वे विरोधस्य विरोधालंकृतिर्मता' इति लक्षणात् ॥ १६ ॥

सर्वत्र व्याप्त होने वाला, इन्द्रपुत्र (अर्जुन) का तेज वृक्षों के समूह को न जलाया और न तो जलाशयों को सुखाया परन्तु सिद्ध तपस्वियों के लिये असह्य हो गया ॥ १६ ॥

विनयं गुणा इव विवेकमपनयभिदं नया इव।
न्यायमवधय इवाशरणाः शरणं ययुः शिवमथो महर्षयः ॥ १७ ॥

विनयमिति ॥ अथोऽनन्तरम्। अशरणा महर्षयो मुनयो विनयं शिक्षां गुणा औदार्यादय इव। अशिक्षितस्य तदभावादिति भावः। अपनयभिदं दुर्नीतिवारकं विवेकं सदसज्ज्ञानं नया नीतय इव। अविवेकिनो नीत्यभावादिति भावः। नीतिः षाड्गुण्यप्रयोगः। नीयतेऽनेनेति न्यायो नियामकं प्रमाणं तम्। अवधयः समया इव। अप्रामाणिकस्य समयोल्लङ्घितत्वादिति भावः। शिवं त्रिनयनम्। शरणं रक्षितारम्। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः। ययुर्जग्मुः। शरणत्वेन प्रापुरित्यर्थः। अशरणाः शरणमिति चोपमास्वपि यथायोग्यं योज्यम्। उपमालंकारः ॥ १७ ॥

जिस तरह औदार्यादि गुण शिक्षा के समीप, नीति दुर्नीतिनिवारक विवेक (सत् और असत् के विचार) के समीप, अवधि (समय) न्याय के समीप जाता है उसी तरह महर्षि लोग निराधार होकर शंकर भगवान के शरण में गये ॥ १७ ॥

परिवीतमंशुभीरुदस्तदिनकरमयूखमण्डलैः।
शंभुमुपहतदृशः सहसा न च ते निचायितुमभिप्रसेहिरे ॥ १८ ॥

परिवीतमिति ॥ उदस्तं निरस्तं छादितं दिनकरमयूखमण्डलं यैस्तैः। सूर्यतेजोविजयिभिरित्यर्थः। अंशुभिस्तेजोभिः परिवीतं व्याप्तं शंभुं शिवम्। उपहतदृशः प्रतिहतदृष्टयस्ते महर्षयः सहसा झटिति निचायितुं निशामयितुम्। द्रष्टुमित्यर्थः। 'चायृ पूजानिशामनयोः' इति धातोः 'शकधृष—' इत्यादिना तुमुन्। नाभिप्रसेहिरे न शेकुः ॥ १८ ॥

(वहाँ) महर्षियों ने शंकर भगवान् को किरणपुञ्ज से, जो सूर्य की किरणों को तिरस्कृत कर रहा था, आवृत देखकर आँखों के चकाचौंध होने के कारण एकाएक देखने में असमर्थता प्रकट की ॥ १८ ॥

अथ भूतभव्यभवदीशमभिमुखयितुं कृतस्तवाः।
तत्र महसि ददृशुः पुरुषं कमनीयविग्रहमयुग्मलोचनम् ॥ १९ ॥

अथेति ॥ अथ दृगुपघातानन्तरं भूतभव्यभवतां भूतभविष्यद्वर्तमानानामीशं देवम् अभिमुखयितुमभिमुखीकर्तुं कृतस्तवाः कृतस्तोत्राः सन्तः। न त्वन्यथेति भावः।

'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः' इत्यमरः। तत्र पूर्वोक्ते महसि तेजसि कमनीयविग्रहं रम्यमूर्तिम्। अयुग्मानि त्रीणि लोचनानि यस्य तं पुरुषं ददृशुः ॥ १९ ॥

दृष्टि चकाचौंध होने के पश्चात् महर्षियों ने भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों के स्वामी (शंकर) की प्रत्यक्षीकरण के लिये स्तुति की पश्चात् रम्याकृति तीन नेत्रयुक्त पुरुष को देखा ॥ १९ ॥

अथ पञ्चभिः पुरुषं विशिनष्टि—ककुद इत्यादिना—

ककुदे वृषस्य कृतबाहुमकृशपरिणाहशालिनी।
स्पर्शसुखमनुभवन्तमुमाकुचयुग्ममण्डल इवार्द्रचन्दने ॥ २० ॥

ककुद इति ॥ कीदृशं पुरुषम् ॥ अकृशेन महता परिणाहेन विशालतया शालत इति तथोक्ते। 'परिणाहो विशालता' इत्यमरः। वृषस्य वृषभस्य ककुदेंऽसकूटे। आश्रयीकृत इति शेषः। आर्द्रचन्दन उमायाः कुचयुग्ममण्डल इव कृतबाहुं न्यस्तहस्तमत एव स्पर्शसुखमनुभवन्तम्। ककुदस्य तथाविधस्पर्श सुखकरत्वादिति भावः। उपमालंकारः ॥ २० ॥

वह पुरुष (शंकर भगवान्) वृषभ (बैल, नन्दी) के विशाल अंसकूट पर हाथ रख कर पार्वती के पयोधर मण्डल के, जो चन्दन से लिप्त है, स्पर्श-सुख का आनन्द ले रहा है ॥ २० ॥

स्थितमुन्नते तुहिनशैलशिरसि भुवनातिवर्तिना।
साद्रिजलधिजलवाहपथं सदिगश्नुवानमिव विश्वमोजसा ॥ २१ ॥

स्थितमिति ॥ उन्नते तुहिनशैलशिरसि हिमवतः शिखरे स्थितम्। क्वचित्कोणे स्थितमित्यर्थः। तथापि भुवनातिवर्तिना सर्वलोकातिशयिना। ओजसा तेजसा। अद्रिभिः पर्वतैर्जलधिभिः समुद्रैः जलवाहपथेनाकाशेन च सह वर्तत इति तथोक्तम्। दिग्भिः सह वर्तत इति सदिक्। उभयत्रापि 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः। विश्वमश्नुवानं व्याप्नुवन्तमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा। 'अशूङ् व्याप्तौ' इति धातोः शानच् ॥ २१ ॥

वह (पुरुष) हिमालय के उच्च शिखर पर आसीन होकर चौदहों भुवनों को जीतने वाले तेज से पर्वत, समुद्र, आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाओं से युक्त सम्पूर्ण विश्वको उदरस्थ बनाते हुए के सदृश दृष्टिगोचर हो रहा था ॥ २१ ॥

अनुजानुमध्यमवसक्तविततवपुषा महाहिना।
लोकमखिलमिव भूमिभृता रवितेजसामवधिनाधिवेष्टितम् ॥ २२ ॥

अनुजान्विति ॥ जानुनोर्मध्येऽनुजानुमध्यम् विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। अवसक्तं लग्नं विततमायतं च वपुर्यस्य तेन महाहिना। अवसक्तिकावन्धभूतेनेत्यर्थः। अधिवेष्टितम्, अत एव रवितेजसामवधिना पर्यन्तभूतेन भूमिभृता लोकालोकाचले-

नाधिवेष्टितम् । अखिलं लोकमिव स्थितमित्युपमा । 'असूर्यंपश्यापरभागो लोकालोकाचलः' इत्यागमः ॥ २२ ॥

वह पुरुष जानुमध्यगत भीषणकाय भुजङ्गमराज से वेष्टित होकर सूर्य के प्रकाश की सीमाभूत लोकालोक (चक्रवाल) पर्वत के द्वारा वेष्टित समग्र विश्व के समान दिखाई पड़ रहा था ॥ २२ ॥

परिणाहिना तुहिनराशिविशदमुपवीतसूत्रताम् ।
नीतमुरगमनुरञ्जयता शितिना गलेन विलसन्मरीचिना ॥ २३ ॥

परिणाहिनेति ॥ पुनश्च, तुहिनराशिवत् विशदं शुभ्रम्, उपवीतसूत्रतां यज्ञोपवीतत्वं नीतं प्रापितम् । उरगं शेषाहिम् । अनुरञ्जयता स्वगुणोपरक्तं कुर्वता । श्यामीकुर्वतेत्यर्थः । परिणाहिना विशालेन विलसन्मरीचिना प्रसृतकिरणेन शितिना नीलेन गलेन कण्ठेनोपलक्षितम् । 'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायाम्' इत्यमरः । अत्रोरगस्य स्वधवलिमत्यागेनान्यजन्यनीलिमग्रहणात्तद्गुणालङ्कारः—'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणग्रहः' इति लक्षणात् ॥ २३ ॥

वह (पुरुष) तुषारपुञ्ज के सदृश शुभ्र भुजगराज को, जो उसके यज्ञोपवीत के स्थान की पूर्ति कर रहे थे, अपने रङ्ग में रंगते हुए नीलकण्ठ से, जिससे किरणें परिस्फुरण कर रही थीं, उपलक्षित हो रहा था ॥ २३ ॥

प्लुतमालतीसितकपालकुमुदमवरुद्धमूर्धजम् ।
शेषमिव सुरसरित्पयसां शिरसा विसारि शशिधाम बिभ्रतम् ॥ २४ ॥

प्लुतेति ॥ पुनश्च, मालती जातीकुसुमम् । 'सुमना मालती जातिः' इति 'पुष्पे जातीप्रभृतयः स्वलिङ्गा व्रीहयः फले' इति चामरः । तद्वत् सितं यत् कपालमेव कुमुदं तत् प्लुतमाप्लुतं येन तत्तथोक्तम् । अवरुद्धमूर्धजं व्याप्तशिरोरुहम् । अत एव सुरसरित्पयसां शेषमिव निर्यातावशिष्टं गाङ्गमम्भ इव । स्थितमित्यर्थः । उत्प्रेक्षालङ्कारः । विसारि विसृत्वरं शशिधाम चन्द्रतेजः शिरसा बिभ्रतम् । पुरुषं ददृशुरिति पूर्वेण संबन्धः ॥ २४ ॥

वह (पुरुष) मालती पुष्प के समान धवल कपाल कुमुद को आप्लुत करती हुई चन्द्रमा की किरणों को, जो केशों को व्याप्त कर प्रसरण कर रही थीं, गङ्गा के जल के अवशिष्ट भाग की तरह धारण कर रहा था । अर्थात् शङ्कर के ललाटस्थ चन्द्रमा की किरणों से व्याप्त हो रहा था, उन किरणों को धारण करते हुए शङ्कर जी इस प्रकार मालूम पड़ते थे कि जैसे वे जाह्नवी के बचे हुए जल को धारण करते हों ॥ २४ ॥

मुनयस्ततोऽभिमुखमेत्य नयनविनिमेषनोदिताः ।
पाण्डुतनयतपसा जनितं जगतामशर्म भृशमाचचक्षिरे ॥ २५ ॥

मुनय इति ॥ ततो दर्शनानन्तरं मुनयोऽभिमुखमेत्य । शिवस्येति शेषः । नयन-

विनिमेषेण नेत्रसंज्ञया नोदिताः प्रेरिताः सन्तः पाण्डुतनयस्यार्जुनस्य तपसा जनितं तत्पूर्वोक्तं जगतामशर्म असुखम्। दुःखमित्यर्थः। 'शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः। भृशं सम्यक्। आचचक्षिरे कथितवन्तः॥ २५॥

इस तरह के शङ्कर भगवान् का दर्शन करने के अनन्तर नेत्र–निमेष से संकेतित होकर मुनि लोगों ने उनके सम्मुख उपस्थित होकर पाण्डुपुत्र (अर्जुन) के तपश्चर्या के कारण उत्पन्न दुःख को, जिससे विश्व दुःख पा रहा था, कह सुनाया॥ २५॥

तरसैव कोऽपि भुवनैकपुरुष ! पुरुषस्तपस्यति।
ज्योतिरमलवपुषोऽपि रवेरभिभूय वृत्र इव भीमविग्रहः॥ २६॥

तरसेति॥ हे भुवनैकपुरुष ! पुरुषोत्तम ! वृत्रो वृत्रासुर इव भीमविग्रहः कोऽपि। अविज्ञात इत्यर्थः। पुरुषः। तरसा बलात्कारेणैव। तरसो बलरंहसी' इति विश्वः। अमलवपुष उज्ज्वलमूर्ते रवेरपि ज्योतिरभिभूय तपस्यति तपश्चरति। 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' इति क्यङ्॥ २६॥

ऐ पुरुषश्रेष्ठ ! वृत्रासुर की तरह भीषणकाय कोई पुरुष प्रकाशमूर्त सूर्य के प्रकाश को तिरस्कृत करके बलात् तपश्चरण कर रहा है॥ २६॥

स धनुर्महेषुधि बिभर्ति कवचमसिमुत्तमं जटाः।
वल्कमजिनमिति चित्रमिदं मुनिताविरोधि न च नास्य राजते॥ २७॥

स इति॥ किंच, स पुरुषो महान्ताविषुधी यस्य तत् महेषुधि धनुः कवचं वर्म उत्तममसिं खड्गं जटा वल्कं चीरम्, अजिनं चर्म च बिभर्ति इति एवं रूपम्, इदं विरुद्धवेषधारणं मुनिताविरोधि मुनित्वप्रतिबन्धकं तथापि, अस्य न राजत इति न। किं तु राजत एवेत्यर्थः। चित्रमाश्चर्यम्। 'संभाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति वामनः॥ २७॥

वह तपस्वी धनुष, विशाल तरकश, सुन्दर कवच, करवाल (तलवार), जटा, भूर्जवस्त्र और मृगचर्म धारण करता है। इसका वेष बिल्कुल ऋषि मुनियों से विपरीत है। देखने में भला न मालूम होता हो यह भी नहीं, उसे यह वेश खूब छजता है। यह दृश्य आश्चर्यकर ही है॥ २७॥

चलनेऽवनिश्चलति तस्य करणनियमे सदिङ्मुखम्।
स्तम्भमनुभवति शान्तमरुद्ग्रहतारकागणयुतं नभस्तलम्॥ २८॥

चलन इति॥ किंच, तस्य पुंसः चलनेऽवनिः पृथिवी चलति। तथा, करणनियमे समाधिनेन्द्रियनिरोधे सति। 'करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि' इत्यमरः। शान्तैः स्तिमितैर्मरुतां वायूनां ग्रहाणां सूर्यादीनां तारकाणां नक्षत्राणां च गणैर्युतं नभस्तलं व्योम सदिङ्मुखं दिक्सहितं स्तम्भं निश्चलताम्। अनुभवतीत्यर्थः। अतो विश्वातिशायिनी तस्य शक्तिरुपलक्ष्यत इति भावः॥ २८॥

जब वह तपस्वी चलता है तब भूमि भी कम्पित हो उठती है। जिस समय वह श्वास का अवरोध करके समाधिस्थ हो जाता है उस समय दिशाओं के साथ स्तब्ध वायु, ग्रहनक्षत्रों से युक्त व्योम (आकाश) प्रसुप्त-सा दृष्टिगोचर होता है। तात्पर्य यह कि उसके श्वास की गति रुकने से समस्त विश्व की गति रुक जाती है ॥ २८ ॥

न चैतदुपेक्ष्यमित्याशयेनाह—

स तदोजसा विजितसारममरदितिजोपसंहितम् ।
विश्वमिदमपिदधाति पुरा किमिवास्ति यन्न तपसामदुष्करम् ॥ २९ ॥

स इति ॥ स पुमान् । ओजसा विजितसारं निरस्तसत्त्वम् । अमरदितिजोपसंहितं सुरासुरसहितं तदिदं विश्वं पुराऽपिदधाति । अपिधास्यतीत्यर्थः । शीघ्रमेव हरिष्यतीति भावः । 'निकटागामिके पुरा' इत्यमरः । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यदर्थे लट् । तथा हि—यत् कर्म तपसामदुष्करं तत्किमिवास्ति । न किञ्चित्तेन दुष्करमस्तीत्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २९ ॥

वह तपस्वी अपने पराक्रम से देवता और दैत्यों के साथ-साथ इस विश्व को जीत कर निस्सार कर देगा। संसार में कौन ऐसी वस्तु है जो तपस्वियों के लिये दुस्साध्य है ॥ २९ ॥

न चैतदन्यफलकं तप इत्याह—

विजिगीषते यदि जगन्ति युगपदथ संजिहीर्षति ।
प्राप्तुमभवमभिवाञ्छति वा वयमस्य नो विषहितुं क्षमा रुचः ॥ ३० ॥

विजिगीषत इति ॥ स पुरुषो जगन्ति भुवनानि युगपद्विजिगीषते यदि विजेतुमिच्छति वा । 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदम् । अथ युगपत् संजिहीर्षति संहर्तुमिच्छति वा । अभवमपवर्गं प्राप्तुमभिवाञ्छति वा, न विद्मो वयमिति शेषः । किंतु वयमप्यस्य रुचस्तेजांसि विषहितुं सोढुम् । 'तीषसहलुभरुषरिषः' इति विकल्पादिडागमः । नो क्षमा न शक्ताः । केचित् रुचः कामितानि विषहितुमवधारयितुम्' इति व्याचक्षते, तत्र सहेरवधारणार्थत्वं विचार्यम् ॥ ३० ॥

वह पुरुष (तपस्वी) त्रिलोक के विजय की कामना करता है क्या ? अथवा इस संसार को एक ही साथ संहार करना चाहता है क्या ? अथवा मोक्ष की वाञ्छा करता है क्या ? कुछ ध्यान में नहीं आता कि वह क्या करना चाहता है। हमलोग तो उसके तेज को सहन करने में असमर्थ हैं ॥ ३० ॥

किमुपेक्षसे कथय नाथ न तव विदितं न किंचन ।
त्रातुमलमभयदार्हसि नस्त्वयि मा स्म शासति भवत्पराभवः ॥ ३१ ॥

किमिति ॥ हे नाथ ! किमर्थमुपेक्षसे कथय । त्वमिति शेषः । तव न विदितम् । त्वयाऽज्ञायमानमित्यर्थः । 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी । न किंचन किमपि

न । हे अभयद ! नोऽस्मान् अलं त्रातुमर्हसि । त्वयि शासति सति पराभवो मा स्म भवत् मा भूत् । 'स्मोत्तरे लङ् च' इति लङ् ॥ ३१ ॥

हे प्रभो ! कहिये, क्यों उपेक्षा कर रहे हैं। आपको कुछ भी नहीं ज्ञात है क्या ? अये अभयदानदातः ! आप हम लोगों की रक्षा करने में समर्थ हैं। आपके शासनकाल में हम लोग पराभूत न होने पावें ॥ ३१ ॥

इति गां विधाय विरतेषु मुनिषु वचनं समाददे ।
भिन्नजलधिजलनादगुरु ध्वनयन्दिशां विवरमन्धकान्तकः ॥ ३२ ॥

इतीति ॥ इति इत्थं गां वाचं विधाय । अभिधायेत्यर्थः । सामान्यस्य विशेषपर्यवसानात् । मुनिषु विरतेषु तूष्णींभूतेषु सत्सु । अन्धकान्तकः शिवो भिन्नस्योद्वेलस्य जलधेर्जलस्य नादमिव गुरु गम्भीरं यथा तथा दिशां विवरमन्तरालं ध्वनयन् वचनं समाददे स्वीचकार । उवाचेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

उपर्युक्त प्रकार की स्तुति करके महर्षियों के विरत (चुप) हो जाने पर, अन्धकासुर के शत्रु (शंकर भगवान्) दिशाओं के अन्तराल को ध्वनि से पूर्ण करते हुए क्षुब्ध सागर के जल में उत्पन्न होने वाले गम्भीर नाद के सदृश वाक्य बोले ॥ ३२ ॥

बदरीतपोवननिवासनिरतमवगात माऽन्यथा ।
धातुरुदयनिधने जगतां नरमंशमादिपुरुषस्य गां गतम् ॥ ३३ ॥

बदरीति ॥ बदरीतपोवने बदरिकाश्रमे निवासनिरतं नित्यनिवासिनं गां गतं भुवमवतीर्णं जगतामुदयनिधने सृष्टिसंहारौ धातुः । तयोः कर्तुरित्यर्थः 'तृन्' इति दधातेस्तृन्प्रत्ययः । अत एव न लोक–' इत्यादिना कर्मणि षष्ठीप्रतिषेधः । आदिपुरुषस्य विष्णोः । अंशमंशभूतम् । नरम्, नरसंज्ञकमित्यर्थः । यो नारायणसखेति भावः । अन्यथा उक्तवैपरीत्येन, एनं माऽवगात । मनुष्यमात्रं मा जानीतेत्यर्थः । 'इणो गा लुङि' इति गादेशः ॥ ३३ ॥

जो यह तपस्वी पृथ्वीपर समागत है, वह बदरिकाश्रम निवासी, सृष्टिके निर्माता और संहर्ता आदि पुरुष (विष्णु) का अंश नारायण का अवतार है, इसे दूसरा मत समझिये ॥ ३३ ॥

अथ तस्य तपसो निमित्तमाह—

द्विषत परासिसिषुरेष सकलभुवनाभितापिनः ।
क्रान्तकुलिशकरवीर्यबलान्मदुपासनं विहितवान्महत्तपः ॥ ३४ ॥

द्विषत इति ॥ एष नरः सकलभुवनान्यभितापयन्त्यभीक्ष्णमिति तथोक्तान् । 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' इति णिनिः । क्रान्ते आक्रान्ते कुलिशकरस्येन्द्रस्य वीर्यबले शक्तिसैन्ये यैस्तान् द्विषतः शत्रून परासिसिषुः परासितुमिच्छुः अस्यतेःसन्नन्तादुप्रत्ययः । मदुपासनं मदाराधनम् । करणे ल्युट् । महत्तपो विहितवान् । अत्र निमित्तं शत्रुक्षय एवेति भावः ॥ ३४ ॥

यह (तपस्वी) अखिल विश्व के सन्तापदायक शत्रुओं को, जो इन्द्र की शक्ति और सेना को तृण बराबर समझते हैं, पराजित करने की अभिलाषा से मेरी (शंकर की) उपासनारूप उग्र तपश्चर्या कर रहा है ॥ ३४ ॥

अथास्य मानुषावतारे कारणमाह—

अयमच्युतश्च वचनेन सरसिरुहजन्मनः प्रजाः।
पातुमसुरनिधनेन विभू भुवमभ्युपेत्य मनुजेषु तिष्ठतः॥ ३५॥

अयमिति। विभू प्रभू अयं नरोऽच्युतः कृष्णश्च सरसिरुहजन्मनो ब्रह्मणो वचनेन प्रार्थनया। असुराणां निधनेन मारणेन प्रजाः पातुं रक्षितुं भुवमभ्युपेत्य मनुजेषु तिष्ठतः। वस्तुतस्तु साक्षान्नरनारायणावेतौ कृष्णार्जुनावित्यर्थः॥ ३५॥

यह तपस्वी और कृष्ण ये दोनों प्रभु हैं, ब्रह्मा की प्रार्थना से असुरों का विनाश कर प्राणी मात्र की रक्षा के लिये भूमि पर अवतीर्ण होकर मनुष्य के रूप में रहते हैं। वस्तुतः ये दोनों व्यक्ति नर और नारायण के अवतार हैं॥ ३५॥

अथास्य सत्त्वसंपदं प्रकाशयितुमाह—

सुरकृत्यमेतदवगम्य निपुणमिति मूकदानवः।
हन्तुमभिपतति पाण्डुसुतं त्वरया तदत्र सह गम्यतां मया॥ ३६॥

सुरेति॥ मूकदानवो मूकाख्यः कश्चिदसुरः। एतत् पाण्डवकृत्यं सुरकृत्यमिति निपुणमवगम्य साधु निश्चित्य पाण्डुसुतमर्जुनं हन्तुमभिपतति। तत् तस्मात्कारणात्, अत्रार्जुनाश्रमे विषये। आश्रमं प्रतीत्यर्थः। मया सह त्वरया गम्यताम्। द्रष्टुमिति शेषः॥ ३६॥

(अभी) मूक नाम का कोई दानव 'यह अर्जुन की तपस्या देवताओं का कार्य है' इस बात को अच्छी प्रकार निश्चित करके पाण्डुपुत्र अर्जुन का वध करने के लिये उद्यत है। अतः शीघ्रातिशीघ्र आप लोग मेरे साथ होकर आश्रम में चलिये॥ ३६॥

विवरेऽपि नैनमनिगूढमभिभवितुमेष पारयन्।
पापनिरतिरविशङ्कितया विजयं व्यवस्यति वराहमायया॥ ३७॥

विवर इति॥ पापे निरतिरतिप्रीतिर्यस्य स एव दानवो विवरे रन्ध्रेऽपि। एकान्तेऽपीत्यर्थः। एनं पाण्डवम्। अनिगूढं प्रकाशं स्पष्टं यथा तथा, अभिभवितुं न पारयन् न शक्नुवन्। विभाषायाम् 'नञ्' इति नञ्समासः। अविशङ्कितया स्वरूपगूहनान्निःशङ्कितया वराहमायया वराहभूमिकया विजयं व्यवस्यति। विजयं प्रत्युद्युक्त इत्यर्थः॥

पापाचाररत यह मूक दानव एकान्त पाकर भी अर्जुन को पराजित करने में अपने को असमर्थ समझा, अत एव माया का शूकर बन कर निःशङ्क भाव से (अर्जुन पर) विजयलाभ के लिये उद्योग कर रहा है॥ ३७॥

ततः किं भविष्यतीत्यत्राह—

निहते विडम्बितकिरातनृपतिवपुषा रिपौ मया।
मुक्तनिशितविशिखः प्रसभं मृगयाविवादमयमाचरिष्यति ॥ ३८ ॥

निहत इति ॥ विडम्बितमनुकृतं किरातनृपतिवपुर्येन । तद्रूपधारिणेत्यर्थः । मया निहते रिपौ वराहे मुक्तनिशितविशिखः सन् । अयं पाण्डवः प्रसभं प्रसह्य मृगयाविवादं मृगप्रहारकलहम् । आचरिष्यति करिष्यति । मत्प्रहतमेव मृगं प्रहृत्य स्वयमहमेव प्रहर्तेति कलहिष्यति इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

फिर क्या होगा यह भी प्रत्यक्ष है—

किरात का वेष बनाकर मेरे द्वारा जब वह (दानव) मार डाला जायगा तब यह तपस्वी हठात् उस पर अपने तीक्ष्ण बाणों का प्रक्षेप करके मृगयाकलह प्रारम्भ कर देगा ॥ ३८ ॥

ततोऽपि किं भावीत्यत्राह—

तपसा निपीडितकृशस्य विरहितसहायसंपदः।
सत्त्वविहितमतुलं भुजयोर्बलमस्य पश्यत मृधेऽधिकुप्यतः ॥ ३९ ॥

तपसेति ॥ तपसा नितरां पीडितोऽत एव कृशस्तस्य निपीडितकृशस्य । 'पूर्वकाल—' इत्यादिना समासः । तथा, विरहिता सहायसंपद्यस्य तस्यैकाकिनो मृधे रणे । 'मृधमास्कन्दनं संख्यम्' इत्यमरः । अधिकुप्यतोऽधिकं कुप्यतोऽस्य पाण्डवस्य सत्त्वविहितं स्वभावकृतम् । स्वाभाविकमित्यर्थः । 'सत्त्वोऽस्त्री जन्तुषु क्लीबे व्यवसाये पराक्रमे । आत्मभावे पिशाचादौ द्रव्ये सत्तास्वभावयोः । 'प्राणे बलेऽन्तःकरणे' इति वैजयन्ती । अतुलं निरुपमं भुजयोर्बाह्वोर्बलं शक्तिं पश्यत । 'बलं शक्तिर्बलं सैन्यम्' इति शाश्वतः ॥ ३९ ॥

ऐ ऋषियों ! उस अर्जुन का शरीर तपस्या के कारण दुर्बल हो गया है । उसके पास कोई सहायक सामग्री भी नहीं है । संग्राम में क्रुद्ध होते हुए उसकी भुजा के स्वाभाविक और अनुपम पराक्रम को आप लोग देखिये ॥ ३९ ॥

अत्र त्रिभिरस्य किरातभावं वर्णयति—

इति तानुदारमनुनीय विषमहरिचन्दनालिना।
घर्मजनितपुलकेन लसद्गजमौक्तिकावलिगुणेन वक्षसा ॥ ४० ॥

इतीत्यादि ॥ शिव इति इत्थं तान् मुनीन् । उदारं युक्तियुक्तं यथा तथाऽनुनीय शिक्षयित्वा । उक्त्वेति यावद् । 'रुचिरः किरातपृतनापतिः संववृते' इत्युत्तरेणान्वयः । किरातसेनापतिवेषधारी बभूवेत्यर्थः । कथंभूतः । विषमा विकृतविन्यासा हरिचन्दनस्यालयो रेखा यस्मिंस्तेन । घर्मेण स्वेदेन जनिताः पुलका रोमाञ्चा यस्मिंस्तेन । 'पुलकः पुनः । रोमाञ्चः कण्टको रोमविकारो रोमहर्षणम्' इति हेमचन्द्रः । 'घर्मः स्यादातपे

ग्रीष्मे उष्णस्वेदाम्भसोरपि' इति विश्वः। लसन्तः शोभमाना गजमौक्तिकानां करिकुम्भोद्भवमौक्तिकानां आवलय एव गुणाः सूत्राणि यस्मिंस्तेन वक्षसा वक्षःस्थलेनोपलक्षितः। करिणां मुक्तायोनित्वे प्रमाणमहागस्त्यः—'जीमूतकरिमत्स्याहिवंशशङ्खवराहजाः। शुक्त्युद्भवाश्च विज्ञेया अष्टौ मौक्तिकयोनयः॥' इति ॥ ४० ॥

शंकर भगवान् ने पूर्वोक्त प्रकार से ऋषियों को युक्तिपूर्वक शिक्षा देकर [किरात] शबर सेनापति का सुन्दर वेप धारण कर लिया। वे विकृत रूप से विन्यस्त हरिचन्दनकी रेखाओं से युक्त वक्षस्थल से, जो स्वेद बिन्दुओं से रोमाञ्चित हो रहा था तथा जिसकी मनोहर गजमुक्ता की पंक्ति सूत्र के स्थान की पूर्ति कर रही थी॥ ४० ॥

वदनेन पुष्पितलतान्तनियमितविलम्बिमौलिना।
बिभ्रदरुणनयनेन रुचं शिखिपिच्छलाञ्छितकपोलभित्तिना॥ ४१ ॥

वदनेनेति ॥ पुष्पितैर्लतान्तैर्विकसितलताग्रैर्नियमिताः संयता विलम्बिनश्च ते मौलयः संयतकेशा यस्य तेन। 'चूडा किरीटं केशाश्च संयता मौलयस्त्रयः' इत्यमरः। शिखिपिच्छलाञ्छिते बर्हिबर्हाङ्किते कपोलभित्ती यस्य तेन। अरुणनयनेनारक्तनेत्रेण वदनेन रुचं शोभां बिभ्रत् ॥ ४१ ॥

मुखमण्डल से, जिस पर लटकते हुए चिकुर जाल पुष्पयुक्त लता की तन्तुओं से बँधे हुए थे और अरुण नेत्र से, जिसकी कपोलरूप भित्ति मयूरपिच्छ से अङ्कित थी॥ ४१ ॥

बृहदुद्वहञ्जलदनादि धनुरुपहितैकमार्गणम्।
मेघनिचय इव संववृते रुचिरः किरात पूतनापतिः शिवः॥ ४२ ॥

बृहदिति ॥ पुनश्च, जलद इव नदतीति जलदनादि। 'कर्तर्युपमाने'इति णिनिः। उपहितैकमार्गणं संहितैकबाणं धनुरुद्वहन्। अत एव मेघनिचय इव स्थित इत्युपमा। अत्र विशेषके स्वभावोक्तिरलङ्कारः। 'स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥ ४२ ॥

शोभा धारण करते हुए और मेघ के सदृश निर्घोषकारी विशाल धनुष, जिस पर एक बाण चढ़ा हुआ था, धारण करते हुए किरात सेनापति रूपधारी (शंकर भगवान्) मेघमण्डल की तरह स्थित थे॥ ४२ ॥

अनुकूलमस्य च विचिन्त्य गणपतिभिरात्तविग्रहैः।
शूलपरशुशरचापभृतैर्महति वनेचरचमूर्विनिर्ममे॥ ४३ ॥

अनुकूलमिति ॥ अस्य शिवस्य। अनुकूलं विचिन्त्य प्रियमिति निश्चित्य। आत्तविग्रहैर्गृहीतकिरातदेहैः। तथा शूलान् परशवः कुठाराः शराश्चापानि च तानि भृतानि यैस्तैः। प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ' इति निष्ठायाः परनिपातः। गणपतिभिः प्रमथमुख्यैर्महती वनेचरचमूः सेना विनिर्ममे निर्मिता। माङः कर्मणि लिट्, 'ह्रस्व' इत्यभ्यासस्य ह्रस्वत्वम् ॥ ४३ ॥

शंकर भगवान् के पुत्रों ने उन्हें एकाकी जाते हुए देखकर प्रस्थान की तैयारी की—

गणेश प्रभृति देवताओं ने (शङ्कर का सम्पूर्ण कुटुम्ब) उनके (प्रिय) हित की कामना करके किरात का वेष बनाकर शूल, फरशा, धनुष और बाणों को धारण किये हुए किरातों की एक विशाल (बड़ी भारी) सेना का निर्माण किया ॥ ४३ ॥

विरचय्य काननविभागमनुगिरमथेश्वराज्ञया ।
भीमनिनदपिहितोरुभुवः परितोऽपदिश्य मृगयां प्रतस्थिरे ॥ ४४ ॥

विरचय्येति ॥ अथ ईश्वराज्ञयाऽनुगिरं गिरौ । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । 'गिरेश्च सेनकस्य' इति समासान्तः । काननविभागं वनविभागं विरचय्य । अस्यायमिति देशविभागं कृत्वेत्यर्थः । भीमैर्निनदैः कलकलैः पिहिता उरवो भुवो यैस्ते तथोक्ताः सन्तः । मृगयामपदिश्य व्याजीकृत्य परितः प्रतस्थिरे प्रस्थिताः ॥ ४४ ॥

भगवान् शूली की आज्ञा से उस पर्वत के जङ्गलों का विभाग कर लिया । फिर तुमुल (महान्) कोलाहल से पृथ्वीमण्डल को व्याप्त करते हुए सर्वत्र अपने अपने विभाग में मृगया के बहाने घूमने लगे ॥ ४४ ॥

क्षुभिताभिनिःसृतविभिन्नशकुनिमृगयूथनिःस्वनैः ।
पूर्णपृथुवनगुहाविवरः सहसा भयादिव ररास भूधरः ॥ ४५ ॥

क्षुभितेति ॥ क्षुभितास्त्रस्ता अभिनिःसृताः स्वस्थानान्निर्गता विभिन्ना मुक्तसंघाश्च ये शकुनयः पक्षिणो मृगाश्च तेषां यूथानि तेषां निःस्वनैः पूर्णानि पृथूनि वनानि गुहाविवराणि च यस्य स भूधरः सहसा भयादिवेत्युत्प्रेक्षा । ररास चुक्रोश ॥ ४५ ॥

अब क्या था एक किरात से पशु-पक्षियों को त्रास हो जाता है, यहाँ तो उनकी सेना ही चल रही थी, सम्पूर्ण पर्वत के प्रत्येक वन में उन लोगों के घूमने से हलचल मच गई—

उस समय भयाकुल और अपने अपने स्थान से विनिर्गत तथा संघ से भ्रष्ट पशु पक्षियों की आर्तध्वनि से इन्द्रनील पर्वत के घने घने वन और कन्दराओं के विवर प्रतिध्वनित हो रहे थे उससे यह पर्वत आकस्मिक भय से क्रुद्ध हुए की तरह प्रतीत हो रहा था ॥ ४५ ॥

न विरोधिनी रुषमियाय पथिः मृगविहङ्गसंहतिः ।
घ्नन्ति सहजमपि भूरिभियः सममागताः सपदि वैरमापदः ॥ ४६ ॥

नेति ॥ पथि पलायनमार्गे विरोधिनी जातिवैरिणी मृगाणां सिंहव्याघ्रादीनां विहङ्गानां काकोलूकानां च संहतिः संघो रुषं परस्परक्रोधं नेयाय न प्राप । किन्तु सहैव चचारेत्यर्थः । तथा हि—भूरि प्रभूता भीर्यासु ताः समं साधारण्येन आगता आपदो विपत्तयः सहजं स्वाभाविकमपि वैरं सपदि घ्नन्ति । नीह संघातव्यसनेषु प्रजायते वैरानुबन्ध इति भावः ॥ ४६ ॥

भय से त्रस्त होकर भागते समय मार्ग में पशु-पक्षियों का संघ नैसर्गिक (स्वभाव सिद्ध) शत्रुता के कारण क्रुद्ध न हुआ (अर्थात् जन्मसिद्धशत्रुता के कारण एक दूसरे के हिंसक न

बने) विपुल त्रासपूर्ण आकस्मिक विपदायें स्वाभाविकी शत्रुता को नष्ट कर देती हैं ॥ ४६ ॥

चमरीगणैर्गणबलस्य बलवति भवेऽप्युपस्थिते ।
वंशविततिषु विषक्तपृथुप्रियवालवालधिभिराददे धृतिः ॥ ४७ ॥

चमरीति ॥ वंशविततिषु वेणुगुल्मेषु विषक्ता लग्नाः पृथवो भृशं प्रियवालाः प्रियरोमाणो वालधयः पुच्छानि येषां तैः । 'पुच्छोऽस्त्री लूमलाङ्गूले वालहस्तश्च वालधिः' इत्यमरः । चमरीगणैर्मृगविशेषैर्गणबलस्य शिवबलस्य संबन्धिनि । तद्धेतुक इत्यर्थः । संबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी । अन्यथा 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति पञ्चमी स्यात् । बलवति प्रबले भय उपस्थिते प्राप्तेऽपि धृतिर्धैर्यम् । आददे स्वीकृता । वालच्छेदभयात्प्राणहानिमप्यवगणय्य स्थितमित्यर्थः ॥ ४७ ॥

सीधी सादी बेचारी चमरी गायें भी डर से भगीं परन्तु करें क्या ? बाँस की झाड़ियों में उलझ गईं :—

चमरी गायें, जिनकी पुच्छ, जिसमें प्रचुर रोम थे, बाँस की झाड़ियों में संसक्त हो गई थी, प्रबल भय के उपस्थित होने पर धैर्य धारण करके यथास्थान [ज्यों की त्यों] खड़ी रहीं [क्योंकि अगर वे अपनी पूँछों को छुड़ाने के लिये घबड़ातीं तो कदाचित् किरातों के द्वारा देखी जातीं जिससे प्राण के जाने की आशङ्का थी यह समझ कर जहाँ की तहाँ रह गईं] ॥

हरसैनिकाः प्रतिभयेऽपि गजमदसुगन्धिकेसरैः ।
स्वस्थमभिददृशिरे सहसा प्रतिबोधजृम्भितमुखैर्मृगाधिपैः ॥ ४८ ॥

हरेति ॥ प्रतिभये भयहेतौ । 'भयङ्करं प्रतिभयम्' इत्यमरः । प्राप्तेऽपीति शेषः । गजमदैः सुगन्धयः सुरभयः केशराः सटा येषां तैः । हतानेकगजैरित्यर्थः । सहसा सेनाकलकलश्रवणानन्तरमेव प्रतिबोधेन निद्रापगमेन जृम्भितानि व्यात्तानि मुखानि येषां तैः मृगाधिपैः सिंहैः स्वस्थं निःशङ्कमेव यथा तथा हरसेनिकाः अभिददृशिरे ईक्षिताः । न तु किञ्चित्क्षुभितमित्यर्थः । युक्तं चैतद्राजनामधारिणां केसरिणामिति भावः ॥ ४८ ॥

सिंहों ने सेना की कलकल ध्वनि से निद्रा का परित्याग किया और फिर जँभाई ली उनके अयाल [गर्दन के बाल] हाथियों के मद से सुरभित हो रहे थे । यद्यपि उन्हें भय था तथापि निःशङ्क भाव से भगवान् शंकर की सेना को देखा ॥ ४८ ॥

बिभरांबभूवुरपवृत्तजठरशफरीकुलाकुलाः ।
पङ्कविषमिततटाः सरितः करिरुग्णचन्दनरसारुणं पयः ॥ ४९ ॥

बिभरामिति ॥ अपवृत्तजठरैस्तत्कालक्षोभाल्लुठितोदरैः शफरीकुलैराकुला व्याप्ताः पङ्कैर्विषमितानि दुर्गमीकृतानि तटानि कूलानि यासां ताः । सरितः करिभिः, पलायमानैरिति शेषः । रुग्णानां मार्गरोधितया भग्नानाम् । 'ओदितश्च' इति निष्ठानत्वम् । चन्दनानां रसैररुणं करिरुग्णचन्दनसारुणं पयो बिभरांबभूवुः । भृधातोः

'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' इत्याम्प्रत्ययः श्लुवद्भावश्च । 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति भुवोऽनुप्रयोगः ॥ ४९ ॥

सरितायें लुठितोदर मत्स्यों के समूहसे व्याप्त हो रही थीं । उनके तट कीचड़ के कारण दुर्गम हो रहे थे । और भयभीत होकर पलायमान हाथियों के द्वारा भग्न चन्दन वृक्ष के रसों से उनका जल अरुण वर्ण हो गया था ॥ ४९ ॥

महिषक्षतागुरुतमालनलदसुरभिः सदागतिः ।
व्यस्तशुकनिभशिलाकुसुमः प्रणुदन्ववौ वनसदां परिश्रमम् ॥ ५० ॥

महिषेति ॥ महिषैर्लुलायैः क्षतानि विदलितानि तैरगुरुभिस्तमालैर्नलदैरुशीरैश्च सुरभिः सुगन्धिः । व्यस्तानि विक्षिप्तानि शुकनिभानि शुकसवर्णानि शिलाकुसुमानि शैलेयाख्या ओषधिविशेषा येन सः । अतः शीतल इति भावः । 'कालानुसार्यवृद्धाश्म-पुष्पशीतशिवानि तु । शैलेयम्' इत्यमरः । 'शुकनिभ' इति स्वरूपकथनम् । सदा-गतिर्वायुः वनसदां वनेचराणां परिश्रमं प्रणुदन् । अतो मन्द इति भावः । 'मातरिश्वा सदागतिः' इत्यमरः । ववौ वाति स्म ॥ ५० ॥

महियों [भैसों] से विदलित अगुरु, तमाल और उशीर से सुरभित वायु शुकवर्ण सदृश [हरे रङ्ग के] शिला के पुष्पों को विकीर्ण करके वनप्रान्त निवासियों [किरातों] के मार्ग जनित खेद का शमन करता हुआ मन्द मन्द चलने लगा ॥ ५० ॥

मथिताम्भसो रयविकीर्णमृदितकदलीगवेधुकाः ।
क्लान्तजलरुहलताः सरसीर्विदधे निदाघ इव सत्त्वसंप्लवः ॥ ५१ ॥

मथिताम्भस इति ॥ सत्त्वसंप्लवः प्राणिसंक्षोभो निदाघो ग्रीष्म इव सरसीः सरांसि । 'कासारः सरसी सरः' इत्यमरः मथिताम्भसः संक्षोभितोदका रयेण पलायनवेगेन विकीर्णं व्याकीर्णं यथा तथा मृदिता निष्पीडिताः कदल्यो गवेधुका स्तृणधान्यविशेषाश्च यासां तास्तथोक्ताः । 'तृणधान्यानि नीवाराः स्त्री गवेधुर्गवेधुका' इत्यमरः । मृदित इति, क्ङिति च' इति गुणप्रतिषेधः । क्लान्ता जलरुहलताः पद्मिन्यो यासु ता एवंभूता विदधे चकार ॥ ५१ ॥

ग्रीष्मके समान, वन्य पशुओं के क्षुब्ध होने के कारण सरोवरों का जल विलोडित हो गया, भयभीत होकर भागने के वेग से इधर-उधर मार्ग में पड़े हुए केले और गवेधुक नाम के तृण मसला कर नष्ट भ्रष्ट हो गये जलीय लतायें [कमल, कुमुद, सेवालादिक] सब कुम्हला गईं ॥ ५१ ॥

इति चालयन्नचलसानुवनगहनजानुमापतिः ।
प्राप मुदितहरिणीदशनक्षतवीरुधं वसतिमैन्द्रसूनवीम् ॥ ५२ ॥

इतीति ॥ इति इत्थम् । उमापतिरचलसानुषु वनेषु उपभोग्यवृक्षेषु गहनेषु दावेषु च जातस्तथोक्तान् । सत्त्वानिति शेषः । चालयन् । मुदितानां हरिणीनां दशनैः

क्षता वीरुधो लता यस्यां ताम् । इन्द्रसूनोरिमां ऐन्द्रसूनवीम् । वसत्यत्रेति वसतिमाश्रमम् । 'वहिवस्यर्तिभ्यश्चित्' इत्यौणादिको वसतेरतिप्रत्ययः । प्राप ॥ ५२ ॥

इस तरह भगवान् शंकर उस इन्द्रनील के शिखर के उपभोग्य वृक्षों तथा जङ्गलों के समस्त जीवों को विक्षुब्ध करके इन्द्रपुत्र [अर्जुन] सम्बन्धी निवासस्थान में पहुँचे, जहां के तृण प्रसन्नचित्त हरिणियों के दाँत से छिन्न [कर दिये गये] थे ॥ ५२ ॥

स तमाससाद घननीलमभिमुखमुपस्थितं मुनेः ।
पोत्रनिकषणविभिन्नभुवं दनुजं दधानमथ सौकरं वपुः ॥ ५३ ॥

स इति ॥ अथ अनन्तरं स शिवो घनशीलं मेघमेचकं मुनेरर्जुनस्य । अभिमुखमुपस्थितमागतं पोत्रस्य मुखाग्रस्य निकषणेनोल्लेखनेन विभिन्ना विदारता भूर्येन तम् । 'मुखाग्रे क्रोडहलयोः पोत्रम्' इत्यमरः । 'हलसूकरयोः पुवः' इति ष्ट्रन्प्रत्ययः । सूकरस्येदं सौकरं वाराहं वपुर्दधानं दनुजं दानवम् । आससाद प्राप । ददर्शेति यावत् ॥

इसके अनन्तर शंकर भगवान् (नील नीरद सदृश) बादल के समान काले, सूकरवेषधारी दानव के समीप, जो अर्जुन के समक्ष उपस्थित होकर अपने थूथन [मुख का अग्रभाग] को घिस कर भूमि खोद रहा था, आये ॥ ५३ ॥

कच्छान्ते सुरसरितो निधाय सेनामन्वीतः स कतिपयैः किरातवर्यैः ।
प्रच्छन्नस्तरुगहनैः सगुल्मजालैर्लक्ष्मीवाननुपदमस्य संप्रतस्थे ॥ ५४ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये द्वादशः सर्गः ।

कच्छान्त इति ॥ लक्ष्मीवान् । 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' इति मतुपो मकारस्य वकारादेशः । स शिवः । सुरसरितो मन्दाकिन्याः कच्छान्तेऽनूपप्रान्ते । 'जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः । सेनां निधाय । स्थापयित्वेत्यर्थः । कतिपयैः किरातवर्यैरन्वीतोऽनुगतः सन् । 'ई गतौ' इति धातोरनुपूर्वात्कर्मणि क्तः । सगुल्मजालैर्लताप्रतानसहितैः । तरुगहनैः प्रच्छन्नश्छादितः । 'वा दान्तशान्त—' इत्यादिना निपातः । यस्य वराहस्य पदमनु अनुपदम् । पदानुसारेणेत्यर्थः । संप्रतस्थे प्रस्थितः । 'समवप्रविभ्यः स्थ' इत्यात्मनेपदम् । प्रहर्षिणीवृत्तम् ॥ ५४ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां द्वादशः सर्गः समाप्तः ॥

श्रीसम्पन्न भगवान् शङ्कर ने भागीरथी के कच्छ में अपनी किरातों की सेना को स्थापित कर दिया और कुछ कार्यकुशल किरातों को साथ लेकर लता-जालों से युक्त घने घने वृक्षों से अन्तर्हित होते हुए [वृक्षों की आड़ में छिपकर] उस वराहवेषधारी मूक दानव के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए आगे बढ़े ॥ ५४ ॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

त्रयोदशः सर्गः

वपुषा परमेण भूधराणामथ संभाव्यपराक्रमं विभेदे ।
मृगमाशु विलोकयांचकार स्थिरदंष्ट्रोग्रमुखं महेन्द्रसूनुः ।। १ ।।

वपुषेति ।। अथ ईश्वरप्रस्थानानन्तरं महेन्द्रसूनुरर्जुनः परमेण महता वपुषा हेतुना भूधराणां बिभेदे विदारणे संभाव्यपराक्रमं क्षमोऽयमिति प्रतर्क्यपौरुषं स्थिराभ्यां दृढाभ्यां दंष्ट्राभ्यामुग्रं मुखं यस्य तं मृगम् । वराहमित्यर्थः । आशु तदागमनानन्तरम् । अविलम्बेनेत्यर्थः । विलोकयांचकार ददर्श । अस्मिन्सर्गे प्राक्पञ्चत्रिंशच्छ्लोकादौपच्छन्दसिकं वृत्तम् ।। १ ।।

सुरेन्द्रपुत्र [अर्जुन] ने सूकर को आते ही देखा । उन्होंने अनुमान किया कि 'यह विशालकाय होने के कारण पर्वतों को खण्ड-खण्ड करके नष्ट करने में समर्थ है ।' उसका मुख दृढ़ दाँतों से भयङ्कर था ।। १ ।।

स्फुटबद्धसटोन्नतिः स दूरादभिधावन्नवधीरितान्यकृत्यः ।
जयमिच्छति तस्य जातशङ्के मनसीमं मुहुराददे वितर्कम् ।। २ ।।

स्फुटेति ।। स्फुटा स्पष्टा बद्धा विरचिता सटानां केसराणामुन्नतिरुद्धतिर्यस्य सः । क्रोधार्द्धर्षितलोमेत्यर्थः । 'सटा जटाकेसरयोः' इति विश्वः । दूरादभिधावन् संमुखमापतन् । तथा, अवधीरितान्यकृत्यस्त्यक्तान्यकर्मा स वराहो जयमिच्छति जयार्थिनि अत एव जातशङ्के । स्वयं जिघांसोर्द्विषामेकलक्ष्यत्वादिति भावः । तस्य मुनेर्मनसि मुहुरिमं वितर्कं वक्ष्यमाणमूहम् । 'अध्याहारस्तर्क ऊहः' इत्यमरः । आदद उत्पादयामास ।। २ ।।

उस वराह ने अपने अयाल को फरफरा कर ऊँचा कर लिया था । उस क्षण वह और दूसरे कार्यों से विरत था, दूर से चला आ रहा था । उसने जयाभिलाषी अर्जुन के मनमें जिसमें शङ्का ने अपना स्थान जमा लिया था; बार-बार तर्क-वितर्क करने का अवसर दिया अर्थात् उसे देखकर अर्जुन के मन में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क उठने लगे ।। २ ।।

अथैकादशभिर्वितर्कमेव निरूपयति—

घनपोत्रविदीर्णशालमूलो निबिडस्कन्धनिकाषरुग्णवप्रः ।
अयमेकचरोऽभिवर्तते मां समरायेव समाजुहूषमाणः ।। ३ ।।

घनपोत्रेति । घनेन कठिनेन पोत्रेण मुखाग्रेण विदीर्णानि विदलितानि शालमूलानि वृक्षमूलानि येन सः । निबिडस्य स्कन्धस्य निकाषेण निकषणेन रुग्णवप्रो भग्नसानुः । अतो महासत्त्वसंपन्न इति भावः । एकश्चासौ चरश्चेति एकचर एकाकी । यूथादपेत इत्यर्थः । अतः, अयं वराहः समराय समरं कर्तुम् । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति चतुर्थी । समाजुहूषमाण इव समाह्वातुमिच्छन्निव । 'इव'-

शब्दः संभावनायाम्। समाह्वयतेः सन्नन्ताच्छानच्प्रत्ययः। 'स्पर्धायामाङः' 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदम्। 'अभ्यस्तस्य च' इति संप्रसारणम्। मामभिवर्तते मामभिधावति। उपसर्गवशात् सकर्मकत्वम्। अतः सर्वथा नायमुपेक्ष्य इति भावः॥ ३॥

कठोर मुखाग्र [थूथन] से शाल वृक्ष की जड़ को खोद डाला है। अपने परिणद्ध कंधे के कण्डूयनार्थ रगड़ने से पहाड़ के शिखर को भी तोड़ डाला है, यह अकेला है। मालूम पड़ता है कि युद्ध के लिये आह्वान करता है॥ ३॥

इह वीतभयास्तपोऽनुभावाज्जहति व्यालमृगाः परेषु वृत्तिम्।
मयि तां सुतरामयं विधत्ते विकृतिः किं नु भवेदियं नु माया॥ ४॥

इहेति॥ इह आश्रमे तपोनुभावाद्वीतभयाः। लक्षणया विगतवैरा इत्यर्थः। अत एव व्यालमृगाः क्रूरव्याघ्रादयः। 'व्यालो भुजङ्गमे क्रूरे श्वपदे दुष्टदन्तिनि' इति विश्वः। परेषु प्राण्यन्तरेषु वृत्तिं जीविकां जहति। हिंसया न जीवन्तीत्यर्थः। अयं वराहो मयि मद्विषये तां वृत्तिं सुतरां विधत्ते करोति। मां हन्तुमिच्छतीत्यर्थः। तदियं विकृतिस्तपःसामर्थ्यभङ्गरूपा भवेत्किं नु। यद्वा, माया कस्यचिद्दैत्यस्य वराहभूमिका भवेत् नु। 'किन्नु' शब्दौ वितर्के॥ ४॥

इस आश्रम में सर्प और हिंस्रक जन्तु निडर होकर तपस्वियों के प्रति शत्रुता का व्यवहार छोड़ देते हैं। परन्तु यह उसी वृत्ति का अवलम्बन कर रहा है। यह किसी प्रकार की मेरी न्यूनता है अथवा किसी दैत्य-दानव की माया है?॥ ४॥

अथवैष कृतज्ञयेव पूर्वं भृशमासेवितया रुषा न मुक्तः।
अवधूय विरोधिनीः किमारान्मृगजातीरभियाति मां जवेन॥ ५॥

अथवेति॥ 'अथवा' इति पक्षान्तरे। एष मृगः पूर्वं जन्मान्तरे भृशमत्यर्थम्। आसेवितयाऽतिपरिचितया रुषा क्रुधा। मद्गोचरयेति शेषः। कृतज्ञयेव पूर्वकृतं वैरानुबन्धं संप्रति जानात्येवेत्युत्प्रेक्षा। न मुक्तो न त्यक्तः। अद्यापीति शेषः। नूनमयं प्राग्भवीयवैरानुबन्धी कश्चित्। संप्रति वैरबीजासंभवादिति भावः। कुतः यद्यत आरात् समीपतः। 'आराद्दूरसमीपयोः' इत्यमरः। विरोधिनीर्मृगजातीरवधूय त्यक्त्वा जवेन मामभियाति अभिधावति। अन्यथा नाभियायादिति भावः॥ ५॥

अथवा जन्मान्तर के परिचित क्रोध से, जिसको वह अभी भूला नहीं है, उपहत हो रहा है। नहीं तो निसर्ग विरोधशालिनी पशुजाति को छोड़ कर यह इस वेग से मुझ पर ही क्यों आक्रमण करता?॥ ५॥

न केवलमभियानमेव, किं च मनोवृत्तिरप्यत्र प्रमाणमित्याह—

न मृगः खलु कोऽप्ययं जिघांसुः स्खलति ह्यत्र तथा भृशं मनो मे।
विमलं कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं वा॥ ६॥

न मृग इति॥ अयं मृगो न खलु, किंतु कोऽपि कश्चिदन्य एव जिघांसुर्हन्तुमि-

च्छुः हन्तेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'अभ्यासाच्च' इति कुत्वम् । 'अज्जनगमां सनि' इति दीर्घः । कुतः । हि यस्मात्, अत्रास्मिन्मृगविषये मे मनस्तथा भृशं स्खलति क्षुभ्यति । यथायं जिघांसुरिति बुद्धिरुत्पद्यत इत्यर्थः । तथा हि—विमलं प्रसन्नं तथा कलुषीभवत् क्षुभ्यच्च चेत एव हितैषिणं रिपुं वा मित्रममित्रं च कथयति । यत्र यत्र मनः प्रसीदति तदेव मित्रम् । अन्यथा त्वन्यथेति निश्चितमित्यर्थः । अतोऽयं वध्य इति भावः ॥६॥

यह सूकर नहीं है, किन्तु कोई अन्य ही मेरे प्राण का ग्राहक है, क्योंकि इसके विषय में मेरा मन बार-बार क्षुब्ध हो रहा है । चित्त का प्रसन्न होना तथा मलिन होना मित्र और शत्रु की सूचना देता है [अर्थात् जिसके प्रति मन प्रसन्न होता है वह मित्र रहता है और जिसके प्रति मन में क्षोभ उत्पन्न होता है वह शत्रु रहता है] ॥ ६ ॥

ननु मुनेः किमनया दुःशङ्कया, तत्राह—

मुनिरस्मि निरागसः कुतो मे भयमित्येष न भूयतेऽभिमानः ।
परवृद्धिषु बद्धमत्सराणां किमिव ह्यस्ति दुरात्मनामलङ्घ्यम् ॥ ७ ॥

मुनिरिति ॥ मुनिरस्मि । अतो निरागसो निरपराधस्य मे कुतो भयमित्येषोऽभिमानोऽहंकारः अनपकारिणं मां कोऽपि किं करिष्यतीति बुद्धिर्भूतये श्रेयसे न भवति । तथा हि—परवृद्धिषु विषये बद्धमत्सराणां दुरात्मनामलङ्घ्यं किमिवास्ति न किंचिदकार्यमस्तीत्यर्थः । 'इव' शब्दो वाक्यालङ्कारे ॥ ७ ॥

'मैं तपस्वी हूँ । निरपराध हूँ । मुझे भय किसका ?' यह अहंकार कल्याणकारक न होगा । दूसरे की उन्नति में जलने वाले दुर्जनों के लिये कौन ऐसी सीमा [धर्म बन्धन] है जिसका वे उल्लंघन नहीं कर सकते ॥ ७ ॥

अस्तु, जिघांसुरपि क्षुद्रः किं करिष्यतीत्यत्राह—

दनुजः स्विदयं क्षपाचरो वा वनजे नेति बलं बतास्ति सत्त्वे ।
अभिभूय तथा हि मेघनीलः सकलं कम्पयतीव शैलराजम् ॥ ८ ॥

दनुज इति ॥ अयं दनुजः स्वित् दानवो वा क्षपाचरो राक्षसो वा । न तु मृग एवेत्यर्थः । कुतः । वनजे सत्त्वे वन्यप्राणिनि । इति ईदृशं बलं नास्ति । बतेत्याश्चर्ये । बलमेव समर्थयते । तथा हि—मेघनीलोऽयं बराहः सकलं शैलराजमभिभूय आक्रम्य कम्पयतीव । पदविष्टम्भभरात्तथा प्रतीयत इत्यर्थः । अत्र कम्पयतीवेत्युत्प्रेक्षागर्भोऽयं शैलकम्पनरूपकार्येण तत्कारणबलातिरेकसमर्थनात्कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ८ ॥

यह [वराह] दानव है अथवा राक्षस [दो में से एक तो अवश्य है] क्योंकि वन्यप्राणियों में इतना बल कहाँ ? । मेघ के समान यह काला सूकर सम्पूर्ण पर्वतराज को आक्रान्त करके हिलाता हुआ की भाँति प्रतीत हो रहा है ॥ ८ ॥

किंच, योऽयं शैले मृगयाकलकल इव श्रूयते सोऽप्येतन्मायापरिकल्पित एवेत्याह—

अयमेव मृगव्यसत्रकामः प्रहरिष्यन्मयि मायया शमस्थे।
पृथुभिर्ध्वजिनीरवैरकार्षीच्चकितोद्भ्रान्तमृगानि काननानि॥ ९॥

अयमिति॥ अयमेव शमस्थे शान्तिनिविष्टे इति रन्ध्रोक्तिः। मयि। अधिकरण विवक्षायां सप्तमी। मायया प्रहरिष्यन्। प्रहर्तुमिच्छन्नित्यर्थः। 'लृट शेषे च' इति चकारात्क्रियार्थायां क्रियायां लृट्। 'लृटः सद्वा' इति शत्रादेशः। मृगव्यं मृगया तस्य सत्रं वनं तदर्थं वनमित्यर्थः। तत्कामयत इति मृगव्यसत्रकामः मृगयाभूमिपरिग्रहार्थी सन्नित्यर्थः। 'कर्मण्यण्' 'आच्छोदनं मृगव्यं स्यादाखेटो मृगया स्त्रियाम्' इति, 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदादाने वनेऽपि च' इति चामरः। पृथुभिर्बृहद्भिर्ध्वजिनीरवैः सेनाकलकलैः। स्वमायया कल्पितैरेवेत्यर्थः। काननानि चकितोद्भ्रान्तास्त्रस्तपलायिता मृगा येषु तानि। अकार्षीच्चकार। अयमेव रन्ध्रान्वेषी मत्प्रहारार्थं स्वयमेव मृगयुर्भूत्वा वनावरोधाय सेनाघोषं कल्पयामास। स मृगरूपेणागच्छतीत्यर्थः॥ ९॥

यह (सूकर) ही आखेट भूमि की अभिलाषा से शमावलम्बी मुझ पर माया के द्वारा प्रहार करने की इच्छा करता हुआ अपनी विशाल सेना की कलकल ध्वनि से वनों के पशु-पक्षियों को भय उत्पन्न कर भगा रहा है॥ ९॥

वितर्कान्तरमाह—

बहुशः कृतसत्कृतेर्विधातुं प्रियमिच्छन्नथवा सुयोधनस्य।
क्षुभितं वनगोचराभियोगाद् गणमाशिश्रियदाकुलं तिरश्चाम्॥ १०॥

बहुश इति॥ अथवा बहुशः कृता सत्कृतिः सत्कारो येन तस्य सुयोधनस्य प्रियं मद्वधरूपं प्रतिप्रियं विधातुं कर्तुमिच्छन्। यः कश्चिदिति शेषः। वनं गोचरस्थानं येषां तेषां वनगोचराणामभियोगादवरोधात्। अभियोगोऽवरोधः स्यात्' इति हलायुधः। क्षुभितमुद्विग्नमाकुलं चलं तिरश्चां मृगादिपशूनां गणमाशिश्रियत् वराहरूपेण प्राविक्षत्। 'णिश्रिद्रुसुभ्यः कर्तरि चङ्', 'चङि' इति द्विर्भावः॥ १०॥

अथवा सुयोधन ने इसका खूब स्वागत किया है जिसके कारण (मेरा वधरूप) उसके हित की कामना करता हुआ वन निवासियों को अवरुद्ध कर दिया है जिससे जीवजन्तुओं का समूह क्षुब्ध हो गया हैं। इसने भी उसी का आश्रय लिया हैं, अर्थात् सूकर का रूप बना लिया है॥ १०॥

वितर्कान्तरमाह—

अवलीढसनाभिरश्वसेनः प्रसभं खाण्डवजातवेदसा वा।
प्रतिकर्तुमुपागतः समन्युः कृतमन्युर्यदि वा वृकोदरेण॥ ११॥

अवलीढेति ।। खाण्डवजातवेदसा खाण्डववनाग्निना प्रसभमवलीढसनाभिर्दग्ध-बन्धुः । 'सपिण्डास्तु सनामयः । सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः समाः' इत्यमरः । अत एव समन्युर्वद्धवैरः । तस्यार्जुनस्यापकारयितृत्वादिति भावः । अश्वसेनस्तक्षकपुत्रः कश्चिन्महासर्पः प्रतिकर्तुं वैरनिर्यातनार्थम् । उपागतो वा । वराहमाययेति शेषः । पक्षान्तरमाह—यदि वा वृकोदरेण भीमसेनेन कृतमन्युर्जनितक्रोधो वा । कश्चिदिति शेषः । पुरा किल पाण्डवः खाण्डवदाहे पावकभयात् पलायमानांस्तक्षकपुत्रानश्वसेनस्य बन्धून् बाणैरवरुध्य दाहयामासेति भारतकथा ।। ११ ।।

अथवा अश्वसेन (तक्षकपुत्र), जिसके बन्धु बान्धव खाण्डव वन की अग्नि से जला दिये गये, इदानीं क्रुद्ध होकर बदला चुकाने के लिए उपस्थित हुआ है अथवा भीम से क्रोध को प्राप्त किया हुआ कोई मुझसे बदला लेने के लिए उपस्थित हुआ है ।। ११ ।।

अथ द्वाभ्यामनन्तरकरणीयमध्यवस्यति—बलेत्यादिना—

बलशालितया यथा तथा वा धियमुच्छेदपरामयं दधानः ।
नियमेन मया निबर्हणीयः परमं लाभमरातिभङ्गमाहुः ।। १२ ।।

किं बहुना, यथा तथा वाऽस्तु । अयं मायिकः पारमार्थिको वाऽस्त्वित्यर्थः । सर्वथापि बलशालितया । बलदृप्ततयेत्यर्थः । उच्छेदपरां धियं दधानः । मां जिघांसुरित्यर्थः । अतोऽयं मृगो नियमेनावश्यं मया निबर्हणीयो वध्यः । 'प्रमाणं निबर्हणम्' इत्यमरः । तथा हि—अरातिभङ्गं शत्रुक्षयं परमं लाभमाहुः ।। १२ ।।

यह चाहे जो हो दैत्य या दानव (इसकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं) बल से गर्वित होकर यह मेरे नाश की बुद्धि रखता है, अतः मेरे द्वारा वह अवश्य वध्य है क्योंकि शत्रु का विच्छेद करना सबसे बड़ा लाभ है ।। १२ ।।

ननु तपोविरोधिनी हिंसेत्याशङ्क्याह—

कुरु तात तपांस्यमार्गदायी विजयायेत्यलमन्वशान्मुनिर्माम् ।
बलिनश्च वधादृतेऽस्य शक्यं व्रतसंरक्षणमन्यथा न कर्तुम् ।। १३ ।।

कुर्विति ।। हे तात वत्स, मार्गदायी न भवतीति अमार्गदायी । रन्ध्रान्वेषिणां प्रवेशमयच्छन्नित्यर्थः । कुतः । जयार्थित्वादित्याह—विजयाय तपांसि कुर्विति मुनिर्व्यासो मामलं भृशम् । अन्वशात् अनुशिष्टवान् । अनुशासेर्लङ् । ननु मुनिर्वा कथमधर्ममन्वशात्, तत्राह—बलिन इति । अस्य मृगस्य बलिनः प्रबलस्य वधादृते वधं विना । 'अन्यारादितरर्ते–' इत्यादिना पञ्चमी । अन्यथा उपायान्तरेण व्रतसंरक्षणं तपोरक्षणं कर्तुं न शक्यम् । हिंसापि दुष्टनिग्रहात्मिका नाधर्म इत्यर्थः ।। १३ ।।

'हे तात, छिद्रान्वेषणकारियों को अवसर न देते हुए विजयार्थ तपश्चरण करो' इस प्रकार की शिक्षा व्यासजी ने मुझे दी है । पराक्रमशाली इस वराह का वध किये बिना मैं किसी अन्य उपाय से व्रत की रक्षा नहीं कर सकता ।। १३ ।।

इति तेन विचिन्त्य चापनाम प्रथमं पौरुषचिह्नमाललम्बे ।
उपलब्धगुणः परस्य भेदे सचिवः शुद्ध इवाददे च बाणः ॥ १४ ॥

इतीति ॥ तेनार्जुनेन । इतीत्थं विचिन्त्य वितर्क्य चापनाम चापाख्यं प्रथमं पौरुषचिह्नम् । तस्य मुख्यायुधत्वादिति भावः । आललम्बे गृहीतम् । कर्मणि लिट् । अथ परस्य शत्रोर्भेदे विदारण उपजापे च उपलब्धगुणो ज्ञातशक्तिः वाणस्तु प्राप्तमौर्वीकश्चेति शेषः । शुद्धो ऋजुर्दिग्धत्वादिदोषरहितो वा । 'न कर्मभेदेर्नो. दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजसैः' इति निषेधात् । अन्यत्र,—शुद्धो निर्मलचित्त इति यावत् । बाणश्च सचिव इव । आददे जगृहे । अत्र बाणसचिवयोः शब्दमात्रसाधर्म्याच्छ्लेषालंकारः प्रकृताप्रकृतविषय इति सर्वस्वकारः । उपमैवेति केचित् ॥ १४ ॥

इस तरह सोच-विचार कर अर्जुन नें सब से पहिले पुरुषार्थ का सूचक धनुष उठाया (फिर) विशुद्ध मन्त्री की तरह निर्दोष बाण को, जिसकी शत्रु-भेदन शक्ति छिपी हुई नहीं थी । अर्थात् जिसकी शक्ति वे स्वयं जानते थे, धारण किया (हाथ में लिया) ॥ १४ ॥

अनुभाववता गुरु स्थिरत्वादविसंवादि धनुर्धनञ्जयेन ।
स्वबलव्यसनेऽपि पीड्यमानं गुणवन्मित्रमिवानतिं प्रपेदे ॥ १५ ॥

अनुभावेति ॥ गुरु महत्पूज्यं च स्थिरात् सारवत्त्वात् । अविसंवादि अभङ्गुरम् । अन्यत्र—प्रतिष्ठितत्वादसत्यरहितम् । गुणवत् सज्यम् । अन्यत्र—औदार्यादिगुणवत् । धनुर्मित्रमिवानुभाववता निश्चयबुद्धिमता । 'अनुभावः प्रभावे च सतां च मतिनिश्चये' इत्यमरः । धनञ्जयेन स्वबलव्यसनेऽपि तपसा क्षीणत्वेऽपि । अन्यत्र स्वं धनं तदेव बलं तस्य व्यसने ह्रासेऽपि । पीड्यमानमाकृष्यमाणमवरुध्यमानं च सत् मित्रमिव । आनतिं नम्रतामानुकूल्यं च प्रपेदे । अलंकारस्तु पूर्ववत् ॥ १५ ॥

निश्चयात्मक बुद्धिशाली अर्जुन के द्वारा—महान् (गाण्डीव) धनुष जो सारपूर्ण होने से अभङ्गुर था तथा प्रत्यञ्चा से युक्त था, तपस्या के कारण अर्जुन के क्षीण बल हो जाने पर भी—आकृष्ट होकर मित्र की तरह झुक गया ॥ १५ ॥

प्रविकर्षनिनादभिन्नरन्ध्रः पदविष्टम्भनिपीडितस्तदानीम् ।
अधिरोहति गाण्डिवं महेषौ सकलः संशयमारुरोह शैलः ॥ १६ ॥

प्रविकर्षेति ॥ तदानीं तस्मिन्काले महेषौ बाणे गण्डिवमर्जुनधनुः । अधिरोहति सति । 'कपिध्वजस्य गाण्डीवगाण्डिवौ पुंनपुंसकौ' इत्यमरः । 'गाण्ड्यजगात्संज्ञायाम्' इति वप्रत्ययः । प्रविकर्षेण ज्यास्फालनेन यो निनादस्तेन भिन्नरन्ध्रो विदलितगह्वरः तथा, पदविष्टम्भेन पादाक्रमणेन निपीडितो नुन्नः सकलः समूलः शैलः संशयं जीवितसंदेहम् । आरुरोह । प्रापेत्यर्थः । अत्र शैलस्य संशयासंबन्धेऽपि संबन्धकथनादतिशयोक्तिरलंकारः ॥ १६ ॥

उस क्षण अर्जुन के गाण्डीव धनुष पर वाण के चढ़ते ही प्रत्यञ्चा के आकृष्ट होने से उत्पन्न ध्वनि के कारण गुफायें गूँज गईं। अर्जुन के पदप्रक्षेप के कारण पर्वत झुक गया जिससे पर्वत के निवासियों को अपने अस्तित्व में आशंका होने लगी ॥ १६ ॥

ददृशेऽथ सविस्मयं शिवेन स्थिरपूर्णायतचापमण्डलस्थः ।
रचितस्तिसृणां पुरां विधातुं वधमात्मेव भयानकः परेषाम् ।। १७ ।।

ददृश इति ।। अथ बाणसंधानानन्तरं शिवेन स्थिरं निश्चलं पूर्णं च यथा तथा, आयत आकृष्टे चापमण्डले तिष्ठतीति तथोक्तः । चापमण्डलमन्तर्धाय स्थितः इत्यर्थः । तिसृणाम् । 'न तिसृचतसृ' इति दीर्घप्रतिषेधः । पुराम् । त्रिपुरासुरस्येत्यर्थः । वधं संहारं विधातुं कर्तुं रचितः कल्पितः । स्थानविशेषे स्थापित इति यावत् । आत्मा स्वयमिव परेषां भयानको भयंकरः सोऽर्जुनः सविस्मयं ददृशे दृष्टः । उपमालंकारः ।। १७ ।।

इसके अनन्तर शङ्कर भगवान् ने देखा कि—पूर्ण विस्तार युक्त धनुष के मण्डल में अविचल भाव से खड़े हुए त्रिपुरासुर का वध करने के लिये धनुष-मण्डल गत स्वयं की तरह शत्रु के लिये (वह अर्जुन) भयङ्कर प्रतीत हो रहे हैं ॥ १७ ॥

अथ पिनाकिवृत्तान्तमाह—

विचकर्ष च संहितेषुरुच्चैश्चरणास्कन्दननामिताचलेन्द्रः ।
धनुरायतभोगवासुकिज्यावदनग्रन्थिविमुक्तवह्नि शंभुः ।। १८ ।।

विचकर्षेति ।। अथ शंभुश्च संहितेषुः सन् उच्चैर्भृशं चरणास्कन्दनेन पदविष्टम्भेन नामितोऽधो नीतोऽचलेन्द्रो येन स तथोक्तः । आयतभोग आकृष्टकायो वासुकिरेव ज्या तस्य—वदनमेव ग्रन्थिस्तेन विमुक्त उत्सृष्टो वह्निर्यस्य तत् धनुर्विचकर्षेति स्वभावोक्तिः ।। १८ ।।

शङ्कर भगवान् ने भी अवस्थान-पूर्वक धनुष आकृष्ट किया, उनके चरण के दवाव से पर्वत झुक गया और विशाल वासुकी के अङ्गोंसे जो कि उस धनुष की प्रत्यञ्चा का काम दे रहे थे, अग्नि के स्फुलिङ्ग निकलने लगे ॥ १८ ॥

स भवस्य भवक्षयैकहेतोः सितसप्तेश्च विधास्यतोः सहार्थम् ।
रिपुराप पराभवाय मध्यं प्रकृतिप्रत्यययोरिवानुबन्धः ।। १९ ।।

स इति ।। सह संभूय अर्थमरिवधरूपप्रयोजनं विधास्यतोः करिष्यतोः । अन्यत्र—सहार्थमभिधेयमभिधास्यतोरित्यर्थः । 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः' इति वचनात् । भवक्षयैकहेतोः संसारोच्छेदनिदानस्य भवस्य शिवस्य सितसप्तेरर्जुनस्य च मध्यं रिपुर्वराहः । यस्मात्प्रत्ययो विधीयते सा प्रकृतिर्धात्वादिः, प्रत्ययः सनादिः, तयोर्मध्यमनुबन्ध इत्संज्ञको वर्णः । यथा भूतं भूतिरित्यादौ ककारः । स इव पराभवाय नाशाय लोपार्थमेव आप । न तु स्थित्यर्थमित्यर्थः ।। १९ ।।

जिस तरह शब्द में व्याकरण शास्त्र के अनुसार प्रकृति और प्रत्यय होते हैं । ये दोनों एक साथ मिलकर एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं । प्रत्यय के साथ जब कभी अनुबन्ध होता है उसका लोप कर देते हैं । उदाहरण के लिये 'भूत' इस पद को लीजिये इसमें 'भू' धातु (प्रकृति) है और 'क्त' (कृत्) प्रत्यय है और 'क्त' में क् अनुबन्ध है उसका लोप हो जाता है फिर प्रत्यय तकार जो अवशेष रह जाता है उसीसे प्रकृति के साथ अर्थ का भान होता है । उसी तरह जन्म-मरण रूप जो संसार का बन्धन है उसके नाश करने में अद्वितीय शङ्कर भगवान् और अर्जुन दोनों एक साथ लक्ष्यभेद रूप अर्थसिद्धि के विधान करने की अभिलाषा कर रहे थे । उनके बीच में वह सूकर (शत्रु) नाशार्थ प्राप्त हुआ न कि स्थित्यर्थ ॥ १९ ॥

अथ दीपितवारिवाहवर्त्मा रववित्रासितवारणादवार्यः ।
निपपात जवादिषुः पिनाकान्महतोऽभ्रादिव वैद्युतः कृशानुः ॥ २० ॥

अथेति ॥ अथ रिपोर्मध्यप्रवेशानन्तरं दीपितं वारिवाहवर्त्म आकाशं येन सः । अवार्यो दुर्वार इषुः शरो रववित्रासितवारणात् स्वघोषभीपितगजात् पिनाकात् शिवधनुषः । 'पिनाकोऽजगवं धनुः' इत्यमरः । महतोऽभ्रान्मेघात्, विद्युतोऽयं वैद्युतः कृशानुरशनिरिव जवाद्वेगात् । निपपातादधाव ॥ २० ॥

इसके अनन्तर अमोघ बाण आकाश-पथ को विभासित करता हुआ बड़े वेग से शंकर के महान् अजगव धनुष से, जिसके टङ्कार से हाथियों का झुण्ड थर्रा जाता था, मेघमण्डल से विद्युज्ज्वाला की तरह छूटा ॥ २० ॥

व्रजतोऽस्य बृहत्पतत्रजन्मा कृतताक्ष्योंपनिपातवेगशङ्कः ।
प्रतिनादमहान्महोरगाणां हृदयश्रोत्रभिदुत्पपात नादः ॥ २१ ॥

व्रजत इति ॥ व्रजतो धावतोऽस्य बाणस्य बृहद्भ्यः पतत्रेभ्यः पक्षेभ्यो जन्म यस्य स तथोक्तः । कृता ताक्ष्योंपनिपातवेगशङ्का गरुडागमनवेगभ्रमो येन सः । अत एव, महोरगाणां सर्पाणां हृदयानि श्रोत्राणि च भिनत्तीति हृदयश्रोत्रभित् । 'समुद्राभ्राद्धः' इति सूत्रे पूर्वनिपातव्यभिचारात् 'श्रोत्र' शब्दस्य पूर्वनिपातव्यभिचारः । प्रतिनादैः प्रतिध्वनिभिः महान् संमूर्च्छितो नाद उत्पपात उत्थितः । अत्र नादस्योरगहृदयभेदकत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः । सा च ताक्ष्यवेगभ्रमोत्थापितेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन संकर ॥ २१ ॥

लक्ष्य की ओर महान् वेग से जाते हुए शंकर के बाण के शब्दने, जो कि विशाल शरपुंख से प्रादुर्भूत हुआ था, और जिससे गरुड़ के वेगपूर्वक आगमन की शङ्का होती थी, प्रतिध्वनित होकर विशालरूप धारण कर लिया । उससे भीषण सर्पों के हृदय और कान फटने लगे ॥ २१ ॥

नयनादिव शूलिनः प्रवृत्तैर्मनसोऽप्याशुतरं यतः पिशङ्गः ।
विदधे विलसत्तडिल्लताभैः किरणैर्व्योमनि मार्गणस्य मार्गः ॥ २२ ॥

नयनादिवेति ॥ शूलिनो नयनात् प्रवृत्तैर्निर्गतैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । नेत्राग्निशिखाकल्पैरित्यर्थः । पिशङ्गैः पिङ्गलैः विलसत्तडिल्लताभैर्विद्युद्दामतुल्यैरित्युपमा । मनसश्चितादपि आशुतरं शीघ्रतरम् । 'आशु' शब्दादनव्ययात्तरप् । अतः 'किमेत्तिङव्यय–' इत्यादिनाम्प्रत्ययो न । 'क्लीबे शीघ्राद्यसत्त्वे स्यात्त्रिष्वेषां सत्त्वगामि यत्' इत्यमरः । यतो गच्छतः । इणः शतृप्रत्ययः मार्गणस्य शरस्य । 'कदम्बमार्गणशराः' इत्यमरः । किरणैर्व्योमनि आकाशे मार्गे उल्कारेखाकारः पन्था विदधे विरचित इति स्वभावोक्तिरलंकारः ॥ २२ ॥

मन से भी शीघ्रगति से जाते हुए (शंकर भगवान् के) वाण की किरणों के द्वारा, जो कि शङ्कर भगवान् के तीसरे नेत्र से निर्गत वह्निज्वाला के सदृश थीं; तथा परिस्फुरण करती हुई विद्युल्लता के सदृश पिशङ्ग वर्ण की थीं; आकाश में उल्कारेखा सदृश मार्ग बन गया ॥ २२ ॥

अपयन्धनुषः शिवान्तिकस्थैर्विवरेसद्भिरभिख्यया जिहानः ।
युगपद्ददृशे विशन्वराहं तदुपोढैश्च नभश्चरैः पृषत्कः ॥ २३ ॥

अपयन्निति ॥ पृषत्को बाणः । 'पृषत्कबाणविशिखाः' इत्यमरः । धनुषः पिनाकात् अपयन् निर्यन् । निर्गच्छन्नित्यर्थः । इणः शतृप्रत्ययः शिवान्तिकस्थैर्नभश्चरैः । अभिख्यया शोभया जिहानः । शोभां गच्छन्नित्यर्थः । 'ओहाङ् गतौ' इति धातोः शानच् । 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः । विवरे सीदन्तीति विवरेसदस्तैः विवरेसद्भिरन्तरालवर्तिभिर्नभश्चरैः । 'सत्सूद्विष–' इत्यादिना क्विप् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक् । अथ वराहं विशन् प्रविशन्, तदुपोढैस्तं वराहमुपोढैः प्रत्यासन्नैः । वहेः कर्तरि क्तः । नभश्चरैर्युगपद्ददृशे दृष्ट इति बाणवेगोक्तिः । अत्र क्रमेण पिनाकनिष्क्रमणादिक्रियाविशिष्टस्य बाणस्य शिवान्तिकादिभिन्नदेशस्थनभश्चरकर्तृकदर्शनयौगपद्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तिमूलातिशयोक्त्या लोकोत्तरवेगप्रतीतेरलंकारेण वस्तुध्वनिः ॥

भगवान् शिव के समीप के और उस वराह के आसन्नस्थित अन्तराल-विचरणशाली नभश्चरों ने धनुष से मुक्त होकर वराह को भेदन करते हुए सुन्दर बाण को एक ही साथ देखा अर्थात् बाण इतने वेग से लक्ष्यपर पहुँचा कि किसी ने देखा और किसी ने नहीं देखा ॥ २३ ॥

स तमालनिभे रिपौ सुराणां घननीहार इवाविषक्तवेगः ।
भयविप्लुतमीक्षितो नभःस्थैर्जगतीं ग्राह इवापगां जगाहे ॥ २४ ॥

स इति ॥ स बाणः । तमालनिभे तमालप्रभे । नीलाभ इति यावत् । सुराणां रिपौ वराहे घननीहारे सान्द्रतुहिन इव, अविषक्तवेगोऽप्रतिबद्धवेगः सन् । तथा, नभःस्थैः खेचरैः भयेन विलुप्तं विह्वलं यथा तथा, ईक्षितः सन् । अपां सम्बन्धी वेग आपः, अपां समूहो वा आपम् । आपेन गच्छतीति आपगा नदी तां गृह्णातीति ग्राहो

जलग्राहः। जलचर इति यावत्। 'जलचरे' इति वक्तव्याद् 'विभाषा ग्रहः' इति णप्रत्ययः। स इव। जगतीं भूमिम्। 'जगती विष्टपे भूम्यां वास्तुच्छन्दोविशेषणः' इति वैजयन्ती। जगाहे विवेश। अन्तर्हित इत्यर्थः॥ २४॥

जिस प्रकार घड़ियाल नदी में अन्तर्हित हो जाता है उसी तरह शंकर भगवान् का बाण तमाल के सदृश नीले वर्ण के सूकर शरीर में, जो तुषार-राशि के सदृश कर्कश था बिना किसी अवरोध के प्रविष्ट होकर भूमि में अन्तर्हित हो गया। आकाशचारियोंने भय-विह्वल नेत्रों से यह दृश्य देखा॥ २४॥

अथार्जुनबाणप्रयोगमाह—

सपदि प्रियरूपपर्वरेखः सितलोहाग्रनखः खमाससाद।
कुपितान्तकतर्जनाङ्गुलिश्रीर्व्यथयन् प्राणभृतः कपिध्वजेषुः॥ २५॥

सपदीति॥ सपदि शिवबाणपातसमय एव प्रिया रूपमाकृतिः पर्वाणि ग्रन्थयो रेखा रचनाश्च यस्य सः। अङ्गुलिपक्षे, पर्वरेखाः प्रसिद्धाः लोहाग्रमयःफलं तन्नखमिवेत्युपमितिसमासः। सितं लोहाग्रनखं यस्य सः। कुपितस्यान्तकस्य मृत्योर्या तर्जना तस्या अङ्गुलिस्तर्जनाङ्गुलिः तर्जनी तस्याः श्रीरिव श्रीर्यस्य सः कपिध्वजेषुरर्जुनबाणः प्राणभृतो व्यथयन् भीषयमाणः खमाकाशम्। आससाद प्राप। उपमालंकारः॥ २५॥

भगवान् शंकर के बाण-प्रयोग-समय में ही अर्जुन का भी बाण, जो कि क्रुद्ध यमराज की तर्जनी अंगुली के सदृश था; जिसकी आकृति और पर्वों की रेखा मनोहारिणी थी; और जिसका अग्रभाग, जो कि स्वच्छ लोह से बनाया हुआ था, और उस अँगुली के स्वच्छ नख की शोभा को उद्वहन करता था, जीवधारियों को व्यथित करता हुआ आकाशमण्डल में जा पहुँचा॥ २५॥

परमास्त्रपरिग्रहोरु तेजः स्फुरदुल्काकृति विक्षिपन्वनेषु।
स जवेन पतन् परःशतानां पततां व्रात इवारवं वितेने॥ २६॥

परमेति॥ परमास्त्रपरिग्रहेण दिव्यास्त्राधिष्ठानेन उरु महदत एव स्फुरदुल्काकृति। उल्कावद्दीर्घायमाणमित्यर्थः। तेजो वनेषु विक्षिपन् विकिरन्सन्। जवेन पतन् धावन् स बाणः। शतात्परे परःशतास्तेषाम्। शताधिकसंख्याकानामित्यर्थः। 'परःशताद्यास्ते येषां परा संख्या शताधिकात्' इत्यमरः। 'पञ्चमी—' इति योगविभागात्समासः। 'राजदन्तादिषु परम्' इत्युपसर्जनस्य 'शत' शब्दस्य परनिपातः। पारस्करादित्वात्सुडागमः। पततां पतत्रिणाम्। 'पतत्पत्त्ररथाण्डजाः' इत्यमरः। व्रातः समूह इव, आरवं वितेने विस्तारयामास॥ २६॥

उसने (अर्जुन के बाणने) दिव्यास्त्र होने के कारण महान् तेज को, जो कि उल्का के सदृश चमक रहा था, वन में फैलाता हुआ तथा वेग के साथ गमन करता हुआ सहस्रों पक्षियों के समूह के समान अपने रव को विस्तृत कर दिया॥ २६॥

अविभावितनिष्क्रमप्रयाणः शमितायाम इवातिरंहसा सः।

स पूर्वतरं नु चित्तवृत्तेरपतित्वा नु चकार लक्ष्यभेदम् ॥ २७ ॥

अविभावेति ॥ अतिरंहसाऽतिवेगेन । अविभाविते अलक्षिते निष्क्रमो गाण्डीवान्निःसरणं प्रयाणमन्तरागमनं च यस्य सः । तथा, शमितायामः संक्षिप्तदैर्घ्य इव स्थित इत्युपमा । अत्र वेगगुणनिमित्ता दैर्घ्यगुणाभावोत्प्रेक्षा । स शरः । सह नु सह वा चित्तवृत्त्येति शेषः । चित्तवृत्तेः पूर्वतर नु प्रागेव वा । उभयत्रापि लक्ष्ये पतित्वेति शेषः । अथवा, अपतित्वा नु । लक्ष्य इति शेषः । लक्ष्यभेदं चकार । अत्रोपात्तवेगगुणनिमित्ताद्बाणस्य चित्तवृत्त्या सहपातपूर्वपातपतनाभावोत्प्रेक्षास्तिस्र उत्तरोत्तरोत्कर्षेण वेगातिशयव्यञ्जिका इत्यलंकारेण वस्तुध्वनिः ॥ २७ ॥

उस अर्जुन के बाण ने, जिसका गाण्डीव से मुक्त होना और चलना अलक्षित था (अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता किस क्षण में वह धनुष से छूटा और बीच में उसको कितना समय लगा), मानो वेग से मार्ग के विस्तार को संक्षिप्त करके मनोगति के साथ ही अथवा कुछ पहिले ही लक्ष्यभेद किया अथवा यह भी तर्क किया जा सकता है कि उसने लक्ष्य पर पहुँचने से पहिले ही लक्ष्यभेद कर दिया। इस वर्णन से अर्जुन के बाण के वेग का परिचय मिलता है ॥ २७ ॥

स वृषध्वजसायकावभिन्नं जयहेतुः प्रतिकायमेषणीयम् ।
लघु साधयितुं शरः प्रसेहे विधिनेवार्थमुदीरितं प्रयत्नः ॥ २८ ॥

स इति ॥ जयहेतुः स शरो वृषध्वजसायकावभिन्नं शिवशरविद्धम् । एषणीयम् । वेद्धुमिति शेषः । इषेरिच्छार्थादनीयर्प्रत्ययः । प्रतिकायं प्रतिशरीरम् । प्रतिपक्षमिति यावत् । विधिना दैवेन, उदीरितं फलसाधनतया प्रतिपादितमर्थं योगादिकं प्रयत्नः पुरुषव्यापार इव । लघु अक्लेशेन यथा तथा साधयितुम् । स्वार्थणिजन्तात्तुमुन् । प्रसेहे शशाक । उपमालंकारः ॥ २८ ॥

अर्जुन का विजयसाधक वह बाण वृषभवाहन (शङ्कर) के शर से विद्ध प्रतिपक्षी को पुनः भेदन करने की लालसा से अल्पायास से ही कार्य-साधन में इस प्रकार समर्थ हुआ जिस प्रकार पुरुषव्यापार विधिवाक्यसे प्रतिपादित यज्ञ को साधन करने में समर्थ होता है ॥

अविवेकवृथाश्रमाविवार्थं क्षयलोभाविव संश्रितानुरागम् ।
विजिगीषुमिवानयप्रमादाववसादं विशिखौ विनिन्यतुस्तम् ॥ २९ ॥

अविवेकेति ॥ अविवेकोऽन्तरानभिज्ञत्वं वृथाश्रमो निष्फलप्रयासस्तौ अर्थं धनमिव । अस्थानविनियोगहेतुकत्वादनयोर्धनहानिकरत्वमिति भावः । क्षयोऽनुपचयो लोभोऽदातृत्वं तौ संश्रितानाम् अनुजीविनाम् अनुरागमिव । अकिंचित्करे स्वामिन्यनुरागस्यानवस्थानादिति भावः । अनयो दुर्नीतिः प्रमादोऽनवधानता तौ विजिगीषुमिव । रन्ध्रभूयिष्ठस्य जयासिद्धेरिति भावः । विशिखौ शिवार्जुनबाणौ तं वराहम् । अवसादं करणशैथिल्यं विनिन्यतुर्नीतवन्तौ । नयतिर्द्विकर्मकः । मालोपमेयम् ॥ २९ ॥

शिव और अर्जुन के द्वारा प्रक्षिप्त शरोंने उस वराह को इस प्रकार अवसन्न (जर्जरित) कर दिया जिस प्रकार विचार-शून्यता और विफल परिश्रम धनको, क्षय और अदातृत्व आश्रित व्यक्तियोंके अनुराग को एवं दुर्नीति और अनवधानता (लापरवाही) विजयाभिलाषी व्यक्ति को सङ्कटग्रस्त कर देते हैं ॥ २९ ॥

अथ दीर्घतमं तमः प्रवेक्ष्यन् सहसा रुग्णरयः स संभ्रमेण ।
निपतन्तमिवोष्णरश्मिमुर्व्यां वलयीभूततरुं धरां च मेने ॥ ३० ॥

अथेति ॥ अथ स वराहो दीर्घतमं तमो दीर्घनिद्रां प्रवेक्ष्यन् । मरिष्यन्नित्यर्थः । सहसा झटिति रुग्णरयो भग्नवेगः संभ्रमेण भ्रान्त्या । 'संभ्रमो भ्रान्तिहावयोः' इति विश्वः । उष्णरश्मिमुर्व्यां भूमौ निपतन्तमिव मेने । धरां च वलयीभूता मण्डलीभूता-स्तरवो यस्यास्तां तथा मेने । तथा बभ्रामेत्यर्थः । स्वभावोक्तिरलंकारः ॥ ३० ॥

अनन्तर उस वराह ने घोरनिद्रा में प्रवेश करता हुआ (अर्थात् इस दुनियाँ से विदा होता हुआ) एकाएक वेग-रहित होकर भ्रान्ति के कारण सूर्य को पृथ्वी पर गिरता हुआ और पृथ्वी के वृक्षों को घूमते हुए देखा । (अर्थात् जिस क्षण वह सूकर मरने लगा उस क्षण उसमें वह वेग न रहा तथा मरण काल में असह्य दुःख से व्यथित होकर चारों तरफ घूमकर पृथ्वी पर गिर पड़ा जिससे उसको मालूम पड़ा कि सूर्य पृथ्वी पर उतर आया है और पृथ्वी के सब वृक्ष एक वृत्त में महान् वेग के साथ भ्रमण कर रहे हैं) ॥ ३० ॥

स गतः क्षितिमुष्णशोणितार्द्रः खुरदंष्ट्राग्रनिपातदारिताश्मा ।
असुभिः क्षणमीक्षितेन्द्रसूनुर्विहितामर्षगुरुध्वनिर्निरासे ॥ ३१ ॥

स इति ॥ क्षितिं गतः क्षितौ पतित उष्णेन प्रत्यग्रत्वाच्छोणितेनार्द्रः क्लिन्नः खुराणां दंष्ट्रयोश्च अग्राणां निपातेनाघातेन दारिताश्मा पाटितपाषाणः । किंच, क्षणमी-क्षितेन्द्रसूनुः । स्वार्थविघातरोषादिति भावः । अत एव, विहितः कृतोऽमर्षगुरुः क्रोधो-द्धतो ध्वनिः क्रन्दितं येन स तथोक्तः स वराहोऽसुभिः प्राणैर्निरासे निरासितः । त्यक्त इत्यर्थः । अस्यतेः कर्मणि लिट् । इयं च स्वभावोक्तिः ॥ ३१ ॥

उस वराह ने भूमिशायी होकर अपने खुर और तीक्ष्ण दाँतों के अग्रभाग के आघात से वहाँ का पत्थर तोड़-फोड़ डाला । और उसका शरीर उष्ण रक्त से लथपथ हो रहा था । क्षण मात्र उसने अर्जुन को देखा । फिर क्रुद्ध होकर चिग्घाड़ता हुआ प्राणों से वियुक्त हो गया अर्थात् वहीं मर गया ॥ ३१ ॥

स्फुटपौरुषमापपात पार्थस्तमथ प्राज्यशरः शरं जिघृक्षुः ।
न तथा कृतवेदिनां करिष्यन् प्रियतामेति यथा कृतावदानः ॥ ३२ ॥

स्फुटेति ॥ अथ वराहपातानन्तरं पार्थोऽर्जुनः प्राज्यसरः प्रभूतशरः । सन्नपीत्यर्थः । 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः । स्फुटपौरुषं व्यक्तविक्रमं वराहभेदिनं शरं जिघृक्षुर्ग्र-हीतुमिच्छुः । ग्रहेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । आपपाताधावति स्म । कृतज्ञतया शरग्रहणं,

न तु लोभादित्यर्थः। नन्वन्येऽप्युपकर्त्तार एव, किमित्यत्रैवादरस्तस्येत्यत आह—कृतवेदिनां कृतज्ञानां कृतावदानः कृतकर्मा। 'अवदानं कर्म वृत्तम्' इत्यमरः। यथा प्रियतामेति तथा करिष्यन् उपकरिष्यन्न प्रियतामेति। 'कृतकरिष्यमाणयोः कृतं बलीयः' इति न्यायादिति भावः॥ ३२॥

लक्ष्यभेद में सफल होने के कारण उस बाण का पराक्रम व्यक्त था। अतः अर्जुन बहुत शरोंके अपने पास होने पर भी उस बाणको लेनेके लिये दौड़ पड़े। कारण यह है कि—कृतज्ञ पुरुषों के लिये कृतकर्मा पुरुष जितना प्रिय होता है उतना भविष्य में उपकार करनेवाला व्यक्ति प्रिय नहीं हो सकता॥ ३२॥

अथ युग्मेनाह—

उपकार इवासति प्रयुक्तः स्थितिमप्राप्य मृगे गतः प्रणाशम्।
कृतशक्तिरधोमुखो गुरुत्वाज्जनितव्रीड इवात्मपौरुषेण॥ ३३॥

उपकार इति॥ असति नीचे प्रयुक्त उपकार इव मृगे स्थितमप्राप्य प्रणाशमदर्शनं गत इत्युपमा। यथा कृतशक्तिः कृतपौरुषो गुरुत्वात् लोहभारान्महत्त्वाच्च अधोमुखो नम्रमुखः। अत एव, आत्मपौरुषेण जनितव्रीड इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा॥३३॥

असत्पुरुष में किये गये उपकार की तरह अर्जुन का बाण वराह के शरीर में स्थान न पाकर अलक्षित हो गया। उसने अपना विक्रम दिखलाया था तथापि लौहभार के कारण नीचे की तरफ गिरते समय मालूम पड़ रहा था कि वह अपने पुरुषार्थ से लज्जित होकर अधोमुख हो रहा है॥ ३३॥

स समुद्धरता विचिन्त्य तेन स्वरुचं कीर्तिमिवोत्तमां दधानः।
अनुयुक्त इव स्ववार्तमुच्चैः परिरेभे नु भृशं विलोचनाभ्याम्॥ ३४॥

स इति॥ उत्तमां स्वरुचं कान्ति कीर्तिमिव दधान इत्युत्प्रेक्षा। किंच, विचिन्त्य सर्वथा ग्राह्योऽयमिति विमृश्य समुद्धरता तेनार्जुनेन उच्चैः स्ववार्तं स्वपाटवम्। 'वार्तं पाटवमारोग्यं भव्यं स्वास्थ्यमनामयम्' इति यादवः। अनुयुक्तः पृष्ट इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा। आदरात्तथा प्रतीयत इत्यर्थः। 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः। स बाणो विलोचनाभ्यां नयनाभ्यां भृशं परिरेभे नु आलिङ्गितः किमित्युत्प्रेक्षा। तेनात्यादरेण दृष्ट इत्यर्थः॥ ३४॥

वह बाण कीर्ति की तरह अपनी कान्ति से युक्त होकर ऊँचे स्वर में अपने क्रिया-पाटव को जानने की अभिलाषा करता हुआ पड़ा था। सर्वथा ग्राह्य समझ कर अर्जुन ने अपने नेत्रों से उसका बार-बार आलिङ्गन किया (अर्थात् आदरपूर्वक देखा)॥ ३४॥

तत्र कार्मुकभृतं महाभुजः पश्यति स्म सहसा वनेचरम्।
संनिकाशयितुमग्रतः स्थितं शासनं कुसुमचापविद्विषः॥ ३५॥

तत्रेति ॥ तत्र प्रदेशे महाभुजोऽर्जुनः कुसुमचापविद्विषः स्मरारेः शासनं वक्ष्यमाणमादेशं संनिकाशयितुं संनिवेशयितुम् । निवेदयितुमिति यावत् । अग्रतः स्थितं कार्मुकभृतं वनेचरं सहसा झटिति पश्यति स्म । इतः प्रभृति रथोद्धतावृत्तम्—'रो नराविह रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात् ॥ ३५ ॥

उस प्रदेश में महावाहु अर्जुन ने एकाएक पुष्पधन्वा (कामदेव) के शत्रु (शंकर) की आज्ञा सूचित करने के लिये सामने उपस्थित एक धनुषधारी किरात को देखा ॥ ३५ ॥

स प्रयुज्य तनये महीपतेरात्मजातिसदृशीं किलानतिम् ।
सान्त्वपूर्वमभिनीतिहेतुकं वक्तुमित्थमुपचक्रमे वचः ॥ ३६ ॥

स इति ॥ स वनेचरो महीपतेस्तनये राजपुत्रेऽर्जुन आत्मजातिसदृशीं किरातजात्यनुरूपां किल । 'किले'ति जातेरलीकतां दर्शयति । यतः । परमार्थतः प्रथम एव सः । आनतिं प्रणतिं प्रयुज्य सान्त्वपूर्वं सामपूर्वकम् । 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमरः । अभिनीतिहेतुकं प्रिययुक्तिहेतुकं वचः । इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण वक्तुमुपचक्रम उद्युक्तवान् ॥ ३६ ॥

वह वनेचर जात्यनुसार राजपुत्र (अर्जुन) को प्रणाम करके सान्त्वना पूर्वक प्रिय और युक्तियुक्त वचन वक्ष्यमाण प्रकार से कहने के लिये उद्यत हुआ ॥ ३६ ॥

तत्र तावच्चतुर्भिः सान्त्वमाह—

शान्तता विनययोगि मानसं भूरि धाम विमलं तपः श्रुतम् ।
प्राह ते नु सदृशी दिवौकसामन्ववायमवदातमाकृतिः ॥ ३७ ॥

शान्ततेति ॥ शान्तता बहिरनौद्धत्यं ते तव विनययोगि अनौद्धत्ययुक्तं मानसं कर्म प्राह नु ब्रूते खलु । तथा, भूरि बहु धाम तेजो यस्मिंस्तत्तपः कर्तृ विमलं संप्रदायशुद्धं श्रुतं प्राह । किंच, द्यौर्दिवं वौको येषां तेषां दिवौकसां देवानाम् । पृषोदरादित्वात्साधुः । 'दिवं स्वर्गेऽन्तरिक्षे च' इति विश्वः । सदृशी तुल्या आकृतिर्मूर्तिः अवदातं शुद्धम् अन्ववायं वंशं प्राह । 'वंशोऽन्ववायः संतानः' इत्यमरः । शान्त्यादिभिर्लिङ्गैर्विनयादयोऽनुमीयन्ते । अन्यथा तदसंभवादिति भावः ॥ ३७ ॥

किरात ने कहा—(महाराज)! शान्त भाव आपके हृदयकी कोमलता प्रकाशित करता है । तेजोराशिसम्पन्न आपका सम्प्रदायशुद्ध तप आपके शास्त्रज्ञान की सूचना देता है । देवताओं के समान जो आपकी यह आकृति है इससे आपके शुद्ध वंश में जन्म ग्रहण करने का परिचय प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

दीपितस्त्वमनुभावसंपदा गौरवेण लघयन्महीभृतः ।
राजसे मुनिरपीह कारयन्नाधिपत्यमिव शातमन्यवम् ॥ ३८ ॥

दीपित इति ॥ मुनिरपि । ऐश्वर्यरहितोऽपीत्यर्थः । अनुभावसंपदा प्रभावातिशयेन दीपितः प्रकाशितः । 'अनुभावः प्रभावे च' इत्यमरः । गौरवेण महत्तया

महीभृतो राज्ञो लघयन् लघूकुर्वन् । त्वम् । इहाद्रौ । शतमन्योरिदं शातमन्यवमैन्द्रम् । 'तस्येदम्' इत्यण्प्रत्ययः । 'शतमन्युर्दिवस्पतिः' इत्यमरः । अधिपतेः कर्म आधिपत्यं त्रैलोक्यरक्षाधिकारम् । ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्प्रत्ययः । कारयन्निव, इन्द्रेणेति शेषः । राजर्षे तस्याप्युपजीव्य इति प्रतीयसे । स्वमहिम्नेत्यर्थः ।। ३८ ।।

इदानीं ऐश्वर्यहीन होते हुए भी प्रताप की अतिशयिता के कारण आप प्रकाशित हो रहे हैं। आप अपनी महत्ता से राजाओं को भी तुच्छ कर दे रहे हैं। मुनि होते हुए भी तीनों लोकों के रक्षक इन्द्र के कार्य को आप ही कर रहे हैं ।। ३८ ।।

तापसोऽपि विभुतामुपेयिवानास्पदं त्वमसि सर्वसंपदाम् ।
दृश्यते हि भवतो विना जनैरन्वितस्य सचिवैरिव द्युतिः ।। ३९ ।।

तापस इति ।। विभुतां प्रभावम् । उपेयिवानुपगतः । अत एव तापसोऽपि त्वं सर्वसंपदामास्पदं स्थानमसि । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । विभुतामेव समर्थयते—हि यस्मात्, भवतस्तव जनैर्विनापि । एकाकिनोऽपीत्यर्थः । सचिवैरन्वितस्येव अमात्यादियुक्तस्येव द्युतिस्तेजो दृश्यते । अतः सर्वसंपदास्पदत्वं युक्तमित्यर्थः ।। ३९ ।।

तपस्वी होते हुए भी आप प्रभावशाली हैं। इसलिये आप सब सम्पत्तियों के अधिष्ठान हैं। यद्यपि यहाँ आप अपने अमात्य (मन्त्री) वर्गों के साथ नहीं हैं तथापि आप की कान्ति से विदित होता है कि आप उन लोगों से युक्त हैं ।। ३९ ।।

विस्मयः क इव वा जयश्रिया नैव मुक्तिरपि ते दवीयसी ।
ईप्सितस्य न भवेदुपाश्रयः कस्य निर्जितरजस्तमोगुणः ।। ४० ।।

विस्मय इति ।। किंच, जयश्रिया हेतुना । प्राप्तयापीति शेषः । क इव वा विस्मयः किमाश्चर्यम् । न कश्चिदित्यर्थः । 'विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यं चित्रम्' इत्यमरः । अतो मुक्तिरपि ते तव दवीयसी दूरतरा दुर्लभा न भवत्येव । 'स्थूलदूर–' इत्यादिना यणादिपरलोपः पूर्वगुणश्च । तथा हि–निर्जितौ रजस्तमसी एव गुणौ येन स भवत्सदृशः पुरुषः कस्येप्सितस्य वाञ्छितस्य । उपाश्रय आस्पदं न भवेदित्यर्थः ।। ४० ।।

आपको विजयलक्ष्मी प्राप्त होने में कोई आश्चर्य नहीं है। मुक्ति (जन्ममरण से मुक्त होना) भी आपके लिये बहुत दूर नहीं है। क्योंकि जिसने रजोगुण और तमोगुण पर विजय प्राप्त कर ली है वह किस अभिलषित मनोरथ का स्थान नहीं है अर्थात् सर्वविध अभिलषित वस्तु प्राप्त कर सकता है ।। ४० ।।

अथागमनप्रयोजनमुपालम्भमुखेनाह—

ह्रेपयन्नहिमतेजसं त्विषा स त्वमित्थमुपपन्नपौरुषः ।
हर्तुमर्हसि वराहभेदिनं नैनमस्मदधिपस्य सायकम् ।। ४१ ।।

ह्रेपयन्निति ।। त्विषा तेजसा । अहिमतेजसमुष्णतेजसं ह्रेपयन् लज्जयन्, उप-

पन्नपौरुषः संभावितपराक्रमः स प्रसिद्धस्त्वं वराहभेदिनम् । कृतोपकारमित्यर्थः । एनं त्वत्करगतम् । अस्मदधिपस्य सायकं शरम् । इत्थं साहसेन हर्तुं नार्हसि ॥ ४१ ॥

आप अपने तेज से तीक्ष्णांशु (सूर्य) को लज्जित करते हुए सामर्थ्यवान् होकर भी मेरे स्वामीके इस वराहभेदी सायक (बाण) को इस तरह साहसपूर्वक अपहरण करने के योग्य नहीं हैं ॥ ४१ ॥

अनर्हत्वमेवाह—

स्मर्यते तनुभृतां सनातनं न्याय्यमाचरितमुत्तमैर्नृभिः ।
ध्वंसते यदि भवादृशस्ततः कः प्रयातु वद तेन वर्त्मना ॥ ४२ ॥

स्मर्यत इति ॥ उत्तमैर्नृभिः सत्पुरुषैर्मन्वादिभिः । तनुभृतां शरीरिणां सनातनं नित्यं न्याय्यं न्यायादनपेतम्, आचरितमाचारः स्मर्यते । कर्तव्यतयेति शेषः । न त्वनाचार इत्यर्थः । अथाप्यनाचारेण दोषमाह—ध्वंसत इति । भवानिव दृश्यन्ते इति भवादृशस्ततः सदाचारात् ध्वंसते भ्रश्यते यदि तथा तेन वर्त्मना न्यायमार्गेण कः प्रयातु गच्छतु वद कथय । न कोऽपीत्यर्थः । तथा च सन्मार्ग एव शीलं कुर्यादिति भावः ॥ ४२ ॥

मनु, याज्ञवल्क्य और पराशरादिक ऋषियों ने शरीरियों (प्राणियों) के लिये 'सर्वदा न्यायपथावलम्बन करना' कर्तव्य उपदेश किया है । यदि आप जैसे पुरुष उस मार्ग से भ्रष्ट होंगे तो फिर बतलाइये, दूसरा कौन व्यक्ति इसको आधार मानेगा ॥ ४२ ॥

आकुमारमुपदेष्टुमिच्छवः संनिवृत्तिमपथान्महापदः ।
योगशक्तिजितजन्ममृत्यवः शीलयन्ति यतयः सुशीलताम् ॥ ४३ ॥

आकुमारमिति ॥ किंच, योगशक्त्याऽऽत्मज्ञानमहिम्ना जितौ जन्ममृत्यू यैस्ते यतयो योगिनः । आकुमारेभ्य आकुमारम् । कुमारादारभ्येत्यर्थः । 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः । महत्य आपदो यस्मिंस्तस्माद् महापदः । महानर्थहेतोरित्यर्थः । अपथात् अमार्गात् । 'पथो विभाषा' इति निषेधविकल्पात्समासान्तः । 'अपथं नपुंसकम्' । संनिवृत्तिमपगमम्, उपदेष्टुमिच्छवः सन्तः सुशीलतां सद्वृत्तताम् । 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः । शीलयन्ति अभ्यस्यन्ति । अतो न त्याज्यं शीलमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

जिन योगी महात्माओं ने योगशक्ति से जन्म और मरण को जीत लिया है वे बाल्यकाल से उग्रानर्थमूलक, न्यायविरुद्ध मार्ग से निवृत्त होने के लिये उपदेशेच्छु होते हुये सदाचार का ही अभ्यास करते हैं ॥ ४३ ॥

न केवलं सौशील्यादनर्थनिवृत्तिः किं त्वर्थप्राप्तिरपीत्याह—

तिष्ठतां तपसि पुण्यमासजन् संपदोऽनुगुणयन् सुखैषिणाम् ।
योगिनां परिणमन् विमुक्तये केन नास्तु विनयः सतां प्रियः ॥ ४४ ॥

तिष्ठतामिति ॥ तपसि तिष्ठतां तपोनिष्ठानाम् । धर्मार्थिनामित्यर्थः । पुण्यं धर्मम् । आसजन् संपादयन् । 'स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः' इत्यमरः । सुखैषिणां सुखार्थिनां संपदः सुखसाधनभूतानर्थान् । अनुगुणयन्ननुकूलयन् । अर्थकामयोरपि हेतुभूत इत्यर्थः । तथा, योगिनां विमुक्तयेऽपवर्गाय परिणमन् संपद्यमानो विनयः सौशील्यं केन हेतुना सतां प्रियो नास्तु । संभावनायां लोट् । सर्वथा विनय एव चतुर्वर्गसाधनमित्यर्थः । अतस्त्वया नास्मत्स्वामिशरचौर्यं कार्यमिति तात्पर्यम् ॥४४॥

सदाचार तपस्वियों को पुण्य प्रदान करता है, सुखेच्छुओं को सम्पत्ति प्रदान करता है और योगियों को मुक्ति प्रदान करता है। अतः कौन ऐसा कारण हो सकता है? जिससे वह सज्जनों का प्रिय नहीं हो सकता है? (अर्थात् उसे सज्जनों का प्रिय न बनने में कोई कारण नहीं है) ॥ ४४ ॥

अथवा किं भवादृशेष्वन्यसंभावनया, यतो भ्रान्तिरपि संभाव्यत इति मृदूक्तिमवलम्ब्याह—

नूनमत्रभवतः शराकृतिं सर्वथायमनुयाति सायकः।
सोऽयमित्यनुपपन्नसंशयः कारितस्त्वमपथे पदं यया ॥ ४५ ॥

नूनमिति ॥ अयमस्मदीयः सायकोऽत्रभवतः । पूज्यस्येत्यर्थः । 'पूज्यस्तत्रभवानत्रभवान्' इति सज्जनः । 'इतरेभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति सार्वविभक्तिकस्तसिल्प्रत्ययः । सुप्सुपेति समासः । शराकृतिं सर्वथा रूपेण रेखादिना सर्वप्रकारेण । अनुयात्यनुसरति । अत्यन्तमनुकरोतीत्यर्थः । 'नूनम्' इति वितर्के । ययाऽऽकृत्या कर्त्र्या त्वमनुपपन्नसंशयोऽत्यन्तसादृश्यादनुत्पन्नस्वान्यदीयत्वसंदेहः सन् । सोऽयमिति यः स्वकीयः स एवायमिति । भ्रान्त्युत्पत्त्यैवेति शेषः । अपथेऽमार्गे शरापहरणरूपे पदं कारितः । निधापित इत्यर्थः । 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' इत्यणि कर्तुः कर्मता । 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इति तत्रैवाभिहिते कर्मणि क्तः ॥ ४५ ॥

यह निश्चय है—'इस मेरे स्वामी के बाण की आकृति सब तरह से आपके बाण से मिलती-जुलती है' जिस आकृति ने आपको अपना होने में संशय न उत्पन्न करके विमार्ग का अवलम्बन कराया है ॥ ४५ ॥

पुनरपि स्तेयमेव द्रढयन् दोषान्तरमापादयति—

अन्यदीयविशिखे न केवलं निःस्पृहस्य भवितव्यमाहृते।
निघ्नतः परनिर्बर्हितं मृगं व्रीडितव्यमपि ते सचेतसः ॥ ४६ ॥

अन्यदीयेति ॥ सह चेतसा वर्तत इति सचेतसो मनस्विनः । तेऽन्यदीयविशिखे विषये यत् आहृतमाहरणम् । भावे क्तः । तस्मिन् । अन्यदीयविशिखस्याहरणम् इत्यर्थः । निःस्पृहस्य केवलं निःस्पृहेणैव न भवितव्यम् । किंतु परनिर्बर्हितं परेण प्रहृतं मृगं निघ्नतः प्रहरतस्ते । निघ्नता त्वयेत्यर्थः । 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी । व्रीडि-

तव्यं लज्जितव्यमपि । भावे तव्यप्रत्ययः । संप्रति तु त्वया परविद्धं मृगं विद्ध्वापि न व्रीडयते प्रत्युत स्तेयं च क्रियत इत्यहो महत्साहसमित्यर्थः । मृगमित्यत्र शेषत्वाविवक्षणात् 'जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्' इति षष्ठी न भवति शेषाधिकारात् । निप्रहणेत्यत्र निप्रयोः संघातव्यस्तविपर्यस्तानां ग्रहणात् ।। ४६ ।।

आप सचित्त हैं (अर्थात् मनस्वी हैं), केवल किसी अन्य के बाणापहार से ही विमुख होना सन्तोषजनक न होगा, किन्तु अन्य के द्वारा वध किये हुये मृग का पुनः वध करने से आपको लज्जित भी होना चाहिये ।। ४६ ।।

अथास्मिन्कृतघ्नताभियोगं स्वीयोपकारकत्वं वर्णयितुं विकत्थनदोषं तावद्युग्मेन परिहरन्नाह—

सन्ततं निशमयन्त उत्सुका यैः प्रयान्ति मुदमस्य सूरयः ।
कीर्तितानि हसितेऽपि तानि यं व्रीडयन्ति चरितानि मानिनम् ।। ४७ ।।

संततमित्यादि ।। सूरयो विद्वांसः । अस्य अस्मत्स्वामिनः संबन्धिभिः, यैश्चरितैः करणभूतैः सन्ततं सततमुत्सुकाः सोत्कण्ठाः सन्तो निशमयन्तश्चरितानि शृण्वन्तो मुदं प्रयान्ति । अत्र चरितानां मुत्प्राप्तौ शाब्दं करणत्वम् । अर्थान्निशमनकर्मत्वमिति विवेकः । तानि चरितानि हसितेऽपि परिहासेऽपि कीर्तितानि परैरुच्चारितानि सन्ति यं मानिनं व्रीडयन्ति । मानित्वाद् व्रीडा, न तु चरितदोषात् । तेषामलंकाररूपत्वादिति भावः ।।

विद्वान लोग मेरे स्वामी (किरातनाथ) के जिस चरित्र की उत्कण्ठापूर्वक श्रवण करके प्रसन्न होते हैं । वे (चरित्र) परिहास के समय भी यदि कथन किये जाते हैं तो उससे मानी व्यक्ति को लज्जित होना पड़ता है ।। ४७ ।।

अन्यदोषमिव स स्वकं गुणं ख्यापयेत् कथमधृष्टताजडः ।
उच्यते स खलु कार्यवत्तया धिग्विभिन्नबुधसेतुमर्थितम् ।। ४८ ।।

अन्येति ।। अधृष्टतया विकत्थनेन शालीनतया जडः स्तब्धः । अविकत्थन इत्यर्थः । सोऽस्मत्स्वामी । अन्यदोषं परावरगुणमिव स्वकं स्वकीयं गुणं कथं ख्यापयेत् प्रकटयेत् । 'आत्मप्रशंसां परगर्हामिव वर्जयेत्' इति स्मरणादिति भावः । तथापि कार्यवत्तया । कर्मार्थितयेत्यर्थः । सः स्वगुण उच्यते खलु । कार्यार्थिनः कुतो गर्व इति भावः । निर्विण्ण इवाह—धिगिति । विभिन्नबुधसेतुमतिक्रान्तसुजनमर्यादाम् । अर्थितां याचनां धिक् । निन्दामीत्यर्थः । यदयमपोत्थं विकत्थयितुं प्रवृत्त इति भावः । 'धिङ् निर्भर्त्सननिन्दयोः' इत्यमरः । 'अभिसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु । द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति द्वितीया ।। ४८ ।।

वही स्वामी आत्मप्रशंसा से विरत होते हुये अन्य व्यक्तियों के अवगुण के सदृश अपने गुणों की प्रशंसा किस तरह कर सकते हैं ('आत्मप्रशंसा को दूसरे के अवगुण के समान समझ कर परित्याग कर देना चाहिये' यह स्मृतिकार का वचन है) परन्तु नहीं,

कार्यवश वही आत्मप्रशंसा की भी जाती हैं। सज्जनमर्यादोल्लंघिनी याच्ञा को धिक्कार है जिसके कारण वे भी आत्मप्रशंसा करने में प्रवृत्त हैं॥ ४८॥

संप्रति स्वकृतोपकारं दर्शयति—

दुर्वचं तदथ मा स्म भून्मृगस्त्वय्यसौ तदकरिष्यदोजसा।
नैनमाशु यदि वाहिनीपतिः प्रत्यपत्स्यत शितेन पत्रिणा॥ ४९॥

दुर्वचमिति॥ वाहिनीपतिः सेनापतिरस्मत्स्वामी शितेन पत्रिणा शरेण। एनं मृगम्। आशु न प्रत्यपत्स्यत यदि नाभियुङ्क्ते चेत्, असौ मृग ओजसा बलेन त्वयि विषये यदकरिष्यत् यदनिष्टं कुर्यात् तद्दुर्वचं दुर्वाच्यममङ्गलतया वक्तुं न शक्यते। तदनिष्टम्, अथानन्तरमपि मा स्म भूदिति सौहार्दकथनम्। तदुपेक्षणे स मृगस्त्वां हन्यादिति भावः। 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' इति करोतेः पद्यतेश्च लृङ्॥ ४९॥

किरात-सेनानी मेरे स्वामी यदि इस सूकर को तीक्ष्ण शर के द्वारा विद्ध न करते तो यह अपने महान पराक्रम से जो अनिष्ट कर डालता वह अमङ्गलकारी होने के कारण उद्घाटन किया नहीं जा सकता। भगवान् करे वह अनिष्ट आपको कभी न हो। यदि उसकी अपेक्षा की जाती तो वह सूकर तुम्हें मार डालता॥ ४९॥

ननु मयैव हतो न तु सेनापतिना, तत्राह—

को न्विमं हरितुरङ्गमायुधस्थेयसीं दधतमङ्गसंहतिम्।
वेगवत्तरमृते चमूपतेर्हन्तुमर्हति शरेण दंष्ट्रिणम्॥ ५०॥

क इति॥ हरितुरङ्गमायुधमिन्द्रायुधं तद्वत् स्थेयसीं स्थिरतराम्। अकुण्ठितामित्यर्थः। 'स्थिर'शब्दादीयसुन्। 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना स्थादेशः। अङ्गसंहतिमवयवसघातं दधतं धारयन्तं वेगवत्तरं दुर्वारवेगम्। इमं दंष्ट्रिणं वराहं चमूपतेः किरातवाहिनीपतेर्ऋते चमूपतिं विना। 'अन्यारात्—' इत्यादिना पञ्चमी। को नु को वा शरेण। एकेनेति भावः। हन्तुमर्हति। न कोऽपीत्यर्थः॥ ५०॥

इन्द्रास्त्र (कुशिल, वज्र) के सदृश कठिन अङ्गों को धारण करने वाले अत्यन्त वेगशाली इस वराह को एक बाण से वध करने में शबरसेनापति के अतिरिक्त अन्य कौन व्यक्ति समर्थ हो सकता है॥ ५०॥

अस्तु स एव मृगस्य हन्ता, ततः किमित्यत आह—

मित्रमिष्टमुपकारि संशये मेदिनीपतिरयं तथा च ते।
तं विरोध्य भवता निरासि मा सज्जनैकवसतिः कृतज्ञता॥ ५१॥

मित्रमिति॥ तथा च, तस्यैव मृगहन्तृत्वे सतीत्यर्थः। अयं मेदिनीपतिः किरातभूपतिः। ते तव संशये प्राणसंकटे। उपकारि उपकारकारकम्, इष्टं मित्रम्। ततोऽपि किं तत्राह—तमिति। तं मित्रभूतं विरोध्य सज्जनैकवसतिः भवादृशसुजनमात्राधारा

कृतज्ञता उपकारवेदित्वं मा निरासि न निराक्रियतां भवता। अन्यथा जगति कृतज्ञताऽस्तं यायात्, कृतघ्नता च ते भवेदित्यर्थः। अस्यतेः कर्मण्याशिषि माङि लुङ् ॥ ५१ ॥

यह पुलिन्दवाहिनीपति आपके जीवन-संकट के समय उपकार करके इष्ट मित्र बन गया है। अतः उसके साथ विरुद्धाचरण द्वारा सुजनाश्रया कृतोपकारिता को गला पकड़ कर निर्वासित न कीजिये ॥ ५१ ॥

ननु सर्वस्यार्थमूलत्वात्स एवास्तु किं मित्रेणेत्याशङ्क्य मित्रस्य सर्वाधिक्यं युग्मेनाह—

लभ्यमेकसुकृतेन दुर्लभा रक्षितारमसुरक्ष्यभूतयः।
स्वन्तमन्तविरसा जिगीषतां मित्रलाभमनु लाभसंपदः ॥ ५२ ॥

लभ्यमिति ॥ जिगीषतां जेतुमिच्छताम्। जयतेः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः। दुर्लभाः कृच्छ्रेणापि लब्धुमशक्याः, तथापि असुरक्ष्यभूतयो रक्षितुमशक्यमहिमानः। तथापि नित्यं रक्षणादिक्लेशावहाश्चेति भावः। अन्तविरसाः। गत्वर्य इत्यर्थः। लभ्यन्त इति लाभा अर्थास्तेषां संपदः। एकसुकृतेनैकोपकारेण लभ्यं सुलभं न तु दुर्लभम्। रक्षितारं न तु रक्ष्यं स्वन्त शुभावसानं न त्वन्तविरसं मित्रलाभमनु मित्रलाभाद्धीनाः। निकृष्टा इत्यर्थः। 'हीने' इत्यनोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा। तद्योगे द्वितीया। अत्रोपमेयस्य मित्रलाभस्य लाभान्तरं प्रत्याधिक्याभिधानाद् व्यतिरेकालंकारः ॥ ५२ ॥

जयेप्सुओं (जय की अभिलाषा करने वालों) के लिये मित्रलाभ एक ही सुकृत के द्वारा लभ्य और लाभ सम्पत्तियाँ दुष्प्राप्य हैं। यह [मित्रलाभ] उनका रक्षक होता है इसके विपरीत [सम्पत्तियों का रक्षा करना] टेढ़ी खीर हो जाती है। मित्रलाभ का अवसान भी मङ्गलमय होता है। सम्पत्तियों का लाभ अस्थिर है। इस तरह का मित्रलाभ सर्वोत्कृष्ट है और सम्पत्ति-लाभ निकृष्ट है ॥ ५२ ॥

चञ्चलं वसु नितान्तमुन्नता मेदिनीमपि हरन्त्यरातयः।
भूधरस्थिरमुपेयमागतं माऽवमंस्त सुहृदं महीपतिम् ॥ ५३ ॥

चञ्चलमिति ॥ किंच, वसु धनं नितान्तं चञ्चलं मेदिनीमप्युन्नताः प्रबला अरातयो हरन्ति। मित्रं तु न तथेत्याह—भूधर इति। भूधरवत् स्थिरमुपेयमन्विष्य गन्तव्यम् आगतं स्वतः प्राप्तमपि महीपतिम्। सर्वधुरीणमित्यर्थः। सुहृदं मित्रं माऽवमंस्त मावज्ञासीत्। भवानिति शेषः। अन्यश्लोकगतो 'भवत्' शब्दो विभक्तिविपरिणामेनात्र द्रष्टव्यः। अन्यथा मध्यमपुरुषः स्यात्। मन्यतेः कर्तरि माङि लुङ्। अलंकारस्तु व्यतिरेक एव। भूधरस्थिरमित्युपमासंगतिसंकरः ॥ ५३ ॥

धन तो अत्यन्त चपल है [स्थायी नहीं होता], प्रबल शत्रु भूमि को अपहरण कर लेते हैं। अतः पर्वत के सदृश अविचल, स्वयं समागत किरातसेनापति जैसे मित्र का आप तिरस्कार न करें ॥ ५३ ॥

ननु मुमुक्षोः किं मित्रसंग्रहेणेत्यत्राह—

जेतुमेव भवता तपस्यते नायुधानि दधते मुमुक्षवः।
प्राप्स्यते च सकलं महीभृता संगतेन तपसः फल त्वया ॥ ५४ ॥

जेतुमिति ॥ भवता जेतुं जयार्थमेव तपस्यते तपश्चर्यते। 'कर्मणो रोमन्थ—इत्यादिना चरणे क्यङ्। ततो भावे लट्। कुतः। मुमुक्षवो मोक्षार्थिन आयुधानि न दधते न धारयन्ति। अतो मित्रसंग्रहः कार्य इति भावः। तथापि किं भवत्स्वामिसख्येन, तत्राह—प्राप्स्यत इति। महीभृता सह संगतेन त्वया सकलं च तपसः फलं प्राप्स्यते। अतस्ते सखाऽस्मत्स्वामी युक्त इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

आप विजयार्थ ही तपश्चरण कर रहे हैं। क्योंकि मुमुक्षु लोग शस्त्रधारण नहीं करते [अतः मित्रसंग्रह करना आप के लिये नितान्त आवश्यक है] इस किरात सेनाधिनायक मेरे स्वामी से आप समग्र तपश्चर्या के फल को प्राप्त कर लेंगे ॥ ५४ ॥

नन्वकिंचनः कुत्रोपयुज्यते, तत्राह—

वाजिभूमिरिभराजकाननं सन्ति रत्ननिचयाश्च भूरिशः।
काञ्चनेन किमिवास्य पत्त्रिणा केवलं न सहते विलङ्घनम् ॥ ५५ ॥

वाजीति ॥ तस्य भूपतेर्वाजिभूमिरश्वाकर इभराजानां काननं गजोत्पत्तिस्थानं भूरिशो रत्ननिचयाश्च। सन्तीति शेषः। नन्वीदृगाढ्यः किमेकस्मै काञ्चनपत्रकाण्डाय कलहायते, तत्राह—अस्य काञ्चनेन सौवर्णेन पत्त्रिणा शरेण किमिव। न किंचित्प्रयोजनमस्तीत्यर्थः। परन्तु केवलं विलंघनं व्यतिक्रमं न सहते। नायं शरलुब्धः, किन्त्वधिक्षेपासहिष्णुरित्यर्थः। अत्र प्रथमार्धे समृद्धिमद्वस्तुवर्णनादुदात्तालंकारः ॥ ५५ ॥

मेरे स्वामी के यहाँ किसी वस्तु की कमी नहीं है। क्योंकि उनके पास तुरङ्गों की खान है, मत्तमतङ्गजों के जङ्गल हैं तथा असंख्यरत्नों की राशि है। उनको एक बाण के सुवर्ण से क्या लाभ हो सकता है? केवल अधिक्षेप [निन्दा] इनके लिये असह्य है ॥ ५५ ॥

नन्वीदृग्लुब्धः किमुपकर्ता, तत्राह—

सावलेपमुपलिप्सिते परैरभ्युपैति विकृतिं रजस्यपि।
अर्थितस्तु न महान्समीहते जीवितं किमु धनं धनायितुम् ॥ ५६ ॥

सावलेपमिति ॥ महानयं रजस्यपि धूलावपि परैः सावलेपं सगर्वम्। उपलिप्सित उपलब्धुमिष्टे जिघृक्षिते सति विकृतिमभ्युपैति। प्रकुप्यतीत्यर्थः। अर्थितो याचितस्तु जीवितं धनायितुं धनीकर्तुम्। क्यजन्तात्तुमुन्। न समीहते नोत्सहते। जीवितमप्यात्मनो नेच्छति। किंत्वर्थितः प्रयच्छतीत्यर्थः। तर्हि धनं किम्। धनमात्मन एषितुं धनायितुमिति विग्रहः। अत्र इच्छामात्रमर्थः, अन्यथा धनमित्यनेन पौनरुक्त्यं स्यात्। 'सुप आत्मनः क्यच्'। 'अशनायोदन्याधनायाबुभुक्षापिपासागर्धेषु' इति निपातनादाकारः ॥ ५६ ॥

कोई व्यक्ति यदि उन महान् आत्मा से अभिमान के साथ तृण अथवा धूल का कण भी लेना चाहे तो वह व्यक्ति उनके क्रोध का पात्र होगा ही। यों यदि कोई व्यक्ति उनसे याच्ञा करे तो वे प्राण तक दे देते हैं, धन की तो बात ही क्या ? ॥ ५६ ॥

उक्तमर्थं निगमयति—

तत्तदीयविशिखातिसर्जनादस्तु वां गुरु यदृच्छयागतम्।
राघवप्लवगराजयोरिव प्रेम युक्तमितरेतराश्रयम् ॥ ५७ ॥

तदिति ॥ तत् तस्मात् तदीयविशिखस्यातिसर्जनात् प्रत्यर्पणात्। वां युवयोः। 'षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ' इति वामादेशः। राघवप्लवगराजयोः रामसुग्रीवयोरिव यदृच्छया दैवादागतं गुरु महत् युक्तमनुरूपम्। इतरेतराश्रयमन्योन्यविषयं प्रेम सख्यम्। अस्तु ॥ ५७ ॥

अतः उनके उस बाण के लौटा देने से आपका और उनका परस्पर महान् प्रेम [मित्रता] स्वयं समागत श्री रामचन्द्र तथा वानरेन्द्र [सुग्रीव] की मित्रता की तरह सम्बद्ध हो जायगा ॥ ५७ ॥

ननु शरलोभान्मिथ्याभियुज्यस इत्याह—

नाभियोक्तुमनृतं त्वमिष्यसे कस्तपस्विविशिखेषु चादरः।
सन्ति भूभृति शरा हि नः पदे ये पराक्रमवसूनि वज्रिणः ॥ ५८ ॥

नेति ॥ त्वमनृतं मिथ्याऽभियोक्तुमभ्याख्यातुम्। ब्रूञोऽर्थग्रहणाद् द्विकर्मकता। 'मिथ्याभियोगोऽभ्याख्यानम्' इत्यमरः। अस्माभिरिति शेषः। नेष्यसे नेष्टोऽसि। कुतः। तपस्वी मुनिः शोच्यश्च। 'मुनिशोच्यौ तपस्विनौ' इति शाश्वतः। तस्य, विशिखेषु क आदरः कास्था। न काचिदित्यर्थः। हि यस्मात्, नोऽस्माकं भूभृति शैले परेऽन्येऽपि शराः सन्ति, ये शरा वज्रिणः शक्रस्य पराक्रमवसूनि पराक्रमधनानि। शौर्यसर्वस्वभूता इत्यर्थः। 'वज्रि'ग्रहणाद्वज्रादप्यतिरिक्ता इति सूच्यते। अत्र शरेषु पराक्रमसाधनेषु पराक्रमरूपेण वस्तु व्यज्यते ॥ ५८ ॥

हमलोग आप पर झूठ का अपवाद नहीं लगा सकते क्योंकि तपस्वी के बाणों में आस्था ही क्या ? [चल कर देखिये] इस पर्वत पर हम लोगों के पास बहुत से बाण हैं जो [बाण] इन्द्र के पराक्रम और सर्वस्वरूप हैं ॥ ५८ ॥

अथ ते शरापेक्षा चेत्तर्हि तयोच्यतामित्याह—

मार्गणैरथ तव प्रयोजनं नाथसे किमु पतिं न भूभृतः।
त्वद्विधं सुहृदमेत्य सोऽर्थिनं किं न यच्छति विजित्य मेदिनीम् ॥ ५९ ॥

मार्गणैरिति ॥ अथ उत तव मार्गणैः शरैः प्रयोजनं कृत्यं तर्हि भूभृतो गिरेः पतिं प्रभुं किमु न नाथसे किमिति न याचसे। 'नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु' इति धातोर्लट्। न च याच्ञाभङ्गशङ्का कार्येत्याह—त्वदिति। सोऽस्मत्स्वामी तवैव विधा

प्रकारो यस्य तं त्वद्विधं त्वादृशम् । महानुभावमित्यर्थः । तथापि सुहृदं मित्रभूतम् , अर्थिनमेत्य लब्ध्वा मेदिनीं विजित्य न यच्छति न ददाति किम् । किं तु दास्यत्येव । किं पुन. शरानिति भावः ॥ ५९ ॥

यदि आप को वाणों की ही आवश्यकता है तो इस पर्वतीय [किरात] से क्यों नहीं मांग लेते । आप जैसे याचक मित्र को पाकर वे क्या समग्र पृथ्वी को जीत कर नहीं दे सकते ? वाण तो एक तुच्छ वस्तु हैं ॥ ५९ ॥

यदुक्तम्—'त्वद्विधम्' (श्लो० ५९) इत्यादि, तत्रोपपत्तिमाह—

तेन सूरिरुपकारिताधनः कर्तुमिच्छति न याचितं वृथा ।
सीदतामनुभवन्निवार्थिनां वेद यत्प्रणयभङ्गवेदनाम् ॥ ६० ॥

तेनेति ॥ तेन कारणेन सूरिर्विद्वान् अत एव, उपकारिताधन उपकारकत्वमात्रधनः स किरातभूपतिः । याचितं याच्ञां वृथा व्यर्थं कर्तुं नेच्छति । कुतः । यत् येन कारणेन सीदतां क्लिश्यतामर्थिनां प्रणयभङ्गवेदनां याच्ञाभङ्गदुःखं स्वयमनुभवन्निव वेद वेत्ति । अतो न वैफल्यशङ्का कार्येत्यर्थः ॥ ६० ॥

इसलिये विद्वान् किरातराज, जिनका उपकार ही एक मात्र धन है, आप की प्रार्थना को विफल नहीं कर सकते क्योंकि वह दुःखानुभावी याच्ञाकारी पुरुषों के विफल मनोरथ होने पर जो दुःख होता है, इससे वे स्वयं परिचित हैं ॥ ६० ॥

ननु स्वयंग्राहिणः किं याच्ञादैन्यं तत्राह—

शक्तिरर्थपतिषु स्वयंग्रहं प्रेम कारयति वा निरत्ययम् ।
कारणद्वयमिदं निरस्यतः प्रार्थनाऽधिकबले विपत्फला ॥ ६१ ॥

शक्तिरिति ॥ अर्थपतिषु विषये शक्तिः सामर्थ्यं स्वयंग्रहं स्वाम्यनुज्ञां विना ग्रहणं कारयति । यद्वा,—निरत्ययमपराधेऽप्यविकारि निर्बाधं प्रेम कर्तृ स्वयंग्रह कारयति । प्रबलः प्रियो वा परस्य धनं स्वयं गृह्णातीत्यर्थः । अन्यथा दोषमाह—इदं पूर्वोक्तं कारणद्वयं निरस्यतस्त्यजतः । पुंस इति शेषः । अधिकबले प्रबले विषये प्रार्थना तद्धनजिघृक्षा विपत्फलानर्थफलका । अशक्तस्याप्रियस्य सतः प्रबलधनग्रहणाशा फणिशिरोमणिग्रहणसाहसवदनर्थाय कल्पत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

धनियों से धन दो तरह से लिया जा सकता है एक तो ग्रहीता प्रबल हो दूसरे उसका उसमें घनिष्ठ प्रेम हो । इसके विपरीत होने से अर्थात् निर्बल और अप्रिय व्यक्ति को प्रार्थना विपत्तिरूप फल की उत्पादिका है ॥ ६१ ॥

ननु शस्त्रार्थसंपत्त्या शक्तत्वाभिमानः, तत्राह—

अस्त्रवेदमधिगम्य तत्त्वतः कस्य चेह भुजवीर्यशालिनः ।
जामदग्न्यमपहाय गीयते तापसेषु चरितार्थमायुधम् ॥ ६२ ॥

अस्त्रवेदमिति ॥ इह जगति तापसेषु तपस्विनां मध्ये । 'यतश्च निर्धारणम्' इति

सप्तमी । जमदग्नेरपत्यं पुमान् जामदग्न्यः । 'गर्गादिभ्यो यञ्' । तम्, अपहाय । परशुरामं विनेत्यर्थः । अस्त्रवेदं तत्त्वतोऽधिगम्य । भुजवीर्येण शालन्त इति भुजवीर्यशालिनः । उभयसंपन्नस्येत्यर्थः । शालनक्रियापेक्षया समानकर्तृकत्वात् क्त्वानिर्देशः । कस्य चायुधं चरितः प्राप्तोऽर्थो येन तद् चरितार्थं सार्थकं गीयते । न कस्यापीत्यर्थः । अतस्तवापि तापसत्वादकिंचित्करस्य तेन सह सख्यमेव मुख्यमिति भावः ॥ ६२ ॥

इस संसार में परशुराम को छोड़ तपस्वियों में कौन ऐसा व्यक्ति है जो अस्त्रविद्या के तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान रखते हुए भुजाओं में पराक्रम धारण करता है और उसके अस्त्र को उपयोगिता का गीत जनता के द्वारा गाया जाता है ? ॥ ६२ ॥

ननु युष्मन्मृगवधशरहरणाभ्यां द्रोहिणो मम तेन कथं सख्यं स्यादित्याशङ्क्य सत्यं तथापि तावन्मृगवधापराधः क्षमिष्यत इत्याह—

अभ्यघानि मुनिचापलात्त्वया यन्मृगः क्षितिपतेः परिग्रहः ।
अक्षमिष्ट तदयं प्रमाद्यतां संवृणोति खलु दोषमज्ञता ॥ ६३ ॥

अभ्यघानीति ॥ त्वया मुनिचापलात् । ब्राह्मणचापल्यादित्यर्थः । क्षितिपतेरस्मत्स्वामिनः । परिगृह्यत इति परिग्रहः । तेन स्वीकृत इत्यर्थः । 'परिग्रहः परिजने पत्न्यां स्वीकारमूलयोः' इति विश्वः । यन्मृगोऽभ्यघानि अभिहत इति । हन्तेः कर्मणि लुङ् । तद् हननम् । अयमस्मत्स्वामी । अक्षमिष्ट सोढवानेव । तथा हि—प्रमाद्यताम्, अविमृश्यकारिणामित्यर्थः । दोषमपराधम् । अज्ञताऽज्ञानिता संवृणोति आच्छादयति । नाज्ञस्यापराधो गण्यत इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

'ब्राह्मण लोग स्वभावतः चञ्चल होते हैं' इसके कारण यदि आपने मेरे स्वामी के द्वारा वध किये हुये मृग का जो वध किया है उसे उन्होंने सहन कर लिया क्योंकि जो लोग विवेकपूर्वक कार्य नहीं करते उनकी अज्ञानता उनके दोषों को छिपा लेती है अर्थात् अज्ञ होने के कारण क्षम्य हो जाते हैं ॥ ६३ ॥

अथ सुहृद्भावेन हितमुपदिशति—

जन्मवेषतपसां विरोधिनीं मा कृथाः पुनरमूमपक्रियाम् ।
आपदेत्युभयलोकदूषणी वर्तमानमपथे हि दुर्मतिम् ॥ ६४ ॥

जन्मेति ॥ जन्म सत्कुलप्रसूतिः, वेषो जटावल्कलादिः, तपो नियमः, तेषां विरोधिनीं विरुद्धाम् । अमूमेवंविधाम् । अपक्रियामपकारम् । पुनः । इतः परमित्यर्थः । मा कृथाः मा कुरु । करोतेः कर्तरि माङि लुङ् । 'वयोवृद्धयर्थवाग्वेषश्रुताभिजनकर्मणाम् । आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्मामशठां तथा ॥' इति स्मरणात् । उक्तवैपरीत्ये दोषमाह—आपदिति । हि यस्मात्, अपथे वर्तमानं दुर्मतिम् । पुरुषमिति शेषः । उभौ लोकौ दूषयति हन्तीति उभयलोकदूषणी । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिनोत्तरपदसमासः । आपद् । एति प्राप्नोति । समासविषय 'उभ' शब्दस्थाने 'उभय' शब्दप्रयोग

एव साधुः । यदाह कैयटः—'उभादुदात्तो नित्यमिति नित्यग्रहणस्येदं प्रयोजनं वृत्तिविषय 'उभ'शब्दस्य प्रयोगो मा भूत्, 'उभय' शब्दस्यैव रूपं यथा स्यादित्युभयत्रेत्यादि भवति' इति ॥ ६४ ॥

प्रतिष्ठित वंश में जन्म, ऋषियों की वेष-भूषा और तपश्चरण इन सबों के विरुद्ध व्यवहार आप न करें (अर्थात् कुल, वेष तथा तपस्या की मर्यादा का पालन करते हुए व्यवहार करें) क्योंकि कुमार्गगामी दुर्बुद्धि पुरुष को विपत्ति आकर दबोचती है। जिससे वह पुरुष न इस लोक का और न परलोक का रह जाता है उसकी दशा ठीक (धोबी का कुत्ता, न घर का न घाट का) इस कहावत के जैसी होती है ॥ ६४ ॥

यदुक्तम् 'अभ्यघानि' (श्लो० ६३) इति, तदेव स्फुटयति—

यष्टुमिच्छसि पितॄन्न सांप्रतं संवृतोऽर्चिचयिषुर्दिवौकसः ।
दातुमेव पदवीमपि क्षमः किं मृगेऽङ्ग विशिखं न्यवीविशः ॥ ६५ ॥

यष्टुमिति ॥ सांप्रतं संप्रति । 'संप्रतीदानीमधुना सांप्रतं तथा' इत्यमरः । पितॄन् कव्यवाडादीन् यष्टुमर्चयितुं नेच्छसि । यतः, संवृत एकान्ते स्थितः । तथा, दिवौकसो देवान् । अर्चिचयिषुरप्यर्चयितुमिच्छुरपि नासि । अतो न पित्रर्थेयं हिंसा, नापि देवतार्था । तदाराधने तद्विहितत्वादिति भावः । अथ 'सर्वत आत्मानं गोपायीत' इति श्रुतेरात्मरक्षार्थमिति चेन्नेत्याह—दातुमिति । हे अङ्ग, पदवीं मार्गं दातुमेव । न तु हन्तुम् । मुनित्वादिति भावः । क्षमोऽपि योग्यः सन्नपि । किं किमर्थं मृगे विशिखं न्यवीविशो निवेशितवान् । विशतेर्ण्यन्ताल्लुङ् । अभिद्रावतो मृगादपसरणेनैवात्मरक्षणे कर्तव्ये यदवधीस्तच्चापलमेव । 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति श्रुतिनिषेधादिति भावः ॥ ६५ ॥

पितरों का श्राद्ध करने की आप को इच्छा नहीं रही होगी क्योंकि आप निर्जन प्रदेश में हैं अथवा देवताओं के पूजन करने की अभिलाषा हो तो सो भी नहीं (अर्थात् आपकी हिंसा न तो पित्रार्थ हैं और न देवार्थ) । यदि आपने अपनी रक्षा के निमित्त उसका वध किया हो तो, सो भी उचित नहीं, आप उसे विना छेड़-छाड़ किये चले जाने देते । फिर आपने इस वराह पर बाणप्रहार किस लिये किया ? इसमें चापल्य के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ॥ ६५ ॥

किं बहुना, परमार्थः श्रूयतामित्याह—

सज्जनोऽसि विजहीहि चापलं सर्वदा क इव वा सहिष्यते ।
वारिधीनिव युगान्तवायवः क्षोभयन्त्यनिभृता गुरूनपि ॥ ६६ ॥

सज्जन इति ॥ सज्जनोऽसि । अत एव चापलं चपलस्य कर्म विजहीहि त्यज । जहातेर्लोट् । 'आ च हौ' इतीकारः । सर्वदा क इव वा को वा सहिष्यते । 'इव'शब्दो वाक्यालंकारे । 'वा'शब्दोऽवधारणे । असहने कारणमाह—वारिधीनिति । अनिभृता-

श्चपलः पुनःपुनरकार्यंकारिणो गुरून् धर्मयुक्तानपि । अन्यत्र,--विशालानपि । युगान्तवायवः प्रलयपवना वारिधीनिव समुद्रानिव क्षोभयन्ति । उपमानुप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यासः ॥ ६६ ॥

विशेष वार्तालाप से प्रयोजन क्या ? तथ्य बात सुनिये :—

आप सज्जन हैं अतः आप चपलता का परित्याग कर दें । हमेशा कोई सहन नहीं करेगा बार बार अनुचित करनेवाला पुरुष धैर्यशालियों को भी क्षुभित कर देता है जिस प्रकार प्रलयकाल का झंझावात विशाल समुद्रों को भी क्षुभित कर देता हैं ॥ ६६ ॥

नन्वयं किरातः क्षुभितः किं करिष्यति, तत्राह—

अस्त्रवेदविदयं महीपतिः पर्वतीय इति माऽवजीगणः ।
गोपितुं भुवमिमां मरुत्वता शैलवासमनुनीय लम्भितः ॥ ६७ ॥

अस्त्रेति ॥ अयं महीपतिः । अस्त्रवेदवित् । निग्रहानुग्रहसमर्थ इति भावः । अतः पर्वते भवः पर्वतीयः । 'पर्वताच्च' इति छप्रत्ययः । इति हेतोः माऽवजीगणः । वनेचरबुद्ध्या माऽवज्ञासीरित्यर्थः । गणयतेर्माङि लुङ् । 'ई च गणः' इतीकारः । नन्वीदृशश्चेत्किमर्थमिह वने वसति, तत्राह—गोपितुमिति । मरुत्वता इन्द्रेण । इमां भुवं गोपितुं रक्षितुम् । 'आयादय आर्धधातुके वा' इति विकल्पात् 'गुपूधूप--' इत्यादिना न आयप्रत्ययः । अनुनीय प्रार्थ्य, शैलवासं लम्भितः प्रापितः । 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इति वचनादणि कर्तुः कर्मणि क्तः । 'गतिबुद्धि--' इत्यादिनाऽपि कर्तुः कर्मत्वम् ॥ ६७ ॥

'यह कोलभिल्ल की जाति मेरा क्या कर सकता है' यह बात तो आप स्वप्न में भी न सोचें क्योंकि :—

ये भूमिपाल (मेरे स्वामी) अस्त्रवेद के ज्ञाता हैं अर्थात् जो चाहें सो कर सकते हैं उन्हें वनेचर समझ कर तिरस्कार मत कीजिये । इन्द्र ने इस पर्वतस्थली की रक्षा के लिये प्रार्थनापूर्वक इनको यहाँ रखा है ॥ ६७ ॥

उपसंहरति—

तत्तितिक्षितमिदं मया मुनेरित्यवोचत वचश्चमूपतिः ।
बाणमत्रभवते निजं दिशन्नाप्नुहि त्वमपि सर्वसंपदः ॥ ६८ ॥

तदिति ॥ तत् तस्मान्मुनिचापलात् । मुनेः सम्बन्धि इदं मृगवधरूपमागो मया तितिक्षितं सोढम्, इति वचश्चमूपतिरवोचत । शरद्रोहस्य प्रत्यर्पणमेव प्रतीकार इत्याह—अत्रभवते पूज्याय स्वामिने । अत्रभवान् व्याख्यातः । निजं बाणं तदीयमेव शरं दिशन् प्रत्यर्पयन्, त्वमपि सर्वसंपद आप्नुहि । सख्येनेति भावः ॥ ६८ ॥

'मैंने उस मुनि के मृगवधरूप अपराध को क्षमा कर दिया' इस तरह का वचन किरातराज (मेरे स्वामी) ने कहा है । आप उनके बाण को प्रत्यर्पित करके सम्पूर्ण सम्पत्तियों को उपलब्ध कीजिये ॥ ६८ ॥

ननु मह्यमेतत्सख्यमेव न रोचते, किं पुनस्तन्मूलाः संपदस्तत्राह—

आत्मनीनमुपतिष्ठते गुणाः संभवन्ति विरमन्ति चापदः।
इत्यनेकफलभाजि मा स्म भूदर्थिता कथमिवार्यसंगमे ॥ ६९ ॥

आत्मनीनमिति ॥ आत्मने हितं आत्मनीनम्। 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः'। उपतिष्ठते संगच्छते। 'उपाद्देवपूजासंगतिकरणमित्रकरणपथिषु' इति वक्तव्यादात्मनेपदम्। गुणा विनयादयः संभवन्ति, आपदश्च विरमन्ति। 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम्। इत्यनेकफलभाजि नानाफलोत्पादक आर्यसंगमे साधुसंगतौ। अर्थिताऽपेक्षा कथमिव मा स्म भूत्। सर्वदा भवत्येव ॥ ६९ ॥

सज्जनसंगति से अपना कल्याण होता है, विनयादि गुण प्राप्त होते हैं तथा आपत्तियाँ समूल निर्मूल हो जाती है'—इस तरह के अनेक फल प्राप्त होते हैं तो फिर इसे प्राप्त करने की चाह किसी को क्यों नहीं होगी ? ॥ ६९ ॥

न चायं दूरे वर्तत इत्याह—

दृश्यतामयमनोकहान्तरे तिग्महेतिपृतनाभिरन्वितः।
साहिवीचिरिव सिन्धुरुद्धतो भूपतिः समयसेतुवारितः ॥ ७० ॥

दृश्यतामिति ॥ तिग्महेतिभिस्तीक्ष्णायुधाभिः। 'हेतिर्ज्वालास्त्रसूर्यांशुषु' इति हेमचन्द्रः। पृतनाभिर्वाहिनीभिः। 'वाहिनीपृतना चमूः' इत्यमरः। अन्वितो भूपतिः। साहयः ससर्पा वीचयो यस्य स सिन्धुः समुद्र इवोद्धतः। किंतु समयो मर्यादा सेतुरिव स समयसेतुस्तेन वारितः सन्। हस्तेन निर्दिशन्नाह—अयमनोकहान्तरे द्रुमान्तर्धाने। वर्तत इति शेषः। दृश्यताम्। 'अनोकहः कुटः शालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः' इत्यमरः ॥ ७० ॥

सर्प युक्त तरङ्ग से आकुल समुद्र की तरह उद्धत किरातसेनानायक वृक्ष के मध्य में तीक्ष्ण शस्त्र-सम्पन्नसेना के साथ अवस्थित हैं। जिस तरह समुद्र अपनीं मर्य्यादारूप पुल का उल्लंघन नहीं करता उसी तरह वह भी अपने वचन के कारण रुके हुए हैं ॥ ७० ॥

अथास्य विज्ञापनमेवाह—

सज्यं धनुर्वहति योऽहिपतिस्थवीयः स्थेयाञ्जयन्हरितुरंगकेतुलक्ष्मीम्।
अस्यानुकूलयमतिं मतिमन्ननेन सख्या सुखं समभियास्यसि चिन्तितानि ॥ ७१ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये त्रयोदशः सर्गः।

सज्यमिति ॥ स्थेयान् स्थिरतरः। 'प्रियस्थिर'—इत्यादिना स्थादेशः। यश्चभूपतिः। हरितुरंगमकेतोरिन्द्रध्वजस्य लक्ष्मीं शोभां जयन्। अहिपतिः शेष इव स्थवीयः स्थूलतरम्। 'स्थूलदूर—' इत्यादिना पूर्वगुणयणादिपरलोपौ। सह ज्यया सज्यं धनु-

वंहति । हे मतिमन् ! अस्य चमूपतेः मतिमनुकूलयानुकुलां कुरु । सख्यं कुर्वित्यर्थः । मतिमत्तायाः फलमेतदिति भावः । कुतः । सख्याऽनेन चमूपतिना हेतुना सुखमक्लेशेन चिन्तितानि मनोरथान् समभियास्यसि प्राप्स्यसि । वसन्ततिलकावृत्तम् ।। ७१ ।।

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां त्रयोदशः सर्गः समाप्तः ।

हे प्राज्ञ ! शेषनाग के समान स्थूल अत्यन्त अविचल भाव से अवस्थित जो किरात सेनापति इन्द्र के ध्वजा की शोभा को जीतते हुए धनुष धारण किये हुए हैं । उन्हें अपने अनुकूल कीजिये । इनके साथ मित्रता करने से सम्पूर्ण अभिलषित मनोरथों को सिद्ध कर सकेंगे ।। ७१ ।।

त्रयोदश सर्ग समाप्त

चतुर्दशः सर्गः

ततः किरातस्य वचोभिरुद्धतैः पराहता शैल इवार्णवाम्बुभिः ।
जहौ न धैर्यं कुपितोऽपि पाण्डवः सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि साधवः ।। १ ।।

तत इति ।। ततः किरातवाक्यानन्तरम् उद्धतैः प्रगल्भैः किरातस्य वचोभिः । अर्णवाम्बुभिः शैल इव पराहतोऽभिहतोऽत एव कुपितोऽपि पाण्डवो धैर्यं निर्विकारचित्तत्वं न जहौ न तत्याज । उत्पन्नमपि कोपं स्तम्भयामासेत्यर्थः । तथा हि—साधवः सज्जनाः सुदुर्ग्रहं सुष्ठु दुरासदमप्रतिकुप्यमन्तःकरणं येषां ते सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि । अर्थान्तरन्यासः ।। १ ।।

अनन्तर जलनिधि के जल से (अभिहत) पर्वत की तरह किरात के प्रगल्भ वचनों से आहत अर्जुन क्रुद्ध होकर भी धैर्यच्युत नहीं हुए, कारण कि—वैसे सज्जन पुरुषों का हृदय अटल होता है ।। १ ।।

सलेशमुल्लिङ्गितशात्रवेङ्गितः कृती गिरां विस्तरतत्त्वसंग्रहे ।
अयं प्रमाणीकृतकालसाधनः प्रशान्तसंरम्भ इवाददे वचः ।। २ ।।

सलेशमिति ।। सह लेशैः सलेशं सकलं यथा तथा, उल्लिङ्गितमुद्भूतलिङ्गं कृतम् । लिङ्गैस्तद्वाक्यभङ्गिभिरेव सम्यगवगतमित्यर्थः । शत्रुरेव शात्रवः । स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । तस्य इङ्गितमभिप्रायस्तदुल्लिङ्गितं येन सः । गिरां वाचां संबन्धिनि विस्तरे तत्त्वसंग्रहेऽर्थसंक्षेपे । वैभाषिको द्वन्द्वैकवद्भावः । कृती कुशलः प्रमाणीकृतं प्रधानीकृतं काल एव साधनं येन सः । अवसरोचितं विवक्षुरित्यर्थः । अयं पाण्डवः प्रशान्तसंरम्भः क्षोभरहित इव वच आददे । उवाचेत्यर्थः ।। २ ।।

वाणी विस्तार के तत्त्व को संक्षेपपूर्वक संग्रह करने में निपुण अर्जुन किरात के वचनों से शत्रु के अभिप्राय को पूर्णतया समझकर तथा समयरूपसाधनको प्रधान मानकर (अर्थात् अवसर पाकर) कुछ कहने के इच्छुक होते हुये क्षोभरहित की तरह वचन बोले :—(अर्थात् उनके हृदय में क्रोध की मात्रा तो थी परन्तु उसे व्यक्त न करके ही बोले) ॥ २ ॥

सान्त्वपूर्वकमेवाह—

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम् ।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ॥ ३ ॥

विविक्तेति ॥ विविक्ताः संयोगादिना अश्लिष्टाः स्फुटोच्चारिता वर्णा अक्षराण्येव आभरणानि यस्याः सा । अन्यत्र तु,—विविक्तानि शुद्धानि वर्णो रूपमाभरणानि च यस्याः सा । 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु चाक्षरे, इत्युभयत्राप्यमरः । सुखा श्रुतिः श्रवणं यस्याः सा सुखश्रुतिः । श्राव्येत्यर्थः । अन्यत्र,—श्रूयत इति श्रुतिर्वाक् । सा सुखा यस्याः सा । मञ्जुभाषिणीत्यर्थः । द्विषामपि हृदयानि प्रसादयन्ती । किं पुनः सुहृदामिति भावः । प्रसन्नानि वाचकानि गम्भीराणि अर्थगुरूणि च पदानि सुप्तिङन्तरूपाणि यस्याः सा । अन्यत्र तु,—प्रसन्ना विमला गम्भीरपदाऽलसचरणा सरस्वती वाक्, स्त्रीरत्नं च । तथा चोक्तम्—'सरस्वती सरिद्भेदे गोवाग्देवतयोरपि । स्त्रीरत्ने च' इति । न कृतं पुण्यकर्म यैस्तेषां न प्रवर्तते न प्रसरति । किं तु सुकृतिनामेवेत्यर्थः । भवद्वाणी चैवंविधेति धन्यो भवानिति भावः । अत्र काचिन्नायिका वाग्देवता न प्रतीयते । तत्रादौ समासोक्तिरलंकारः । विशेषणमात्रसाम्येनाप्रस्तुतप्रतीतेः । अत एव न श्लेषः ॥ ३ ॥

स्फुट (उच्चरित) वर्ण ही जिसके आभूषण हों, जो कर्णकटु न हो अर्थात् श्रोत्रानन्दजनक हो, जो शत्रुओं के मन को भी प्रसन्न बना देती हो और जिसके सुप्तिङन्तरूप पद, अर्थ गौरवशाली हों ऐसी वाणी का विकास विना सुकृत के नहीं होता ॥ ३ ॥

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये ।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गभीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम् ॥ ४ ॥

भवन्तीति ॥ ते पुरुषा विपश्चितां विदुषाम् । 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः' इत्यमरः । मध्ये सभ्यतमाः सभायां साधुतमा निपुणतमाः । 'साधुः समर्थो निपुणश्च' इति काशिकायाम् । भवन्ति । ये मनोगतं मनसा गृहीतं अर्थं वाचि निवेशयन्ति । वाचोद्गिरन्तीत्यर्थः । तेषु वक्तृष्वप्युपपन्ननैपुणाः संभावितकौशलाः कतिचिदेव गभीरं निगूढमर्थं प्रकाशतां स्फुटतां नयन्ति । लोके तावज्ज्ञातार एव दुर्लभाः, तत्रापि वक्तारः, तत्रापि निगूढार्थप्रकाशकाः । त्वयि सर्वमस्तीति स्तुतिः । वनेचरवाक्यरहस्यं ज्ञातमिति स्वयमपि तादृश एवेति हृदयम् ॥ ४ ॥

वे पुरुष विद्वानों के बीच निपुणता में सर्वश्रेष्ठ कहे जाते हैं जो हृदयंगत भाव को

वाणी में स्थापित करते हैं (अर्थात् वाणी से व्यक्त करते हैं) उनमें भी जो अत्यन्त कुशलतासे निगूढार्थ को व्यक्त कर देते हैं। तात्पर्य यह कि एक तो जानने वाले दुर्लभ हैं फिर सब कुछ जानते हुए उसके वक्ता दुर्लभ हैं। उनमें भी गम्भीर अर्थ के बोध कराने वाले तो अत्यन्त दुर्लभ हैं। परन्तु तुम में ये सब गुण वर्तमान हैं ॥ ४ ॥

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः ॥ ५ ॥

स्तुवन्तीति ॥ किं च, केचिद्गुर्वीं महतीमभिधेयसंपदमर्थसंपत्तिं स्तुवन्ति। अपरे विपश्चित उक्तेः शब्दस्य विशुद्धिं सामर्थ्यं स्तुवन्ति। इति प्रतिपूरुषं रुचौ प्रीतौ स्थितायां व्यवस्थितायां सर्वमनोरमाः सर्वेषां शब्दार्थरुचीनां पुंसां मनोरमा गिरः सुदुर्लभाः। त्वद्गिरस्तु सर्वमनोरमा उक्तसर्वगुणसंपत्त्येति भावः ॥ ५ ॥

कुछ लोग वाणी की वाक्यार्थ सम्पत्ति की प्रशंसा करते हैं, और कुछ लोग शब्दसामर्थ्य की ही प्रशंसा करते हैं इस तरह के भिन्न-भिन्न विचार के लोग होते हैं फिर इस प्रकार की वाणी दुर्लभ है जो सर्वप्रिय हो। परन्तु तुम्हारी वाणी तो सर्वगुण सम्पन्न होने से सर्वप्रिय है ॥ ५ ॥

समस्य संपादयता गुणैरिमां त्वया समारोपितभार भारतीम्।
प्रगल्भमात्मा धुरि धुर्य वाग्मिनां वनेचरेणापि सताधिरोपितः ॥ ६ ॥

समस्येति ॥ धुरं वहतीति धुर्यस्तत्संबोधने हे धुर्य ! हे कार्यनिर्वाहक ! 'धुरो यड्ढकौ' इति यत्प्रत्ययः। अत एव समारोपितभार हे स्वामिना निहितसंध्यादिकार्यभार। तदाह मनुः—'दूते संधिविपर्ययौ' इति। इमां 'शान्तताविनययोगी'त्यादिकां भारतीं वाचं गुणैर्विविक्तवर्णत्वादिभिः समस्य संयोज्य प्रगल्भं निर्भीकं यथा तथा संपादयता रचयता। व्याहरतेत्यर्थः। त्वया वनेचरेणापीत्यर्थः। सता 'अपि' 'शब्दो विरोधद्योतनार्थम्। आत्मा स्वयं वाग्मिनां वाचोयुक्तिपटूनाम्। 'वाचोयुक्तिपटुर्वाग्मी' इत्यमरः। 'वाचो ग्मिनिः' इति मत्वर्थीयो ग्मिनिप्रत्ययः धुरि अग्रेऽधिरोपितः। स्थापित इत्यर्थः। 'रुहः पोऽन्यतरस्याम्' इति पकारः। अत्र मनुः—'वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते' इति ॥ ६ ॥

ऐ कार्यनिर्वाहक ! तथा स्वामी के द्वारा सन्ध्यादिक कार्य के लिये नियुक्त, 'शान्तताविनययोगि' इस पूर्वोक्त वाणी को स्पष्टाक्षरत्वादिक गुणों से युक्त कर निर्भीक होकर बोलने वाले तुमने किरात होते हुए भी व्याख्यानपटुओं के समक्ष अपनी आत्मा को रखा है अर्थात् तुम वाग्मियों में सबसे बढ़कर हो ॥ ६ ॥

वाग्मितामेवाह—

प्रयुज्य सामाचरितं विलोभनं भयं विभेदाय धियः प्रदर्शितम्।
तथाभियुक्तश्च शिलीमुखार्थिना यथेतरन्न्याय्यमिवावभासते ॥ ७ ॥

प्रयुज्येति ॥ 'शान्ततविनययोगी'त्यादिना साम सान्त्वम् । 'सामसान्त्वमुभे समे' इत्यमरः । प्रयुज्य नियुज्य विलोभनं प्रलोभनं 'मित्रमिष्टम्'' इत्यादिनाऽऽचरितं संपादितम् । तथा धियो बुद्धेर्विभेदाय व्यामोहनार्थम् 'शक्तिरर्थपतिषु' इत्यादिना भयं प्रदर्शितम् । किंच, शिलीमुखार्थिना । न तु न्यायार्थिनेति भावः । त्वयेति शेषः । 'नाभियोक्तुम्' (१३।५८) इत्यादिना तथाऽभियुक्तं कथितं यथेतरत् न्यायादन्यत् । अन्याय्यमित्यर्थः । न्याय्यं न्यायादनपेतमिवावभासत इत्युपमा । अनेन वाग्मिनामग्रेसरोऽसीति भावः ॥ ७ ॥

'शान्ततविनययोगि' इससे तुमने साम नीति का प्रयोग करके 'मित्रमिष्ट' इससे प्रलोभन (लालच) दिखलाया है । बुद्धि को भ्रम में डालने के लिये तुमने 'शक्तिरर्थपतिषु' इससे भय प्रदर्शित किया है । बाण प्राप्त करने की इच्छा से तुमने इस प्रकार की वाणी का प्रयोग किया है जो सरासर अन्यायपूर्ण होते हुए भी न्यायसंगत सा मालूम पड़ता है ॥ ७ ॥

ततः किमत आह—

विरोधि सिद्धेरिति कर्तुमुद्यतः स वारितः किं भवता न भूपतिः ।
हिते नियोज्यः खलु भूतिमिच्छता सहार्थनाशेन नृपोऽनुजीविना ॥ ८ ॥

विरोधीति ॥ किंतु सिद्धेः फलस्य विरोधि विघातकमिति इदमस्मदास्कन्दनरूपं कर्म कर्तुमुद्यतः स भूपतिर्महीपतिर्भवता । घुर्येणेति भावः । किं न वारितो न निवर्तितः निवारणे हेतुमाह—भूतिमिच्छता इहामुत्र च श्रेयार्थिना सहचरितावर्थनाशौ स्वार्थानर्थौ यस्य तेन सहार्थनाशेन । समानसुखदुःखेनेत्यर्थः । अनुजीविना भृत्येन नृपः स्वामी हिते नियोज्यो नियम्यः खलु । अन्यथा स्वामिद्रोहपातकी श्रेयसो भ्रष्टः स्यादिति भावः ॥ ८ ॥

सिद्धि में विघ्नकारक कार्य करने के लिये तत्पर अपने स्वामी को तुमने क्यों नहीं मना किया । दुःखसुखभागी अनुचर (दास) का कर्तव्य है कि स्वामी के हित की कामना से उसे भले काय में नियुक्त करे ॥ ८ ॥

तर्हि नो बाणः क्व गतः, किमत्र वा न्याय्यम्. तत्राह—

ध्रुवं प्रणाशः प्रहितस्य पत्रिणः शिलोच्चये तस्य विमार्गणं नयः ।
न युक्तमत्रार्यजनातिलङ्घनं दिशत्यपाय हि सतामतिक्रमः ॥ ९ ॥

ध्रुवमिति ॥ प्रहितस्य प्रयुक्तस्य पत्रिणः शरस्य प्रणाशोऽदर्शनं ध्रुवं निश्चितम् । प्रहितश्चेदिति भावः । तस्य नष्टस्य पत्रिणः शिलोच्चये शैले । 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः' इत्यमरः । विमार्गणमन्वेषणं नयो न्यायः । 'अन्वेषणं विचयनं मार्गणं मृगणा मृगः' इत्यमरः । अत्र विषये आर्यजनातिलङ्घनं सज्जनव्यतिक्रमो न युक्तम् । हि यस्मात्कारणात्, सतामतिक्रमोऽपायमनर्थं दिशति ददाति ॥ ९ ॥

फेका गया बाण का अन्तर्हित होना कोई असम्भव बात नहीं। न्याय तो यह है कि इस पर्वत पर उसके अन्वेषण करने में सुजनता का व्यतिक्रम उचित नहीं। क्योंकि सुजनता का लंघन करना अनर्थकारी होता है ॥ ९ ॥

यदुक्तम् 'हर्तुमर्हसि' (१३।४१) इति, तत्रोत्तरमाह—

अतीतसंख्या विहिता ममाग्निना शिलीमुखाः खाण्डवमत्तुमिच्छता।
अनादृतस्यामरसायकेष्वपि स्थिता कथं शैलजनाशुगे धृतिः ॥ १० ॥

अतीतेति ॥ खाण्डवमिन्द्रवनम् अत्तु भक्षयितुम्, इच्छताऽग्निना ममातीतसंख्याः शिलीमुखाः शरा विहिता दत्ताः। खाण्डवदाहेऽक्षयतूणीरदानमुक्तं भारते। अतोऽमरसायकेष्वपि अनादृतस्यादररहितस्य। भावे क्तः। ततो नञा बहुव्रीहिः। मम कथं शैलजनाशुगे किरातबाणे धृतिरास्था स्थिता। न कथंचिदित्यर्थः। अतो नापहारशङ्का कार्येत्यर्थः ॥ १० ॥

खाण्डव वन (इन्द्र का वन) को निगल जाने के अभिलाषी अग्नि देव ने मुझे असंख्य शर प्रदान किये हैं। देवताओं के बाणों की भी मुझे कोई आवश्यकता नहीं फिर तुम्हीं बतलाओ कि एक कोलभिल्ल के बाण ले लेने के लिये मेरा विचार कब हो सकता है। तुमने जो 'हर्तुमर्हसि' यह कहा, वह सर्वथा अनुचित कहा ॥ १० ॥

यदुक्तम् 'स्मर्यते तनुभृताम्' (१३।४२) इत्यादिना सदाचारः प्रमाणमिति, तत्रोत्तरमाह—

यदि प्रमाणीकृतमार्यचेष्टितं किमित्यदोषेण तिरस्कृता वयम्।
अयातपूर्वा परिवादगोचरं सतां हि वाणी गुणमेव भाषते ॥ ११ ॥

यदीति ॥ आर्यचेष्टितं सच्चरितं प्रमाणीकृतं यदि। साधुत्वेनाङ्गीकृतं यदीत्यर्थः। तर्हि, अदोषेण दोषाभावेऽपि। 'क्वचित्प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समासः' इति भाष्यकारः उपलक्षणे तृतीया। वयं किमिति तिरस्कृताः। न युक्तमित्यर्थः। हि यस्मात्, परिवादगोचरं परनिन्दास्पदम्। अयातपूर्वा सतां वाणी गुणमेव भाषते न दोषम्; अतस्ते मृषादोषभाषिणो न सदाचारप्रामाण्यबुद्धिरिति भावः। पूर्वं न यातेत्ययातपूर्वा। सुप्सुपेति समासः। परत्वात्सर्वनाम्नो निष्ठायाः पूर्वनिपातः। 'स्त्रियाः पुंवत्—' इत्यादिना पुंवद्भावः पूर्वलिङ्गता च। अर्थान्तरन्यासः ॥ ११ ॥

यदि सज्जनाचरण को प्रमाण मानते हो तो फिर अवगुण न होते हुए भी मेरी इस प्रकार की अवहेलना तुमने क्यों की? क्योंकि जो सज्जन-वाणी किसी व्यक्ति की जुगुप्सा करने के लिये कभी प्रवृत्त नहीं हुई वह गुण का ही अभिभाषण करती है (अवगुण का नाम नहीं लेती) ॥ ११ ॥

नन्वप्रत्यक्षा परिबुद्धिः कथं दुष्टेति निश्चीयते, तत्राह—

गुणापवादेन तदन्यरोपणाद् भृशाधिरूढस्य समञ्जसं जनम्।
द्विधेव कृत्वा हृदयं निगूहतः स्फुरन्नसाधोर्विवृणोति वागसिः ॥ १२ ॥

गुणेति ॥ गुणापवादेन विद्यमानगुणापह्नवेन तदन्यरोपणात् तस्माद्गुणादन्यस्य दोषस्याविद्यमानस्यैवारोपणाच्च समञ्जसं जनं सुजनं भृशाधिरूढस्यातिमात्रमाक्रम्य स्थितस्य । अभिक्षिप्तस्येत्यर्थः । कर्तरि क्तः । निगूहतो हृदयं संवृण्वतोऽपि असाधोरनार्यस्य हृदयं कर्मस्फुरन् विलसन् वागेवासिर्द्विधा कृत्वा भित्त्वेव विवृणोति । अतिदुष्टया वाचैवैतत्पूर्विकाया बुद्धेरपि दौष्ट्यमनुमीयत इति भावः । वागसिरित्यत्र रूपकं द्विधाकरणरूपकसाधकम् ॥ १२ ॥

दुर्जन व्यक्ति सुजनके गुणों को अवगुण्ठित कर (पर्दा डालकर) उसके स्थान पर अवगुण के आरोप द्वारा, आक्रमण कर बैठ जाते हैं। अपने अन्तःकरण में प्रवृत्त अवगुणों को निगूहित कर देते हैं परन्तु उनकी वाणीरूप करवाल (तलवार) से उनका हृदय छिन्न होकर उस निगूहित अवगुणको व्यक्त कर देता है। (अर्थात् दुर्जन कितना भी अपने अवगुणों को छिपाकर सुजन बनने की चेष्टा करता है तो भी उसकी वाणी से सब स्पष्ट हो जाता है) ॥१२॥

यदुक्तम्—'अभ्यघानि' (१३।६३) इति, तत्रोत्तरमाह—

वनाश्रयाः कस्य मृगाः परिग्रहाः शृणाति यस्तान्प्रसभेन तस्य ते ।
प्रहीयतामत्र नृपेण मानिता न मानिता चास्ति भवन्ति च श्रियः ॥१३॥

वनेति ॥ वनाश्रया अत एव मृगाः कस्य परिग्रहाः । न कस्यापीत्यर्थः । किन्तु यस्तान् मृगान् प्रसभेन बलात्कारेण शृणाति हिनस्ति । 'शॄ हिंसायाम्' इति धातोर्लट् । ते मृगास्तस्य हन्तुः परिग्रहाः परिग्राह्याः, हन्ता चाहमेवेति भावः । ननु ममायमित्यभिमानान्नृपस्य स्वत्वमित्याशङ्क्याह—अत्रेति । अत्र मृगे नृपेण मानिता ममेत्यभिमानिता प्रहीयतां त्यज्यताम् । कुत इत्याशङ्क्याभिमानमात्रेण स्वत्वाभावादित्याह—नेति । मानिता चास्ति । श्रियः स्वानि च भवन्तीति न । किंतु न भवन्त्येव । सत्यामभिमानितायमित्यर्थः । अभिमानमात्रेण स्वत्वेऽतिप्रसङ्गादिति भावः ।

मृग वन में निवास करते हैं इसलिये वे किसके ग्राह्य हैं? जो उन्हें मारता है वे उसी के हैं। किरात पति का कर्तव्य है कि वे इस विषय में अपनापन छोड़ दें। यह मेरा है इस प्रकार की मानिता तथा सम्पत्ति दोनों साथ-साथ नहीं होती ॥ १३ ॥

'यष्टुमिच्छसि पितॄन्' (१३।६५) इत्यादिना यन्निष्कारणमवधीरित्युपालब्धं, तत्रोत्तरमाह—

न वर्त्म कस्मैचिदपि प्रदीयतामिति व्रतं मे विहितं महर्षिणा ।
जिघांसुरस्मान्निहतो मया मृगो व्रताभिरक्षा हि सतामलंक्रिया ॥१४॥

नेति ॥ कस्मैचिदपि वर्त्म न प्रदीयतामिति एवं व्रतं महर्षिणा व्यासेन मे मह्यं विहितम् । उपदिष्टमित्यर्थः । अस्मात् कारणात्, जिघांसुर्हन्तुमिच्छुरापतन्नयं मृगो मया निहतः । हि यस्मात्, व्रताभिरक्षा सतामलंक्रिया, न तु दोषः । अत आत्मरक्षणार्थमस्य वधो न निष्कारणमित्यर्थः ॥ १४ ॥

तुमने पूछा है कि क्या पितरों के श्राद्ध की कामना करते हो ? सो बात नहीं किन्तु—'किसी को अपने पास आने का अवसर न देना' इस प्रकार के व्रत का उपदेश महर्षि व्यास ने दिया है। यह मृग मेरे वध की कामना किए हुए था अतः मैंने इसका वध किया है क्योंकि व्रत की रक्षा करना सज्जनों का आभूषण है ॥ १४ ॥

'दुर्वचं तत्' (१३।४९) इत्यादिना यत्संजातं बन्धुत्वमुक्तं, तत्राचष्टे—

मृगान्विनिघ्नन्मृगयुः स्वहेतुना कृतोपकारः कथमिच्छतां तपः ।
कृपेति चेदस्तु मृगः क्षतः क्षणादनेन पूर्वं न मयेति का गतिः ॥ १५ ॥

मृगानिति ॥ स्वमात्मैव हेतुस्तेन स्वहेतुना । स्वार्थमित्यर्थः । 'सर्वनाम्नस्तृतीया च' इति तृतीया । मृगान् विनिघ्नन् प्रहरन् । मृगान्यातीति मृगयुर्व्याधः । 'मृगयुर्व्याधश्च' इत्यौणादिको युप्रत्ययान्तो निपातः । 'व्याधो मृगवधाजीवो मृगयुर्लुब्धकोऽपि सः' इत्यमरः । तप इच्छतां तपस्विनां कथं कृतोपकारः । न कथंचिदित्यर्थः । अथ कृपा इति चेत् । व्याधस्यापीति शेषः । अस्तु । किं शुष्ककलहेनेति भावः । परन्तु यदुक्तं 'निघ्नतः परनिर्वहितम्' (१३।४६) इत्यादिना तस्य प्रथमप्रहर्तृत्वं तदयुक्तमित्याह—मृगः क्षणात्क्षतः । आवाभ्यां युगपदेव विद्ध इत्यर्थः । एवं सति, अनेन नृपेणैव पूर्वं हतो मया तु नेत्यत्र का गतिः किं प्रमाणम् । पौर्वापर्यस्य दुर्लक्ष्यत्वादिति भावः । तथा च यदुक्तम् 'व्रीडितव्यम्' (१३।४६) इति, उपालम्भस्तस्यैव किं न स्यादिति भावः ॥ १५ ॥

आखेट कर्त्ता ने यदि अपने स्वार्थ के लिये इस मृग का वध किया है तो फिर इसमें तपश्चर्याकारी मुनियों का उपकार कैसा ? (अर्थात् कोई उपकार नहीं) यदि यह कहते हो कि किरात पति की अनुकम्पा है तो फिर रहने दीजिये, इस व्यर्थ के कलह से क्या प्रयोजन ? । यह मृग एक ही क्षण में दोनों के द्वारा मारा गया है अतः इन्होंने पहले मारा और मैंने नहीं इसमें क्या प्रमाण ? ॥ १५ ॥

पूर्वं 'कृपेति चेदस्तु' (श्लो० १५) इत्युक्तम्, सम्प्रति तदप्यसहमान आह—

अनायुधे सत्त्वजिघांसिते मुनौ कृपेति वृत्तिर्महतामकृत्रिमा ।
शरासनं बिभ्रति सज्यसायकं कृतानुकम्पः स कथं प्रतीयते ॥ १६ ॥

अनायुध इति ॥ अनायुधे निरायुधे सत्त्वेन केनचित्प्राणिना जिघांसिते हन्तुमिष्टे । हन्तेः सन्नन्तात्कर्मणि क्तः । मुनौ विषये कृपेति वृत्तिर्व्यवहारो महतां महात्मनाम्, अकृत्रिमाऽकपटा । सह ज्यया सज्यः सायको यस्मिस्तत्, शरासनं धनुर्बिभ्रति दधति मयि स नृपः कथं कृतानुकम्पो मया प्रतीयते ज्ञायते । इणः कर्मणि लट् । अक्षमे कृपा विहिता न तु क्षम इत्यर्थः ॥ १६ ॥

निरस्त्र तपस्विजन के विषय में, जिसे कोई हिंस्रकजन्तु हनन करने की इच्छा रखता हो, दया का व्यवहार बड़े लोगों का स्वभाव सिद्ध है। परन्तु प्रत्यञ्चा और बाण से युक्त

धनुष के धारण करने वाले व्यक्ति पर उन्होंने दया की है यह किस तरह जाना जा सकता है ? तात्पर्य यह कि—असमर्थ पर दया की जाती है, पर जो स्वयं आत्मरक्षा में समर्थ हैं उसपर दया कैसी ? ॥ १६ ॥

अथ कृपामभ्युपगम्याह—

अथो शरस्तेन मदर्थमुज्झितः फलं च तस्य प्रतिकायसाधनम् ।
अविक्षते तत्र मयात्मसात्कृते कृतार्थता नन्वधिका चमूपतेः ॥ १७ ॥

अथो इति ॥ अथो प्रश्ने । 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः । तेन नृपेण मदर्थं यथा तथा । अर्थेन सह नित्यसमासः । शर उज्झितस्त्यक्तः । तस्य उज्झितस्य फलं च प्रतिकायस्य प्रतिपक्षस्य साधनं वधः । साधनं निर्वृतौ मेढ्रे सैन्ये सिद्धौ वधे गतौ' इति विश्वः । अविक्षतेऽखण्डिते तत्र तस्मिन्फले मयात्मसात्कृते स्वाधीनीकृते सति । 'तदधीनवचने' इति सातिप्रत्ययः । चमूपतेरधिका कृतार्थता साफल्यं ननु खलु । स्वायुधस्य परत्राणशत्रुवधपात्रप्रतिपादनायैकहेलया सिद्धेरित्यर्थः । तथाप्ययं शरलोभ इति कृपालुताया मूलान्यपि निकृन्ततीति भावः ॥ १७ ॥

अच्छा मैंने मान लिया कि किरातनाथ ने मुझ पर दया दिखलाई किन्तु—

उन्होंने यदि मेरा उपकार करने के लिये शरप्रक्षेप किया है तो उसका फल भी यह है कि (मेरे) शत्रु का नाश हो—इस प्रकार की फलसिद्धि पूर्णतया सम्पादित होने पर यदि वाण मुझे प्राप्त हो जाता है तो इसमें किरातनाथ को और अधिक सफलता प्राप्त हो जाती है ॥ १७ ॥

मार्गणैरथ तव प्रयोजनम्' (१३।५९) इत्यादिना यदुक्तं, तन्निराचष्टे—

यदात्थ कामं भवता स याच्यतामिति क्षमं नैतदनल्पचेतसाम् ।
कथं प्रसह्याहरणैषिणां प्रियाः परावनत्या मलिनीकृताः श्रियः ॥१८॥

यदिति ॥ स नृपः कामं भवता याच्यतामिति यदात्थ । मामिति शेषः । एतदनल्पचेतसां मनस्विनां न क्षमं न युक्तम् । कुतः प्रसह्य बलात्, आहरणैषिणामाहर्तुमिच्छूनाम् । 'क्षत्रियस्य विजितम्' इति स्मरणादिति भावः । परावनत्या याच्ञादन्येन मालिनीकृताः श्रियः कथं प्रियाः । न कथंचिदित्यर्थः ॥ १८ ॥

जो तुमने कहा कि—'वाण की आवश्यकता हो तो माँग लीजिये' वह मनस्वियों को शोभा नहीं देता । बलात्कार किसी वस्तु के ग्रहण करने के अभिलाषियों को, किसी की प्रार्थना करके अपनी श्री को दूपित करना भला कब अच्छा लगेगा ॥ १८ ॥

अथ परेङ्गितमुद्घाट्य भयं दर्शयति—

अभूतमासज्य विरुद्धमीहितं बलादलभ्यं तव लिप्सते नृपः ।
विजानतोऽपि ह्यनयस्य रौद्रतां भवत्यपाये परिमोहिनी मतिः ॥ १९ ॥

अभूतमिति ॥ तव नृपोऽभूतमनृतम्, आसज्य । मिथ्याभियुज्येत्यर्थः । 'युक्ते क्ष्मादावृते भूतम्' इत्यमरः । अलभ्यं लब्धुमशक्यं विरुद्धं विपरीतफलकम्, ईहितं मनोरथं बलाल्लिलप्सते लब्धुमिच्छति । न चैतच्चित्रमित्याह—हि यस्मात्, अनयस्य दुर्नयस्य रौद्रतां भयंकरत्वं विजानतोऽपि पुरुषस्य मतिर्बुद्धिः । अपाये विनाशकाले परिमोहिनी भवति । परिमुह्यतीति परिमोहिनी । संपृचादिसूत्रेण ताच्छील्ये घिनुण्प्रत्ययः । तथा चोक्तम्—'विनिर्मितः केन न दृष्टपूर्वो हैम्नः कुरङ्गो न च कुत्र वार्ता । तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥' इति । तस्माद्विनाशकाले विपरीतबुद्धिर्भवतीति भावः ॥ १९ ॥

तुम्हारे राजा असत्यका प्रयोग कर बलात् अत्यन्त विपरीत फलोत्पादक मनोरथ की सिद्धि की कामना करते हैं। दुर्नीति की भीषणता से परिचित पुरुष की भी बुद्धि विनाशकाल में व्यामोहोत्पादिका होती है। (इसकी पुष्टि में किसी कवि का कथन है—किसी ने आज तक सुवर्ण का हरिण न तो निर्माण किया और न आज तक कहीं सुनने में आया तथा इसके पहले किसी ने देखा भी नहीं यहाँ तक कि उसकी चर्चा मात्र भी न थी यह सब कुछ होते हुए भी रामचन्द्रजी को उसे प्राप्त करने की तृष्णा आ दबोचा, कारण इसका यही हो सकता है कि विनाशकाल में बुद्धि विपरीत हो जाती है) ॥ १९ ॥

अथ सर्वथा लभ्यते शरस्तर्हि किमनेन, सुष्ठु विश्रब्धं याच्यतां शिरोऽप्यद्येत्याह—

असिः शरा वर्म धनुश्च नोच्चकैर्विविच्य किं प्राथितमीश्वरेण ते ।
अथास्ति शक्तिः कृतमेव याच्ञया न दूषितः शक्तिमतां स्वयंग्रहः ॥

असिरिति ॥ असिः खड्गः शरा वर्म कवचम्, उच्चकैरुत्कृष्टं धनुश्च धनुर्वा ते तव ईश्वरेण स्वामिना विविच्य एकैकशो विभज्य किं न प्रार्थितं न याचितम् । येन प्रयोजनं तद्दास्यामीति भावः । नपुंसकैकशेषः । अथास्य वीराभिमानिनो नृपस्य शक्तिरस्ति । चेदिति शेषः । याच्ञया कृतमेवालमेव । साध्याभावान्न याचितव्यमेवेत्यर्थः । गम्यमानक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीयेत्युक्तं प्राक् । 'कृतम्' इति निषेधार्थमव्ययम् । यतः शक्तिमतां स्वयंग्रहो बलात्ग्रहणं न दूषितः । किंतु भूषणमेव वीराणामिति भावः ॥ २० ॥

खड्ग, शर, कवच, अथवा सर्वोत्तम धनुप इनमें से कोई एक वस्तु तुम्हारे स्वामी अच्छा समझ कर क्यों नहीं माँग लेते ? (मैं सहर्ष देने के लिये प्रस्तुत हूँ) अथवा यदि उनके पास पुरुषार्थ हो तो फिर याच्ञा से क्या प्रयोजन ? बलप्रयोग से ही ले लें क्योंकि शक्तिशालियों की वस्तु बलात् अपहरण करने में कोई दोष नहीं ॥ २० ॥

राघवप्लवगराजयोरिव' (१३।५७) इत्यादिनोपदिष्टं सख्यं प्रत्याचष्टे—

सखा स युक्तः कथितः कथं त्वया यदृच्छयाऽसूयति यस्तपस्यते ।
गुणार्जनोच्छ्रायविरुद्धबुद्धयः प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधवः ॥ २१ ॥

सखेति ।। स नृपः कथं त्वया युक्तो योग्यः सखा कथितः । न कथंचित्कथनीय इत्यर्थः । कुतः । यो नृपः तपस्यते तपश्चरते । अनपराधिन इत्यर्थः । 'क्रुधद्रुह—' इत्यादिना संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । यदृच्छया स्वैरवृत्त्या । 'यदृच्छा स्वैरिता' इत्यमरः । असूयति असूयां करोति । 'असूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि' इत्यमरः । प्रत्युत शत्रु-रेवायमित्याह—हि यस्मात् , गुणानामर्जने य उच्छ्राय उत्कर्पस्तस्य विरुद्धा विमुखा बुद्धिर्येषां ते तथा, असाधवो दुष्टाः सतां सज्जनानां प्रकृत्यमित्राः प्रकृत्या शत्रवः । 'द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः' इत्यमरः ॥ २१ ॥

तुमने जो कहा—'वे किरातराज आप के लिये उपयुक्त मित्र है ? जिस तरह रामचन्द्र के लिये सुग्रीव उपयुक्त मित्र थे' यह भी ठीक नहीं ? क्योंकि जो तपस्वी पर मनमाना दोषारोप करता है वह युक्त सखा कैसे हो सकता है ? क्योंकि असज्जनों की बुद्धि सर्वथा गुणों के अर्जन के उत्कर्प के विरुद्ध होतो है । अतः वे स्वभाव से ही सज्जनों के शत्रु होते हैं ॥ २१ ॥

हीनजातिवृत्तित्वात् सख्यानर्हः स इत्याह—

वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणोचिताः क्व जातिहीना मृगजीवितच्छिदः ।
सहापकृष्टैर्महतां न संगतं भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिनः ।।२२।।

वयमिति ।। वर्णाश्रमरक्षणोचिता विशुद्धवृत्तयो वयं राजानः क्व । जातिहीना मृगजीवितच्छिदो हिंसाजीविनो व्याधाः क्व । फलितमाह—अपकृष्टैरुत्करीत्या जात्या वृत्त्या चोत्कृष्टानां संगतं सख्यं न । घटत इति शेषः । तथा हि—दन्तिनो गजा गोमायूनां शृगालानां सखायो गोमायुसखा न भवन्ति । 'स्त्रियां शिवा भूरिमायगो-मायुमृगधूर्तकाः । शृगालवञ्चकक्रोष्टुफेरुफेरवजम्बुकाः ।।' इत्यमरः । अत्र विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २२ ॥

तुम्हारा स्वामी हम लोगों के युक्त सखा कदापि नहीं हो सकते इसका कारण यह भी है कि—

वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करने में योग्य हम कहाँ ! और निकृष्ट जाति के जीवों की हिंसा में तत्पर तुम्हारा स्वामी कहाँ ! नीचों के साथ उच्च व्यक्तियों की मित्रता नहीं होती क्योंकि हाथी शृगालों के साथ मैत्री नहीं करते ॥ २२ ॥

नीचसख्यं कथमधिक्षिप्यत इति चेत्तत्राह—

परोऽवजानाति यदज्ञताजडस्तदुन्नतानां न विहन्ति धीरताम् ।
समानवीर्यान्वयपौरुषेषु यः करोत्यतिक्रान्तिमसौ तिरस्क्रिया ॥ २३ ॥

पर इति ।। अज्ञताजडो मोहान्धः परोऽवजानाति यत्तद् अवज्ञानम्, उन्नतानां महतां धीरतां निर्विकारचित्तत्वं न विहन्ति । न विकारं जनयतीत्यर्थः । क्रोष्ट्रेव सिंहस्येति भावः । किंतु समानानि तुल्यानि वीर्यान्वयपौरुषाणि शक्तिकुलविक्रमा येषां

तेषु मध्ये । निर्धारणे सप्तमी । यः कश्चिदित्यर्थः । अतिक्रान्तिमतिक्रमं करोति चेत्, असौ सदृशजनातिक्रमस्तिरस्क्रिया तिरस्कारः । यथा सिंहे सिंहस्येति भावः ॥२३॥

यदि अज्ञानोपहत शत्रु तिरस्कार करता है तो उससे महान् व्यक्तियों के धैर्य में न्यूनता नहीं होती । जो पुरुष बल, वंश और सामर्थ्य में समान है वह यदि अतिक्रमण करे तो तिरस्कार की बात होगी ॥ २३ ॥

तर्हि नीचे कीदृशी वृत्तिरित्याशङ्क्य सोपपत्तिकमाह—

यदा विगृह्णाति हतं तदा यशः करोति मैत्रीमथ दूषिता गुणाः ।
स्थितिं समीक्ष्योभयथा परीक्षकः करोत्यवज्ञोपहतं पृथग्जनम् ॥ २४ ॥

यदेति ॥ यदा विगृह्णाति विरुणद्धि । पृथग्जनेनेति शेषः । तदा यशो हतं नाशितं भवेत् । अथ मैत्रीं करोति तदा गुणा दूषिताः । भवेयुरिति शेषः । इति उभयथा स्थितिं समीक्ष्य प्रतर्क्य विमृश्य, परीक्षको विवेचकः पृथग्जनं नीचजनम्, अवज्ञयाऽनादरेण उपहतं तिरस्कृतं करोति । उपेक्षत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

नीच व्यक्ति से विग्रह करने से यश का ह्रास होता है अथवा यदि उनके साथ मित्रता की जाय तो गुण कलङ्कित होते हैं । अतः दोनों तरफ की वस्तुस्थिति का विचार कर परीक्षक को उसका तिरस्कार करना चाहिये ॥ २४ ॥

उपसंहरन्नाह—

मया मृगान्हन्तुरनेन हेतुना विरुद्धमाक्षेपवचस्तितिक्षितम् ।
शरार्थमेष्यत्यथ लप्स्यते गतिं शिरोमणिं दृष्टिविषाज्जिघृक्षतः ॥२५॥

मयेति ॥ अनेन हेतुना संधिविग्रहानर्हत्वेन कारणेन मया मृगान्हन्तुर्व्याधस्य संबन्धि । हन्तेस्तृन्प्रत्ययः । अत एव 'न लोक–' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । विरुद्धमतिपरुषम्, आक्षेपवचस्तिरस्कारवचनं तितिक्षितं सोढम् । ननु सख्यानङ्गीकारे बलाच्छरं ग्रहीष्यतीत्याशङ्क्याह—शरेति । अथ शरार्थमेष्यति दृष्टौ विषं यस्य तस्मात् दृष्टिविषात् सर्पविशेषाद् शिरोमणिं जिघृक्षतो ग्रहीतुमिच्छतो गतिं दशां लप्स्यते प्राप्स्यति ॥ २५ ॥

यही कारण है—मैंने वन्यपशुविघाती के विपरीत अधिक्षेप वचन को सहा । यदि बाण लेने के लिये आयेंगे तो उसी दशा को प्राप्त होंगे जिस दशा को सर्प की मणि लेने की इच्छा करने वाला प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

इतीरिताकूतमनीलवाजिनं जयाय दूतः प्रतितर्ज्य तेजसा ।
ययौ समीपं ध्वजिनीमुपेयुषः प्रसन्नरूपस्य विरूपचक्षुषः ॥ २६ ॥

इतीति ॥ इतीत्थम्, ईरिताकूतमुक्ताभिप्रायम्, अनीलवाजिनं श्वेताश्वमर्जुनं दूतो जयाय तेजसा प्रतापेन प्रतितर्ज्य । अस्मानजित्वा क्व गमिष्यसीति भीषयित्वे-

त्यर्थः । ध्वजिनीमुपेयुषः सेनासंगतस्य प्रसन्नरूपस्य । अर्जुनं प्रतीति शेषः । विरूप-चक्षुषस्त्र्यम्बकस्य समीपं ययौ ॥ २६ ॥

वह किराताधिराज का दूत अर्जुन के उक्ताभिप्राय को समझ कर और उन्हें जयोपरान्त भी तेज और प्रताप से घर्षित कर सेना के साथ चलते हुए त्रिलोचन भगवान् शंकर (व्याध) के, जो अर्जुन के प्रति प्रसन्नतासूचक स्वरूप धारण कर रहे थे, समीप गया ॥ २६ ॥

ततोऽपवादेन पताकिनीपतेश्चचाल निर्ह्लादवती महाचमूः ।
युगान्तवाताभिहतेव कुर्वती निनादमम्भोनिधिवीचिसंहतिः ॥ २७ ॥

तत इति ॥ ततः पताकिनीपतेः सेनापतेः अपवादेनादेशेन । 'अपवादोऽन्यथादेशः' इति सज्जनः । निर्ह्लादवती शब्दवती महाचमूः सेना युगान्तवातैरभिहता आन्दोलिता अत एव निनादं कुर्वती, अम्भोनिधिवीचिसंहतिरर्णवोर्मिसमूह इव चचाल ॥ २७ ॥

इसके अनन्तर सेनापति के आदेश से किरातराज की विशाल सेना गम्भीर घोष करती हुई प्रलयकाल के झञ्झावात से प्रेरित होकर जलनिधि की लहरों के समूह की तरह दौड़ी ॥ २७ ॥

रणाय जैत्रः प्रदिशन्निव त्वरां तरङ्गितालम्बितकेतुसंततिः ।
पुरो बलानां सघनाम्बुशीकरः शनैः प्रतस्थे सुरभिः समीरणः ॥ २८ ॥

रणायेति ॥ जेतैव जैत्रो जयनशीलः । अनुकूल इत्यर्थः । जयतेस्तृन्नन्तात्प्रज्ञादि-त्वात्स्वार्थेऽणप्रत्ययः । तरङ्गितं संजाततरङ्गं यथा तथा, आलम्बिता अवस्थिताः केतुसंततयो येन सः । सह घनैः सान्द्रैरम्बुशीकरैः सघनाम्बुशीकरैः सुरभिः सुगन्धः समीरणो वायू रणाय त्वरां प्रदिशन्निव त्वरयन्निव बलानां सैन्यानां पुरोऽग्रे शनैः प्रतस्थे प्रस्थितः । ववावित्यर्थः ॥ २८ ॥

(उस क्षण) जयनशील (अनुकूल) सुगन्धित पवन प्रभूत जलकण के साथ लहररूपी पताकाओं को लेकर संग्राम के लिये शीघ्रता का आदेश करते हुये की भाँति उस किरातचमू के आगे धीरे-धीरे चला ॥ २८ ॥

जयारवक्ष्वेडितनादमूर्च्छितः शरासनज्यातलवारणध्वनिः ।
असंभवन्भूधरराजकुक्षिषु प्रकम्पयन्गामवतस्तरे दिशः ॥ २९ ॥

जयेति ॥ जयारवैर्वन्दिनां जयजयेतिशब्दैः क्ष्वेडितनादैः सिंहनादैश्च मूर्च्छितो वर्धितः शरासनज्यानां धनुर्गुणानां तलवारणानां ज्याघातवारणानां च ध्वनिर्भूधरराजकुक्षिषु गिरिगुहासु असंभवन् अमान् । अवकाशमलभमान इत्यर्थः । अत एव गां भुवं प्रकम्पयन् । एतेन बलानां बाहुल्यमुक्तम् । दिशोऽवतस्तरे व्यानशे । 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' । अत्र 'मूर्च्छा'पदार्थस्य विशेषणगत्याऽसंभवनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम्, रूपकं तु गिरिकुक्षिरूपापेक्षया ध्वनेराधेयस्याधिक्योक्तेरधिकालंकारश्च । ताभ्याञ्चेयम-

संभवन्निति व्यञ्जकं विनोत्थाप्यमानोपात्तमूर्च्छागुणनिमित्ता प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षा। तैरङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यंत इति संकरः ॥ २९ ॥

बन्दीजनों के जय जय कार के सिंहनाद से वर्द्धित होकर प्रत्यञ्चा की टङ्कार तथा ढाल की खटखटाहट गिरिराज (हिमालय) की कन्दराओं में न समाकर पृथ्वी को कम्पित करती हुई दशो दिशाओं में गूँज गयी ॥ २९ ॥

निशातरौद्रेषु विकासतां गतैः प्रदीपयद्भिः ककुभामिवान्तरम् ।
वनेसदां हेतिषु भिन्नविग्रहैर्विपुस्फुरे रश्मिमतो मरीचिभिः ॥ ३० ॥

निशातेति ॥ निशातास्तीक्ष्णा अत एव रौद्रा भीषणाश्च ये तेषु निशातरौद्रेषु। विशेष्यविशेषणयोरन्यतरविशेष्यत्वविवक्षाया इष्टत्वाद्विशेषणसमासः। वने सीदन्तीति वनेसदां वनेचराणाम्। 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप्। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक्। हेतिषु आयुधेषु। 'हेतिः शस्त्रेऽपि पुंस्त्रियोः' इति केशवः। भिन्नविग्रहैः संक्रान्तमूर्तिभिरत एव विकासतां विसृत्वरतां गतैरत एव ककुभां दिशाम्, अन्तरमवकाशं प्रदीपयद्भिः प्रज्वालयद्भिरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा। रश्मिमतः सूर्यस्य। 'मादुपधायाश्च यतोर्वोऽयवादिभ्यः' इति मतुपो मकारस्य न वकारः। मरीचिभिः करैः। 'भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोः' इत्यमरः। विपुस्फुरे बभासे। स्फुरतेर्भावे लिट् ॥ ३० ॥

अंशुमाली (सूर्य) की किरणें, जो वनेचरों की तीक्ष्णता के कारण भीषण शस्त्रों पर संक्रान्त होकर विस्तृत हो रही थीं, दिशाओं के अन्तराल को उद्भासित करती हुई दीप्त होने लगीं ॥ ३० ॥

उदूढवक्षःस्थगितैकदिङ्मुखो विकृष्टविस्फारितचापमण्डलः ।
वितत्य पक्षद्वयमायतं बभौ विभुर्गुणानामुपरीव मध्यगः ॥ ३१ ॥

उदूढेति ॥ उदूढेनोन्नतेन वक्षसा स्थगितमाच्छादितमेकमेकतरं दिङ्मुखं येन सः विकृष्टमाकृष्टमत एव विस्फारितं निर्घोषितं चापमण्डलं येन स विभुः शिवः। आयतं विस्तृतं पक्षद्वयं पार्श्वद्वयं वितत्य स्वमहिम्ना व्याप्य। 'पक्षः साध्यगरुत्पार्श्वसहायबलभित्तिषु' इति वैजयन्ती। गणानां मध्यगो मध्यस्थोऽपि उपरि स्थित इव बभौ। सर्वोन्नतत्वात्तया लक्षित इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

शंकर भगवान् ने धनुष की प्रत्यञ्चा को आकृष्ट किया जिससे गम्भीर रव प्रतिध्वनित हो उठा। उन्होंने अपने विशाल वक्षःस्थल से एक ओर की दिशा के मुख को अवरुद्ध कर दिया और विस्तृत पार्श्वद्वय को अपने तेज से व्याप्त कर दिया। प्रमथ गणों के मध्य में स्थित होते हुये वे सबसे उन्नत सुशोभित हुये ॥ ३१ ॥

सुगेषु दुर्गेषु च तुल्यविक्रमैर्जवादहंपूर्विकया यियासुभिः ।
गणैरविच्छेदनिरुद्धमाबभौ वनं निरुच्छ्वासमिवाकुलाकुलम् ॥ ३२ ॥

सुगेष्विति ॥ सुखेन दुःखेन च गच्छन्त्येष्विति सुगेषु सुगमेषु दुर्गेषु दुर्गमेषु च।

समविषमदेशेष्वित्यर्थः । सुदुरोरधिकरणार्थे डो वक्तव्यः । अत एव टिलोपः । तुल्यविक्रमैर्लाघवात्समसंचारैः जवाद्वेगात् । अहंपूर्विकयाऽहमहमिकया । 'अहंपूर्वमहंपूर्वमित्यहंपूर्विका स्त्रियाम्' इत्यमरः । यियासुभिर्यातुमिच्छुभिः । यातेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । गणैः प्रमथैः । मनोज्ञादित्वाद् वुञ्प्रत्ययः । पृषोदरादित्वाद् वृद्ध्यभावः । 'गणाः प्रमथसङ्घौघाः' इति वैजयन्ती । अविच्छेदेन निरुद्धमत एव, आकुलाकुलमाकुलप्रकारम् । 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः । 'वनं निरुच्छ्वासं निरुद्धप्राणमिव । आबभौ इत्युत्प्रेक्षा ॥ ३२ ॥

समान बलशाली शिव के गण, जो सुगम और दुर्गम पथ में समसञ्चरण करते हुए 'मैं पहले चलूँगा, नहीं मैं पहले चलूँगा' इस प्रकार की अहंपूर्विका भाव से वेगपूर्वक चलने की इच्छा कर रहे थे । अतः वन प्रदेश सर्वत्र अवरुद्ध होकर व्याकुल सा प्रतीत होने लगा ॥ ३२ ॥

तिरोहितश्वभ्रनिकुञ्जरोधसः समश्नुवानाः सहसातिरिक्तताम् ।
किरातसैन्यैरपिधाय रेचिता भुवः क्षणं निम्नतयेव भेजिरे ॥ ३३ ॥

तिरोहितेति ॥ किरातसैन्यैस्तिरोहितानि छन्नानि श्वभ्रनिकुञ्जरोधांसि गर्तकुञ्जतटानि यासां ताः । अत एव भुवः । प्रदेशाः सहसाऽतिरिक्ततामुत्तानतां समश्नुवाना आप्नुवत्यः । तथा, अपिधायाच्छाद्य रेचिता रिक्तीकृता मुक्ताः क्षणं निम्नतया गाम्भीर्येण भेजिरे इव प्राप्ता इवेत्युत्प्रेक्षा । सैन्यैर्या भुवो व्याप्तास्ता उत्तानाः प्रतीयन्ते । तैर्मुक्तास्ता एव निम्नाः प्रतीयन्त इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

किरातों की सेनाओं से पृथ्वी के गड्ढे, लताकुञ्ज तथा तटप्रदेश आच्छादित हो जाने के कारण वहाँ की भूमि उन्नत दृष्टिगोचर होती थी और जब वे उस स्थली का परित्याग करके आगे बढ़ जाते थे तो फिर वह यथावत् दिखलाई पड़ती थी ॥ ३३ ॥

पृथूरुपर्यस्तबृहल्लताततिर्जवानिलाघूर्णितशालचन्दना ।
गणाधिपानां परितः प्रसारिणी वनान्यवाञ्चीव चकार संहतिः ॥ ३४ ॥

पृथ्विति ॥ पृथुभिर्विशालैरूरुभिः सक्थिभिः पर्यस्ताः क्षिप्ता बृहत्यो लताततयो यया सा जवानिलेन वेगमारुतेनाऽऽघूर्णिता भ्रमिताः शालाः सर्जतरवश्चन्दनानि च यया सा । 'प्राकारवृक्षयोः सालः शालः सर्जतरुः स्मृतः' इति शाश्वतः । परितः सर्वत्र प्रसारिणी प्रसरणशीला गणाधिपानां संहतिः समूहो वनान्यवाञ्चि न्युब्जानीव नीचानीवेत्यर्थः । चकारेत्युत्प्रेक्षा । अवाञ्चत्यधोमुखीभवति । अवपूर्वादञ्चतेः क्विप् । 'स्यादवाङप्यधोमुखः' इत्यमरः ॥ ३४ ॥

प्रमथगणों की सर्वत्र प्रसरणशील सेना ने अपने स्थूल जंघों के द्वारा सुदूर विस्तृत लता समूह को नष्ट भ्रष्ट करते हुए तथा अपने वेगोत्थ मारुत से शाल और चन्दन के वृक्षों को झकझोरते हुए विपिनों को मानों अवाङ्मुख कर दिया ॥ ३४ ॥

अथाष्टभिः श्लोकैरर्जुनं विशेषयन् गणानां तदभियोगमाह—

ततः सदर्पं प्रतनुं तपस्यया मदस्रुतिक्षाममिवैकवारणम् ।
परिज्वलन्तं निधनाय भूभृतां दहन्तमाशा इव जातवेदसम् ।। ३५ ।।

तत इत्यादि ।। ततः सदर्पं सगर्वं सान्तःसारं तपस्यया तपश्चर्यया । तपस्यतेः क्यजन्तात्स्त्रियामप्रत्यये टाप् । प्रतनुं कृशमत एव मदस्रुत्या मदक्षरणेन क्षामं कृशम् । 'क्षायो मः' इति निष्ठातकारस्य मकारः । एकवारणमेकाकिनं गजमिव स्थितमित्युपमा । पुनः । भूभृतां राज्ञां निधनाय नाशाय परिज्वलन्तं तेजस्विनमत एव, आशा दिशो दहन्तं जातवेदसमग्निमिव स्थितमित्युपमालंकारः । 'कृपीटयोनिर्ज्वलनो जातवेदास्तनूनपात्' इत्यमरः ।। ३५ ।।

[श्लो० नं० ३५—४२ तक का अन्वय एक साथ है । श्लोक नं० ४२ के अन्त के दो चरणों में कर्ता, कर्म और क्रिया एक ही साथ है, देखिये—'तपात्यये तोयघना घना इव गणाः अनीलवाजिनं समासेदुरिति' इससे अवशिष्ट पद ३५–४२ के भीतर जो आये हैं सब अनीलवाजिनं (अर्जुन) की विशेषता प्रगट करते हैं ।]

श्वेताश्व (अर्जुन) यद्यपि अन्तःसार सम्पन्न थे तथापि तपस्साधन से कृश काय होने के कारण मदक्षरण से दुर्बल गजराज के सदृश अकेले मालूम पड़ते थे । (इसके अतिरिक्त) शत्रु के विनाशार्थ तेजःपुञ्ज को वहन करने से दिशाओं को भस्मसात् करते हुए अग्निदेव के समान प्रतीत हो रहे थे ।। ३५ ।।

अनादरोपात्तधृतैकसायकं जयेऽनुकूले सुहृदीव सस्पृहम् ।
शनैरपूर्णप्रतिकारपेलवे निवेशयन्तं नयने बलोदधौ ।। ३६ ।।

अनादरेति ।। पुनश्च, अनादरेणावगणनया उपात्तो निषङ्गादुद्धृतो धृतश्चैकः सायको येन तं, तथाऽनुकूले सुहृदीव जये सस्पृहम् । जयमिच्छन्तमित्यर्थः । पुनश्च, अपूर्णो न्यूनः प्रतिकारो बाणाहरणप्रत्यर्पणरूपो यस्य. सः । अत एव पेलवो लघुस्तस्मिन् अपूर्णप्रतिकारपेलवे बलोदधौ सेनासमुद्रे शनैरसंभ्रमेण नयने दृष्टी निवेशयन्तमिति वीरस्वभावोक्तिः । बलमुदधिरिवेत्युपमितसमासः । 'पेषंवासवाहनधिषु च' इत्युदकस्योदादेशः ।। ३६ ।।

उन्होंने अनादर से निषङ्ग से एक बाण निकाल कर हाथ में धारण कर रखा था । विजयलाभ में अनुकूल मित्र के सदृश उनकी उत्कट इच्छा थी । अत एव उस सैन्यसमुद्र पर, जो कि प्रतीकार करने में न्यूनता के कारण लघु दिखाई पड़ रही थी दृष्टि लगाये हुये थे ।। ३६ ।।

निषण्णमापत्प्रतिकारकारणे शरासने धैर्य इवानपायिनी ।
अलङ्घनीयं प्रकृतावपि स्थितं निवातनिष्कम्पमिवापगापतिम् ।। ३७ ।।

निषण्णमिति ।। पुनश्च, आपदां प्रतिकारस्य कारणे साधनेऽनपायिनि स्थिरे एवंभूते शरासने धैर्यं इव निषण्णं स्थितं प्रकृतौ स्वभावे स्थितमपि । निर्विकारमपीत्यर्थः ।

अत एव, अलङ्घनीयमनतिक्रमणीयमत एव निवातनिष्कम्पं वाताभावान्निश्चलम् ।
'निवातावाश्रयावातौ' इत्यमरः । आपगापतिं समुद्रमिव स्थितम् ॥ ३७ ॥

वे आपत्ति निवारण में साधनभूत दृढ़ धनुष का साक्षात् धैर्य के समान अवलम्बन करते थे । वे स्वाभाविक रूप में थे तथापि वायु की अभाव दशा में अविचल सरित्पति (समुद्र) के सदृश अनतिक्रमणीय थे (अर्थात् अजेय थे) ॥ ३७ ॥

उपेयुषीं बिभ्रतमन्तकद्युतिं वधाददूरे पतितस्य दंष्ट्रिणः ।
पुरः समावेशितसत्पशुं द्विजैः पतिं पशूनामिव हूतमध्वरे ॥ ३८ ॥

उपेयुषीमिति ॥ पुनश्च, अदूरे समीपे पतितस्य दंष्ट्रिणो वराहस्य । व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः । वधाद्धेतोः उपेयुषीं प्राप्ताम्, अन्तकस्येव यमस्येव द्युतिस्तां बिभ्रतं धारयन्तम् । तथा च द्विजैर्ब्राह्मणैः । अध्वरे यज्ञे । 'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः' इत्यमरः । हूतमाहूतं पुरोऽग्रे समावेशितः स्थापितः सत्पशुर्यज्ञीयपशुर्यस्य तम् । पशूनां पतिं रुद्रमिव स्थितम् ॥ ३८ ॥

वे समीप में पड़े हुये वराह का वध करने के कारण स्वयं सम्प्राप्त अन्तकाकृति धारण कर रहे थे । तथा ब्राह्मणों के मन्त्र द्वारा यज्ञ में आमन्त्रित साक्षात् महाकाल (शङ्कर) के सदृश, जिसके सामने यज्ञीय पशु पड़ा हुआ हो, दिखलाई पड़ रहे थे ॥ ३८ ॥

निजेन नीतं विजितान्यगौरवं गभीरतां धैर्यगुणेन भूयसा ।
वनोदयेनेव घनोरुवीरुधा समन्धकारीकृतमुत्तमाचलम् ॥ ३९ ॥

निजेनेति ॥ पुनश्च, निजेन नैसर्गिकेण भूयसा बहुलेन धैर्यमेव गुणस्तेन विजितमन्येषां गौरवं गाम्भीर्यं यस्मिन्कर्मणि तथा गभीरतां दुरवगाहत्वं नीतम् । अत एव घनाः सान्द्रा उरवश्च महत्यो वीरुधो लताश्च यस्मिंस्तेन घनोरुवीरुधा वनोदयेन अरण्यप्रादुर्भावेन समन्धकारीकृतं दुरवगाहीकृतम्, उत्तमाचलमिव स्थितम् । समन्ततोऽन्धकारो यस्य स इति विग्रहः ॥ ३९ ॥

वे अपने अविचल धैर्य गुण से इतर पुरुषों की गरिमा को जीत कर गहन गाम्भीर्य को प्राप्त हो गये थे जिससे वे गहन और सुदूर विस्तृत लताजालयुक्त एक नूतन वन के प्रादुर्भाव के कारण अन्धकाराच्छन्न उत्तमाचल के सदृश बन गये थे ॥ ३९ ॥

महर्षभस्कन्धमनूनकन्धरं बृहच्छिलावप्रघनेन वक्षसा ।
समुज्जिहीर्षुं जगतीं महाभरां महावराहं महतोऽर्णवादिव ॥ ४० ॥

महर्षभेति ॥ महर्षभस्य महावृषभस्य स्कन्ध इव स्कन्धावंसौ यस्य तम् । उपमानपूर्वपदत्वादुत्तरस्कन्धलोपः 'ऋषभो वृषभो वृषः' इत्यमरः । स्कन्धो भुजशिरोंसोऽस्त्री' इत्यमरः । अनूनकन्धरं स्थूलग्रीवम् । 'अथ ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इत्यमरः । बृहच्छिलावप्रं महाशिलातटं तद्वत् घनेन कठिनेन वक्षसा उपलक्षितम् । महाभरां दुष्टैरतिभारवतीं जगतीं महीं समुज्जिहीर्षुं दुष्टराजकार्णवात् समुद्धर्तुमिच्छुम,

अत एव महतोऽर्णवाज्जगतीं समुज्जिहीर्षुमुक्तविशेषणविशिष्टं च महावराहमिव स्थितम्। अर्थसाधर्म्यादियमुपमा न श्लेषः, शब्दमात्रसाधर्म्येण तस्य विधानादिति रहस्यम् ॥ ४० ॥

उनके स्कन्ध प्रदेश बलीवर्द (गवेन्द्र) के सदृश थे तथा उनकी ग्रीवा स्थूल थी। पत्थरों की चट्टान के सदृश उनका वक्षस्थल था। अतः वे विशाल समुद्र से अतिशय भाराक्रान्त पृथ्वी का उद्धार करने के लिये शूकरावतार विष्णु के सदृश मालूम पड़ रहे थे ॥ ४० ॥

हरिन्मणिश्याममुदग्रविग्रहं प्रकाशमानं परिभूय देहिनः।
मनुष्यभावे पुरुषं पुरातनं स्थितं जलादर्श इवांशुमालिनम् ॥ ४१ ॥

हरिदिति ॥ पुनश्च, हरिन्मणिश्यामं मरकतमणिश्यामलम्। उदग्रविग्रहमुदारमूर्ति देहिनः सत्त्वान् परिभूय तिरस्कृत्य प्रकाशमानम्। जलमेवाऽऽदर्शो मुकुरस्तस्मिन्, अंशुमालिनं सूर्यमिव। मनुष्यभावे मनुष्यरूपे स्थितं पुरातनं पुरुषम्। यो बदरीतपोवननिवासी नारायणसहचरो नरो नाम स एवायमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

उनके शरीर का वर्ण मरकत मणि के सदृश था। उनकी आकृति उदार थी। वे बड़े-बड़े प्राणियों को तिरस्कृत कर प्रकाशित हो रहे थे। वे मनुष्य रूप में स्थित बदरिकाश्रमवासी साक्षात् नारायण के अवतार थे तथा जलरूप दर्पण में प्रतिबिम्बित भगवान् भास्कर के सदृश थे ॥ ४१ ॥

गुरुक्रियारम्भफलैरलंकृतं गतिं प्रतापस्य जगत्प्रमाथिनः।
गणाः समासेदुरनीलवाजिनं तपात्यये तोयघना घना इव ॥ ४२ ॥

गुर्विति ॥ गुरुभिः क्रियारम्भाणां फलैरलंकृतम्। सफलकर्मारम्भमित्यर्थः। जगत्प्रमाथिनो जगद्विजयिनः प्रतापस्य तेजसो गतिं स्थानम्। अतोऽस्य बहूनामेकलक्ष्यत्वं च युज्यत इति संदर्भाभिप्रायः। पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टम्, अनीलवाजिनं श्वेताश्वमर्जुनं गणाः प्रमथादयः तपात्यये तोयघनास्तोयभरिताः। वार्षिका इत्यर्थः। घना मेघा इव। महाचलमिति शेषः। समासेदुः। अवापुरित्यर्थः। कुलकम् ॥ ४२ ॥

वे कार्य्यारम्भ के महान् फलों से विभूपित थे। वे विश्वविजयी तेज के आश्रय थे। इस तरह के पूर्वकथित विशेषणसम्पन्न शुभ्र अश्ववाहन अर्जुन के समीप वर्षाकाल के जलभाराक्रान्त अतएव नील मेघ के सदृश प्रमथ गण पहुँचे ॥ ४२ ॥

यथास्वमाशंसितविक्रमाः पुरा मुनिप्रभावक्षततेजसः परे।
ययुः क्षणादप्रतिपत्तिमूढतां महानुभावः प्रतिहन्ति पौरुषम् ॥ ४३ ॥

यथास्वमिति ॥ पुरा पूर्वम्। स्वं स्वमनतिक्रम्य यथास्वम्, अहमेवैनं जेष्यामीति आशंसिताः काङ्क्षिताः कथिता वा विक्रमा यैस्ते परे शत्रवो मुनिप्रभवात्क्षततेजसो हतप्रभावाः सन्तः क्षणादप्रतिपत्तिमूढतां मोहान्धतां ययुः। तथा हि—महानुभावोऽतिप्रतापः पौरुषं पुरुषस्य चेष्टितं प्रतिहन्ति नाशयति ॥ ४३ ॥

शत्रुओं (प्रमथ गण) ने पहिले अपने अपने बल पराक्रम के अनुसार (अर्थात् 'मैं ही शत्रु को जीतूँगा' इस प्रकार) कहने लगे। पश्चात् तपस्वी अर्जुन के प्रभाव से क्षीण बल होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये (अर्थात् यह नहीं समझ सके कि क्या करना चाहिये) क्योंकि प्रताप की अतिशयिता पुरुष के द्वारा विचेष्टित मात्र को नष्ट कर देती है ॥ ४३ ॥

ततः प्रजह्रे सममेव तत्र तैरपेक्षितान्योन्यबलोपपत्तिभिः ।
महोदयानामपि सङ्घवृत्तितां सहायसाध्याः प्रदिशन्ति सिद्धयः ॥ ४४ ॥

तत इति ॥ तत एकैकस्याशक्तौ अपेक्षिता वाञ्छिताऽन्योन्यबलोपपत्तिरन्योन्यशक्त्यवष्टम्भो यैः । तैः प्रमथैः । तत्रार्जुने । क्रियाधारत्वात्सप्तमी । समं युगपदेव प्रजह्रे प्रहृतम् । भावे लिट् । तथा हि—सहायसाध्याः सिद्धयः कार्यसिद्धयो महोदयानामपि महानुभावानामपि । सङ्घेन वृत्तिर्व्यापारो येषां तेषां भावस्तत्ता तां सङ्घवृत्तितां संभूयकारितां प्रदिशन्ति । अतो गणानामपि संभूयकारित्वं न दोष इति भावः ॥ ४४ ॥

इसके अनन्तर सब सेना के वीरों ने एक एक करके अपने बल की परीक्षा कर एक साथ होकर अर्जुन पर आक्रमण (प्रहार) किया। कार्य की सिद्धियाँ सर्वदा सहायक सामग्री की अपेक्षा रखती हैं अतः वे महानुभावों को भी संघशक्ति से काम लेने की अनुमति देती हैं ॥ ४४ ॥

किरातसैन्यादुरुचापनोदिताः समं समुत्पेतुरुपात्तरंहसः ।
महावनादुन्मनसः खगा इव प्रवृत्तपत्रध्वनयः शिलीमुखाः ॥ ४५ ॥

किरातेति ॥ उरुभिर्बृहद्भिश्चापैर्नोदिताः प्रक्षिप्ता उपात्तरंहसः प्राप्तवेगाः प्रवृत्तपत्रध्वनयः संजातपक्षस्वनाः शिलीमुखा बाणाः । महावनादुन्मनसः क्वापि गन्तुमुत्सुकाः । तथा, उक्तविशेषणविशिष्टाश्च खगाः पक्षिण इव । किरातसैन्यात् समं समन्ततः समुत्पेतुः ॥ ४५ ॥

जिस प्रकार विहङ्गम कहीं भी गमन करने की इच्छा से उड़ने की क्रिया में प्रवृत्त पक्षों के निस्वन के साथ महावन से एक ही साथ उड़ पड़ते हैं उसी तरह विशाल कार्मुक (धनुष) से प्रेरित होकर बाण अपने पुङ्ख निस्वन के साथ प्रबल वेगपूर्वक शबर-सेना से एक ही साथ छूट पड़े ॥ ४५ ॥

गभीररन्ध्रेषु भृशं महीभृतः प्रतिस्वनैरुन्नमितेन सानुषु ।
धनुर्निनादेन जवादुपेयुषा विभिद्यमाना इव दध्वनुर्दिशः ॥ ४६ ॥

गभीरेति ॥ गभीररन्ध्रेषु गम्भीरगह्वरेषु महीभृतः सानुषु ये प्रतिस्वनास्तैर्भृशमुन्नमितेनोत्थापितेन दीर्घीकृतेन जवादुपेयुषा प्राप्तवता धनुषो निनादेन दिशो विभिद्यमाना विदीर्यमाणा इव दध्वनुर्ध्वनिं चक्रुः ॥ ४६ ॥

पर्वत के शिखरों की गम्भीर गुफाओं से प्रतिध्वनित होकर वृद्धि को प्राप्त तथा प्रबल वेगयुक्त धनुष के रव से दिशायें इस प्रकार ध्वनित हुईं मानों वे विदीर्ण हो गई हों ॥ ४६ ॥

विधूनयन्ती गहनानि भूरुहां तिरोहितोपान्तनभोदिगन्तरा।
महीयसी वृष्टिरिवानिलेरिता रवं वितेने गणमार्गणावलिः ॥ ४७ ॥

विधूनयन्तीति ॥ भूरुहां गहनानि वनानि। 'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः। विधूनयन्ती कम्पयन्ती तिरोहितानि छादितानि उपान्तानि प्रान्तानि नभोऽन्तरिक्षं दिगन्तराणि च यया सा। गणमार्गणावलिः प्रमथशरसंहतिः। अनिलेन वायुना। ईरिता प्रेरिता। महीयसी वृष्टिरिव रवं वितेने विस्तारयामास ॥ ४७ ॥

शंकर भगवान् के गणों की सायक राजि (वृक्षों के) वनों को कम्पित करती हुई आकाश और दिशाओं के उपान्त को आच्छादित करके पवनप्रेरित मुशलधारा वृष्टि की तरह तुमुलध्वनि करने लगी ॥ ४७ ॥

त्रयीमृतूनामनिलाशिनः सतः प्रयाति पोषं वपुषि प्रहृष्यतः।
रणाय जिष्णोर्विदुषेव सत्वरं घनत्वमीये शिथिलेन वर्मणा ॥ ४८ ॥

त्रयीमिति ॥ ऋतूनां त्रयीं षण्मासान्। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया। अनिलाशिनो वायुभक्षकस्य। कृशस्येत्यर्थः। सतः, तथापि रणाय रणं कर्तुं प्रहृष्यत उत्सहमानस्य। 'क्रियार्थोप—' इत्यादिना चतुर्थी। जिष्णोरर्जुनस्य वपुषि पोषमुपचयं प्रयाति गच्छति सति शिथिलेन। प्रथममिति शेषः। वर्मणा कवचेन विदुषेवानन्तर-करणीयं जानतेवेत्युत्प्रेक्षा। सत्वरं शीघ्रं घनत्वं दृढत्वम्। ईये प्राप्तम्। अन्यथानु-प्रयोगादिति भावः। इणः कर्मणि लिट् ॥ ४८ ॥

तीन ऋतु पर्य्यन्त अर्थात् छः महीने पर्य्यन्त वायुभक्षण के द्वारा प्राणरक्षा करते हुए (अत एव) दुर्बल तथा संग्राम करने के लिये उत्साहित अर्जुन का शरीर वृद्धि को प्राप्त होने लगा पश्चात् कृशता के कारण जो कवच ढीला पड़ गया था वह शीघ्र ही शरीर के परिमाण का हो गया मानों वह अनन्तरकरणीयता को जानता था ॥ ४८ ॥

पतत्सु शस्त्रेषु वितत्य रोदसी समन्ततस्तस्य धनुर्दुधूषतः।
सरोषमुल्केव पपात भीषणा बलेषु दृष्टिर्विनिपातशंसिनी ॥ ४९ ॥

पतत्स्विति ॥ शस्त्रेषु रोदसी द्यावापृथिव्यौ। 'द्यावापृथिव्यौ रोदस्यौ' इत्यमरः। समन्ततो वितत्य व्याप्य पतत्सु सत्सु धनुर्दुधूषतः कम्पितुमिच्छतः। आस्फालयत इत्यर्थः। धूञः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः। 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' इति विकल्पा-दिडभावः। तस्यार्जुनस्य संबन्धिनी। भीषयत इति भीषणा। नन्द्यादित्वाल्ल्युः। विनिपातशंसिनी विनाशसूचिका दृष्टिरुक्तविशेषणा उल्केव बलेषु सरोषं यथा तथा पपात ॥ ४९ ॥

शस्त्रों द्वारा पृथ्वी और आकाश के अन्तरालको सर्वत्र व्याप्त करके प्रहार करने पर गाण्डीव

धनुष के कम्पनाभिलाषी अर्जुन की क्रोधपूर्ण भयोत्पादक दृष्टि, जो विध्वंस की सूचना दे रही थी, प्रथम सैन्य पर भयसूचक उल्कापात (तारा टूटना) की तरह पड़ी ॥ ४९ ॥

दिशः समूहन्निव विक्षिपन्निव प्रभां रवेराकुलयन्निवानिलम् ।
मुनिश्चचाल क्षयकालदारुणः क्षितिं सशैलां चलयन्निवेषुभिः ॥ ५० ॥

दिश इति ॥ क्षयकालः कल्पान्तकाल इव । संवर्तः प्रलयः कल्पः क्षयः कल्पान्त इत्यपि' इत्यमरः । दारुणो रौद्रो मुनिरर्जुनः । इषुभिर्बाणैः । दिशः समूहन्निव एकत्र समाहरन्निव । अन्यथा तासां पारदर्शनं न स्यादिति भावः । रवेः प्रभां विक्षिपन्निव अधः प्रक्षिपन्निव । अन्यथा सा कथं न दृश्यत इति भावः । तथा, अनिलं वायुमाकुलयन्निपुभिरन्तराल आघूर्णयन्निव । तस्य तथा गतिविघातादिति भावः । सशैलां क्षितिं चलयन्निव कम्पयन्निव । तथा संक्षोभादिति भावः । चचाल गतिमकरोत् । सर्वत्र 'इव' शब्द उत्प्रेक्षायाम् ॥ ५० ॥

प्रलयकाल के सदृश रुद्ररूप अर्जुन ने अपने बाणों से दिशाओं को आकुञ्चित करते हुये की भाँति, सूर्य की किरणों को दूर प्रक्षिप्त करते हुए की भाँति, वायु की गति का अवरोध कर उसे व्याकुल करते हुए, रणाजिर में इतस्ततः घूमने लगे ॥ ५० ॥

विमुक्तमाशंसितशत्रुनिर्जयैरनेकमेकावसरं वनेचरैः ।
स निर्जघानायुधमन्तरा शरैः क्रियाफलं काल इवातिपातितः ॥ ५१ ॥

विमुक्तमिति ।। अशंसितः काङ्क्षितः शत्रुनिर्जयो यैस्तैः । अहमहमिकया शत्रुं विजिगीषद्भिरित्यर्थः । वनेचरैरेकावसरं समकालम् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । विमुक्तं प्रयुक्तमनेकं बहु आयुधम् । जातावेकवचनम् । सोऽर्जुनः क्रियाफलमतिपातितोऽतिक्रान्तः काल इह । अतिक्रान्तकालस्य कर्मणो निष्फलत्वादिति भावः । अन्तरा मध्ये शरैर्निर्जघान ॥ ५१ ॥

'मैं ही केवल शत्रु को जीतूँगा' इस प्रकार की आकांक्षा करके किरातों ने (शिव के गणों ने) एक साथ शस्त्र प्रहार किया । वे (अर्जुन) क्रियाफल के अतिक्रमण कारक समय की तरह बीच-बीच में शरों का प्रहार करने लगे ॥ ५१ ॥

गतैः परेषामविभावनीयतां निवारयद्भिर्विपदं विदूरगैः ।
भृशं बभूवोपचितो बृहत्फलैः शरैरुपायैरिव पाण्डुनन्दनः ॥ ५२ ॥

गतैरिति ॥ पाण्डुनन्दनोऽर्जुनः परेषामविभावनीयतां लघुप्रयोगात्, अन्यत्र,—गूढ–प्रयोगाच्च अदृश्यतामप्रकाश्यतां च गतैर्विपदमनर्थं निवारयद्भिर्विदूरगैर्दूरलक्ष्यगैः परमण्डलप्रविष्टैश्च बृहत्फलैरायताग्रैर्महालाभैश्च । फलं बाणाग्रलाभयोः' इति शाश्वतः । शरैरुपायैः सामादिभिरिव भृशमुपचितः प्रवृद्धो बभूव । अत्र शब्दमात्रसाधर्म्यात् प्रकृताप्रकृतश्लेषः । उपमेति केचित् ॥ ५२ ॥

अर्जुन ने बाणवर्षा से प्रमथ गणोंको विवश कर दिया अर्थात् उन्हें सर्वत्र बाण ही बाण दृष्टिगोचर होने लगे। अतः वे संशय ग्रस्त हो गये। जिस प्रकार साम, दाम, दण्ड और भेद ये चार नीतियाँ गूढ़प्रयोग के कारण अलक्षित रहतीं हैं, (शत्रु उसको समझ नहीं पाता है) विपत्ति प्रतिकार करने में समर्थ होती हैं और परराष्ट्र मण्डल में प्रविष्ट होकर महान् लाभ कराती हैं जिससे पुरुष अभ्युदय को प्राप्त होता है, उसी प्रकार अर्जुन की शरक्रिया एवं सामादि के कारण शत्रु के द्वारा दुर्विभावनीय थे; विपत्ति निवारण में समर्थ थे; दूरगत लक्ष्य तक पहुँच जाते थे; और उनमें तीक्ष्ण फल लगे हुए थे जिससे अर्जुन अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त हुए ॥ ५२ ॥

दिवः पृथिव्याः ककुभां नु मण्डलात्पतन्ति बिम्बादुत तिग्मतेजसः।
सकृद्विकृष्टादथ कार्मुकान्मुनेः शराः शरीरादिति तेऽभिमेनिरे ॥ ५३ ॥

दिव इति ॥ शरा दिवोऽन्तरिक्षात् पृथिव्या भूगोलाद्वा ककुभां मण्डलान्नु दिशां मण्डलाद्वा, उत तिग्मतेजसोऽर्कस्य बिम्बात् मण्डलाद्वा अथ वा सकृद्विकृष्टात् कार्मुकाद्वा, मुनेः शरीराद्वा पतन्तीति ते गणा अभिमेनिरे ज्ञातवन्तः। अन्यथा कथममी विश्वमन्तर्धाय शराः संभाव्यन्त इति भावः। अत्र सर्वतः शरसंपातदर्शनात् संभावनया पृथिव्यादीनामन्यतमस्यापादानत्वोत्प्रेक्षा। सा च प्रतीयमाना व्यञ्जकाप्रयोगात्। 'नु' शब्दादयस्तु संशये ॥ ५३ ॥

'ये बाण आकाश से, पृथिवी से, दिशाओं के मण्डल से, प्रखरकिरणमाली के बिम्ब से, अथवा इस तपस्वी के शरीर से किंवा एक ही बार धनुष कीं प्रत्यञ्चा के आकृष्ट करने से गिर रहे हैं' ऐसा किरात सैन्य ने माना ॥ ५३ ॥

गणाधिपानामविधाय निर्गतैः परासुतां मर्मविदारणैरपि।
जवादतीये हिमवानधोमुखैः कृतापराधैरिव तस्य पत्रिभिः ॥ ५४ ॥

गणेति ॥ मर्मविदारणैरपि। मर्मस्थानान्येव विदारयद्भिरपीत्यर्थः। गणाधिपानां परासुतां मरणं अविधायाकृत्वा निर्गतैः। तेषाममर्त्यत्वादिति भावः। तस्य मुनेः पत्रिभिः शरैः कृतापराधैरिव स्वामिकार्याकरणात् सापराधैरिवेत्युत्प्रेक्षा। अधोमुखैः सद्भिः जवाद्धिमवानतीयेऽतिचक्रमे। तत्र प्रविष्टमित्यर्थः। लज्जितस्य क्वचिन्निलयनमुचितमिति भावः ॥ ५४ ॥

अर्जुन के बाण मर्मभेदी होने पर भी प्रमथ गणों के प्राण को संहार करने में असमर्थ और (प्रमथ गण अमर होते हैं, अतः बाणविद्ध होकर जीवित रहे) अपराधी की तरह (लज्जा से) अवनत मुख होकर बड़े वेग के साथ हिमालय को पार कर गये। अर्थात् हिमालय में कहीं छिप गये। लज्जा उनको (बाणों को) इसलिये आई कि वे तो अमोघ थे परन्तु देवताओं के अमर होने के कारण वे कुछ न कर सके। अतः स्वामी का कार्य-

साधन न करने के कारण वे अपराधी बन गये। यही कारण था कि वे नीचे मुख कर पहाड़ की कन्दरा में कहीं छिप गये। (लज्जित व्यक्तियों की भी यही दशा होती है)॥ ५४॥

द्विषां क्षतीर्याः प्रथमे शिलीमुखा विभिद्य देहावरणानि चक्रिरे।
न तासु पेते विशिखैः पुनर्मुनेररुन्तुदत्वं महतां ह्यगोचरः॥ ५५॥

द्विषामिति॥ प्रथमे। प्रथममुक्ता इत्यर्थः। शिलीमुखा मुनिशरा द्विषां देहावरणानि वर्माणि विभिद्य याः क्षतीः प्रहारान् चक्रिरे तासु क्षतिषु पुनः पश्चात्प्रयुक्तै मुनेर्विशिखैर्न पेते न पतितम्। पिष्टपेषणदोषापातादिति भावः। तथा हि—अरुन्तुदत्वं पीडितपीडनं महतां सतामगोचरोऽविषयं हि। सन्तः पीडितपीडां न कुर्वन्तीत्यर्थः। 'न हन्याद्व्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्' इति निषेधस्मरणादिति भावः। अरुः व्रणं तुदतीति अरुन्तुदः। 'व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरुः' इत्यमरः। 'विध्वरुषोस्तुदः' इति खश्प्रत्ययः। 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः॥ ५५॥

पहिले के छोड़े हुये तपस्वी (अर्जुन) के वाण तनुत्राण का भेदन करके शत्रुओं पर विध गये थे अतः पुनः व्रण पर उनका प्रहार न किये क्योंकि महानुभाव लोग पीड़ित को पीड़ा नहीं देते॥ ५५॥

समुज्झिता यावदराति निर्यती सहैव चापान्मुनिबाणसंहतिः।
प्रभा हिमांशोरिव पङ्कजावलिं निनाय संकोचमुमापतेश्चमूम्॥ ५६॥

समुज्झितेति॥ यावन्तोऽरातयो यावदराति। 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः। यावदराति यथा तथा समुज्झिताऽरातिसमसंख्यया मुक्ता मुनिचापात्सह संभूय एव निर्यती निष्क्रामन्ती। तादृक् तस्य कौशलमिति भावः। यातेः शतरि ङीप्। मुनिबाणसंहतिरुमापतेश्चमूं हिमांशोः प्रभा पङ्कजावलिमिव संकोचं निनाय प्रापयामास। दुहादिपाठान्नयतिर्द्विकर्मकः॥ ५६॥

जिस तरह चन्द्रमा की ज्योत्स्ना उदय होने के साथ ही कमलवन को सङ्कुचित कर देती है उसी तरह अर्जुन के बाणों की संहति (समूह) शत्रु संख्या के अनुकूल प्रक्षिप्त हो गई अर्थात् धनुष से निकलते ही शङ्कर भगवान् की सेना को सङ्कुचित कर डाली॥ ५६॥

अजिह्ममोजिष्ठममोघमक्लमं क्रियासु बह्वीषु पृथङ्नियोजितम्।
प्रसेहिरे सादयितुं न सादिताः शरौघमुत्साहमिवास्य विद्विषः॥ ५७॥

अजिह्ममिति॥ अजिह्मं स्वरूपतो गत्या वाऽवक्रम्। अन्यत्र तु—जिह्मस्थानप्रवृत्तो न भवतीत्यजिह्मस्तम्। ओजिष्ठमोजस्विनं सारवत्तमं तेजिष्ठं च। उभयत्रापि 'ओजस्वि' शब्दाद्विन्नन्तादिष्ठन्। 'विन्मतोर्लुक्' इति लुक्। टिलोपश्च। अमोघमवन्ध्यं अक्लमं निरन्तरव्यापारेऽप्यश्रान्तं बह्वीषु क्रियासु छेदनभेदनपातनादिकर्मसु पृथक् भेदेन नियोजितम्। कर्मानुगुण्येन विनियुक्तमित्यर्थः। अस्य मुनेः शरौघमुत्साहमौत्सुक्यमिव। वीररसस्य स्थायिभूतं प्रयत्नविशेषमिवेत्यर्थः। सादिताः कर्षिता विद्विषः

शत्रवः सादयितुं प्रतिकर्तुं न प्रसेहिरे न शेकुः । तस्योत्साहवदेव शरवर्षं दुर्धर्षमभूदिति भावः ॥ ५७ ॥

उनके (पाण्डुपुत्र के) बाणसमूह, जो देखने में तथा गमन करने में भी वक्र न थे; ओजपूर्ण थे, लक्ष्य पर चूकने वाले न थे, छेदन, भेदन और पातन कर्म में नियुक्त किए गये थे, विपत् में पड़कर प्रतिकार करने में शत्रु भी असमर्थ हो गये ।। ५७ ।।

शिवध्वजिन्यः प्रतियोधमग्रता स्फुरन्तमुग्रेषुमयूखमालिनम् ।
तमेकदेशस्थमनेकदेशगा निदध्युरर्कं युगपत्प्रजा इव ।। ५८ ।।

शिवेति ।। अनेकदेशगा नानादेशस्थाः शिवध्वजिन्यो हरसेनाः । उग्रेषवो मयूखा इवेत्युपमितसमासः । अन्यत्र तु, उग्रेषव इव मयूखा इति मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । तेषां मालाऽस्यास्तीति तं उग्रेषुमयूखमालिनम् । व्रीह्यादित्वादिनिः । एकदेशस्थमेकत्रावस्थितं तं मुनिमर्कं प्रजा इव युगपत् प्रतियोधं योधं योधं प्रति । 'अव्ययं विभक्ति–' इत्यादिना प्रत्यर्थे वीप्सायामव्ययीभावः । अग्रतः स्फुरन्तं निदध्युर्ददृशुः । यथैकोऽर्क एकत्रैव स्थितोऽपि नानादेशस्थानामपि प्रतिपुरुषं ममैवाग्रे वर्तत इति युगपत् प्रतीयते तद्वद्बाणवर्षी मुनिरपि प्रतियोधं तथैव प्रत्यभादित्यर्थः ।। ५८ ।।

शङ्कर भगवान् की सेनायें अनेक स्थल में रहती हुईं भी, एक स्थान पर स्थित तपस्वी (अर्जुन) को, जो सूर्य की प्रखर किरणों के सदृश तीक्ष्ण बाणों के समूह को धारण कर रहे थे, प्रत्येक योद्धा के समक्ष रणनृत्य करते हुए इस प्रकार देखा जिस प्रकार संसारी (लोग) उग्र बाण के सदृश प्रखर किरणपुञ्जधारी सूर्य को एक स्थान में स्थित होने पर भी (जो जहाँ रहता है वहीं से) अपने-अपने सामने देखते हैं ।। ५८ ।।

मुनेः शरौघेण तदुग्ररंहसा बलं प्रकोपादिव विष्वगायता ।
विधूनितं भ्रान्तिमियाय सङ्गिनीं महानिलेनेव निदाघजं रजः ।।५९।।

मुनेरिति ।। प्रकोपात् अमर्षादिव विष्वक् समन्तात् । आयताऽऽगच्छता, उग्ररंहसा तीव्रवेगेन मुनेः शरौघेणोक्तविशेषणेन । महानिलेन वात्यया निदाघजं ग्रीष्मोत्थं रज इव । विधूनितं व्याहतं तत् बलं प्रमथानां सैन्यं सङ्गिनीमनुबन्धिनीम् । अविच्छिन्नामिति यावत् । भ्रान्तिमनवस्थानम् । इयाय प्राप ।। ५९ ।।

कुपित की तरह चतुर्दिक् विस्तार करते हुए, प्रबलवेग–सम्पन्न अर्जुन के सायकसमूहसे संक्षुब्ध शंकर की सेना प्रबल वायु (बवंडर) से उत्थापित निदाघकाल की धूलि की तरह लगातार भ्रान्तिमती होने लगी ।। ५९ ।।

अथ त्रिभिर्विशेषकमाह—

तपोबलेनैव विधाय भूयसीस्तनूरदृश्याः स्विदिषून्निरस्यति ।
अमुष्य मायाविहतं निहन्ति नः प्रतीपमागत्य किमु स्वमायुधम् ।।६०।।

तप इत्यादि ।। एष मुनिः । तपोबलेन तपःसामर्थ्येन भूयसीर्बह्वीः । अदृश्या-

स्तनूरात्मनः शरीराणि विधाय सृष्ट्वा, इषून्निरस्यति स्वित् क्षिपति किम् । अथवा, अमुष्यास्य मुनेः । मायया विहितं प्रतिहतं स्वं स्वकीयमिव आयुधं प्रतीपं प्रतिकूलम् । आगत्य । प्रत्यावृत्त्येत्यर्थः । नोऽस्माकं निहन्ति किमु । 'जासिनिप्रहण–' इत्यादिसूत्रेण कर्मणि षष्ठी । शेषविवक्षायां तु द्वितीया ।। ६० ।।

अब अर्जुन के हस्तकौशल को देखकर किरातवाहिनी अनेक प्रकार के संशयरूप झूले में झूलने लगी—

क्या यह तपस्वी अपने तपोबल से अलक्ष्य अनेक शरीर निर्माण करके बाणप्रक्षेप कर रहा है ? अथवा हम लोगों का ही बाण इसकी माया से प्रतिकूल होकर हम लोगों पर प्रहार तो नहीं कर रहा है ? ।। ६० ।।

हृता गुणैरस्य भयेन वा मुनेस्तिरोहिताः स्वित्प्रहरन्ति देवताः ।
कथं न्वमी संततमस्य सायका भवन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः ।।६१।।

हृता इति ।। यद्वा, अस्य मुनेर्गुणैः शान्त्यादिभिः हृता आकृष्टाः । वशीकृता इति यावत् । भयेन दरेण वा । भयाद्बिभ्यत्य एवेत्यर्थः । देवतास्तिरोहिताः सत्यः प्रहरन्ति स्वित् । तत्कुतः । अन्यथा, अस्य मुनेः । अमी सायका जलधेरूर्मय इव कथं नु संततमनेकेऽसंख्या भवन्ति । एतच्चोद्यमन्यसपक्षसंभवेन न संभवतीत्यर्थः । ['एक' शब्दस्यैकशेषे कृते एक इति रूपमिति केचित् । 'नु' शब्दस्त्वन्यार्थे] ।। ६१ ।।

(कुछ समझ में नहीं आता) ऐसा तो नहीं है कि इस तपस्वी के शम, दमादि गुणों से अथवा भय से वशीभूत देवता लोग ही प्रच्छन्न होकर प्रहार करते हैं ? यदि ये सब बातें नहीं हैं तो फिर समुद्र की असंख्य लहरों के सदृश इसके ये बाण कैसे अनेक हो रहे हैं ।। ६१ ।।

जयेन कच्चिद्विरमेदयं रणाद्भवेदपि स्वस्ति चराचराय वा ।
तताप कीर्णा नृपसूनुमार्गणैरिति प्रतर्काकुलिता पताकिनी ।। ६२ ।।

जयेनेति ।। कच्चिदयं रणाज्जयेन विरमेत् । अस्माञ्जित्वा कच्चिदयं युद्धमुपसंहरेदित्यर्थः । अपि चराचराय स्वस्ति भवेत् कच्चित् । अपि स्थावरजङ्गमं जगन्न विनश्येदित्यर्थः । 'अपि'शब्दः संभावनायाम् । प्रार्थनायां लिङ् । इति प्रतर्काकुलिताः पूर्वोक्ता ये प्रतर्कास्तैः आकुलिता विह्वला । अत्र सहेतुकं विशेषमाह – नृपसूनुमार्गणैरर्जुनबाणैः कीर्णा क्षिप्ता पताकिनी सेना । किरातपतेरिति शेषः । तताप तापं प्राप ।। ६२ ।।

यदि यह (तपस्वी) विजयलाभकर संग्रामसे विरत हो जाय तो स्थावर और जङ्गम (प्राणिमात्र) का कल्याण हो जायेगा (अन्यथा यह सबका नाश कर देगा) राजपुत्र अर्जुनके बाणों से विद्ध प्रमथगणीय सेना उक्त प्रकार के तर्क-वितर्क में पड़कर सन्तप्त होने लगी ।।६२।।

अमर्षिणा कृत्यमिव क्षमाश्रयं मदोद्धतेनेव हितं प्रियं वचः ।
बलीयसा तद्विधिनेव पौरुषं बलं निरस्तं न रराज जिष्णुना ।। ६३ ।।

अमर्षिणेति ।। अमर्षिणा क्रोधवता क्षमाश्रयं शान्तिसाध्यं कृत्यमिव । क्षमासाध्यं

हि कृत्यं सामर्थ्यैनिरस्यते, तच्च निरस्तं न शोभते । मदोद्धतेन पुंसा हितं प्रियं वचो निरस्तं तिरस्कृतमिव । यथा बलीयसा बलवत्तरेण विधिना दैवेन निरस्तं पौरुषमिव । बलीयसा दैवेन प्रतिहतपुरुषव्यापारस्य निष्फलत्वादिति भावः । तथा जिष्णुनार्ज्जुनेन निरस्त क्षिप्तं बलं किरातसैन्यं न रराज । मालोपमा ॥ ६३ ॥

क्रोधी पुरुष से निरस्त शान्तिसाध्य कार्य की तरह; मदोन्मत्त पुरुष से त्यक्त कल्याणप्रस्रविणी और श्रोत्राभिराम वचन की तरह, और प्रबल भाग्य से प्रतिहत पुरुषार्थ की तरह अर्जुन से ध्वस्त शबरसेना शोभित न हुई ॥ ६३ ॥

प्रतिदिशं प्लवगाधिपलक्ष्मणा विशिखसंहतितापितमूर्तिभिः ।
रविकरग्लपितैरिव वारिभिः शिवबलैः परिमण्डलता दधे ॥ ६४ ॥

प्रतिदिशमिति ॥ प्लवगानामधिपोऽधीशो लक्ष्मी यस्य तेन वानरचिह्नेन । 'कपिप्लवङ्गप्लवग–' इति, 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इति चामरः । अर्जुनेन विशिखसंहतितापितमूर्तिभिरिति । विशिखा बाणास्तेषां संहतयः समूहाः । 'स्त्रियां तु संहतिर्वृन्दम्' इत्यमरः । ताभिस्तापिताः पीडिता मूर्तयो देहा येषां तैस्तथाभूतैः । शरनिकरकर्तितकलेवरैरित्यर्थः । शिवबलैः प्रमथसैन्यैः कर्तृभिः, रविकरेण ग्लपितैः सूर्यकिरणशोषितैर्वारिभिरुदकैरिव प्रतिदिशं दिक्षु परिमण्डलता । परितश्चक्राकारमण्डलतेति यावत् । दधेऽधारि प्रतिदिशं मण्डलाकारेण स्थितमित्यर्थः । धात्रः कर्मणि लिट् । आतपतप्तं हि नीरं परिभ्रमति तद्वन्मुनिपीडितं सैन्यं बभ्रामेत्यर्थः । द्रुतविलम्बितं छन्दः—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥ ६४ ॥

शिवसेना कपिध्वज के शरजाल से पीड़ित होकर सूर्य की किरणों से क्रमशः क्षीण होते हुए जल की तरह चारों तरफ से वृत्ताकार (गोल) बन गई ॥ ६४ ॥

प्रविततशरजालच्छन्नविश्वान्तराले विधुवति धनुराविर्मण्डलं पाण्डुसूनौ ।
कथमपि जयलक्ष्मीर्भीतभीता विहातु विषमनयनसेनापक्षपातं विषेहे ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये चतुर्दशः सर्गः ।

प्रवितेति ॥ प्रविततानि विस्तृतानि यानि शरजालानि तैः छन्नमाच्छादितं विश्वान्तरालं येन तस्मिञ्छरसमूहपूरितब्रह्माण्डोदरे पाण्डुसूनौ अत एव आविर्मण्डलमाविर्भूतमण्डलं धनुः । आविर्भूतं मण्डलं यस्य धनुष इति वृत्तौ भूतार्थस्यानुप्रवेशाद् 'भूत' शब्दस्याप्रयोगः । विधुवति कम्पयत्यास्फालयति सति भीतभीतेव भीतप्रकारेव जयलक्ष्मीर्विजयश्रीः कथमपि केनचित्प्रकारेण । महता कष्टेन वा । विषमनयनसेनापक्षपातं शिवसैन्यानुरागं विहातुं त्यक्तुं विषेहे । शशाकेत्यर्थः । मालिनीवृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ ६५ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां चतुर्दशः सर्गः समाप्तः ॥

पाण्डुनन्दन (अर्जुन) के सर्वतोव्यापी शरसमूह से अखिल विश्व के अन्तराल पूर्ण हो जाने पर वर्तुलाकृति धनुष का सञ्चालन करते रहने पर विजयलक्ष्मी करती हुई महान् कष्ट के साथ त्र्यम्बक (शिव) सेना से अनुराग को छोड़ने में समर्थ हुई (अर्थात् शिवसेना भीषण संग्राम करने पर भी अन्त में पराजित ही हुई) ॥ ६५ ॥

अर्जुन-विजयनामक चतुर्दश सर्ग समाप्त

पञ्चदशः सर्गः

अथ भूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्यस्तत्र तत्रसुः ।
भेजे दिशः परित्यक्तमहेष्वासा च सा चमूः ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथानन्तरम् । तत्र रणे भूतानि सर्वप्राणिनः । वृत्रं हतवानिति वृत्रहेन्द्रः । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' । तस्यापत्यं पुमान् वार्त्रघ्नोऽर्जुनः । 'तस्यापत्यम्' इत्यण्प्रत्ययः । तस्य शरेभ्यस्तत्रसुर्बिभ्युः । 'वा जृभ्रमुत्रसाम्' इति विकल्पादेत्वाभ्यासलोपाभावः । सा चमूश्च । इषवोऽस्यन्त एभिरितीष्वासा धनूंषि । 'धनुश्चापोऽस्त्रमिष्वासः' इति हेमचन्द्रः । 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति करणे घञ् । परित्यक्ता महान्त इष्वासा यया सा । परित्यक्तायुधेत्यर्थः । दिशो भेजे । पलायांचक्र इत्यर्थः । अत्र भूतत्राससेनापलायनयोः समुच्चयकथनाद्भिन्नविषयः क्रियासमुच्चयोऽलङ्कारः । 'गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः' इति सामान्यलक्षणम् । तस्य यमकेन संसृष्टिः ॥ १ ॥

वृत्रासुराभिघाती के पुत्र (अर्जुन) के बाणों से यहाँ के सब जीव-जन्तु भयभीत हो गये । किराताधिनाथ (शंकर) की सेना भी बड़े-बड़े धनुषों का परित्याग कर भाग गई ॥१॥

अपश्यद्भिरिवेशानं रणान्निववृते गणैः ।
मुह्यत्येव हि कृच्छ्रेषु संभ्रमज्वलितं मनः ॥ २ ॥

अपश्यद्भिरिति ॥ गणैः प्रमथैः । ईशानं स्वामिनं शिवम् । पुरोवर्तिनमिति भावः । अपश्यद्भिरिव रणान्निववृते निवृत्तम् । भावे लिट् । तथा हि—कृच्छ्रेषु आपत्सु संभ्रमेण साध्वसेन ज्वलितं तप्तम् । 'संभ्रमः साध्वसेऽपि स्यात्' इति विश्वः । मनो मुह्यत्येव । अतः पुरोवर्तिनोऽप्यदर्शनमुपपद्यत इति भावः ॥ २ ॥

प्रमथगण (पुरोवर्ति) शूली भगवान् को न देखते हुए संग्राम से पराङ्मुख हो गये, क्योंकि आपत्ति के समय में विभीषिकाक्रान्त मन व्याकुल हो ही जाता है ॥ २ ॥

खण्डिताशंसया तेषां पराङ्मुखतया तया ।
आविवेश कृपा केतौ कृतोच्चैर्वानरं नरम् ॥ ३ ॥

खण्डितेति ।। खण्डिता ध्वस्ता आशंसा जयाशा यस्यास्तया तेषां गणानां संबन्धिन्या तया । अतिसंनिकृष्टयेत्यर्थः । पराङ्मुखतया रणवैमुख्येन । पलायनेनेत्यर्थः । केतौ ध्वजे कृत आरोपित उच्चैरुन्नतो वानरो हनूमान् येन तं नरं पुरुषम् । कपिध्वजमित्यर्थः । कृपा करुणा । आविवेश । तदीयदुर्दशां दृष्ट्वा स कृपाविष्टोऽभूदित्यर्थः । यमकालङ्कारः ॥ ३ ॥

विजयकी आशा के प्रति निराश होकर उन प्रमथ गणों की संग्राम से पराङ्मुखता को देखकर कपिकेतन (अर्जुन) को दया ने आकृष्ट कर लिया ॥ ३ ॥

ननु शत्रुषु कथं करुणा तत्राह—

आस्थामालम्ब्य नीतेषु वशं क्षुद्रेष्वरातिषु ।
व्यक्तिमायाति महतां माहात्म्यमनुकम्पया ॥ ४ ॥

आस्थायामिति ।। आस्थां यत्नमालम्ब्य । 'आस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु कथ्यते' इति विश्वः । वशं नीतेषु क्षुद्रेषु दुष्टेषु अरातिषु शत्रुषु विषयेऽनुकम्पया कृपया महतां वीराणां माहात्म्यं महानुभावत्वं व्यक्तिं स्फुटताम् । आयाति प्राप्नोति । स्वपौरुषनिर्जितेष्वरातिष्वपि करुणा भूषणमेव महतामिति भावः ॥ ४ ॥

यत्नों के आधार नीच शत्रुको अधीन कर लेने पर भी दया करने से महानुभावों की उदारता व्यक्त होती है ॥ ४ ॥

स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययाययः ।
ललौ लीलां ललोऽलोलः शशीशशिशुशीः शशन् ॥ ५ ॥

(एकाक्षरपदः)

स सासिरिति ।। सहासिना वर्तमानः सासिः सखड्गः असून् सुवन्ति प्रेरयन्तीत्यसुवो बाणाः । 'षू प्रेरणे' इति धातोः 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप् । असुसूभिः सह वर्तत इति सासुसूः सबाणः । अस्यन्ते क्षिप्यन्ते शरा अनेनेत्यासो धनुः । 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति घञ् । आसेन सह वर्तत इति सासः सचापः । सर्वत्र 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । येया यातव्या यानसाध्याः अयेया अयातव्या यानं विनैव साध्याः । 'अचो यत्' इति यत्प्रत्ययः । येयाश्च अयेयाश्च येयायेयाः, तेषां द्वयानामाये स्वर्णगजादिलाभे याति प्राप्नोतीति येयायेयाययः । अयं शुभावहदैवं यातीत्यर्थः । येयायेयाययश्चासौ अययश्चेति येयायेयाययाययः । याधातोरुभयत्रापि 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । अतो ललति विलसतीति ललः । 'लल विलासे' पचाद्यच् । अलोलोऽचपलः । शशिन ईशः शिवस्तस्य शिशुः स्कन्दस्तं श्यति हिनस्तीति शशीशशिशुशीः । क्विप् । शशन् प्लुतगतिं कुर्वन् । 'शश प्लुतगतौ' इति धातोः शतृप्रत्ययः । सोऽर्जुनो लीलां शोभां ललौ प्राप । 'ला आदाने' कर्तरि लिट् ॥ ५ ॥

सासिः = तलवार (खड्ग) लिये हुए; सासुसुः = असु (प्राण) को जो प्रेरणा करे वह आसुसु अर्थात् बाण। असुसु के सहित अर्थात् हाथ में बाण लेकर; सासः = (आस = धनुष) आसके सहित अर्थात् धनुष लेकर, येयायेयाययायय: = येय = यान के द्वारा 'साध्य; अयेय = जो यान के विना ही साध्य हैं। येयायेय यानसाध्य और अयानसाध्य आये = सोना हाथी इत्यादि के लाभार्थ जो जाता हो। अयय: = शुभावह भाग्य को जो प्राप्त करता है। ललः = [लल् विलासे धातु से बना है] इसलिये इसका अर्थ है शोभा सम्पन्न, अलोल = अ[लोल, अ = नहीं; लोल = चञ्चल अर्थात् शान्त, शशीशशिशुशी: = [शशि = चन्द्रमा, ईश = स्वामी, शिशु = बालक, शी = मारनेवाला] चन्द्रमा के स्वामी [शंकर] के पुत्र को मारनेवाला [अर्जुन] शशन् = प्लुतगति से गमनकारी, लीला = शोभाको; ललौ = प्राप्त हुआ।

वह अर्जुन हाथ में खड्ग, बाण और गाण्डीव धनुष को धारण करता हुआ यानसाध्य तथा अयानसाध्य दोनों प्रकार के स्वर्ण गजरूप लाभ को प्राप्त करनेवाला तथा सुन्दर भाग्य को प्राप्त, शोभा सम्पन्न गम्भीर [शान्त अर्जुन], जिसने चन्द्रमा के स्वामी [शंकर] के पुत्र [षडानन] को मार भगाया था, प्लुतगति से गमन करता हुआ परमशोभा को प्राप्त हुआ [अर्थात् उस क्षण वह अनुपम शोभा को प्राप्त हुआ इस श्लोक के प्रत्येक चरण में एक ही प्रकार के अक्षर हैं अतः ऐसी रचना को एकाक्षर पाद कहते हैं]॥ ५॥

त्रासजिह्मं यतश्चैतान् मन्दमेवान्वियाय सः।
नातिपीडयितुं भग्नानिच्छन्ति हि महौजसः॥ ६॥

त्रासेति॥ सोऽर्ज्जुनः। त्रासजिह्मं भयक्लिष्टं यथा तथा यतो गच्छतः। पलायमानानित्यर्थः। एतान् गणान् मन्दमेव। अन्वियायानुजगाम। तथा हि— महौजसो महानुभावा भग्नानतिपीडयितुं नेच्छन्ति॥ ६॥

अर्जुन ने भय से विह्वल होकर भागते हुये उन प्रमथगणों का अनुसरण मन्दगति से ही किया क्योंकि महान् पराक्रमशाली [उदार] व्यक्ति अत्यन्त दुःखियों को पीड़ित नहीं करते॥ ६॥

अथाग्रे हसता साचिस्थितेन स्थिरकीर्तिना।
सेनान्या ते जगदिरे किञ्चिदायस्तचेतसा॥ ७॥

(निरोष्ठ्यम्)

अथेति॥ अथाग्रे। बलानामित्यर्थः। हसता तद्भङ्गदर्शनात्स्मयमानेन साचिस्थितेन तन्निवारणाय तिर्यग्व्यवस्थितेन। 'तिर्यगर्थे साचि तिरः' इत्यमरः। स्थिरकीर्तिना। स्वयमभङ्गत्वादिति भावः। किंचिदीषद् आयस्तं खिन्नं चेतो यस्य तेन स्वकीयगणभङ्गादीषत्खिन्नचित्तेन सेनान्या स्कन्देन। पार्वतीनन्दनः स्कन्दः सेनानी-

रश्मिर्घृणिः' इत्यमरः। ते गणाः प्रमथाद्यो जगदिर उक्ताः। ओष्ठ्यवर्णाभावा- न्निरोष्ठ्यमेतत् ॥ ७ ॥

सेना को भागते हुए देख उसे रोक रखने के लिये तिरछे से खड़े होकर शिवकुमार [स्वामिकार्तिक], जिनकी कीर्ति अविचल है, सेना के आगे मन्दहास करते हुए कुछ खिन्न होकर प्रमथ गणों से बोले। इस श्लोक में ओष्ठ से उच्चारण होने वाले वर्ण एक भी नहीं आये हैं इस लिये इसे 'निरोष्ठ्य' रचना कहते हैं ॥ ७ ॥

अथैकविंशतिभिः श्लोकैः स्कन्दवाक्यमेवाह—

मा विहासिष्ट समरं समरन्तव्यसंयतः।
क्षतं क्षुण्णासुरगणैरगणैरिव किं यशः ॥ ८ ॥

(पादान्तादियमकम्)

मा विहासिष्टेत्यादि ॥ रन्तव्यं रमणं क्रीडा। बहुलग्रहणाद्भावे तव्यप्रत्ययः। संयद्युद्धम्। 'समुदायः स्त्रियः संयत्समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः। समे रन्तव्य- संयती येषां ते समरन्तव्यसंयतः तुल्यक्रीडासंगरा इति तेषां संबोधनम्। यूयं समरं संग्रामं मा विहासिष्ट न त्यजत। जहातेर्माङि लुङ्। मध्यमबहुवचनम्। क्षुण्णाः पराजिता असुरगणा यैस्तैः। भवद्भिरिति शेषः। अगणैरिव गणेभ्योऽन्यैरिव किं किमर्थं यशः क्षतं नाशितम्। नैतद्युक्तं महाशूराणां भवादृशानामित्यर्थः ॥ ८ ॥

[अये प्रमथगणों !] आप लोगों के लिये खेल और युद्ध समान हैं क्योंकि आपलोगों ने राक्षसों के समूह को मर्दन करके छोड़ा है फिर गणों से इतर देवता, राक्षस तथा मनुष्यों की तरह संग्राम से विरत होकर आप लोग क्यों अपने यश को कलङ्कित करते हैं ? वीरों के लिये यह उचित नहीं है ॥ ८ ॥

विवस्वदंशुसंश्लेषद्विगुणीकृततेजसः।
अमी वो मोघमुद्गूर्णा हसन्तीव महासयः ॥ ९ ॥

विवस्वदिति ॥ विवस्वदंशुसंश्लेषेण सूर्यकिरणसंपर्केण द्विगुणीकृतानि उत्तेजि- तानि तेजांसि येषां ते तथोक्ता मोघं व्यर्थम् उद्गूर्णा उद्यताः। 'गुरी उद्यमने' इति धातोः कर्मणि क्तः। वो युष्माकम्। अमी महासयः खड्गा हसन्तीवेत्युत्प्रेक्षा। किं पलायमानानां खड्गैरिति हासः ॥ ९ ॥

ये बड़े-बड़े खड्ग [तलवार], जो सूर्य की किरणों के संपर्क से द्विगुण प्रकाशित हो रहे हैं तथा व्यर्थ ही ऊपर को उठे हुये हैं, आप लोगों की दशा पर हँसते हुए की तरह मालूम पड़ रहे हैं ॥ ९ ॥

वनेऽवने वनसदां मार्गं मार्गमुपेयुषाम्।
बाणैर्बाणैः समासक्तं शङ्केऽशं केन शाम्यति ॥ १० ॥

(पादादियमकम्)

वन इति ॥ वनसदां वनेचराणाम् । अवने रक्षके वने मार्गं मृगसंबन्धिनं मार्गं पन्थानम् । उपेयुषाम् । पलायमानामित्यर्थः । युष्माकमिति शेषः । वाणो ध्वनिरेषा-मस्तीति तैर्वाणैर्ध्वनियुक्तैः । 'वण संशब्दने' इति धातोर्घञ् । ततः 'अर्शआदिभ्य–'. इत्यच्प्रत्ययः । यमकत्वाद् बवयोरभेदः । उक्तं च–'रलयोर्डलयोस्तद्वज्जशयोर्बवयो-रपि । सबिन्दुकाबिन्दुकयोः स्यादभेदेन कल्पनम् ॥' इति । बाणैः शरैः समासक्तं समासञ्जितम् अशं दुःखं तत् केन शाम्यतीति शङ्के । केनोपायेन शाम्येदिति विचार-यामीत्यर्थः ॥ १० ॥

आपलोग वननिवासियों के रक्षक [आता] इस वन में मृगों के मार्ग का अनुसरण करते हुए भागे जा रहे हैं तो फिर इन शब्दकारी वाणों के साथ-साथ आने वाला दुःख किस उपाय से शान्त होगा ? मुझे इस बात का अत्यन्त सन्देह है ॥ १० ॥

पातितोत्तुङ्गमाहात्म्यैः संहृतायतकीर्तिभिः ।
गुर्वीं कामापदं हन्तुं कृतमावृत्तिसाहसम् ॥ ११ ॥

पातितेति ॥ पातितं भ्रंशितम् उत्तुङ्गमाहात्म्यमुन्नतभावो यस्तैः संहृता आहृता आयता विस्तृताः कीर्तयो यैस्तैः । युष्माभिरिति शेषः । कां गुर्वीमापदं हन्तुम् । न कांचिदपीत्यर्थः । आवृत्तिर्युद्धान्निवृत्तिः । सैव साहसं कृतम् । अतः पापादन्यन्न किंचित्फलमस्तीति भावः । तदुक्तं मनुना–'यस्तु भीतः परावृत्तः सङ्ग्रामे हन्यते परैः । भर्तुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जि-तम् । भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥' इति ॥ ११ ॥

आप लोगों ने अपने गौरव पर ध्यान न देकर अपनी सुदूरव्यापिनीकीर्त्ति को ध्वस्त करके किस महान् आपत्ति के प्रतिकार के लिये संग्राम से विमुख होने का साहस किया ॥ ११ ॥

नासुरोऽयं न वा नागो धरसंस्थो न राक्षसः ।
ना सुखोऽयं नवाभोगो धरणिस्थो हि राजसः ॥ १२ ॥

(गोमूत्रिकाबन्धः)

नेति ॥ किंच, अयमसुरो दैत्यो न । नागो नागराजो वा पन्नगश्च न । धर इव संस्था यस्य स धरसंस्थः पर्वताकारः । 'अहार्यधरपर्वताः' इत्यमरः । 'संस्था व्यवस्था-प्रणिधिसमाप्त्याकारमृत्युषु' इति वैजयन्ती । राक्षसो न । किंतु अयं सुखयतीति सुखः । सुखसाध्य इत्यर्थः । नवाभोगोऽभिनवप्रयत्नः । महोत्साह इत्यर्थः । 'आभोगो वरुणच्छत्रे पूर्णतायत्नयोरपि' इति विश्वः । धरणिस्थो भूतलचारी राजसो रजोगुण प्रधानो ना पुरुषो हि । कश्चिन्मानुष इत्यर्थः । 'पुरुषाः पूरुषा नरः । मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नराः' इत्यमरः । अतो न पलायनमुचितमिति भावः । गोमूत्रि-काबन्धः—'वर्णानामेकरूपत्वं यद्येकान्तरमर्धयोः । गोमूत्रिकेति तत्प्राहुर्दुष्करं तद्विदो

विदुः ॥' इति लक्षणात् । षोडशकोष्ठद्वयेऽर्धद्वयं क्रमेण विलिख्यैकान्तरविनिमयेन वाचने श्लोकनिष्पत्तिरित्युद्धारः ॥ १२ ॥

यह पुरुष दानव, नाग, पहाड़ और राक्षस इनमें से कोई भी नहीं है। महान् उत्साहशाली होने की आशङ्का हो तो यह भी नहीं है किन्तु भूमिचारी रजोगुणी मनुष्य है अत एव सरलतापूर्वक विजित किया जा सकता है ॥ १२ ॥

मन्दमस्यन्निषुलतां घृणया मुनिरेष वः ।
प्रणुदत्यागतावज्ञं जघनेषु पशूनिव ॥ १३ ॥

मन्दमिति ॥ एष मुनिर्घृणया कृपया । इषुं लतां शाखामिव मन्दमस्यन् क्षिपन् वो युष्मान् पशूनिवागतावज्ञं यथा तथा जघनेषु प्रणुदति चोदयति । किमतः परं कष्टमस्तीति भावः ॥ १३ ॥

यह तपस्वी कृपा करके हरी-हरी शाखाओं के सदृश बाण प्रक्षिप्त करते हुए [हरी-हरी शाखा के खाने के लालच से समागत] पशु की भाँति जघन प्रदेश में प्रहार करता है, इससे बढ़कर और कष्ट क्या हो सकता है ? ॥ १३ ॥

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥ १४ ॥
(एकाक्षरः ।)

नेति ॥ पदच्छेदस्तावत्—न ना ऊननुन्नः नुन्नोनः ना अना नानाननाः ननु । नुन्नः अनुन्नः ननुन्नेनः ना अनेनाः नुन्ननुन्ननुत् ॥ अथ योजना—हे नानाननाः नानाप्रकाराण्याननानि येषां ते । नानाविधास्या इत्यर्थः । ऊनेन निकृष्टेन नुन्नो विद्ध ऊननुन्नो यः स ना न पुरुषो न । तथा नुन्न ऊनो येन स नुन्नोनो ना पुरुषोऽना ननु अपुरुषः खलु । ऊनाद्भीतः पलायमानस्तु किं वक्तव्यमिति भावः । किंच, नुन्न इनः स्वामी यस्य स नुन्नेनः । स न भवतीति ननुन्नेनः । नञर्थस्य 'न'शब्दस्य सुप्सुपेति समासः । स नुन्नो विद्धोऽपि अनुन्नोऽविद्ध एव । यूयमनुन्नस्वामिकत्वादनुन्ना एवेति भावः । तथा नुन्ननुन्ननुदतिशयेन नुन्ना नुन्ननुन्नास्तान्नुदतीति नुन्ननुन्ननुत् । अतिपीडितपीडको ना पुरुषोऽनेना निर्दोषो न भवतीति, किन्तु सदोष एवेति । 'नार्तं नातिपरिक्षतम्' इति निषेधादित्यर्थः । अयं तु नैतादृश इति । न पलायितव्यमिति भावः । अयमेकव्यञ्जनः । अन्त्यस्तकारस्तु न दोषावहः, 'नान्त्यवर्णस्तु भेदकः' इत्यभ्यनुज्ञानात् ॥ १४ ॥

हे नानाननाः !=अनेकविध मुखधारी !, ऊननुन्नः=नीचविचार का, ना न=पुरुष नहीं है, नुन्नोनः ना अना=न्यूनता का विघाती पुरुष अथवा पुरुष से भिन्न कोई देवता है, अनुन्नेन= जिसका स्वामी विद्ध न हो, वह नुन्नः=(यद्यपि) विद्ध किया गया है, अनुन्नः (तथापि)

अविद्ध की तरह है, तुन्नतुन्नतुत्=अत्यन्त व्यथा से आक्रान्त को व्यथितकारी पुरुष अनेना न=निर्दोषी नहीं होता किन्तु दोषी होता है, ऐसा यह पुरुष नहीं है।

ऐ विविध मुखवालों! (प्रमथ गणों) यह क्षुद्र विचार का पुरुष नहीं है। यह न्यूनता (बुराई) का समूल नष्ट करने वाला पुरुष से अतिरिक्त कोई देवता है। विदित होता है इसका स्वामी भी है (अवारा घुमक्कड़ नहीं है) यह बाणों से आहत है तथापि अनाहत की तरह प्रतीत होता है। 'अत्यन्त व्यथा से आक्रान्त पुरुष को व्यथित करना दोषावह होता है' इस दोष से भी यह पुरुष मुक्त है। (अतः रण से विमुख होकर भागना नहीं चाहिये ॥ १४ ॥

वरं कृतध्वस्तगुणादत्यन्तमगुणः पुमान्।
प्रकृत्या ह्यमणिः श्रेयान्नालङ्कारश्च्युतोपलः ॥ १५ ॥

वरमिति ॥ कृताः पूर्वमुत्पादिताः पश्चाद् ध्वस्ता नष्टास्ते कृतध्वस्ताः। 'पूर्वकाल' इत्यादिना समासः। कृतध्वस्ता गुणा यस्य तस्मात् पुंसः। अत्यन्तमतिशयेनागुणः निर्गुणः पुमान् वरं मनाक्प्रियः। किंचित्प्रिय इत्यर्थः। 'वरं क्लीवं मनाक्प्रिये' इत्यमरः। तथा हि—प्रकृत्या स्वभावेन। अमणिर्मणिरहितोऽलङ्कारः श्रेयान्। च्युतोपलो भ्रष्टरत्नो न श्रेयान्। 'उपलः प्रस्तरे रत्ने' इति विश्वः। पलायितुः समरादसमर एव वरमिति भावः। अत्र समानविषयारोपयोः प्रतिबिम्बकरणाद् दृष्टान्तालंकारः ॥ १५ ॥

जो पुरुष गुणों को प्राप्त करता है और पश्चात् उसे यों ही नष्ट कर डालता है ऐसे पुरुष की अपेक्षा निर्गुणी पुरुष कुछ अच्छा होता है। पहले से ही आभूषण में रत्न जटित न किया जाय यह बल्कि अच्छा है परन्तु रत्नजटित होने के पश्चात् वे रत्न उस स्थान से अलग हो जाँय तो वह आभूषण शोभा को नहीं पाता है (अर्थात् युद्धक्षेत्र से भाग जाने की अपेक्षा युद्ध में न जाना ही अच्छा है) ॥ १५ ॥

स्यन्दना नो चतुरगाः सुरेभा वाऽविपत्तयः।
स्यन्दना नो च तुरगाः सुरेभा वा विपत्तयः ॥ १६ ॥

(समुद्रकः।)

स्यन्दना इति ॥ स्यन्दन्ते प्रद्रवन्तीति स्यन्दना जवनाः। स्यन्दना रथा नो सन्ति। नन्दादित्वाल्ल्युः। चतुरं गच्छन्तीति चतुरगाः। तुरगाश्च अश्वा नो सन्ति। सुरेभाः शोभनबृंहणाः। सुरेभा वा सुरगजाश्च नो सन्ति। अविपत्तयो विपत्तिरहिताः विपत्तयो वा विशिष्टाः पदातयो नो सन्ति। अतो न भेतव्यमिति भावः। अत्र पूर्वोत्तरार्धगतानां विशेषणानां विशेष्याणां चोद्देशोद्देश्यीभूतानां यथासंख्यसंबन्धानुक्रमाद्यथासंख्यालंकारो यमकेन संसृष्टः ॥ १६ ॥

इस पद्य के उत्तरार्द्ध के सम्पूर्ण पद पूर्वार्द्ध की भाँति अर्थात् पूरे छन्द में एक एक पद दो-दो बार आये हुए हैं।

योजनाक्रमः—स्यन्दनाः = स्यन्दन्ते इति स्यन्दनाः अर्थात् वेगवान्, स्यन्दनाः = रथ, चतुरगाः = चतुर (अच्छी चाल से) (गा = चलने वाले) तुरगाः = घोड़े, सुरेभाः = सुन्दर बृंहण वाले, सुरेभा = ऐरावत, अविपत्तयः = विपत्ति से हीन, विपत्तयः = विशिष्ट पैदल सिपाही]

इस पुरुष के पास वेगशाली रथ, अच्छी चाल का घोड़ा, सुन्दर गर्जनकारी ऐरावत हाथी तथा सुसज्जित पैदल सिपाही इन सब में से एक भी नहीं है॥ १६॥

भवद्भिरधुनारातिपरिहापितपौरुषैः।
ह्रदैरिवार्कनिष्पीतैः प्राप्तः पङ्को दुरुत्तरः॥ १७॥

भवद्भिरिति॥ अधुनाऽरातिभिः परिहापितानि त्याजितानि पौरुषाणि यैस्तैर्भवद्भिः। अर्कनिष्पीतैरर्केण संशोषितैर्ह्रदैरिव। दुरुत्तरो दुस्तरः पङ्क इव पङ्को दुष्कीर्तिरूपः प्राप्तः॥ १७॥

आप लोगों का पुरुषार्थ इस समय शत्रु के द्वारा भगा दिया गया है जिसके कारण आप लोग सूर्य भगवान् की किरणों के द्वारा सुखाये हुए जलाशय (तालाब) की तरह हो गये। और एक दुस्तर कर्दम में फँस गये हैं। अर्थात् अयश के पात्र बन रहे हैं॥ १७॥

वेत्रशाककुजे शैलेऽलेशैजेऽकुकशात्रवे।
यात किं विदिशो जेतुं तुंजेशो दिवि किंतया॥ १८॥

(प्रतिलोमानुलोमपादः)

वेत्रेति॥ वेत्राणि वंशाः फलिन्यो वा शाका बर्बराश्च कुजा वृक्षा यस्मिंस्तस्मिन् वेत्रशाककुजे। शत्रुणा दुष्प्रवेश्य इत्यर्थः। 'वेत्रं वंशफलिन्योश्च' इति विश्वः। 'शाकः बर्बरवर्धकाः' इत्यमरः। लेशेन स्तोकेनाप्येजते कम्पत इति लेशैजः। स न भवतीति अलेशैजस्तस्मिन्। अत्यन्ताकम्पन इत्यर्थः। 'एजृ कम्पने'। पचाद्यच्। न कोकते नादत्त इत्यकुको ग्रहणासमर्थः शात्रवो यस्मिंस्तस्मिन् अकुकशात्रवे। 'कुक आदाने'। पचाद्यच्। शैले पर्वते। केषां भावः किता कुत्सितता तयोपलक्षिताः सन्तः। 'कुत्सा-प्रश्नवितर्केषु क्षेपे किं शब्द इष्यते' इति शाश्वतः। विदिशो जेतुं यात गच्छत किम्। यातेः संप्रश्ने लोट्। मध्यमपुरुषबहुवचनम्। दिवि स्वर्गेऽपि। तुञ्जेश इति तेषां संबोधनम्। तुञ्जन्त इति तुञ्जा हिंसका दैत्याः। 'तुजि हिंसायाम्' पचाद्यच्। तेभ्यो दैत्येभ्य ईशत इति तुञ्जेशः। ईशेः क्विप्। तेभ्योऽपि शक्ता इत्यर्थः। स्वर्गेऽप्यसुर-विजयिनां युष्माकमत्र क्षुद्रस्थले क्षुद्रशत्रौ पलायनमनुचितमिति भावः॥ १८॥

बाँस, फलशाली वृक्ष और भी अनेक प्रकार के व्यर्थ के वृक्षों से भरे हुए, रेणु मात्र भी टस से मस न करने वाले पहाड़ पर जहाँ शत्रु कुछ कर नहीं सकता, क्या विदिशाओं

को जीतने के लिये तो नहीं भागे जा रहे हो ? स्वर्ग में आप लोगों ने दैत्यों को भी परास्त किया है। इस समय कायर क्यों बन रहे हो ॥ १८ ॥

अथेशे तिष्ठति पलायनमेतद्वो न युक्तमित्याह—

अयं वः क्लैब्यमापन्नान् दृष्टपृष्ठानरातिना।
इच्छतीशश्च्युताचारान् दारानिव निगोपितुम् ॥ १९ ॥

अयमिति ॥ अयमीशः स्वामी शिवः क्लैब्यं निष्पौरुषत्वम्। आपन्नान् प्राप्तांस्तथा अरातिना दृष्टपृष्ठान्। पलायमानानित्यर्थः। वो युष्मान् च्युताचारान् स्खलितव्रतान् दारान् कलत्राणीव। 'अथ पुंभूम्नि दाराः' इत्यमरः। निगोपितुं गोप्तुम्। ऊदित्वादिड्विकल्पः। दारदोषं भर्तेव स्वमहिम्ना युष्मद्दोषं संवरितुम्। इच्छति। अतः कुतो युष्माकमनर्थ इत्यर्थः ॥ १९ ॥

यह आप लोगों के स्वामी शंकर भगवान् आप लोगों की, जो कि नपुंसकता को प्राप्त हुए और शत्रु को पीठ दिखलाये हुए हैं, रक्षा करना चाहते हैं जिस प्रकार पुरुष आचार भ्रष्ट अपनी स्त्री की रक्षा करते हैं ॥ १९ ॥

ननु हो मथना राघो घोरा नाथमहो नु न।
तयदातवदा भीमा माभीदा बत दायत ॥ २० ॥

(प्रतिलोमानुलोमार्द्धः)

नन्विति ॥ 'ननु' इत्यामन्त्रणे। 'हो' इत्याह्वाने। 'हे है व्यस्तौ समस्तौ च हूतिसंबोधनार्थयोः। हो हौ चैवंविधौ ज्ञेयौ संबुद्ध्याह्वानयोरपि' इति विश्वः। मथ्नन्तीति मथनाः। 'मन्थ विलोडने' कर्तरि ल्युट्। राध्नन्ति समर्था भवन्तीति राघः। 'राधृ सामर्थ्ये। क्विप्। घोराः क्रूराः। शत्रूणामिति भावः। नाथं महयन्ति पूजयन्तीति नाथमहः। दृशिग्रहणात्कर्मण्युपपदे क्विप्। तयन्ति रक्षन्तीति तया रक्षकाः। पचाद्यच्। दायन्तीति दाताः शुद्धाः। 'दैप् शोधने' कर्तरि क्तः। वदन्तीति वदा वक्तारः। पचाद्यच्। तेषां द्वन्द्वः' तयदातवदाः। भीमा भयंकराः। माभीः। नञर्थ'मा'शब्दस्य सुप्सुपेति समासः। तां ददतीति माभीदा अभयप्रदाः। एवंविधा यूयमिति शेषः। 'बत' इति खेदे। बवयोरभेदः। न दायत नु न शुद्धाः किम्। 'नु' पृच्छायाम्। किंतु शुद्धा एव। न काकुरत्रानुसंधेया। 'दैप् शोधने' लोट्मध्यमपुरुषबहुवचनम् ॥ २० ॥

शंकर भगवान् के गणों की सेना अन्धाधुन्ध भग रही है। उस सेना के नायक स्वामिकार्तिक चिल्ला चिल्लाकर उन्हें बुला रहे हैं परन्तु वह सुनती ही नहीं है वह तो भागने की धुन में लगी हुई है उसे फिर वे जल्दी-जल्दी पुकारते हुए उसके बल और पौरुष की प्रशंसा कर रहे हैं—

उन्होंने कहा—अरे अरे भाई! सुनो, आप लोग बड़े-बड़े शत्रुओं को तहस नहस कर

देने वाले हैं, समर्थ हैं, शत्रुओं के लिए भीषण हैं, अपने स्वामी को मानने वाले भी हैं (अधिक आपलोगों की प्रशंसा कहाँ तक करें) आपलोग रक्षक, शुद्ध विचार तथा निरामूर्ख हीं नहीं किन्तु वक्ता भी हैं। देखने में आपलोगों की आकृति भी भयजनिका है। आप लोग जान से मार डालने वाले ही नहीं किन्तु अवसर पड़ने पर अभयदान भी करते हैं, क्या आप लोग शुद्ध नहीं हैं ? अवश्य शुद्ध हैं ॥ २० ॥

किं त्यक्तापास्तदेवत्वमानुष्यकपरिग्रहैः।
ज्वलितान्यगुणैर्गुर्वी स्थिता तेजसि मानिता ॥ २१ ॥

किमित ॥ अपास्तोऽवधीरितो देवत्वमानुष्यकयोः परिग्रहः स्वीकारो यैस्तैः। अतिदेवमानुषैरित्यर्थः। मनुष्याणां भावो मानुष्यकम्। 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्'। ज्वलितान्यगुणैः ज्वलिता उज्ज्वलिताः। प्रकाशिता इति यावत्। अन्यगुणा असदृशगुणा यैस्तैः। 'अन्यो विभिन्नासदृशौ' इति वैजयन्ती। ईदृशैः। भवद्भिरिति शेषः। तेजसि प्रतापे स्थिता प्रतापैकशरणा गुर्वी मानिता शूरत्वाभिमानिता किमिति त्यक्ता। किमिति निर्लज्जैः पलायत इति भावः ॥ २१ ॥

आपलोग देवता और मनुष्यों को भी तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं (अर्थात् उनसे बढ़ कर अपने को मानते हैं), और सर्वोत्तम गुणों से विभूषित हैं तो फिर आप लोग प्रताप को एक मात्र अपना शरणप्रदायक समझकर भी अभिमानिता को क्यों परित्याग कर रहे हैं (अर्थात् निर्लज्ज होकर क्यों भागे जा रहे हैं ?) ॥ २१ ॥

निशतासिरतोऽभीको न्येजतेऽमरणा रुचा।
सारतो न विरोधी नः स्वाभासो भरवानुत ॥ २२ ॥

निशितेति ॥ हे अमरणा मरणरहिताः ! निशितासिरतोऽतितीक्ष्णखड्गरतः। अभीको निर्भीकः। रुचा तेजसोपलक्षितः सुष्ठ्वाभासत इति स्वाभासो रमणीयः पचाद्यच्। उतात्यर्थमतिशयेन भरवान्। रणभरसहिष्णुरित्यर्थः। 'उतात्यर्थविकल्पयोः' इति विश्वः। ईदृशो नोऽस्माकं विरोधी शत्रुः सारतो बलतो न न्येजते न कम्पते। प्रचलतीत्यर्थः। 'एजृ कम्पने'। लट्। अतो भवद्भिरपि स्थातव्यमेव। न चलितव्यमिति भावः ॥ २२ ॥

ऐ अमरगणों ! (वह शत्रु तो मनुष्य है इसलिए मर भी सकता है परन्तु आप लोगों को मृत्यु का भी भय नहीं है) हम लोगों का शत्रु हाथ में तीक्ष्ण खड्ग लिए हुए है, निर्भीक (निडर) है, तेजस्वी मालूम पड़ता है, रमणीय है तथा संग्राम के भार का सहन कर सकता है इस प्रकार का शत्रु बल से रञ्चमात्र भी विचलित नहीं होता है। इसलिये आप लोगों को भी विचलित नहीं होना चाहिये ॥ २२ ॥

नन्वयं न चलतीति कथं ज्ञायते, तत्राह प्रतिलोमानुलोमेन श्लोकद्वयम्—

तनुवारभसो भास्वानधीरोऽविनतोरसा।
चारुणा रमते जन्ये कोऽभीतो रसिताशिनि॥ २३॥

तन्विति॥ तनुमावृणोत्याच्छादयतीति तनुवारं वर्म। कर्मण्यण्। तेन भभसित भासत इति तनुवारभसः। 'भस दीप्तौ'। पचाद्यच्। भास्वान् तेजस्वी चारुणा भास्वताऽविनतेनोन्नतेन। उरसा वक्षःस्थलेनोपलक्षितः। एवंविधोऽपि अधीरो धैर्यरहितो रसितेन शब्दितेनैवाश्नाति ग्रसतीति रसिताशी तस्मिन्। रवेणैव विश्व-प्राणहारिणीत्यर्थः। आभीक्ष्ण्ये णिनिः। जन्ये युद्धे। 'युद्धमायोधनं जन्यम्' इत्यमरः अभीतो निर्भीकः सन् को रमते कः क्रीडति। यदि रमते तर्ह्ययमेवेति भावः। निर्भय-सञ्चारादेवास्य निश्चलत्वं निश्चीयत इत्यर्थः। पूर्वश्लोकस्यायं प्रतिलोमः॥ २३॥

कवच से सुशोभित और तेजस्वी पुरुष, जिसका वक्षःस्थल रम्य और उन्नत है तथापि धैर्य न्यूनता के कारण निर्भीक होकर कौन ऐसा व्यक्ति है जो रव मात्र से विश्वसंहारकारी संग्राम में खेलगा (यदि खेलता है तो यही तपस्वी)॥ २३॥

अथ पञ्चभिः कुलकमाह—विभिन्नेत्यादिभिः—

विभिन्नपातिताश्वीयनिरुद्धरथवर्त्मनि।
हतद्विपनगष्ठ्यूतरुधिराम्बुनदाकुले॥ २४॥

आहवं विशिनष्टि—विभिन्नानि विदारितान्यत एव पातितान्यश्वीयान्यश्व-समूहाः। 'पूर्वकाल—' इति समासः। तैरश्वसमूहैर्निरुद्धानि रथानां वर्त्मानि यस्मि-स्तथोक्ते। 'वृन्दे त्वश्वीयमाश्ववत्' इत्यमरः। 'केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम्' इति छप्रत्ययः। हतास्ताडिता द्विपा गजा एव नगाः शैलाः। 'शैलवृक्षौ नगावगौ' इत्यमरः। तै ष्ठ्युतानि उज्झितानि। ष्ठीवतेः कर्मणि क्तः। 'छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यूठादेशः। तानि रुधिराण्येवाम्बूनि तेषां नदैः प्रवाहैराकुले व्याप्ते॥ २४॥

युद्ध-स्थल के रथों का मार्ग कटकर गिरे हुए घोड़ों के ढेर से अवरुद्ध हो जाता है। पर्वताकार आहत हाथियों के शरीर से नदी की जलधारा के सदृश रक्त सञ्चार से नद बहने लगता है जिससे युद्ध स्थल व्याप्त हो जाता है॥ २४॥

दे वा का नि नि का वा दे
वा हि का स्व स्व का हि वा।
का का रे भ भ रे का का
नि स्व भ व्य व्य भ स्व नि॥ २५॥ (सर्वतोभद्रः।)

देवेति॥ पुनश्च, देवानाकनयत्युद्दीपयत्युत्साहयतीति देवाकानी तस्मिन् देवा-कानिनि। 'कन दीप्तौ' इति धातोर्ण्यन्ताण्णिनिः। यद्वा,—कै शब्दे इति धातोराङ् पूर्वस्य भावे ल्युटि आकानम् आशब्दनमीषद्वदनमिति यावत्। देवानां तद्वतीत्यर्थः।

कावाद ईषद्वादो वाक्कलहः। 'ईषदर्थे' इति 'कु'शब्दस्य कादेशः। तद्वति कावादे। अर्शआदिभ्योऽच्। वाह्निका पर्यायेण रणभारोद्वहनम्। वहेः पर्याये धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्वक्तव्यः। वाहिकया क्रमप्रसारणक्रियया सुष्ठु शोभनं यथा तथाऽस्वकान् परानाजिहीतेऽभियुङ्क्ते। योजयतीति यावत्। वाहिकास्वस्वकाहास्तस्मिन्। योद्घृषर्मौ युद्ध उपचर्यते। 'ओहाङ् गतौ' इति धातोर्विच्प्रत्ययः। 'सोपमा'शब्दवत्प्रक्रिया। 'वा' शब्दश्चार्थे। कं मदोदकमाकिरन्तीति काकारा मदस्राविणः। किरतेराङ्पूर्वात्कर्मण्यण् एवंविधा इभसरा गजघटा यत्र तस्मिन् काकारेभसरे। काका इव काका गर्ह्या इति लक्षणया तेषामामन्त्रणम्। निस्वा निरुत्साहा भव्याः सोत्साहास्तानुभयान्व्ययन्ति संवृण्वन्तीति निस्वभव्यव्यया: 'व्येञ् संवरणे'। 'आतोऽनुपसर्गे कः'। तैर्दभस्ति भासत इति निस्वभव्यव्ययभस्वांस्तस्मिन्। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति क्वनिप्। सर्वतो भ्रमणात्सर्वतोभद्राख्यश्चित्रबन्धः। यथाह दण्डी — तदिदं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः' इति। उद्धारस्तु—चतुष्कोष्ठे चतुरङ्कदन्धक्रमेणाद्यपङ्क्तिचतुष्टये पादचतुष्टयं विलिख्यानन्तरपङ्क्तिचतुष्टयेऽप्यधः क्रमेण पादचतुष्टयलेखने प्रथमासु चतसृषु पङ्क्तिषु प्रथमः पादः सर्वतो वाच्यते, द्वितीयादिषु द्वितीय इत्यादि॥

रणस्थल देवताओं को भी प्रोत्साहित कर देता है। इसमें वाक्कलह बहुत थोड़ा-थोड़ा होता है। दूसरे लोग भी जी छोड़ कर इसमें कार्य करते हैं। मदस्रावी हाथियों की घटासे संग्रामस्थल व्याप्त रहता है। इसमें उत्साही निरुत्साही दोनों को जी जान से लड़ना पड़ता है (यह श्लोक शब्दचित्र है मल्लिनाथी टीका से सहायता लीजिये।)॥ २५॥

प्रनृत्तशवविभ्रस्ततुरगाक्षिप्तसारथौ।
मारुतापूर्णतूणीरविक्रुष्टहतसादिनि॥ २६॥

प्रनृत्तेति॥ प्रनृत्तशवेभ्यो नृत्यत्कबन्धेभ्यो वित्रस्तैः क्षुभितैस्तुरगैराक्षिप्ता अवधूताः सारथयो यत्र तस्मिन्। तथा मारुतेनापूर्णैर्व्याप्तैस्तूणीरैर्निषङ्गैर्विक्रुष्टाः शब्दायमाना हतास्ताडिताः सादिनस्तौरङ्गिका यत्र तस्मिन्। पाठान्तरे मारुतापूर्णतूणीरैर्विक्रुष्टा आकर्षिता अतएव हता मारिताः सादिनोऽश्ववारा यत्र तस्मिन्॥ २६॥

रणक्षेत्र में वीरों के शिर विच्छिन्न होने से धड़ तड़ फड़ाने लगते हैं जिसे देखकर घोड़े भयभीत होकर सवारों को फेंक देते हैं और वे उसी युद्धस्थल में पड़े हुए रहते हैं। रण भूमि में पड़े हुए वीरों के निषङ्ग जब हवा से पूर्ण हो जाते हैं तो उससे ध्वनि निकलती हैं उस ध्वनि से आकृष्ट होने पर आहत अश्वारोही भी वहीं पड़े हुए रहते हैं॥ २६॥

स स त्व र ति दे नि त्यं
स द रा म र्ष ना शि नि।
त्व रा धि क क सं ना दे
र म क त्व म क र्ष ति॥ २७॥ (अर्धभ्रमकः)

ससत्त्वेति ॥ ससत्त्वानां सत्त्ववतां रतिदे रागप्रदे नित्यं सदराणां सभयानाम-मर्पनाशिनि क्रोधहारिणि त्वरयोत्साहेन अधिकं कसन्तो विकसन्तो नादा यत्र तस्मिन् । रमयतीति रमकः । रमधातोर्वुञ् । तस्याकादेशः तद्भावो रमकत्वम् । रणकर्मणा पररञ्जकत्वम् । अकर्षत्यपनुदति । वीराणां परस्परमुत्साहं रणकर्मणा स्फोरयतीत्यर्थः ॥ २७ ॥

जिन वीरों में बल है उन्हें तो रणक्षेत्र आनन्द की सामग्री बन जाता है, परन्तु जो डरते हैं उनके क्रोधको वह शमन कर देता है उत्साह की अधिकता से 'धर धर; मार मार' की ध्वनि सर्वत्र रणाङ्गण को व्याप्त कर लेती है। सांग्रामिकी क्रिया से वीरों का उत्साह फड़फड़ाने लग जाता है ॥ २७ ॥

आसुरे लोकविन्नासविधायिनि महाहवे ।
युष्माभिरुन्नतिं नीतं निरस्तमिह पौरुषम् ॥ २८ ॥

आसुर इति ॥ एवंविधः आसुरेऽसुरसंबन्धिनि लोकविन्नासविधायिनि लोक-भयंकरे महाहवे महायुद्धे युष्माभिरुन्नतिं वृद्धिं नीतं प्रापितं पौरुषं पुरुषकर्म निरस्तं नाशितम् । इह सङ्ग्रामे । कुलकम् ॥ २८ ॥

विश्व को भयभीत करनेवाले असुरों के महायुद्ध में आपलोगोंने जिस पुरुषार्थ को प्राप्त किया था उसे इस समय खो दिया ॥ २८ ॥

इति शासति सेनान्यां गच्छतस्ताननेकधा ।
निषिध्य हसता किंचित्तस्थे तत्रान्धकारिणा ॥ २९ ॥

(नीरोष्ठ्यम्)

इतीति ॥ इति इत्थं सेनान्यां स्कन्दे शासत्याज्ञापयति । अनेकधा गच्छतः पलायमानांस्तान्गणान्निषिध्य निवार्य, अन्धकारिणा हरेण किंचिद्धसता तस्थे स्थितम् । भावे लिट् ॥ २९ ॥

उक्त प्रकार से स्कन्द के द्वारा आज्ञापित सेना को, जो इधर उधर (तितर बितर हो रही थी) डर से भागी जा रही थी, रोक कर अन्धकरिपु (शंकर) मन्द-मन्द मुसकराते हुए खड़े थे ॥ २९ ॥

मुनीषुदहनातप्तांल्लज्जया निविवृत्सतः ।
शिवः प्रह्लादयामास तान्निषेधहिमाम्बुना ॥ ३० ॥

मुनीति ॥ मुनेरिषव एव दहनस्तेनाऽऽतप्तान् पीडितांस्तथा लज्जया रणभङ्गा-च्छालीनत्वेन निविवृत्सतो निवर्तितुकामान् । 'वृद्भ्यः स्यसनोः' इति विकल्पात्पर-स्मैपदम् । तान् गणान् शिवो निषेधो मा भैष्ट मा पलायतेति निवारणवचनं स एव हिमाम्बु शीतोदकं तेन । प्रह्लादयामास । रूपकालंकारः ॥ ३० ॥

शंकर भगवान् तपस्वी (अर्जुन) के शराग्नि से सन्तप्त गणों को, जो सलज्जता के

कारण पुनः संग्राम के लिये लौटने का विचार कर रहे थे, 'मत डरो' 'मत भागो' इस प्रकार के निषेधवचन रूप शीतल जल से प्रहृष्ट कर दिया ॥ ३० ॥

दूनास्तेऽरिबलादूना निरेभा बहु मेनिरे।
भीताः शितशराभीताः शङ्करं तत्र शङ्करम् ॥ ३१ ॥

दूना इति ॥ दूनाः शरतप्ताः 'ल्वादिभ्यः' इति निष्ठानत्वम्। अरिबलात् शत्रुबलात्। ऊना ऊनबलाः। 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी। निरेभा निःशब्दाः। कुतः। भीतास्त्रस्ताः। कुतः। यतः शितैस्तीक्ष्णैः शरैरभीता अभिव्याप्ताः। इणः कर्मणि क्तः। ते गणास्तत्र रणे शङ्करमभयवचनेन सुखकरं शङ्करं शिवं बहु यथा तथा मेनिरेऽमन्यन्त ॥ ३१ ॥

(शर से) व्यथित, बल में विपक्षी से न्यून, डरे हुए, अतएव, मौन (चुपकी साधे हुए) शिव भगवान् के सैनिकों ने—जो तीक्ष्ण बाणों से विद्ध हो गये थे—अभय वचन से सुखी बनाने वाले शूली (शंकर) को बहुत कुछ समझा (अर्थात् सर्वस्व माना) ॥ ३१ ॥

महेषुजलधौ शत्रोर्वर्तमाना दुरुत्तरे।
प्राप्य पारमिवेशानमाशश्वास पताकिनी ॥ ३२ ॥

महेष्विति ॥ दुरुत्तरे दुस्तरे शत्रोः सम्बन्धिनि महेषुजलधौ महति बाणसागरे वर्तमाना पताकिनी सेना। ईशानं शिवं पारं परतीरमिव। 'पारावारे परार्वाची' इत्यमरः। प्राप्य, आशश्वास प्राणिति स्म ॥ ३२ ॥

शंकर भगवान् की सेना जो कि शत्रु के दुस्तर और महान् शर-समुद्र में पड़ी हुई थी अपर तीर के सदृश शिव को प्राप्त करके जी उठी ॥ ३२ ॥

स बभार रणापेतां चमूं पश्चादवस्थिताम्।
पुरःसूर्यादपावृत्तां छायामिव महातरुः ॥ ३३ ॥

स इति ॥ स शिवो रणापेतां रणादपवृत्तां पराङ्मुखीभूतामत एव पश्चात् पृष्ठभागेऽवस्थितां चमूं पुरोऽग्रे स्थितः सूर्यः पुरःसूर्यः। रणोपमानमेषः। तस्मात्, अपावृत्तां परावृत्तां छायां महातरुरिव बभार। छायां तरुरिवात्मैकशरणां तां चमूं न मुमोचेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार सूर्य के सम्मुख विशालवृक्ष परावृत्त अपनी छाया का परित्याग नहीं करता उसी प्रकार शिवजीने रण के लिये परावर्तित पृष्ठभाग की तरफ अवस्थित सेना को न छोड़ा।

मुञ्चतीशे शराञ्जिष्णौ पिनाकस्वनपूरितः।
दध्वान ध्वनयन्नाशाः स्फुटन्निव धराधरः ॥ ३४ ॥

मुञ्चतीति ॥ ईशे हरे कर्तरि जिष्णावर्जुने विषये शरान्मुञ्चति सति पिनाकस्य शिवकार्मुकस्य स्वनेन ध्वनिना पूरितो धराधर इन्द्रकीलः स्फुटन्निव विदीर्यमाण

इवेत्युत्प्रेक्षा । आशा दिशो ध्वनयन् शब्दयुक्ताः कुर्वन् दध्वान शब्दमकरोत् । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः ॥ ३४ ॥

शंकर के, अर्जुन पर बाणप्रक्षेप करने पर अजगव (धनुष) की टङ्कार से पूर्ण इन्द्रनील पर्वत ने मानो विदीर्ण होते हुए सम्पूर्ण दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए शब्द किया ॥३४॥

तद्गणा ददृशुर्भीमं चित्रसंस्था इवाचलाः ।
विस्मयेन तयोर्युद्धं चित्रसंस्था इवाचलाः ॥ ३५ ॥

(द्वितुर्थयमकम्)

तदिति ॥ भीमं तयोर्हरपाण्डवयोः । तत् प्रसिद्धं युद्धं गणाः प्रमथाश्चित्रसंस्थाश्चित्राकारा अचलाः शैला इव । तथा चित्र आलेख्ये संस्था स्थितिर्येषां ते चित्रसंस्थाश्चित्रलिखिता इव अचला आश्चर्यवशान्निश्चलाः सन्तो विस्मयेन ददृशुः ॥ ३५ ॥

प्रमथ गण, जो चित्राकार पहाड़ के सदृश थे, अर्जुन और शंकर के भीषण युद्ध को चित्रलिखित की तरह निश्चल होकर आश्चर्यपूर्वक देखने लगे ॥ ३५ ॥

परिमोहयमाणेन शिक्षालाघवलीलया ।
जैष्णवी विशिखश्रेणी परिजह्रे पिनाकिना ॥ ३६ ॥

परीति ॥ शिक्षालाघवलीलयाऽभ्यासपाटवातिशयेन हेतुना परिमोहयमाणेन व्यामोहयता । 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' इति परस्मैपदे प्राप्ते 'न पादमि'इत्यादिना तत्प्रतिषेधादात्मनेपदं शानच् । 'णेर्विभाषा' इति कृत्स्थस्य नस्य ... णत्वम् । पिनाकिना हरेण जिष्णोरर्जुनस्येयं जैष्णवी विशिखश्रेणी बाणसंघातः परिजह्रे निरस्ता ।

अभ्यासनैपुण्य की अतिशयिता के कारण मन्त्रमोहित करते हुए शंकर भगवान् ने अर्जुन की बाणराजि (शरसंहति) को काट डाला ॥ ३६ ॥

अवद्यन्पत्रिणः शंभोः सायकैरवसायकैः ।
पाण्डवः परिचक्राम शिक्षया रणशिक्षया ॥ ३७ ॥

(आद्यन्तयमकम्)

अवद्यन्निति ॥ पाण्डवोऽर्जुनः ! अवसायकैरवसानकरैः । स्यतेर्ण्यन्ताण्वुल्प्रत्ययः । सायकैर्बाणैः शंभोः पत्रिणः शरान् । अवद्यन् खण्डयन् । द्यतेः शतृप्रत्ययः । 'ओतः श्यनि' इत्योकारलोपः । शिक्षया शक्तुं प्रभवितुमिच्छया । उत्साहेनेत्यर्थः । रणे शिक्षयाऽभ्यासेन च परिचक्राम । उत्साहनैपुण्याभ्यां चचारेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अर्जुन अन्तकारी बाणों से शंकर भगवान् के बाणों को खण्डित करते हुए उत्साह और रणचातुरी से समरक्षेत्र में घूमने लगे ॥ ३७ ॥

चारचुञ्चुश्चिरारेची चञ्चच्चीररुचा रुचः ।
चचार रुचिरश्चारु चारैराचारचञ्चुरः ॥ ३८ ॥

(द्व्यक्षरः)

चारेति ॥ चारैर्गतिविशेषैर्वित्त इति चारचुञ्चुः । 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' इति चुञ्चुप्प्रत्ययः । चिरमारेचयति रिक्तीकरोति शत्रूनिति चिरारेची । चञ्चतश्चलतश्चीरस्य वल्कलस्य रुचा प्रभया । रोचत इति रुचः शोभमानः । 'इगुपध–' इति कः । चाचिरः । सुन्दरः । चञ्चूर्यते भृशं चरतीति चञ्चुरः । चरतेर्यङन्तात्पचाद्यच् । 'चरफलोश्च' इति नुमागमः । 'यङोऽचि च' इति यङो लुक् । आचारस्य युद्धव्यवहारस्य चञ्चुरो भृशमाचरितः स मुनिश्चारु यथा तथा चारैश्चक्रादिबन्धैर्गतिविशेषैः । चचार । 'चार प्रियालवृक्षे स्याद् गतौ बन्धापसर्पयोः' इति विश्वः ॥ ३८ ॥

चारचुञ्चु अर्थात् गति विशेष से युक्त, चिरारेची अर्थात् अधिक समय में शत्रुको रिक्त करने वाले, चञ्चचीररुचारुचः अर्थात् फहराते हुए भूर्जपत्र की कान्ति से शोभित होते हुए, चारु अर्थात् सुन्दर आचारचञ्चुर अर्थात् युद्ध के पूरे अभ्यासी अर्जुन चक्रबन्धादि अनेक रणकौशिकी गति से समराङ्गण में परिभ्रमण करने लगे ॥ ३८ ॥

स्फुरत्पिशङ्गमौर्वीकं धुनानः स बृहद्धनुः ।
धृतोल्कानलयोगेन तुल्यमंशुमता बभौ ॥ ३९ ॥

स्फुरदिति ॥ स मुनिरर्जुनः स्फुरन्ती पिशङ्गी पिशङ्गवर्णा मौर्वीज्या यस्य तत्तथोक्तम् । 'नद्यृतश्च' इति कप्प्रत्ययः । बृहद्धनुर्गाण्डीवं धुनानः कम्पयन् । उल्कैवानलस्तेन धृतो योगो येन तेन । अंशुमताऽर्केण सूर्येण तुल्यं बभौ । उपमा ॥ ३९ ॥

अर्जुन उस बृहत् (विशाल) गाण्डीव धनुष को—जिसकी प्रत्यञ्चा कपिश वर्ण की थी—कम्पित करते हुए उल्का रूप अग्नि से संयुक्त सूर्य के समान सुशोभित होने लगे ॥ ३९ ॥

पार्थबाणाः पशुपतेरावव्रुर्विशिखावलीम् ।
पयोमुच इवारन्ध्राः सावित्रीमंशुसंहतिम् ॥ ४० ॥

पार्थेन । पार्थबाणा अर्जुनशराः पशुपतेर्विशिखावलीं शरसंघातम् । सवितुरियं सावित्री ताम् । अंशुसंहतिं किरणसमूहम् । अरन्ध्रा निबिडाः पयोमुचो मेघा इव । आवव्रुस्तिरोदधुः ॥ ४० ॥

अर्जुन के बाण ने चन्द्रशेखर (शंकर) प्रेरित शर संहति को इस प्रकार आच्छादित कर लिया जिस प्रकार सूर्य के किरणपुञ्जों को घने-घने बादल आच्छादित कर लेते हैं ॥ ४० ॥

शरवृष्टिं विधूयोर्वीमुदस्तां सव्यसाचिना ।
रुरोध मार्गणैर्मार्गं तपनस्य त्रिलोचनः ॥ ४१ ॥

शरेति ॥ त्रिलोचनः शिवः । सव्येन सचते समवैतीति तेन सव्यसाचिनाऽर्जुनेन । उदस्तां क्षिप्तामुर्वीं महतीं शरवृष्टिं मार्गणैः शरैर्विधूय निरस्य तपनस्य रवेर्मार्गं रुरोधावव्रे ॥ ४१ ॥

शंकर भगवान् ने पार्थ के द्वारा प्रक्षिप्त प्रचुर शर वर्षण को निरस्त करके अपने शरों से सूर्य भगवान् के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया ॥ ४१ ॥

तेन व्यातेनिरे भीमा भीमार्जनफलाननाः ।
न नानुकम्प्य विशिखाः शिखाधरजवाससः ॥ ४२ ॥
(शृङ्खलायमकम्)

तेनेति ॥ तेन शिवेन भीमा भयंकरास्तथा भियो भयस्य मार्जनं निरासस्तदेव फलं प्रयोजनं येषां तान्याननान्यग्राणि येषां ते भीमार्जनफलाननाः । तथा शिखाधरा मयूरास्तेषु जातानि शिखाधरजानि बर्हाणि तानि वासांसीव पक्षा येषां ते शिखाधरजानि मयूरपक्षिण इत्यर्थः । विशिखा बाणा अनुकम्प्य कृपां कृत्वा न व्यातेनिर इति न । किं त्वनुकम्प्यैवेत्यर्थः । अनुजिघृक्षुत्वादिति भावः । संभाव्यनिषेधने द्वौ प्रतिषेधावित्युक्तम् ॥ ४२ ॥

शंकर भगवान् के द्वारा त्रासजनक बाण, जिनके अग्रभाग भय के दूर करने में सफल थे, तथा शिखी (मयूर) से उत्पन्न बर्ह (पिच्छ) उनके लिये वस्त्र रूप थे, दया का परित्याग करके ही चारों तरफ व्याप्त हो गये ऐसा नहीं किन्तु दया से युक्त ही थे ॥ ४२ ॥

द्युवियद्गामिनी तारसंरावविहतश्रुतिः ।
हैमीषुमाला शुशुभे विद्युतामिव संहतिः ॥ ४३ ॥
(गूढचतुर्थपादः)

द्युवियदिति ॥ द्यां स्वर्गं वियदन्तरिक्षं च गामिनी व्यापिनी द्युवियद्गामिनी । द्वितीयाप्रकरणे श्रितादिषु गम्यादीनामुपसंख्यानात्समासः । तारेणोच्चैस्तरेण संरावेण नादेन विहता विद्धाः श्रुतयः कर्णा यया सा तथोक्ता । हैमी हेममयी इषुमाला शिवशरावलिर्विद्युतां संहतिरिवोक्तविशेषणा विद्युन्मालेव । शुशुभे चतुर्थपादवर्णानां त्रिपाद्यां संभवाद् गूढचतुर्थपादमाहुः ॥ ४३ ॥

शंकर भगवान् के द्वारा प्रक्षिप्त सुवर्णमयी बाणसंहति, जो कि सान्तराल आकाशपथ में सञ्चरण कर रही थी, अपने उच्चस्वर से कर्ण कुहरस्थ आवरण को भेदन करती हुई (कान के पर्दे को फाड़ डालती हुई) बिजली के समूह के सदृश देदीप्यमान होने लगी ॥ ४३ ॥

विलङ्घ्य पत्रिणां पङ्क्तिं भिन्नः शिवशिलीमुखैः ।
ज्यायो वीर्यमुपाश्रित्य न चकम्पे कपिध्वजः ॥ ४४ ॥

विलङ्घ्येति ॥ शिवशिलीमुखः पत्रिणां पङ्क्तिं निजशरावलिं विलङ्घ्यातिक्रम्य भिन्नो विद्धः कपिध्वजोऽर्जुनो ज्यायः प्रशस्तम् । 'वृद्धप्रशस्ययोर्ज्यायान्' इत्यमरः । वीर्यं सत्त्वम् । उपाश्रित्यावस्थाय न चकम्पे न चचाल । किन्तु तान्सहन्नवतस्थावित्यर्थः ॥ ४४ ॥

शंकर भगवान् के बाणों ने अर्जुन के बाण जाल को जीतकर (काटकर) उन्हें विद्ध कर दिया । फिर वे कपिध्वज (अर्जुन) उत्कृष्ट पराक्रम का आधार ले रणभूमि से विचलित न हुए (किन्तु उन्हें सहन करते रहे) ॥ ४४ ॥

जगतीशरणे युक्तो हरिकान्तः सुधासितः ।
दानवर्षी कृताशंसो नागराज इवाबभौ ॥ ४५ ॥

(अर्थत्रयवाची)

जगतीति ॥ अर्थत्रयवाची श्लोकोऽयम् । तत्रादौ अगराज इति पदच्छेदमाश्रित्य प्रथमोऽर्थोऽभिधीयते(१) ईशस्य रणे युक्तः शक्तः । अन्यत्र, जगतीशरणे भूरक्षणे युक्तः स्थितः । विधिनेति शेषः । हरिः सिंह इव कान्तो मनोहरः । अन्यत्र, हरिणां सिंहानां कान्त आवासदानात्प्रियः । सुष्ठु दधाति पालयति प्रजा इति सुधाः । क्विबन्तः । असितः कृष्णवर्णः । ततो विशेषणसमासः । अन्यत्र,–सुधालेपद्रव्यविशेषस्तद्वत् सितो धवलः । दानवर्षी बहुप्रदः कृताशंसः कृतजयाभिलाषः । अन्यत्र, दानवैर्दैत्यैर्ऋषिभिः इना कामेन न च कृताशंसा नानाफलाभिलाषो यस्मिन्स ना नरोऽर्जुन । अगराजो हिमवानिव जगत्यावभावित्येकोऽर्थः ॥ (२) अथ ऐरावतसाम्यमुच्यते—जगतीं भुवं श्यन्ति तनुकुर्वन्तीति ते जगतीशा राक्षसास्तेषां रणस्तत्र युक्तो विहितसमर्थः । हरिकान्त इन्द्रप्रियः । उभयत्रापि समानमेतद् । सुधासितोऽमृतः स्वच्छः । एकत्र,–शीलतः, अन्यत्र,-वर्णत इति विवेकः । दानवर्षी धनप्रदो मदस्रावी च । कृताशंस उभयत्र कृतजिगीषः । पार्थो नागराज इव ऐरावत इव । आबभाविति द्वितीयोऽर्थः । (३) ॥ अथ शेषौपम्यमुच्यते–जगतीशरणे भूरक्षणे युक्तो नियुक्तः । देवेनेति शेषः । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । हरिकान्तः कृष्णप्रियः । उभयत्रापि तुल्यम् । सुष्ठु दधातीति सुधा । वसुधेति केचित् । एकदेशग्रहणात् समुदायग्रहणम् । तत्र सितो बद्धः । 'षिञ् बन्धने' क्तः । अन्यत्र,–सुधयाऽमृतेन सितो बद्धः । अमृतप्रिय इत्यर्थः । दानवाश्च ऋषयश्च (ईर्लक्ष्मीश्च ताभिः) तैः कृताशंसो विहितप्रशंसः । उभयत्रापि तुल्यमेतद् । सोऽर्जुनो नागराजः शेष इवाबभाविति तृतीयोऽर्थः ॥ ४५ ॥

इस श्लोक में तीन प्रकार के अर्थ भासित होते हैं। उनका क्रमशः उल्लेख किया जाता है :—

(१) अगराजपक्षीया योजना—जगतीशरणे युक्तः हरिकान्तः सुधासितः दानवर्षी कृताशंसः ना अगराज इव आबभौ ॥

जगति = इस संसारमें, ईशरणे = शंकर भगवान् के रण में, युक्तः = समर्थ, हरिकान्तः = सिंह के सदृश मनोहर, सुधासितः = प्रजा का पालक कृष्ण वर्ण, दानवर्षी = प्रचुर परिमाण में दान का दाता, कृताशंसः = जय की अभिलाषा रखते हुये, ना = पुरुष (अर्जुन) इन्हीं सब विशेषणों से युक्त अगराज = शैलों के राजा हिमालय की तरह, जो जगतीशरणे युक्तः = पृथ्वी की रक्षा करने के लिये ब्रह्मा के द्वारा निर्मित (पहाड़ों के कारण पृथ्वी जगह-जगह में रुकी हुई है ऐसा विद्वानों का सिद्धान्त है), सिंहों को आवासस्थान प्रदान करने से

प्रिय हैं, सुधा एक तरह का लेपद्रव्य (चूना) है उसके समान धवल वर्ण है, अनेक प्रकारके रत्नों का प्रदाता है, और जिससे दैत्य और ऋषि लोग अनेक फल प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं, सुशोभित हुये।

(२) नागराजपक्षीया योजना—पूर्वोक्तविशेषणविशिष्ट नागराजः = ऐरावत इव आबभौ जगतीं = पृथ्वीको, श्यन्ति = सूक्ष्म करे, इति जगतीशास्तेषां रणे युक्तः अर्थात् राक्षसों के संग्राम में समर्थ, दोनों पक्षमें यही अर्थ हैं, हरिकान्तः = इन्द्रका प्रिय (अर्जुन और ऐरावत दोनों हैं) सुधासितः = अमृत के समान स्वच्छ, अर्जुन पक्ष में शील के कारण स्वच्छ और ऐरावत पक्ष में वर्ण स्वच्छ (शुभ्र) दानवर्षी = धन प्रदाता और ऐरावत पक्ष में मदस्रावी, कृताशंसः = दोनों पक्ष में विजयेच्छुक हैं, पार्थ नागराज = ऐरावतकी तरह सुशोभित हुये॥

(३) तृतीयपक्षीया योजना—उक्तविशेषणसम्पन्नः सः अर्जुनः नागराज इव शेषनाग इव आबभौ॥

जगतीशरणे = पृथ्वी की रक्षा करने में, युक्तः = नियुक्त, हरिकान्तः = श्री कृष्णप्रिय, नामैकदेशग्रहणे नाममात्रस्य ग्रहणं इस परिभाषा से सुधासितः = दैत्य, ऋषि और ई = लक्ष्मी के द्वारा प्रशंसित वह अर्जुन नागराज अहिराज (शेष) के समान सुशोभित हुआ॥ ४५॥

त्रिफलीकृतयत्नस्य क्षतबाणस्य शंभुना।
गाण्डीवधन्वनः खेभ्यो निश्चक्राम हुताशनः॥ ४६॥

विफलीति॥ शंभुना क्षतबाणस्य अत एव विफलीकृतयत्नस्य निष्फलप्रयत्नस्य गाण्डीवं धनुर्यस्य तस्य गाण्डीवधन्वनोऽर्जुनस्य। 'वा संज्ञायाम्' इत्यनङादेशः। खेभ्य इन्द्रियरन्ध्रेभ्यः। 'खमिन्द्रिये सुखे स्वर्गे' इति विश्वः, हुताशनोऽग्निः। निश्चक्राम निष्क्रान्तः। क्रोधादिति भावः॥ ४६॥

त्रिशूलधारी (शङ्कर) के द्वारा बाणों के क्षत हो जाने पर सम्पूर्ण विफल प्रयास वाले गाण्डीवधारी अर्जुन की इन्द्रियों से अग्नि की ज्वाला निकल पड़ी॥ ४६॥

स पिशङ्गजटावलिः किरन्नुरु तेजः परमेण मन्युना।
ज्वलितौषधिजातवेदसा हिमशैलेन समं विदिद्युते॥ ४७॥

स इति॥ पिशङ्गजटावलिः पिशङ्गजटाजूटः परमेणोत्कृष्टेन मन्युना क्रोधेन। उरु महत्तेजः किरन् विक्षिपन् सोऽर्जुनो ज्वलिता ओषधयस्तृणज्योतींषि जातवेदा दवाग्निश्च यस्मिंस्तेन हिमशैलेन समं तुल्यं हिमाद्रिरिव विदिद्युते हिमाद्रिवच्छुशुभ इति बिम्बप्रतिबिम्बभावोपमा॥ ४७॥

कपिश वर्ण जटाजूटधारी अर्जुन उत्कृष्ट क्रोध के द्वारा अपने महान् तेज को बिखराते हुए हिमालय के सदृश, जो अहर्निश जाज्वल्यमान ओषधियों तथा दावाग्नि से व्याप्त रहता है, शोभित होने लगे॥ ४७॥

शतशो विशिखानवद्यते भृशमस्मै रणवेगशालिने ।
प्रथयन्ननिवार्यवीर्यतां प्रजिघायेषुमघातुकं शिवः ॥ ४८ ॥

शतश इति ॥ शिवः शतशो विशिखानवद्यते खण्डयते रणवेगशालिने रणसंरम्भशोभिनेऽस्मै पार्थाय भृशमत्यर्थम् । अनिवार्यवीर्यताम् । निजामिति शेषः । तस्मै प्रथयन् दर्शयन् । किं तु अघातुकमभारकम् । 'लष पत'—इत्यादिना हन्तेरुकञ् । इषुम् । जातावेकवचनम् । प्रजिघाय प्रयुयुजे । 'हि गतौ' इति धातोर्लिट् । 'हेरचङि' इति कुत्वम् ॥ ४८ ॥

भगवान् शूली ने सैकड़ों शरों को खण्डित करते हुए संग्राम के वेग से सुशोभित उस अर्जुन को अपने अनतिक्रमणीय पराक्रम का आभास दिखलाते हुए उन बाणों से, जो घातक नहीं थे, प्रहार किया ॥ ४८ ॥

शम्भोर्धनुर्मण्डलतः प्रवृत्तं तं मण्डलादंशुमिवांशुभर्तुः ।
निवारयिष्यन्विदधे सिताश्वः शिलीमुखच्छायवृतां धरित्रीम् ॥ ४९ ॥

शम्भोरिति ॥ सिताश्वोऽर्जुनः शंभोर्धनुर्मण्डलतो धनुर्वलयात् प्रवृत्तं निष्क्रान्तं तमिषुम् । अंशुभर्तुरर्कस्य मण्डलात् प्रवृत्तं अंशुमिव । अत्रापीषुवज्जातावेकवचनम् । निवारयिष्यन् निवारयितुकामः । क्रियार्थक्रियायां लृटि तस्य शत्रादेशः । धरित्रीं भुवं शिलीमुखानां छाया शिलीमुखच्छायम् । 'छाया बाहुल्ये' इति नपुंसकत्वम् । तेन वृतां व्याप्तां विदधे कृतवान् । शरजालच्छायावृता धरित्रीमकरोदित्यर्थः । उपमालंकारः ॥ ४९ ॥

शुभ्रतुरङ्गमवाहन (अर्जुन) ने शंकर के धनुष (अजगव) मण्डल से निस्सृत बाण से, जो कि सूर्यमण्डल से निस्सृत किरण के सदृश था, रक्षा के लिये बाणों की छाया से पृथ्वी को ढँक लिया । ४९ ॥

घनं विदार्यार्जुनबाणपूगं ससारबाणोऽयुगलोचनस्य ।
घनं विदार्यार्जुनबाणपूगं ससार बाणोऽयुगलोचनस्य ॥ ५० ॥

घनमिति ॥ अयुगलोचनस्य विषमनेत्रस्यालोचनस्य । लोच्यतेऽसौ लोचनः । कर्मणि ल्युट् । न लोचनोऽलोचनस्तस्य अलोचनस्याचाक्षुषज्ञानविषयस्य संबन्धी सारो बलं बाणः शब्दस्ताभ्यां सारबाणाभ्यां स्थिरशब्दाभ्यां सह वर्तत इति ससारबाणः । बवयोरभेद इत्युक्तम् । न युज्यते कुत्रापीत्ययुक् सङ्गरहितः । क्विप् । बाणः शरः । जातावेकवचनम् । घनं सान्द्रम् अर्जुनस्य बाणपूगं शरव्रातं विदार्य विभिद्य घनं निविडं विदार्या भूमिकूष्माण्डयो लताविशेषा अर्जुनाः ककुभवृक्षा बाणा नीलसैरेयकाः पूगाः क्रमुकास्तेषाम् । 'विभाषा वृक्ष—' इत्यादिना द्वन्द्वैकवद्भावः । विदार्यार्जुनबाणपूगं ससार । विवेशेत्यर्थः । 'सृ गतौ' । यद्वा,—तदानीमेव युगलोचनस्यार्जुनस्य ससारेत्यर्थः ॥ ५० ॥

अचाक्षुप ज्ञानविषय अर्थात् ज्ञानगम्य त्रिलोचन भगवान् शंकर का बाण, जो कि सारपूर्ण था और सरसराहट की ध्वनि कर रहा था, अर्जुन के असंख्य बाणसंहिति को काटकर बिना कहीं रुके हुए अर्जुननामिका लता, झिण्टी और पूगीफल के घने कुञ्जों को विदीर्ण करते हुये उसी में प्रविष्ट कर गया अथवा उसी समय युगलोचन अर्जुन का बाण भी चला ।।

इस श्लोक में प्रथम और द्वितीय के समान तृतीय और चतुर्थ चरण हैं परन्तु श्लेषपूर्ण हैं मल्लीनाथ की टीका पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता हैं ।। ५० ।।

रुजन्महेषून्बहुधाशुपातिनो मुहुः शरौघैरपवारयन्दिशः ।
चलाचलोऽनेक इव क्रियावशान्महर्षिसंघैर्बुबुधे धनञ्जयः ।। ५१ ।।

रुजन्नित्यादि ।। बहुधाशुपातिनः शीघ्रमापततो महेषून् मुहुः शरौघै रुजन् भञ्जयन् । तथा दिशश्चापवारयन्नाच्छादयन् । क्रियावशाद् युद्धकर्मायत्ततया । चलाचलोऽतिचञ्चलो धनंजयोऽर्जुनो महर्षिसंघैरनेको बहुविध इव बुबुधे ददृशे ।। ५१ ।।

अनेक प्रकार से पतनशील शिव के बाणों को व्यर्थ करते हुए बार-बार बाण पुञ्जों से दिशाओं को आवृत करते हुए युद्ध की गति के कारण अत्यन्त चञ्चल अर्जुन महर्षियों के द्वारा अनेक रूप में देखे गये ।। ५१ ।।

विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः ।
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः ।। ५२ ।।
(महायमकम् ।)

विकाशमिति ।। जगतीशस्य पृथिवीपतेरर्जुनस्य मार्गणा बाणा विकाशं प्रसारम् ईयुः । तथा, जगति लोक ईशमार्गणाः शंभुशरा विकाशं विषमगतिम् । ईयुः । भङ्गमीयुरित्यर्थः । तथा जगतीं श्यन्ति तनूकुर्वन्तीति जगतीशा दानवाः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' । तान्मारयन्तीति जगतीशमारः । म्रियतेर्ण्यन्तात्क्विप् । ते च ते गणाः प्रमथाः जगतीशमार्गणा विकाशमुल्लासं हर्षञ्च । ईयुः । प्रापुरित्यर्थः । अहो देवेऽप्यस्य पराक्रमप्रसर इति विस्मयादिति भावः । तदानीं मार्गयन्तीति मार्गणा अन्वेषकाः । कर्तरि ल्युट् । जगतीशस्य त्रैलोक्यनाथस्य मार्गणा अन्वेषकाः शिवद्रष्टारो देवर्ष्यादयो वीनां पक्षिणां काशो गतिरत्रेति विकाशमाकाशम् । ईयुः । दिदृक्षयेति भावः ।। ५२ ।।

जगतीश=पृथ्वी के स्वामी अर्जुन के, मार्गणाः—बाण, विकाशं=विस्तारको, ईयुः=प्राप्त हुए अर्थात् अर्जुन के बाण चारों तरफ फैल गये । जगति=लोक में, ईशस्य=शंकरके, मार्गणाः शर, विकाश=विषम गति को प्राप्त हो गये अर्थात् खण्डित हो गये । जगतीं पृथ्वीं श्यन्ति तनूकुर्वन्ति इति जगतीशाः दानवाः अर्थात् पृथ्वीको जो सूक्ष्म करे अर्थात् दानव लोग । तान् मारयन्ति जगतीशमार अर्थात् दानवों का नाश करनेवाले ते च ते गणाः पूर्वोक्त विशेषण युक्त जो प्रमथगण विकाशं=उल्लासको ईयुः=प्राप्त हुए अर्थात् आश्चर्य में पड़ गये । मार्गयन्ति इति मार्गणाः—अन्वेषणकारी जगतीशस्य=त्रिभुवनपति शिव के

अन्वेषक, विकाशं=वीनां पक्षियोंकी काशं=गतिको अर्थात् आकाशमें प्राप्त हुए। शंकर भगवान्को देखने के लिये उनके भक्त लोग आकाशमें उपस्थित हुए।

अर्जुनके असंख्य बाण सर्वत्र व्याप्त हो गये जिससे शंकर भगवान्के बाण खण्डित कर दिये गये इस प्रकारके अर्जुनके रण कौशलको देख दानवापहारी शंकरके गण आश्चर्यमें पड़ गये—मनुष्यमें यह अलौकिक सामर्थ्य है। शंकार भगवान् और तपस्वी अर्जुन के युद्ध को देखनेके लिये शंकरके भक्तलोग आकाशमें आ पहुँचे॥ ५२॥

संपश्यतामिति शिवेन वितायमानं लक्ष्मीवतः क्षितिपतेस्तनयस्य वीर्यम्।
अङ्गान्यभिन्नमपि तत्वविदां मुनीनां रोमाञ्चमञ्चिततरं बिभरांबभूवुः॥५३॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये पञ्चदशः सर्गः।

संपश्यतामिति॥ इति इत्थं शिवेन वितायमानं विस्तार्यमाणम्। 'तनोतेर्यकि' इति वैकल्पिक आकारादेशः। लक्ष्मीवतो जयश्रीमतः। 'मादुपधाया–' इत्यादिना मतुपो मस्य वकारः। क्षितिपतेस्तनयस्यार्जुनस्य वीर्यं शौर्यं संपश्यतां तत्त्वविदामपि हरेरंशावतारोऽयमिति विदुषामपि। किमुतान्येषामिति भावः। मुनीनामङ्गानि गात्राणि। अभिन्नमविरलम्। अञ्चिततरमतिरुचिरतर रोमाञ्चं रोमहर्षं विभरांबभूवुर्बभ्रुः। 'भीह्री–' इत्यादिना विकल्पादाम्प्रत्ययः॥ ५३॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां पञ्चदशः सर्गः समाप्तः।

जयश्री सम्पन्न धराधिपकुमार (अर्जुन) के पराक्रम को, जो कि शंकर भगवान्के द्वारा विस्तृत हो रहा था, देखते हुए 'यह अर्जुन विष्णुके अंश है' इस रहस्यके ज्ञाता तपस्वियोंके अङ्ग अविरल और अत्यन्त रम्य रोमाञ्च (रोमहर्ष) को धारण करने लगे अर्थात् वे लोग रोमाञ्चित हो उठे॥ ५३॥

पञ्चदश सर्ग समाप्त

षोडशः सर्गः

ततः किराताधिपतेरलघ्वीमाजिक्रियां वीक्ष्य विवृद्धमन्युः।
स तर्कयामास विविक्ततर्कश्चिरं विचिन्वन्निति कारणानि॥ १॥

तत इति॥ ततोऽनन्तरं किराताधिपतेः संबन्धिनीम्। अलघ्वीं गुर्वीम्। आजिक्रियां रणकर्म वीक्ष्य विवृद्धमन्युर्विवृद्धकोपो विविक्तो निष्कलङ्कस्तर्क ऊहो ज्ञानं वा यस्य सोऽर्जुनः कारणानि रणभराशक्तिकारणानि विचिन्वन् विमृशन्। इति इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण तर्कयामासाभ्यूहितवान्॥ १॥

अनन्तर किराताधीश (शंकर भगवान्) की महती रणचातुरीको देख अर्जुनका क्रोधानल भड़क उठा। विशुद्धानुमानकारी अर्जुन बहुत देरतक कारणोंका विचार करते हुए तर्क-वितर्क करने लगे ॥ १ ॥

अथ त्रयोविंशतिश्लोकैर्वितर्कमेवाह—

मदस्रुतिश्यामितगण्डलेखाः क्रामन्ति विक्रान्तनराधिरूढाः।
सहिष्णवो नेह युधामभिज्ञा नागा नगोच्छ्रायमिवाक्षिपन्त ॥ २ ॥

मदेत्यादि ॥ इहास्मिन्युद्धे मदस्रुतिभिर्मदप्रवाहैः श्यामाः कृता इति श्यामिता गण्डलेखाः कपोलभागा येषां ते विक्रान्ताः पराक्रमं कुर्वन्तः। कर्तरि क्तः। 'शूरो वीरश्च विक्रान्तः' इत्यमरः। तैर्नरैरधिरूढाः सहिष्णवो रणभरक्षमा युधां युद्धानामभिज्ञाः। शिक्षिता इत्यर्थः। कृद्योगात्कर्मणि षष्ठी। किंच, नगानामुच्छ्रायं पर्वतानामौन्नत्यम्। घञन्तेनोपसर्गस्य समासो नोपसृष्टाद्घञ्प्रत्ययः। 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' इत्यत्रानुपसर्ग इति निषेधात्। आक्षिपन्तः प्रतिषेधयन्त इव स्थिताः। तथोन्नता इत्यर्थः। नागा गजा इह सङ्ग्रामे न क्रामन्ति न चरन्ति। यथा युद्धान्तरेष्विति शेषः। एवमुत्तरत्रापि सर्वत्र द्रष्टव्यम्। तथापि कथं मे शक्तिह्रासोऽयमिति सर्वत्र तात्पर्यार्थः ॥ २ ॥

इस रणक्षेत्रमें संग्रामके भारको सहन करनेमें समर्थ, युद्धार्थ शिक्षित किये गये और पर्वतकी ऊँचाईका भी तिरस्कार करनेवाले हाथी जिनके कपोल मदक्षरणसे काले पड़ गये हैं तथा जिनपर पराक्रमी शूरवीर अवस्थित हैं, नहीं विचरते हैं जैसा अन्य संग्राम-क्षेत्रमें विचर रहे थे। फिर भी समझ में नहीं आता कि मेरी शक्तिका आज इतना ह्रास क्यों हो गया है ॥ २ ॥

विचित्रया चित्रयतेव भिन्नां रुचं रवेः केतनरत्नभासा।
महारथौघेन न संनिरुद्धा पयोदमन्द्रध्वनिना धरित्री ॥ ३ ॥

विचित्रेति ॥ विचित्रया नानावर्णया केतनानां रत्नानि तेषां भासा प्रभया भिन्नां संवलितां रवे रुचं कान्ति चित्रयता विचित्रवर्णां कुर्वता इव स्थितेनेति केतनौन्नत्य-निमित्तेयमुत्प्रेक्षा। पयोदमन्द्रध्वनिना मेघगम्भीरघोषेण महतां रथानामोघेन समूहेन धरित्री न सन्निरुद्धा नावृता ॥ ३ ॥

जैसा कि और युद्ध में होता था वैसा यह रणभूमि, जलदके सदृश गम्भीर निर्घोषकारी बड़े-बड़े रथों के समूहसे, जो पताकाओं में जटित विविध रत्नों की किरणों से मिश्रित होनेके कारण सूर्यकी किरणोंको चित्र-विचित्र वर्णका बना देते हैं, आच्छन्न भी नहीं है ॥ ३ ॥

समुल्लसत्प्रासमहोर्मिमालं परिस्फुरच्चामरफेनपङ्क्ति।
विभिन्नमर्यादमिहातनोति नाश्वीयमाशा जलधेरिवाम्भः ॥ ४ ॥

समुल्लसदिति ॥ इह युद्धे प्रासाः कुन्ताः। 'प्रासस्तु कुन्तः' इत्यमरः। ते महोर्मय इव तेषां मालाः समुल्लसन्त्यो यत्र तत् समुल्लसत्प्रासमहोर्मिमालम्। चामराणि

फेना इव चामरफेनास्तेषां पङ्क्तयः परिस्फुरन्त्यश्चामरफेनानां पङ्क्तयो यत्र तत्तथोक्तम् । अश्वीयमश्वसमूहः । 'वृन्दे त्वश्वीयमाश्ववत्' इत्यमरः । जलधेरम्भ इव विभिन्नमर्यादमुन्मर्यादमुच्छृङ्खलं यथा तथा, आशा दिशो नातनोति नावृणोति ॥ ४ ॥

चमचमाते हुये भाले उत्तुङ्ग तरङ्गके सदृश और स्फुरण करते हुए चमर फेनराशिके सदृश हैं। इनसे युक्त अश्वों के समूह, जो समुद्रीय जल के सदृश हैं, इस संग्राम में क्षुब्ध होकर उच्छृङ्खलतापूर्वक दिशाओं को क्यों नहीं व्याप्त करते हैं ? ॥ ४ ॥

हताहतेत्युद्धतभीष्मघोषैः समुज्झिता योद्धृभिरभ्यमित्रम् ।
न हेतयः प्राप्ततडित्त्विषः खे विवस्वदंशुज्वलिताः पतन्ति ॥ ५ ॥

हतेति ॥ हत प्रहरत । आहत विध्यत । हन्तेर्लोट् । मध्यमपुरुषबहुवचनम् । 'अनुदात्तोपदेश—' इत्यादिनाऽनुनासिकलोपः । आहतेत्यत्र कर्मणः प्रयोगासंभवेऽपि हन्तेः स्वाभाविकसकर्मकत्वस्यानपायात् । अकर्मकत्वस्य चात्राविवक्षितत्वेन कर्मनिवृत्त्यैव तन्निवृत्तेः 'आङो यमहनः' इति नात्मनेपदम् । इत्येवमुद्धताः प्रगल्भा भीमाश्च घोषा येषां तैः । योद्धृभिर्योधैः । अभ्यमित्रममित्रानभि समुज्झिता मुक्ता विवस्वतोंऽशुभिः । प्रतिफलितैरिति भावः । ज्वलिता दीपिता अत एव प्राप्तस्तडितां त्विष इव त्विषो याभिस्ता हेतयः शस्त्राणि । खे न पतन्ति । समुल्लसन्तो न दृश्यन्त इत्यर्थः । 'हेतिः स्यादायुधे' इति विश्व. ॥ ५ ॥

इस रणभूमिमें 'मारो ! काटो !! इस प्रकारके तुमुलरवकारी योद्धाओंके द्वारा शत्रुओं पर प्रक्षिप्त अस्त्र आकाशमें सूर्य्यकी किरणों से उद्दीप्त हो विद्युल्लता की कान्ति धारण करते हुये अब नहीं गिर रहे हैं (अन्य रणक्षेत्र नें ऐसा होता था) परन्तु नहीं कहा जा सकता कि इस निर्बलताका क्या कारण है ? ॥ ५ ॥

अभ्यायतः संततधूमधूम्रं व्यापि प्रभाजालमिवान्तकस्य ।
रजः प्रतूर्णाश्वरथाङ्गनुन्नं तनोति न व्योमनि मातरिश्वा ॥ ६ ॥

अभीति ॥ अभ्यायतो वीरान्हन्तुमभ्यागच्छतः । इणः शतृप्रत्ययः । अन्तकस्य कालस्य संबन्धि संततं सततं धूमवद्धूम्रं व्यापि व्यापकं प्रभाजालमिव स्थितं प्रतूर्णैः वेगवद्भिरश्वै रथाङ्गै रथचक्रैश्च नुन्नं प्रेरितं रजो मातरिश्वा मरुत् । व्योमन्यन्तरिक्षे न तनोति न विस्तारयति ॥ ६ ॥

यह पवन वीरों का वध करनेके लिये समागत यमराजके प्रभापुञ्जके सदृश सर्वदा धूम के सदृश धूम्रवर्णकी, वेगशाली घोड़ों और रथके पहियोंके द्वारा संचूर्णित सर्वत्रव्यापिनी धूल को आकाश में फैला नहीं रहा है (जैसा अन्य लड़ाइयों में होता था । फिर क्या कारण है कि मेरी शक्ति क्रमशः क्षीण होती जा रही है ?) ॥ ६ ॥

भूरेणुना रासभधूसरेण तिरोहिते वर्त्मनि लोचनानाम् ।
नास्त्यत्र तेजस्विभिरुत्सुकानामह्नि प्रदोषः सुरसुन्दरीणाम् ॥ ७ ॥

भूरेणुनेति ॥ अत्राहवे रासभो गर्दभस्तद्वद्धूसरेणेषत्पाण्डुना । 'रासभो गर्दभः खरः' इत्यमरः । 'ईषत्पाण्डुस्तु धूसरः' इति च । भूरेणुना रजसा लोचनानां वर्त्मनि चक्षुर्मार्गे तिरोहिते सति तेजस्विभिस्तेजस्विषु वीरेषु । उत्सुकानाम् । वीरवरणार्थमागतानामित्यर्थः । 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' इति विकल्पात्तृतीया । सुरसुन्दरीणामह्नि दिवस एव प्रदोषो रात्रिमुखं नास्ति । अन्धकारवत्त्वाद् दृष्टेस्तिरोधानाद्रात्रिभ्रमः स्यादिति भावः ॥ ७ ॥

इस युद्धमें यह भी तो नहीं है—गदहेके सदृश धूमिल वर्णकी धूलिसे नेत्रोंके मार्ग जब अवरुद्ध हो जाते हैं तो दिनमें ही वीरवरणार्थ उत्कण्ठित सुररमणियोंके लिये प्रदोष काल हो जाता है ॥ ७ ॥

रथाङ्गसंक्रीडितमश्वहेषा बृहन्ति मत्तद्विपबृंहितानि ।
संघर्षयोगादिव मूर्च्छितानि ह्लादं निगृह्णन्ति न दुन्दुभीनाम् ॥ ८ ॥

रथाङ्गेति ॥ रथाङ्गसंक्रीडितं रथचक्रकूजितम् । अश्वानां हेषा हेषितानि शब्दितानि । 'अश्वानां हेषा ह्रेषा च निःस्वनः' इत्यमरः । बृहन्ति महान्ति । मत्तद्विपानां बृंहितानि । 'बृंहितं करिगर्जितम्' इत्यमरः । संघर्षयोगादिव परस्परस्पर्धासंबन्धादिव मूर्च्छितानि वृद्धिं गतानि सन्ति । 'नपुंसकमनपुंसक—' इत्यादिना नपुंसकैकशेष । दुन्दुभीनां भेरीणां ह्लादं निर्घोषम् । 'स्वाननिर्घोषनिर्ह्लाद—' इत्यमरः । न निगृह्णन्ति न तिरस्कुर्वन्ति ॥ ८ ॥

इस युद्धमें रथोंके पहियोंका शब्द, घोड़ोंकी हिनहिनाहट और मतवाले हाथियोंकी गम्भीर चिग्घाड़ जो अन्योन्य स्पर्द्धाके कारण वृद्धिको प्राप्त हो जाते हैं, भेरी (नगारे) के निर्घोषको तिरस्कृत नहीं कर रहे हैं ॥ ८ ॥

अस्मिन् यशःपौरुषलोलुपानामरातिभिः प्रत्युरसं क्षतानाम् ।
मूर्च्छान्तरायं मुहुरुच्छिनत्ति नासारशीतं करिशीकराम्भः ॥ ९ ॥

अस्मिन्निति ॥ अस्मिन् रणे यशपौरुषयोर्लोलुपानां गृध्नूनामत एव अरातिभिः प्रत्युरसमुरसि । 'प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात्' इति समासान्तः । क्षतानां विद्धानां सम्बन्धिनं मूर्च्छैवान्तरायो रणविघ्नस्तम् । आसारशीतं वर्षाधाराशीतलम् । 'धारासम्पात आसारः' इत्यमरः । करीणां शीकर एव अम्भः कर्तृ मुहुर्नोच्छिनत्ति न नाशयति ॥ ९ ॥

इस रणस्थलीमें कीर्ति और पुरुषार्थ के लोभी तथा हृदय प्रदेशमें विद्ध वीरोंकी मूर्च्छारूप संग्रामविघ्नको वर्षाजलके समान शीतल हाथियोंका शीकर (जलकण) बारम्बार दूर नहीं कर रहा है (तथापि न मालूम क्यों यह दशा हो रही है ?) ॥ ९ ॥

असृङ्नदीनामुपचीयमानैर्विदारयद्भिः पदवीं ध्वजिन्याः ।
उच्छ्रायमायान्ति न शोणितौघैः पङ्कैरिवाश्यानघनैस्तटानि ॥ १० ॥

असृगिति ॥ असृङ्नदीनां तटान्युपचीयमानैरुपचयं नीयमानैस्तथा ध्वजिन्याः पदवीं विदारयद्भिर्दुःसंचारां कुर्वद्भिः । 'विदूरयद्भिः' इति पाठे विदूरां दूरसंचारां कुर्वद्भिः । आश्याना ईषच्छुष्काः । 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति श्यायतेर्निष्ठानत्वम् । घनाः सान्द्रास्तैः । आश्यानघनैः शोणितौघैः पङ्कैरिवोच्छ्रायं वृद्धिं नायान्ति न प्राप्नुवन्ति ॥ १० ॥

रुधिर की नदियों के तट वृद्धिको सम्प्राप्त रक्तराशि का कीचड़, जो कि सेना के ताँता को तोड़ रहा था, थोड़ा शुष्क कीचड़ों के ढेर से ऊँचे तो इस युद्ध में नहीं हो जाते हैं ॥ १० ॥

परिक्षते वक्षसि दन्तिदन्तैः प्रियाङ्कशीता नभसः पतन्ती ।
नेह प्रमोहं प्रियसाहसानां मन्दारमाला विरलीकरोति ॥ ११ ॥

परीति ॥ इह रणे दन्तिदन्तैर्गजदन्तैः परिक्षते ताडिते वक्षसि नभसः पतन्ती प्रियाया अङ्क इव शीता शीतला सुखकरी मन्दारमाला । सुरैर्मुक्तेति शेषः । प्रियं साहसं येषां तेषां प्रियसाहसानाम् । यतो गजाभियायिनामिति भावः । प्रमोहं प्रहारमूर्च्छां न विरलीकरोति न मन्दीकरोति । नापनयतीति यावत् ॥ ११ ॥

इस युद्ध में हाथियों के दाँत से विदीर्ण वीरों के वक्षःस्थल पर कामिनी के अङ्क के सदृश शीतल मन्दार की माला, जो देवताओं से मुक्त होकर आकाश से गिरती है, उन वीरों की, जो साहस प्रिय हैं मूर्च्छाको न्यून नहीं करती ॥ ११ ॥

निषादिसंनाहमणिप्रभौघे परीयमाणे करिशीकरेण ।
अर्कत्विषोन्मीलितमभ्युदेति न खण्डमाखण्डलकार्मुकस्य ॥ १२ ॥

निषादीति ॥ करिणां शीकरेण पुष्करतुषारेण परीयमाणे व्याप्यमाने निषादिनो हस्त्यारोहाः । 'हस्त्यारोहा निषादिनः' इत्यमरः । तेषां संनाहः कवचानि तेषां मणिप्रभौघे रत्नांशुजाले । अर्कस्य त्विषा तेजसा । उन्मीलितमुत्पादितम् । आखण्डलकार्मुकस्य इन्द्रधनुषः । 'आखण्डलः सहस्राक्षः' इत्यमरः । खण्डं नाभ्युदेति ॥ १२ ॥

महावतों (हाथी के सवारों) के कवच में जटित रत्नों के किरणपुञ्ज हाथियों के शुण्ड से निस्सृत जलकण से व्याप्त हो सूर्य की किरणों से संवलित इन्द्रधनुष के खण्ड की भाँति इस युद्ध में उदय नहीं होते हैं (जैसा अन्य युद्ध में होता था ॥ १२ ॥

महीभृता पक्षवतेव भिन्ना विगाह्य मध्यं परवारणेन ।
नावर्तमाना निनदन्ति भीममपां निधेराप इव ध्वजिन्यः ॥ १३ ॥

महीति ॥ पक्षवता सपक्षेण महीभृता मैनाकेनेव परवारणेन शत्रुगजेन मध्यं विगाह्य प्रविश्य भिन्नाः क्षोभिता ध्वजिन्यः सेनाः । 'ध्वजिनी वाहिनी सेना' इत्यमरः ।

अपां निधे' सागरस्य । आप इव । आवर्तमाना भ्रमन्त्यः सत्यः । 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः । भीमं न निनदन्ति ॥ १३ ॥

जिस प्रकार सपक्ष मैनाक पर्वत ने वेग के साथ समुद्र के बीचोबीच गिरकर समुद्र के जल को भिन्न कर दिया था और वह भ्रमित होकर गम्भीर गर्जन करने लगा था उसी तरह शत्रु के हाथी ने सेना के बीच में पड़कर उसे भिन्न कर दिया पुनः सेना भ्रमित होकर तुमुल ध्वनि जैसा अन्य युद्ध में होती थी इस युद्धक्षेत्र में तो वैसा नहीं होता है (फिर मेरी इस दशा का क्या कारण है ?) ॥ १३ ॥

महारथानां प्रतिदन्त्यनीकमधिस्यदस्यन्दनमुत्थितानाम् ।
आमूललूनैरतिमन्युनेव मातङ्गहस्तैर्व्रियते न पन्थाः ॥ १४ ॥

महारथानामिति ॥ प्रतिदन्त्यनीकं दन्तिसैन्यं प्रति । 'अनीकं तु रणे सैन्ये' इति विश्वः । अधिस्यदा महारयाः स्यन्दना रथा यत्र तत्तथा । 'रंहस्तरसी तु रयः स्यदः' इत्यमरः । उत्थितानां प्रस्थितानां महारथानां रथिकविशेषाणाम् । 'आत्मानं सारथिं चाश्वान् रक्षन्युध्येत यो नरः । स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः ॥' इति लक्षणात् । पन्था मार्ग आमूलात् लूनैश्छिन्नैः । मातङ्गहस्तैर्नागकरैः । अतिमन्युनाऽतिक्रोधेनेव न व्रियते न निरुध्यते ॥ १४ ॥

हाथियों की सेना के प्रति, जिसमें महान् (प्रबल) वेगशाली रथ थे, युद्धार्थ प्रस्थान किये हुये महारथियों के मार्ग का अवरोध हाथियों के समूल विच्छिन्न शुण्ड के द्वारा अत्यन्त क्रोध के साथ भी तो (इस युद्ध में) नहीं होता ॥ १४ ॥

धृतोत्पलापीड इव प्रियायाः शिरोरुहाणां शिथिलः कलापः ।
न बर्हभारः पतितस्य शङ्कोर्निषादिवक्षःस्थलमातनोति ॥ १५ ॥

धृतेति ॥ पतितस्य वक्षसि मग्नस्य शङ्कोस्तोमरस्य संबन्धी । 'वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना सर्वला तोमरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । बर्हभारस्तन्मूलबद्धो लाञ्छनपिच्छकलापो धृतउत्पलापीडः कुवलयशेखरो यस्मिन् स प्रियायाः संबन्धी शिथिलः स्रस्तः शिरोरुहाणां कलापः केशपाश इव निषादिनो हस्त्यारोहस्य वक्षःस्थलं नातनोति न व्याप्नोति ॥ १५ ॥

वक्षस्थल पर पड़े हुये प्रिया के शिथिल केशपाश, जिसमें कमल-पुष्प लगाया हुआ हो, की तरह वीरों के वक्षस्थल में धँसे हुये बरछे के मूल में बंधे हुए शिखिपिच्छ (मोरपंख) इस युद्ध में और युद्ध की भाँति वक्षस्थल को आवृत तो नहीं करते हैं (क्या बात है कुछ भी समझ में नहीं आती ?) ॥ १५ ॥

उज्झत्सु संहार इवास्तसंख्यमह्नाय तेजस्विषु जीवितानि ।
लोकत्रयास्वादनलोलजिह्वं न व्याददात्याननमत्र मृत्युः ॥ १६ ॥

उज्झत्स्विति ॥ अत्र आहवे । संहारे कल्पान्त इव तेजस्विषु वीरेषु । अस्तसंख्यमसंख्यं यथा तथा, अह्नाय झटिति । 'द्राग्झटित्यञ्जसाह्नाय' इत्यमरः । जीवितान्युज्झत्सु त्यजत्सु सत्सु मृत्युर्लोकत्रयस्यास्वादने भक्षणे लीला गृध्नुर्जिह्वा यस्मिंस्तत् । आननं न व्याददाति न विवृणोति । 'आङो दोऽनास्यविहरणे' इत्यत्रानास्यविहरण इति निषेधात् परस्मैपदम् ॥ १६ ॥

इसके अतिरिक्त अन्य संग्राम में (मुझे जहाँ अवसर प्राप्त हुआ है) मैंने देखा है—प्रलयकाल के समान युद्ध में बड़ी शीघ्रता के साथ असंख्य वीर जब अपने २ प्राण का परित्याग कर रहे थे उस क्षण मृत्यु तीनों लोक के जीवों के प्राणरूप रस के आस्वादन से चञ्चल जिह्वायुक्त मुख को खूब मनमाना खोल देती थी परन्तु इस युद्ध में वह ऐसा नहीं करती हैं (इसमें क्या रहस्य है यह पता नहीं ? ॥ १६ ॥

सत्यमेवं, तथापि किमेतत्कुत्सितम्; तत्राह—

इयञ्च दुर्वारमहारथनामाक्षिप्य वीर्यं महतां बलानाम् ।
शक्तिर्ममावस्यति हीनयुद्धे सौरीव ताराधिपधाम्नि दीप्तिः ॥ १७ ॥

इयमिति ॥ इयं मम शक्तिश्च दुर्वाराः पराक्रमिणो महारथा येषु तेषां महतां बलानां वीर्यमाक्षिप्य निरस्य ताराधिपधाम्नि चन्द्रतेजसि । सूर्यस्येयं सौरी । 'सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः' इति स्त्रियां ङीष् । यकारस्य लोपः । दीप्तिरिव हीनयुद्धे किरातरणे । अवस्यत्यवसीदति । एतच्च विरुद्धमत्यद्भुतं चेति भावः । 'षोऽन्तकर्मणि' इति धातोर्लट् ॥ १७ ॥

यह मेरी रणशक्ति महान् पराक्रमी महारथियों की विशाल सेना के वीर्य को निरस्त कर देती थी इस युद्धस्थल में सूर्यसम्बन्धिनी दीप्ति जिस प्रकार शशलाञ्छन के मण्डल में प्राप्त होकर बेचारी बनी रहती है उसी प्रकार यह किरात के साथ संग्राम में प्राप्त होकर अवसन्न हो रही है ॥ १७ ॥

माया स्विदेषा मतिविभ्रमो वा ध्वस्तं नु मे वीर्यमुताहमन्यः ।
गाण्डीवमुक्ता हि यथा पुरा मे पराक्रमन्ते न शराः किराते ॥ १८ ॥

मायेति ॥ एषा शक्तिह्रासरूपा माया स्वित् देवताक्षोभणं नाम । मतिविभ्रमो बुद्धिविपर्ययो वा । अथवा मे वीर्यं ध्वस्तं नष्टं नु । उताहमन्योऽर्जुनो न वा । कुतः । हि यस्मात्, गाण्डीवमुक्ता मे शराः यथा पुरा यथापूर्वम् परिपन्थिष्विवेत्यर्थः । किराते न पराक्रमन्तेऽप्रतिबन्धेन प्रवर्तन्ते । 'उपपराभ्याम्' इति वृत्तावात्मनेपदम् । वृत्तिरप्रतिबन्धः ॥ १८ ॥

यह शक्ति-ह्रास-रूपात्मिका माया तो नहीं है, अथवा मेरी बुद्धि में ही पत्थर तो नहीं पड़ गया है अथवा मेरा सारा बल ही क्षीण हो गया है । यह भी सम्भव हो सकता है कि—मैं

अर्जुन ही नहीं हूँ क्योंकि गाण्डीव से प्रक्षिप्त मेरे बाण जिस प्रकार पहले पराक्रम करते थे वैसा इस किरात के विषय में पराक्रम नहीं दिखलाते किन्तु मुख फेर लेते हैं ॥ १८ ॥

पुंसः पदं मध्यममुत्तमस्य द्विधेव कुर्वन्धनुषः प्रणादैः ।
नूनं तथा नैष यथाऽस्य वेषः प्रच्छन्नमप्यूहयते हि चेष्टा ॥ १९ ॥

पुंस इति ॥ किंच, उत्तमस्य पुंसः पुरुषोत्तमस्य मध्यमं पदमाकाशं धनुषः प्रणादैः । 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वम् । द्विधा कुर्वन्निव विदारयन्निव स्थितः स एष किरातो नूनं तथा तथाभूतो न । कीदृशस्तत्राह—अस्य पुरुषस्य यथा यथाभूतो वेषः । वर्तत इति शेषः । वेषत एवायं किरातो न स्वरूपत इत्यर्थः । कुतः । हि यस्मात्, चेष्टा व्यापारः प्रच्छन्नमपि निगूढमपि स्वरूपम् । ऊहयते तर्कयते । तस्याः स्वभावादव्यभिचारादिति भावः ॥ १९ ॥

यह पुरुष धनुष की प्रकृष्ट टङ्कार से नारायण के मध्यम स्थान (आकाश) को विदीर्ण करके दो भाग करते हुये की तरह मालूम पड़ता है यह किरात अवश्य जैसा इसका वेष दृष्टिगोचर हो रहा है वैसा नहीं है अर्थात् वेष-भूषा से ही यह किरात है स्वरूपतः तो कोई अन्य ही है क्योंकि कर्तव्यानुष्ठान गुप्त वस्तु के प्रकाशन करने में समर्थ होता है ॥ १९ ॥

अथ चतुर्भिश्चेष्टामेवाचष्टे—

धनुः प्रबन्धध्वनितं रुषेव सकृद्विकृष्टा विततेव मौर्वी ।
संधानमुत्कर्षमिव व्युदस्य मुष्टेरसंभेद इवापवर्गे ॥ २० ॥

धनुरिति ॥ धनू रुषेव प्रबन्धेनाविच्छेदेन ध्वनितम् । ध्वनतेः कर्तरि क्तः । मौर्वी च सकृद्विकृष्टा विततेवैकवाराकर्षणादेव विततेव स्थिता । संधानं बाणसंधानमुत्कर्षं तूणादुद्धरणं व्युदस्येव वर्जयित्वा । किमु कृतमिति शेषः । अपवर्गे बाणमोक्षेऽपि मुष्टेरसंभेदोऽसंघटनमिव । मुष्टिबन्धं विनैव बाणमोक्षः कृत इवेति हस्तलाघवोक्तिः ॥ २० ॥

क्रोध के साथ ही इस पुरुष के धनुष में अविच्छिन्न ध्वनि निकलने लगती हैं । एक बार के खींचने से धनुष की प्रत्यञ्चा मालूम पड़ता है खींची हुई रह जाती है (वस्तुतः बार-बार बाण छोड़ने के लिये खींची जाती है परन्तु पता नहीं चलता) बाणों का संधान इस प्रकार से हो रहा हैं जैसे तूणीर से निकाला हो नहीं जा रहा है स्वयं निकलते हुए की तरह है । बाण मोक्ष के विषय में तो कहना ही क्या ? मुष्टि तो बाँधना ही नहीं पड़ता (अर्थात् बाण का आदान और मोक्ष बड़े लाघव के साथ हो रहा था) ॥ २० ॥

अंसाववष्टब्धनतौ समाधिः शिरोधराया रहितप्रयासः ।
धृता विकारांस्त्यजता मुखेन प्रसादलक्ष्मीः शशलाञ्छनस्य ॥ २१ ॥

अंसाविति ॥ किंच, अंसाववष्टब्धौ स्थिराववस्थापितौ च तौ नतौ चावष्टब्धनतौ शिरोधरायाः कंधरायाः समाधिः संस्थानविशेषश्च रहितः प्रयासो यस्य स तथोक्तः ।

निःप्रयास इत्यर्थः। तथा विकारांस्त्यजता। अमृतत्वान्निर्विकारेणेत्यर्थः। मुखेन शशलाञ्छनस्य इन्दोः प्रसादलक्ष्मीर्धृता। असंभवत्संबन्धो निदर्शनालंकारः ॥२१॥

इस किरातराज के कंधे अविचल और झुके हुए हैं। ग्रीवा भी संस्थान विशेष से अविचल है, किसी प्रकार का प्रयास विदित नहीं होता है। मुखमण्डल पर किसी प्रकार की विकृति नहीं है जिससे शशाङ्क (चन्द्रमा) की प्रसन्नतारूपी शोभा छायी हुई है ॥ २१ ॥

प्रहीयते कार्यवशागतेषु स्थानेषु विष्टब्धतया न देहः।
स्थितप्रयातेषु ससौष्ठवश्च लक्ष्येषु पातः सदृशः शराणाम् ॥ २२ ॥

प्रहीयत इति ॥ तस्य देहः कार्यवशेन प्रयोजनवशेन आगतेषु स्थानेष्वालीढादिस्थानकेषु विष्टब्धतया स्थिरतया कर्त्र्या न प्रहीयते न त्यज्यते। किंतु स्थिर इव तिष्ठतीत्यर्थः। सुष्ठु भावः सौष्ठवं लाघवम्। उद्गात्रादित्वादञ्प्रत्ययः। तेन सह वर्तमानः ससौष्ठवः शराणां पातश्च स्थितान्यचलानि प्रयातानि चलानि तेषु स्थितप्रयातेषु चलाचलेषु लक्ष्येषु विषये सदृश एकरूपः ॥ २२ ॥

इनका शरीर संग्रामस्थल में प्रयोजनवश पैतरा बदलते समय विचलित नहीं होता किन्तु स्तब्ध रहता है। चल और अविचल उभयविध लक्ष्यों पर लाघव के साथ इनका बाणप्रक्षेप भी एक समान है ॥ २२ ॥

परस्य भूयान्विवरेऽभियोगः प्रसह्य संरक्षणमात्मरन्ध्रे।
भीष्मेऽप्यसंभाव्यमिदं गुरौ वा न संभवत्येव वनेचरेषु ॥ २३ ॥

परस्येति ॥ किंच, परस्य विवरे रन्ध्रे अल्पेऽपीति शेषः। भूयान् भूयिष्ठः प्रसह्य झटिति अभियोगो ज्ञातृत्वम्। परस्य रन्ध्रज्ञातृत्वात्प्रहारोद्योग इत्यर्थः। आत्मनो रन्ध्रे विवरे। अनल्पेऽपीति शेषः। प्रसह्य झटिति संरक्षणं गोपनं च। भूयिष्ठमिति शेषः। इदं द्वयं भीष्मेऽपि गुरौ वा द्रोणे वापि असंभाव्यं दुर्वितर्क्यं वनेचरेषु न संभवत्येव। अतो नायं किरातः, किंत्वेष तिरोहितवेषः कोऽप्यमानुषः पुरुष इति भावः ॥ २३ ॥

शत्रु में यदि अल्पमात्र की भी त्रुटि देख पाते हैं तो उसके सम्पूर्ण छिद्रों को जान लेते हैं। अपना दोष यदि अधिक भी है तो उसे शीघ्र ही गोपन कर देते हैं ये दोनों कार्य (शत्रु के अल्प दोष से उसके सम्पूर्ण छिद्रों को जान लेना और अपने अधिक से अधिक दोषों का निगूहन कर लेना) भीष्मपितामह तथा आचार्य द्रोण में असम्भावित सा है फिर जङ्गली जाति में तो इसकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती। अतः यह किरात नहीं है किन्तु अपना वेष छिपाये हुये कोई देवता या दानव है ॥ २३ ॥

अप्राकृतस्याहवदुर्मदस्य निवार्यमस्यास्त्रबलेन वीर्यम्।
अल्पीयसोऽप्यामयतुल्यवृत्तेर्महापकाराय रिपोर्विवृद्धिः ॥ २४ ॥

अप्राकृतस्येति ॥ अप्राकृतस्योक्तरीत्याऽसाधारणस्य । आहवदुर्मदस्य रणमत्तस्य । अस्य किरातस्य वीर्यं तेजोऽस्त्रबलेन दिव्यशस्त्रमहिम्ना निवार्यं निवारणीयम् । अन्यथाऽनिवार्यत्वमस्येति भावः । तथा हि—अल्पीयसोऽप्यत्यल्पस्यापि । आमयतुल्यवृत्ते रोगसमानविक्रियस्य । 'रोगव्याधिगदामयाः इत्यमरः' । रिपोर्विवृद्धिर्महापकाराय; किंत्वयं महानुभाव इति भावः । कुलकम् ॥ २४ ॥

इस रणमत्त असाधारण पुरुष (किरात) का पराक्रम (तेज) का ब्रह्मास्त्र के द्वारा निवारण कर देना चाहिये, रोग के सदृश कार्य हैं जिसका ऐसी अल्प भी शत्रु की वृद्धि महान् अपकार कर देती है ॥ २४ ॥

स संप्रधार्यैव महार्यसारः सारं विनेष्यन् सगणस्य शत्रोः ।
प्रस्वापनास्त्रं द्रुतमाजहार ध्वान्तं घनानद्ध इवार्धरात्रः ॥ २५ ॥

स इति ॥ अहार्यसारोऽनिवार्यवीर्यः सोऽर्जुन एवं संप्रधार्य निश्चित्य सगणस्य सानुगस्य शत्रोः सारं सत्त्वं विनेष्यन् अपनेष्यन् । प्रस्वाप्यते शाय्यतेऽनेनेति प्रस्वापनं तदेव अस्त्रम् । घनानद्धो मेघव्याप्तोऽर्धरात्रो निशीथः । 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ' इत्यमरः । 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासः । 'अहःसर्वैकदेश—' इत्यादिना समासान्तः । 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंल्लिङ्गता । ध्वान्तमिव द्रुतमाजहाराचकर्ष ॥ २५ ॥

असह्य पराक्रमवाले उस अर्जुन ने उपर्युक्त प्रकार से निश्चय करके ही प्रमथगणों के साथ शत्रु के पराक्रम को दूर करते हुए प्रस्वापन अस्त्रको इस प्रकार खींचा जिस प्रकार मेघ व्याप्त निशीथ ध्वान्त (अन्धकार) को आकृष्ट कर लेती है ॥ २५ ॥

प्रसक्तदावानलधूमधूम्रा निरुन्धती धाम सहस्ररश्मेः ।
महावनानीव महातमिस्रा छाया ततानेशबलानि काली ॥ २६ ॥

प्रसक्तेति ॥ प्रसक्तः संततो यो दावानलधूमस्तद्वद्धूम्रा धूसरा सहस्ररश्मेर्धाम तेजो निरुन्धती ॥ आवृण्वती काली कृष्णवर्णा । 'जानपद—' इत्यादिना ङीष् । छाया कान्तिः । ईशबलानि महातमिस्रा महती तमःसंततिः । 'तमिस्रा तु तमस्ततिः' इति विश्वः । महावनानीव ततान व्यानशे । युग्मम् ॥ २६ ॥

कृष्ण वर्ण की छाया ने, जो सर्वदा जलनेवाले दावानल के धूम के सदृश धूम्र वर्ण की है, सहस्रांशु (सूर्य) की किरणों को आवृत करती हुई महान् तमस्तोम (अन्धकार की राशि) की तरह जो कि विशाल वनों को व्याप्त कर लेती है, शंकर की सेना को व्याप्त कर लिया ॥ २६ ॥

आसादिता तत्प्रथमं प्रसह्य प्रगल्भतायाः पदवीं हरन्ति ।
समेव भीमा विदधे गणानां निद्रा निरासं प्रतिभागुणस्य ॥ २७ ॥

आसादितेति ॥ तदेवासावनं प्रथमं तत्प्रथमं यथा तथा प्रसह्यासादिता कल्पिता प्रगल्भताया व्यवहारधाष्टर्यस्य पदवीं हरन्ती भीमा भयंकरी निद्रा उक्तविशेषणा सभा

संसदिव । गणानां प्रतिभा प्रज्ञाशक्तिः सैव गुणस्तस्य निरासं प्रतिभाक्षयं विदधे चक्रे ।। २७ ।।

वह घोर निद्रा सभा के समान प्रमथगणों को ही सबसे पहले हठात् प्राप्त करके धृष्टता की पद्धति का विनाश करती हुई प्रमथगणों के बुद्धि-शक्ति रूप गुणों का नाश कर दिया (अर्थात् सब की सब सेना निद्रा विलीन हो गई) ।। २७ ।।

गुरुस्थिराण्युत्तमवंशजत्वाद्विज्ञातसाराण्यनुशीलनेन ।
केचित्समाश्रित्य गुणान्वितानि सुहृत्कुलानीव धनूंषि तस्थुः ।। २८ ।।

गुर्विति ।। केचिदुत्तमवंशजत्वात् वंशो वेणुः कुलं च । 'वंशो वेणौ कुले च' इति विश्वः । गुरूणि महान्ति स्थिराणि दृढानि च गुरुस्थिराणि । अनुशीलनेन परिचय-बलेन विज्ञातः सारो बलं येषां तानि गुणैर्मौर्वीभिः शौर्यादिभिश्च अन्वितानि धनूंषि सुहृत्कुलानि मित्रकुलानीव समाश्रित्य तस्थुः । धनूंष्यवष्टभ्य निदध्युरित्यर्थः ।। २८ ।।

सेना के कुछ लोगों ने उत्तम जाति के बाँस से उत्पन्न होने के कारण पुष्ट प्रत्यञ्चा से युक्त तथा विशाल धनुषों का, जिसकी पुष्टता पर अनुशीलन करने के कारण भरोसा था, अवलम्बन लेकर जहाँ के तहाँ बैठ गये जिस प्रकार उत्तम वंश में जन्म लेनेवाले तथा परिचय के कारण जिसका हृदय विदित था ऐसे गुणयुक्त सज्जन कुल के आधार पर लोग स्थिति प्राप्त कर लेते हैं ।। २८ ।।

कृतान्तदुर्वृत्त इवापरेषां पुरः प्रतिद्वन्द्विनि पाण्डवास्त्रे ।
अतर्कितं पाणितलान्निपेतुः क्रियाफलानीव तदायुधानि ।। २९ ।।

कृतान्तेति ।। कृतान्तदुर्वृत्ते दैवदुश्चेष्टित इव । 'कृतान्तो यमसिद्धान्तदेवाकुशल-कर्मसु' इति विश्वः । पाण्डवास्त्रे पुरः प्रतिद्वन्द्विनि प्रतिकूलवर्तिनि सति तदा तस्मिन्काले । अपरेषामायुधानि क्रियाफलानीव कृष्यादिफलानीव अतर्कितमविचारित-मेव पाणितलान्निपेतुः ।। २९ ।।

जिस प्रकार दैव विचेष्टित नहीं जाना जा सकता उसी तरह पाण्डुपुत्र (अर्जुन) का अस्त्र विपक्षी बनकर पुरोवर्त्ती (सामने) था असम्भावित क्रिया फल के सदृश शेष लोगों के हाथ से बिना विचार किये ही शस्त्र छूटकर गिर पड़े (अर्थात् भाग्य के पलटा खाने पर कृष्यादि सम्बन्धी फल नष्ट हो जाते हैं जिनके नष्ट होने की कभी सम्भावना नहीं रहती) ।। २९ ।।

अंसस्थलैः केचिदभिन्नधैर्याः स्कन्धेषु संश्लेषवतां तरूणाम् ।
मदेन मीलन्नयनाः सलीलं नागा इव स्रस्तकरा निषेदुः ।। ३० ।।

अंसेति ।। अभिन्नधैर्यास्तदानीमप्यक्षतधैर्याः केचिदंसस्थलैरंसभागैः सह संश्लेष-वतां संगच्छतां तरूणां स्कन्धेषु प्रकाण्डेषु मदेन मीलन्ति नयनानि येषां ते नागा गजा इव स्रस्तकराः स्रस्तहस्ताः सन्तः सलीलं निषेदुर्निषण्णाः ।। ३० ।।

अब भी कुछ लोग धैर्यविच्युत न होकर कंधे से संश्लिष्ट वृक्षों के प्रकाण्डों के आधार पर मद के कारण आँखें निमीलित करते हुये लीलापूर्वक हाथ ढीलाकर हाथी के समान खड़े हो गये ॥ ३० ॥

तिरोहितेन्दोरथ शंभुमूर्ध्नः प्रणम्यमानं तपसां निवासैः ।
सुमेरुशृङ्गादिव बिम्बमार्कं पिशङ्गमुच्चैरुदियाय तेजः ॥ ३१ ॥

तिरोहितेति ॥ अथ तिरोहितेन्दोः किरातमायया छन्नचन्द्रात् शंभुमूर्ध्नः सकाशात् । सुमेरुशृङ्गात् अर्कसम्बन्धि बिम्बमिव । तपसां निवासैस्तापसैः प्रणम्यमानमभिवन्द्यमानं पिशङ्गं तेज उच्चैरूर्ध्वम् । उदियाय प्रकटीबभूव । तच्च न चान्द्रमिति भावः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार की परिस्थिति की विषमावस्थापर शंकर भगवान् के ललाट से, जो चन्द्रमा से आच्छन्न रहता है, सुमेरु शिखर मे सूर्यसम्बन्धी बिम्ब के समान पिङ्गल वर्ण का तेजपुञ्ज, जिसे तपस्वी लोग सूर्य समझकर प्रणाम कर रहे थे ऊपर को उदय हुआ ॥ ३१ ॥

छायां विनिर्धूय तमोमयीं तां तत्त्वस्य संवित्तिरिवापविद्याम् ।
ययौ विकासं द्युतिरिन्दुमौलेरालोकमत्यादिशती गणेभ्यः ॥ ३२ ॥

छायामिति ॥ इन्दुमौलेर्द्युतिः कान्तिः । तत्त्वस्य संवित्तिस्तत्त्वज्ञानम् । अपविद्यामविद्यामिव तां तमोमयीं छायां निद्रां विनिर्धूय निरस्य गणेभ्य आलोकं वस्तुप्रकाशं चिरम् अभ्यादिशती वितरन्ती विकासं विस्तारं ययौ ॥ ३२ ॥

शकर भगवान् की वह द्युति उस अन्धकारमयी घोर निद्रा को इस प्रकार दूर करती हुई जिस प्रकार तत्त्वज्ञान अविद्या (अज्ञान) का नाश करता है, प्रमथगणों के लिये प्रकाश की सूचना देती हुई सर्वत्र प्रसरण करने लगी ॥ ३२ ॥

त्विषां ततिः पाटलिताम्बुवाहा सा सर्वतः पूर्वसरीव संध्या ।
निनाय तेषां द्रुतमुल्लसन्ती विनिद्रतां लोचनपङ्कजानि ॥ ३३ ॥

त्विषामिति ॥ सर्वतः पाटलिताः पाटलीकृता अम्बुवाहा यया सा तथोक्ता त्विषां तेजसां ततिः । पूर्वा सरतीति पूर्वसरी । 'पूर्वे कर्तरि' इति टप्रत्यये ङीप् । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति 'पूर्वा' शब्दस्य पुंवद्भावः । संध्या प्रातःसंध्येव उल्लसन्ती प्रसरन्ती तेषां गुणानां लोचनपङ्कजानि द्रुतं विनिद्रतां विकासं निनाय ॥ ३३ ॥

तेज की राशि जो सर्वत्र मेघमण्डलों को लोहित वर्ण में परिवर्तित कर दी थी प्रभातकालीन सन्ध्या के सदृश प्रसार करती हुई उन प्रमथगणों के नेत्रकमलों को शीघ्र ही प्रस्फुटित कर दी (अर्थात् वे लोग अपने-अपने नेत्र खोले) । ३३ ॥

पृथग्विधान्यस्त्रविरामबुद्धाः शस्त्राणि भूयः प्रतिपेदिरे ते ।
मुक्ता वितानेन बलाहकानां ज्योतींषि रम्या इव दिग्विभागाः ॥ ३४ ॥

पृथगिति ।। अस्त्रविरामेण प्रस्वापनास्त्रोपरमेण बुद्धा विनिद्रास्ते गणा बलाहकानां वितानेन मेघपटलेन मुक्ता अत एव रम्या दिग्विभागा दिगन्ता ज्योतींषि नक्षत्राणीव । 'ज्योतिस्ताराग्निभाज्वालादृक्प्रकाशरमात्मसु' इति वैजयन्ती । पृथग्विधानि नानाविधानि शस्त्राणि भूयः प्रतिपेदिरे । जगृहुरित्यर्थः ॥ ३४ ॥

प्रस्वापनास्त्र के उपद्रवोपशमनान्तर वे शंकर भगवान् के प्रमथगण निद्रा का परित्याग कर फिर इस प्रकार अनेक शस्त्र धारण करने लगे जिस प्रकार मेघों के पटलों से मुक्त दिशायें तथा विदिशायें निर्मल होकर फिर नक्षत्रों को धारण कर लेती हैं ।। ३४ ।।

द्यौरुन्नमामेव दिशः प्रसेदुः स्फुटं विसस्रे सवितुर्मयूखैः ।
क्षयं गतायामिव यामवत्यां पुनः समीयाय दिनं दिनश्रीः ।। ३५ ।।

द्यौरिति ।। तदा यामवत्यां रात्रौ क्षयं गतायां विभातायामिव द्यौरन्तरिक्षम् । उन्ननामेव ऊर्ध्वमुत्पपातेवेत्युत्प्रेक्षा । दिशः प्रसेदुः । सवितुर्मयूखैः स्फुटं विसस्रे विस्तृतम् । भावे लिट् । दिनश्रीर्घस्रकान्तिः पुनर्दिनं समीयाय संजगाम । अत्र वैयधिकरण्येन गुणक्रिययोः समुच्चयेन समुच्चयोऽलंकारः । तस्य च समुन्नमनोत्प्रेक्षया 'इव'शब्दवाच्ययाऽनुप्रवेशलक्षणः संकरः । दिक्प्रसादो गुणः । शेषाः क्रियाः ॥ ३५ ॥

अर्जुन के अन्धकारास्त्र के खण्डित होने पर जिस प्रकार रात्रि के व्यतीत होनेपर आकाशरूप आवरण हट जाता है और दिशायें स्वच्छ हो जाती हैं मानों उसी प्रकार दिशायें निर्मल हो गईं, सूर्य भगवान् की किरणें चारों तरफ प्रसार कर गईं, पुनः दिवसलक्ष्मी ने दिन का आश्रय ग्रहण किया ।। ३५ ।।

महास्त्रदुर्गे शिथिलप्रयत्नं दिग्वारणेनेव परेण रुग्णे ।
भुजङ्गपाशान्भुजवीर्यशाली प्रबन्धनाय प्रजिघाय जिष्णुः ।। ३६ ।।

महास्त्रेति ॥ भुजवीर्यशाली जिष्णुरर्जुनो महास्त्रं प्रस्वापनास्त्रं तद्दुर्गमिव तस्मिन् महास्त्रदुर्गे दिग्वारणेनेव दिग्गजेनेव परेण शत्रुणा शिथिलप्रयत्नमल्पप्रयासं यथा तथा रुग्णे भग्ने सति । 'रुजो भङ्गे' कर्मणि क्तः । 'ओदितश्च' इति निष्ठातकारस्य नत्वम् । प्रबन्धनाय प्रकर्षेण बन्धनाय भुजङ्गा एव पाशास्तान् । प्रजिघाय प्रहितवान् ॥ ३६ ॥

दिग्गज के द्वारा दुर्गभेद की भाँति थोड़े ही परिश्रम में शत्रु के द्वारा स्वापनास्त्र के खण्डित हो जाने पर अर्जुन ने, जिसकी भुजायें पराक्रमपूर्ण थीं, शत्रुसेना को पूर्णतया बाँध लेने के लिए सर्परूप पाश का प्रहार किया ।। ३६ ।।

जिह्वाशतान्युल्लसयन्त्यजस्रं लसत्तडिल्लोलविषानलानि ।
त्रासान्निरस्ता भुजगेन्द्रसेना नभश्चरैस्तत्पदवीं विवव्रे ।। ३६ ।।

जिह्वेति ।। लसन्तस्तडिल्लोला विद्युच्चञ्चला विषानला विषाग्नयो येषु तानि

जिह्वाशतान्यजस्रमुल्लसयन्ती चलयन्ती भुजगेन्द्रसेना त्रासाद्भयाद् । नभश्चरैर्निरस्ता त्यक्ता तेषां नभश्चराणां पदवीं मार्गं विवस्रे विशेषेण रुरोध ॥ ३७ ॥

स्फुरण करती हुई बिजली के सदृश चञ्चल विषानल से व्याप्त सैकड़ों जिह्वाका सञ्चालन करती हुई, सर्पराजों की सेना ने, भयभीत आकाशचारियों के द्वारा परित्यक्त मार्ग का अवरोध कर लिया ॥ ३७ ॥

दिङ्नागहस्ताकृतिमुद्वहद्भिर्भोगैः प्रशस्तासितरत्ननीलैः ।
रराज सर्पावलिरुल्लसन्ती तरङ्गमालेव नभोर्णवस्य ॥ ३८ ॥

दिङ्नागेति ॥ दिङ्नागहस्ताकृतिमुद्वहद्भिर्दिक्करिकराकारैस्तथा प्रशस्तानि समीचीनानि असितरत्नानीन्द्रनीलमणयस्तद्वन्नीलैर्भोगैः कायैरुपलक्षिता सर्पावलिरुल्लसन्ती प्रक्षुभ्यन्ती नभ एव अर्णवस्तस्य तरङ्गमालेव रराज । रूपकोत्थापितेयमुत्प्रेक्षा ॥ ३८ ॥

उन सर्पों का शरीर दिग्गजों के शुण्ड के आकार तथा श्रेष्ठ कृष्णवर्ण के रत्नों के सदृश नील वर्ण का था । उनकी पंक्ति आकाशसमुद्र की ऊर्मिमाला (लहर) की तरह सुशोभित होने लगी ॥ ३८ ॥

निःश्वासधूमैः स्थगितांशुजालं फणावतामुत्फणमण्डलानाम् ।
गच्छन्निवास्तं वपुरभ्युवाह विलोचनानां सुखमुष्णरश्मिः ॥ ३९ ॥

निःश्वासेति ॥ उष्णरश्मिरस्तं गच्छन्निवोन्नमितानि फणामण्डलानि येषां तेषां फणावतां सर्पाणां निःश्वासेषु ये धूमास्तैः स्थगितमाच्छादितमंशुजालं यस्य तत्तथोक्तम् । अत एव विलोचनानां सुखं सुखकरं वपुरभ्युवाह ॥ ३९ ॥

फणधारी सर्प के, जिनके फण मण्डलाकार बन कर झुके हुए थे धूमाभ निश्वास से सूर्य की किरणें आवृत हो गई थीं जिससे तीक्ष्णांशु (सूर्य) अस्ताचल को प्रयाण करते हुए की तरह नेत्रों के लिये सुखकारी शरीर धारण किये अर्थात् धुयें के समान सर्पों की फुत्कार से सूर्यमण्डल आच्छादित होकर सायंकालीन द्युति धारण करने लगा ॥ ३९ ॥

प्रतप्तचामीकरभासुरेण दिशः प्रकाशेन पिशङ्गयन्त्यः ।
निश्चक्रमुः प्राणहरेक्षणानां ज्वाला महोल्का इव लोचनेभ्यः ॥ ४० ॥

प्रतप्तेति ॥ प्राणहराणीक्षणानि येषां तेषां प्राणहरेक्षणानां दृष्टिविषाणां सर्पविशेषाणां लोचनेभ्यो नेत्रेभ्यः । 'लोचनं नयनं नेत्रम्' इत्यमरः । प्रतप्तं यच्चामीकरं सुवर्णं तद्वद्भासुरेण । 'भञ्जभासमिदो घुरच्' इति घुरच्प्रत्ययः । प्रकाशेन तेजसा दिशः पिशङ्गयन्त्यो ज्वाला महोल्का इव निश्चक्रमुर्निर्जग्मुः ॥ ३० ॥

जिनके दृष्टिमात्र से प्राणहरण हो जाता है ऐसे सर्पों के नेत्रों से ज्वाला सन्तप्त सुवर्ण के सदृश प्रदीप्त प्रकाश से दिशाओं को पिङ्गलवर्ण की बनाती हुई प्रदीप्त तारा के समान निकल पड़ी ॥ ४० ॥

आक्षिप्तसंपातमपेतशोभमुद्वह्नि धूमाकुलदिग्विभागम् ।
वृतं नभो भोगिकुलैरवस्थां परोपरुद्धस्य पुरस्य भेजे ॥ ४१ ॥

आक्षिप्तेति ॥ आक्षिप्तः प्रतिबिद्धः संपातः संचारो यस्मिंस्तत् । सिद्धानां पक्षिणां चेति शेषः । अपेता गता शोभा यस्मात्तत् अपेतशोभं गतश्रीकम् । उद्गतः प्रदीप्तो वह्निर्यस्मिंस्तत् उद्वह्नि सर्वत उद्भूतदहनम् । धूमैराकुला व्याप्ता दिग्विभागा दिगन्ता यस्मिंस्तत् । भोगिकुलैः सर्पकुलैर्वृतमावृतं नभः परोपरुद्धस्य शत्रुवेष्टितस्य पुरस्यावस्थामिव, अवस्थां दशां भेजे । उक्तरीत्या तत्साधर्म्यं प्राप्तमित्यर्थः । निदर्शनालङ्कारः॥

सर्पों के आवृत कर लेने पर आकाशचारियों का मार्ग अवरुद्ध हो गया जिसके कारण निःश्रीक आकाश सर्वत्र अग्नि की ज्वाला से जल रहा था । उसकी दिशायें और विदिशायें धूयें से व्याप्त हो गईं । उस क्षण उसकी अवस्था शत्रु के द्वारा अवरुद्ध नगर के सदृश हो गई ॥ ४१ ॥

तमाशु चक्षुःश्रवसां समूहं मन्त्रेण तार्क्ष्योदयकारणेन ।
नेता नयेनेव परोपजापं निवारयामास पतिः पशूनाम् ॥ ४२ ॥

तमिति ॥ पशूनां पतिः शिवस्तं चक्षुःश्रवसां सर्पाणां समूहं तार्क्ष्योदयकारणेन गरुडाविर्भावहेतुना मन्त्रेण नेता नायको नयेन नीत्या परेषामुपजापं परोपजापं परकृतं स्वमण्डलभेदमिव । 'भेदोपजापावुपधा' इत्यमरः । आशु निवारयामास ॥ ४२ ॥

जिस प्रकार नेता (अग्रणी) अपनी नीति से शत्रुकृत अपने राष्ट्र के भेद का निवारण करता है उसी प्रकार पशुपति (शंकर भगवान्) ने गरुड़ के आविर्भाव के कारणरूप मन्त्रों से सर्पों के समूह को शीघ्र ही भगा दिया ॥ ४२ ॥

प्रतीघ्नतीभिः कृतमीलितानि द्युलोकभाजामपि लोचनानि ।
गरुत्मतां संहतिभिर्विहायः क्षणप्रकाशाभिरिवावतेने ॥ ४३ ॥

प्रतीति ॥ द्युलोकभाजामपि अनिमेषाणामपि कृतं मीलनं निमेषो येषां तानि लोचनानि दृष्टीः प्रतीघ्नतीभिः प्रतिबध्नतीभिः । हन्तेः शतरि ङीप् । गरुत्मतां तार्क्ष्याणां संहतिभिः समूहैः क्षणप्रकाशाभिर्विद्युद्भिरिव । तासां सौवर्णत्वादिति भावः । विहायोऽन्तरिक्षम् । अवतेने व्यानशे ॥ ४३ ॥

स्वर्गनिवासी देवताओं के भी निमीलित नेत्रों को प्रतिघात करती हुई गरुड़ों की पंक्ति ने विद्युल्लता के प्रकाश की तरह आकाश को व्याप्त कर लिया ॥ ४३ ॥

ततः सुपर्णव्रजपक्षजन्मा नानागतिर्मण्डलयञ्जवेन ।
जरत्तृणानीव वियन्निनाय वनस्पतीनां गहनानि वायुः ॥ ४४ ॥

तत इति ॥ ततः सुपर्णव्रजानां तार्क्ष्यकुलानां पक्षेभ्यो जन्म यस्य स नानागतिर्विचित्रगतिर्वायुः । वनस्पतीनां वृक्षाणां गहनानि जरत्तृणानि जीर्णतृणानीव जवेन मण्डलयन् भ्रमयन् वियदन्तरिक्षं निनाय ॥ ४४ ॥

गरुड़ के कुटुम्ब के पक्षों से उत्थित वायु अनेक गति को धारण करते हुए अपने वेग से वृक्षों को शुष्क तृणपुञ्ज के सदृश भ्रमण करता हुआ आकाश में ले गया ॥ ४४ ॥

मनःशिलाभङ्गनिभेन पश्चान्निरुध्यमानं निकरेण भासाम् ।
व्यूढैरुरोभिश्च विनुद्यमानं नभः ससर्पेव पुरः खगानाम् ॥ ४५ ॥

मनःशिलेति ॥ मनःशिला धातुविशेषस्तस्याभङ्गश्छेदस्तन्निभेन तत्सदृशेन भासां निकरेण कान्तिपुञ्जेन पश्चाद्भागे निरुध्यमानमाव्रियमाणं व्यूढैर्विशालैः उरोभिर्वक्षोभिश्च । 'उरो वत्सं च वक्षश्च' इत्यमरः । विनुद्यमानं प्रेर्यमाणं नभः खगानां गरुडानां पुरः ससर्पेव ससारेव । उत्तरोत्तरदेशतिरोधानेन गच्छतां खगानामपूर्वोऽपि पुरोभागः सादृश्यात्पूर्ववदुपलभ्यमानतया नभस एव छेदनात्पुरः ससर्पेवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ४५ ॥

मनःशिला के खण्ड के सदृश कान्ति पुञ्ज से आवृत आकाश, जो विशाल वक्षस्थल से प्रेरित हो रहा था, गरुड़ों के आगे-आगे प्रसर्पण करते हुए की भाँति ज्ञात होता था ॥ ४५ ॥

दरीमुखैरासवरागताम्रं विकासि रुक्मच्छदधाम पीत्वा ।
जवानिलाघूर्णितसानुजालो हिमाचलः क्षीव इवाचकम्पे ॥ ४६ ॥

दरीति ॥ जवानिलेनाघूर्णितानि भ्रमितानि सानुजालानि यस्य स हिमाचलः । आसवस्य रागो रक्तता तद्वत् ताम्रम् । गुणयोरेवोपमानोपमेयभावः । विकासि विकस्वरं रुक्मच्छदाः सुवर्णपक्षास्तार्क्ष्यास्तेषां धाम तेजो दरीभिर्मुखैरिव दरीमुखैः पीत्वा क्षीवो मत्त इवाचकम्प आचचाल । उपमाव्यापितेयमुत्प्रेक्षा ॥ ४६ ॥

यह हिमालय, जिसके शिखर वेगानिल से भ्रान्तिमान हो रहे थे, अपने कन्दरारूपी मुख से मदिरा के सदृश लोहित तथा भास्वर सुवर्ण पक्ष के तेज को पान कर मदिरामत्त व्यक्ति के समान लड़खड़ाने लगा अर्थात् गरुड़ों के पक्षों के वेग से प्रकम्पित हो उठा ॥ ४६ ॥

प्रवृत्तनक्तं दिवसंधिदीप्तैर्नभस्तलं गां च पिशङ्गयद्भिः ।
अन्तर्हितार्कैः परितः पतद्भिश्छायाः समाचिक्षिपिरे वनानाम् ॥ ४७ ॥

प्रवृत्तेति ॥ नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम् । 'अचतुर—' इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्त्योरप्यव्यययोर्द्वन्द्वैकवद्भावनिपाते समासान्तः । लक्षणया त्वहोरात्रमात्रवाची । प्रवृत्तः प्रादुर्भूतो यो नक्तंदिवस्य संधिः संध्या तद्वद्दीप्तैः शोभितैः । नभस्तलं गां भुवं च पिशङ्गयद्भिः पिशङ्गीकुर्वद्भिः । अन्तर्हित आच्छादितोऽर्को यैस्तैः पतद्भिः पक्षिभिः परितः सर्वतो वनानां छायाः समाचिक्षिपिरे समाक्षिप्ताः । अन्तर्बहिश्च तेजःप्रवेशात्क्वाप्यन्तर्हिता इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

उन विहङ्गमों ने, जो रात्रि और दिन के सन्धिभाग की तरह देदीप्यमान हो रहे थे, सूर्य को आच्छादित कर आकाश और पृथ्वी को कपिश वर्ण में रञ्जित करते हुए वनों की छाया को इधर-उधर प्रक्षिप्त कर दिया अर्थात् उनके पक्षके तेज से वह अन्तर्हित हो गई ॥४७॥

स भोगिसङ्घः शममुग्रधाम्नां सैन्येन निन्ये विनतासुतानाम् ।
महाध्वरे विध्यपचारदोषः कर्मान्तरेणेव महोदयेन ॥ ४८ ॥

स इति ॥ स भोगिसङ्घः सर्पसमूह उग्रधाम्नां तेजस्विनां विनतासुतानां तार्क्ष्य-पक्षिणां सैन्येन महाध्वरे महाक्रतौ विध्यपचारदोषः कर्मस्खलनदोषो महोदयेन महासामर्थ्येन, अथवा महता फलेन । तन्मूलेन प्रकृतक्रियासिद्धेरिति । कर्मान्तरेण प्रायश्चित्तेनेव शमं शान्तिं निन्ये प्रापितः ॥ ४८ ॥

जिस प्रकार महान् यज्ञ में विधिविधान की न्यूनतारूप दोष को प्रायश्चित्त के द्वारा शमन कर देते हैं उसी प्रकार परम तेजस्वी विनता कुमारों की सेना के द्वारा सर्पास्त्रसमूह शमन को प्राप्त हो गया ॥ ४८ ॥

साफल्यमस्त्रे रिपुपौरुषस्य कृत्वा गते भाग्य इवापसर्गम् ।
अनिन्धनस्य प्रसभं समन्युः समाददेऽस्त्रं ज्वलनस्य जिष्णुः ॥ ४९ ॥

साफल्यमिति ॥ अस्त्रे सर्पास्त्रे । भाग्ये प्राग्भवीये शुभे कर्मणीव । रिपुपौरुषस्य रिपुपराक्रमस्य साफल्यं कृत्वा, अपवर्गमवसानं समाप्तिं गते सति । स्वनिवृत्त्या परसाफल्यात्सफलीकरणोपचारः । समन्युः सक्रोधो जिष्णुरर्जुनोऽनिन्धनस्येन्धनं विनैवोत्पादितस्य ज्वलनस्य ज्वलनप्रदीपकम् अस्त्रमाग्नेयास्त्रं प्रसभं शीघ्रं समाददे जग्राह ॥ ४९ ॥

जन्मान्तरीय शुभकर्म के सदृश सर्पास्त्र के समाप्त हो जाने पर अर्जुन ने क्रुद्ध होकर इन्धनादि सामग्री के बिना ही प्रज्वलित होनेवाले पावकास्त्र (अग्निबाण) को उठाया ।।४९।।

ऊर्ध्वं तिरश्चीनमधश्च कीर्णैर्ज्वालासटैर्लङ्घितमेघपङ्क्तिः ।
आयस्तसिंहाकृतिरुत्पपात प्राण्यन्तमिच्छन्निव जातवेदा ॥ ५० ॥

ऊर्ध्वमिति ॥ ऊर्ध्वं तिरश्चीनं तिर्यक् । 'विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्' इति खप्रत्ययः । अधश्च कीर्णैर्विस्तृतैर्ज्वाला एव सटाः केसराः । 'सटा जटाकेसरयोः' इति विश्वः । तैः, लङ्घितमेघपङ्क्तिरतिक्रान्तजलदावलिः । आयस्तस्य लङ्घनोद्यतस्य सिंहस्येवा-कृतिर्यस्य स जातवेदा अग्निः प्राण्यन्तं प्राणिनां संहारमिच्छन्निवोत्पपात ॥ ५० ॥

लङ्घन के लिये उद्यत सिंह की आकृति के सदृश अग्निदेव अपने ज्वाला रूप केसर से ऊपर और नीचे, अगल-बगल (सर्वत्र) व्याप्त कर तथा मेघ मण्डल का अतिक्रमण करके मानों प्राणिमात्र की जीवनलीला समाप्त कर देने की इच्छा से ऊपर को प्रज्वलित हो उठे ।। ५० ।।

भित्त्वेव भाभिः सवितुर्मयूखाञ्जज्वाल विष्वग्विसृतस्फुलिङ्गः ।
विशीर्यमाणाश्मनिनादधीरं ध्वनिं वितन्वन्नकृशः कृशानुः ॥ ५१ ॥

भित्त्वेति ॥ भाभिस्तेजोभिः सवितुर्मयूखान् किरणान् । 'किरणोस्रमयूखांशु—' इत्यमरः । भित्त्वेवाभिहत्येव विष्वक् समन्ताद्विसृताः स्फुलिङ्गा यस्य सः । स्फुलिङ्गो-दयस्य मयूखाभिघातहेतुकत्वमुत्प्रेक्षते । 'त्रिषु स्फुलिङ्गोऽग्निकणः' इत्यमरः । अकृशो

ऽतनुः कृशानुर्वह्निः । विशीर्यमाणस्य विदलतोऽश्मनो निनादमिव घोरमुद्धतं ध्वनिं वितन्वन् जज्वाल ॥ ५१ ॥

प्रचण्ड ज्वालाग्नि अपनी दीप्ति से सूर्य की किरणों को छिन्न-भिन्न करके सर्वत्र चिनगारियों को बिखेरते हुए तथा विदीर्ण होते हुए पत्थरों के सदृश गम्भीर ध्वनि करते हुये जलने लगी ॥ ५१ ॥

चयानिवाद्रीनिव तुङ्गशृङ्गान् क्वचित्पुराणीव हिरण्मयानि ।
महावनानीव च किंशुकानां ततान वह्निः पवनानुवृत्त्या ॥ ५२ ॥

चयानिति ॥ वह्निः पवनानुवृत्त्या वायुवशेन चयानिव हिरण्मयान्प्राकारानिव । 'चयः समूहे प्रकारे' इति विश्वः । तुङ्गशृङ्गानद्रीनिव क्वचिद्धिरण्मयानीति 'पाण्डिनायन–' इत्यादिना निपातनात्साधुः । पुराणि नगराणीव तथा किंशुकानां पलाशतरूणाम् । 'पलाशे किंशुकः पर्णः' इत्यमरः । महावनानीव । पुष्पितानीति शेषः । ततान वितस्तार । तदाकारेण जज्वालेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

वह अग्नि वायु की सहायता से उच्च शिखरसम्पन्न पर्वतमाला की तरह, कहीं-कहीं सुवर्ण निर्मित नगर की भाँति और कहीं-कहीं विकसित पलाश के वनों के सदृश रूप धारण कर जलने लगी ॥ ५२ ॥

मुहुश्चलत्पल्लवलोहिनीभिरुच्चैः शिखाभिः शिखिनोऽवलीढाः ।
तलेषु मुक्ताविशदा बभूवुः सान्द्राञ्जनश्यामरुचः पयोदाः ॥ ५३ ॥

मुहुरिति ॥ सान्द्राञ्जनश्यामरुचो घनकज्जलश्यामरुचः पयोदा मुहुश्चलन्त्यश्च ताः पल्लवलोहिन्यो लोहितवर्णाश्च ताभिश्चलत्पल्लवलोहिनीभिः । 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति ङीप् । तकारस्य नकारः । शिखिनोऽग्नेः । उच्चैरुन्नताभिः शिखाभिर्ज्वालाभिः । अवलीढाः । दग्धा इत्यर्थः । अत एव तलेषु अधोभागेषु मुक्ताविशदा मौक्तिकधवला बभूवुः । जलसंशोषणादिति भावः । 'अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः ॥ ५३ ॥

अत्यन्त कृष्णवर्ण के मेघों का अधोभाग अग्नि की ज्वालाओं से, जो इतस्ततः प्रचलित नूतन किसलय के सदृश लोहित वर्ण का था, दग्ध होकर स्फटिक के सदृश स्वच्छ हो गया ॥ ५३ ॥

लिलिक्षतीव क्षयकालरौद्रे लोकं विलोलार्चिषि रोहिताश्वे ।
पिनाकिना हूतमहाम्बुवाहमस्त्रं पुनः पाशभृतः प्रणिन्ये ॥ ५४ ॥

लिलिक्षतीवेति ॥ क्षयकालरौद्रे कल्पान्तकालवद्भयावहे विलोलार्चिषि चलज्वाले रोहिताश्वे ज्वलने । 'रोहिताश्वो वायुसखः' इत्यमरः । लोकं लिलिक्षति लेढुमिच्छति जिघत्सति सतीव । लिहः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः । पिनाकिना पुनर्हूता आहूता आकारिता महाम्बुवाहा येन तत् । पाशभृतो वरुणस्य । अस्त्रं प्रणिन्ये प्रयुक्तम् ॥ ५४ ॥

इस प्रकार प्रलयकाल के सदृश भयावह अग्नि की अत्यन्त चञ्चल ज्वालायें धकधकाती हुईं ज्योंही संसार को चटनी के सदृश चाट जाने की इच्छा कर रही थीं शङ्कर भगवान् ने उस पर वरुणास्त्र का प्रयोग किया जो अपनी महान् जलदमालाओं को साथ लिये हुए था ॥ ५४ ॥

ततो धरित्रीधरतुल्यरोधसस्तडिल्लतालिङ्गितनीलमूर्तयः ।
अधोमुखाकाशसरिन्निपातिनीरपः प्रसक्तं मुमुचुः पयोमुचः ॥ ५५ ॥

तत इति ॥ ततो वरुणास्त्रप्रयोगानन्तरं धरित्रीधरतुल्यरोधसः पर्वतसमप्रान्ताः । 'रोधः स्यात्प्रान्तकूलयोः' इति विश्वः । तडिल्लताभिरालिङ्गिता नीलमूर्तयो नीलाङ्गानि येषां ते पयोमुचो मेघा अधोमुखा आकाशसरिदिव निपतन्तीति प्रसक्तमनुबन्धमविच्छिन्नं यथा तथा मुमुचुः । इतः प्रभृति वंशस्थवृत्तम् ॥ ५५ ॥

वरुणास्त्र के प्रयोग करते ही पर्वताकार मेघ, जिनकी कृष्णकान्ति विद्युल्लता के द्वारा आलिङ्गन की गई थी, (अर्थात् जिनमें बिजली क्षण-क्षण पर चमक रहीं थी) नीचे की तरफ प्रवाहित होती हुई आकाश नदी की तरह अविच्छिन्न जल धाराभिवर्षण करने लगे ॥ ५५ ॥

पराहतध्वस्तशिखे शिखावतो वपुष्यधिक्षिप्तसमिद्धतेजसि ।
कृतास्पदास्तप्त इवायसि ध्वनिं पयोनिपाताः प्रथमे वितेनिरे ॥ ५६ ॥

पराहतेति ॥ पराहता अभिहता अतो ध्वस्ता निर्वापिताः शिखा ज्वाला यस्य तस्मिन् पराहतध्वस्तशिखे । अधिक्षिप्तं प्रहारितं नाशितम् । ताडितमिति यावद् । अतः समिद्धं झटिति प्रदीप्तं तेजो यस्य तस्मिन् । शिखावतोऽग्नेर्वपुषि स्वरूपे । तप्तेऽयसि लौह इव कृतास्पदाः कृतस्थितयः । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । प्रथमे पयोनिपाता जलपाता ध्वनिं वितेनिरे विस्तारयामासुः ॥ ५६ ॥

धारापात के गिरते ही अग्नि की ज्वाला के शान्त हो जाने पर तथा आसार के प्रहार से क्षण मात्र के लिये उद्दीप्त हो जाने पर सन्तप्त लोहे के पात्र पर पड़ते हुये जल धारा की तरह ध्वनि सर्वत्र फैल गई ॥ ५६ ॥

महानले भिन्नसिताभ्रपातिभिः समेत्य सद्यः क्वथनेन फेनताम् ।
व्रजद्भिरार्द्रेन्धनवत्परिक्षयं जलैर्वितेने दिवि धूमसंततिः ॥ ५७ ॥

महानल इति ॥ महानलेऽग्नौ भिन्नानि खण्डितानि सिताभ्राणीव पतन्तीति भिन्नसिताभ्रपातिभिः ॥ 'कर्तर्युपमाने' इति णिनिप्रत्ययः । अत एव सद्यः क्वथनेन पाकेन फेनतां समेत्य प्राप्य परिक्षयं नाशं व्रजद्भिर्जलैरार्द्रेन्धनवद् आर्द्रकाष्ठैस्तुल्यम् । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययः । दिवि गगने धूमसंततिर्वितेने विस्तारिता । फेनादिकमार्द्रेन्धनेऽपि तुल्यम् ॥ ५७ ॥

उस प्रचण्डाग्नि में खण्ड-खण्ड होकर गिरनेवाले शुभ्र बादलों के सदृश जलधारा

गिरकर शीघ्र ही क्वथित होने के कारण फेन बनकर नाश को प्राप्त होती हुई गीले काष्ठ के समान आकाश में धूयें का ढेर लग गया ॥ ५७ ॥

स्वकेतुभिः पाण्डुरनीलपाटलैः समागताः शक्रधनुःप्रभाभिदः।
असंस्थितामादधिरे विभावसोर्विचित्रचीनांशुकचारुतां त्विषः ॥५८॥

स्वकेतुभिरिति ॥ पाण्डुरैर्नीलैः पाटलैश्च पाण्डुरनीलपाटलैर्विचित्रैः स्वकेतुभिर्धूमैः समागताः संगताः। अत एव शक्रधनुषः प्रभाभिद इन्द्रधनुर्द्युतिभाजो विभावसोरग्नेस्त्विषोऽसंस्थितामस्थिरां विचित्रस्य चीनांशुकस्य पट्टवस्त्रविशेषस्य चारुतामादधिरे दधुः ॥ ५८ ॥

अग्नि की कान्ति ने कपिश, कृष्ण तथा लोहित वर्ण के धुयें से व्याप्त होकर इन्द्रधनुष की शोभा को धारण करती हुई विचित्र वर्ण के धूपछाँह वस्त्र की चारुता को, जो रङ्ग बदला करती है, धारण किया ॥ ५८ ॥

जलौघसंमूर्च्छनमूर्च्छितस्वनः प्रसक्तविद्युल्लसितैधितद्युतिः।
प्रशान्तिमेष्यन्धृतधूममण्डलो बभूव भूयानिव तत्र पावकः ॥ ५९ ॥

जलौघेति ॥ जलौघानामुदकप्रवाहाणां संमूर्च्छनेन मेलनेन मूर्च्छितस्वनः प्रवृद्धघोषः। 'मूर्च्छनं मेलने प्रोक्तं वृद्धौ मूर्च्छितमेव वा' इति सज्जनः। प्रसक्तैः संगतैर्विद्युतां तडिल्लतानां लसितैः स्फुरणैरेधिता वर्धिता द्युतिर्यस्य स धृतधूममण्डलो जलाघातात्संभूतधूमपटलः पावकः प्रशान्तिमेष्यन्, तत्र देशे भूयानिव बभूव। भूयस्तया स्थापित इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

उस रणस्थल में अस्त्रोत्थ प्रचण्डाग्नि जलप्रवाह के सम्पर्क से छनछनाहट की ध्वनि करती हुई तथा बिजली के चमक जाने से और अधिक कान्ति से सम्पन्न होती हुई वर्षापात से उत्थित धूम समूह से व्याप्त होकर बुझते समय अनेक मालूम पड़ने लगी ॥ ५९ ॥

प्रवृद्धसिन्धूर्मिचयस्थवीयसां चयैर्विभिन्नाः पयसां प्रपेदिरे।
उपात्तसंध्यारुचिभिः सरूपतां पयोदविच्छेदलवैः कृशानवः ॥ ६० ॥

प्रवृद्धेति ॥ प्रवृद्धानां सिन्धोः समुद्रस्य ऊर्मीणां चया राशय इव स्थवीयसां स्थूलतराणां पयसां चयैः पूरैर्विभिन्ना विश्लेषिताः कृशानवोऽग्नय उपात्तसंध्यारुचिभिः प्राप्तसंध्यारागैः पयोदानां विच्छिद्यन्त इति विच्छेदा विच्छिन्ना विक्षिप्ता ये लवाः शकलास्तैः सरूपतां समानरूपतां प्रपेदिर इत्युपमा ॥ ६० ॥

वृद्धि को प्राप्त समुद्र की लहरों के समूह के सदृश ढेर के ढेर जलसमूह से जगह-जगह विभाजित अग्नि-पुञ्ज ने सायङ्काल की दीप्ति को प्राप्त मेघ के इतस्ततः पड़े हुए टुकड़ों के सदृश स्वरूप धारण किया ॥ ६० ॥

उपैत्यनन्तद्युतिरप्यसंशयं विभिन्नमूलोऽनुदयाय संक्षयम्।
तथा हि तोयौघविभिन्नसंहतिः स हव्यवाहः प्रययौ पराभवम् ॥६१॥

उपैतीति ॥ अनन्तद्युतिर्महातेजा अपि विभिन्नमूलो नष्टमूलोऽसंशयं यथा तथाऽनुदयाय पुनरनुत्थानाय संक्षयं नाशम् । उपैति । तथा हि—तोयौघैर्विभिन्ना संहतिः संघातो यस्य स तथोक्तः हव्यवाहोऽग्निः पराभवं नाशं प्रययौ । विशेषेण सामान्तसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार जड के छिन्न-भिन्न होने पर महान् तेजस्वी भी अवश्य नाश को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार जलसमूह के नष्ट हो जाने पर वह प्रचण्ड पावकास्त्र पराभूत हो गया ॥ ६१ ॥

अथ विहितविधेयैराशु मुक्ता वितानैरसितनगनितम्बश्यामभासां घनानाम् ।
विकसदमलधाम्नां प्राप नीलोत्पलानां श्रियमधिकविशुद्धां वह्निदाहादिव द्यौः॥

अथेति ॥ अथ अग्निनिवारणानन्तरम् । विहितविधेयैः कृतकृत्यैः । असितनगस्याञ्जनाद्रेर्नितम्बः । कटकस्तद्वत् श्यामभासां घनानां वितानैः पटलैर्मुक्ता द्यौराकाशो वह्निदाहादिवेत्युत्प्रेक्षा । विकसन्ति च तानि अमलधामानि स्वच्छकान्तीनि च तेषां नीलोत्पलानामधिकविशुद्धामत्युज्ज्वलां श्रियं प्राप । निदर्शनालंकारः ॥ ६२ ॥

पावकास्त्र के शान्त होने पर अञ्जनगिरि के सदृश श्यामकान्तिधारी मेघपटलों से, जो अपने कर्तव्यपालन में सफल थे छुटकारा पाकर अन्तरिक्ष वह्निदाह के कारण विकसित तथा निर्मलकान्तिसम्पन्न नीलोत्पल की अत्यन्त स्वच्छशोभा (निर्मल श्री) को प्राप्त हुआ ॥ ६२ ॥

इति विविधमुदासे सव्यसाची यदस्त्रं बहुसमरनयज्ञः सादयिष्यन्नरातिम् ।
विधिरिव विपरीतः पौरुषं न्यायवृत्तेः सपदि तदुपनिन्ये रिक्ततां नीलकण्ठः॥

इतीति ॥ बहुसमरनयाननेकरणोपायान् जानातीति बहुसमरनयज्ञः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । न तु 'इगुपध—' इत्यादिनाऽऽकारान्तात् 'अनुपपदात्कर्मोपपदो भवति विप्रतिषेधेन' इति वार्तिकव्याख्याने भाष्यकारेण 'अर्थज्ञ'शब्दमुदाहृत्यास्य 'अर्थज्ञ शब्दस्य कर्मोपपदत्वं दर्शितम् । सव्यसाची अर्जुनः । अरातिं किरातपतिं सादयिष्यन् । अवसादयितुकामः सन्नित्यर्थः । क्रियार्थक्रियायां लृटि तस्य शत्रादेशः । इति पूर्वोक्तप्रकारेण विविधं यदस्त्रमुदासे । प्रयुक्तवानित्यर्थः । 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्' इत्यात्मनेपदम् । विपरीतो विधिः प्रतिकूलं दैवम् । 'विधिर्विधाने दैवेऽपि इत्यमरः । न्यायेन नीत्या वृत्तिर्वर्तनं यस्य तस्य नीतिनिष्ठस्य पौरुषमिव नीलकण्ठः शिवः सपदि तद् अस्त्रं रिक्ततां व्यर्थताम् । उपनिन्ये । संहृतवानित्यर्थः । मालिनीवृत्तम् ॥ ६३ ॥

अनेक–विध–संग्राम–नीतिवेत्ता सव्यसाची (अर्जुन) ने शत्रु को विकल करने की कामना करते हुए अनेक प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग किया। भाग्य के विपरीत होने

पर न्यायनिष्ठ पुरुष के पुरुषार्थ की तरह शंकर भगवान् ने शीघ्र ही सबों को व्यर्थ कर दिया अर्थात् अर्जुन के द्वारा प्रयुक्त सभी अस्त्रों को शंकर भगवान् ने खण्ड-खण्ड कर दिया ।। ६३ ।।

वीतप्रभावतनुरप्यतनुप्रभावः प्रत्याचकाङ्क्ष जयिनीं भुजवीर्यलक्ष्मीम् ।
अस्त्रेषु भूतपतिनापहृतेषु जिष्णुर्वर्षिष्यतादिनकृतेव जलेषु लोकः ।। ६४ ।।

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये षोडशः सर्गः ।

वीतेति ।। भूतपतिना शंभुना । अनुग्रहीष्यतेति शेषः । अस्त्रेष्वपहृतेषु सत्सु वर्षिष्यता, उत्तरत्र,—सहस्रगुणं वितरिष्यता दिनकृता सूर्येण जलेष्वपहृतेषु सत्सु लोक इव वीतप्रभावो गतास्त्रमहिमा । अन्यत्र,—गतशक्तिः । अत एव तनुः क्षीणो वीतप्रभावतनुः, तथाऽप्यतनुप्रभावो निसर्गतः सामर्थ्यादधिकः । अन्यत्र,—उद्योगवान् । ततो जिष्णुरर्जुनो जयिनीं जयशीलाम् । 'जिदृक्षि—' इत्यादिनेनिप्रत्ययः । भुजवीर्यलक्ष्मीं भुजपराक्रमसंपदम् । उभयत्रापि पुरुषकारमिति यावत् । तत्कालकुण्ठितामिति शेषः । प्रत्याचकाङ्क्ष । प्रत्याहर्तुमियेषेत्यर्थः । यथा लोको नद्यादिजलापहारेऽप्युपायान्तरेण कूपादिना जीवितुमिच्छति तद्वदस्त्रबलापहारेऽपि भुजबलेनैव जेतुमियेषेति भावः । वसन्ततिलकावृत्तम् ।। ६४ ।।

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां षोडशः सर्गः समाप्तः ।।

अनुकम्पा करने की कामना से शंकर भगवान् के द्वारा अर्जुन के सम्पूर्ण अस्त्रों के खण्डित हो जाने पर यद्यपि अर्जुन क्षीणशक्ति हो गये तथापि अपने अमित पराक्रम से भविष्य में सहस्रगुण वितरण करने की अभिलाषा से सूर्य भगवान् के द्वारा समस्त जल के शोषण करने पर संसार के लोगों की तरह, जो कूपादि के जल से भी अपनी कृषि की रक्षा कर लेते हैं, विजयिनी अपनी भुजा की पराक्रमलक्ष्मी से जीतने की अभिलाषा किये अर्थात् अर्जुन सब अस्त्रों का अवलम्ब छोड़ कर स्वयं मल्लयुद्ध के लिये तैयार हो गये ।। ६४ ।।

।। षोडश सर्ग समाप्त ।।

सप्तदशः सर्गः

अथ पञ्चभिः पार्थं विशेषयन् षड्भिः कुलकमाह—अथेत्यादिभिः—

अथापदामुद्धरणक्षमेषु मित्रेष्विवास्त्रेषु तिरोहितेषु ।
धृतिं गुरुश्रीर्गुरुणाभिपुष्यन् स्वपौरुषेणेव शरासनेन ॥ १ ॥

अथ जयलक्ष्मीप्रत्याकाङ्क्षानन्तरम् । आपदामुद्धरणक्षमेषु आपन्निवारणसमर्थेषु । अस्त्रेषु प्रस्वापनादिषु तादृशेषु मित्रेष्विव तिरोहितेष्वन्तर्हितेषु सत्सु गुरुणा महता स्वपौरुषेणेव तादृशेन शरासनेन धृतिं धैर्यम् । अभिपुष्यन् वर्धयन् । अद्यापि धनुषि पौरुषे च सति कियानयं किरात इति धैर्यमवलम्बमान इत्यर्थः । अत एव गुरुश्रीः प्रवृद्धशोभासम्पत्तिः । 'पद्मा मा लक्ष्मीः श्रीर्निगद्यते' इति शाश्वतः ॥ १ ॥

(इस श्लोक से ६ तक) अन्वय परस्पर सम्बद्ध है । अन्तिम पद्य के दो चरणों में कर्त्ता 'पार्थ' और क्रिया 'आशशंसे' हैं, शेष पद पार्थ के विशेषण हैं ।

आपत्ति के प्रतिकार करने में समर्थ मित्र की भाँति स्वापनादि अस्त्रों के खण्डित हो जाने पर अर्जुन अपने महान् पराक्रम के सदृश गाण्डीव धनुष के द्वारा धैर्य धारण करते हुए प्रचुर श्रीसम्पन्न हुए ॥ १ ॥

भूरिप्रभावेण रणाभियोगात्प्रीतो विजिह्मश्च तदीयवृद्ध्या ।
स्पष्टोऽप्यविस्पष्टवपुःप्रकाशः सर्पन्महाधूम इवाद्रिवह्निः ॥ २ ॥

भूरीति ॥ पुनश्च, भूरिप्रभावेण महानुभावेन सह रणाभियोगात् युद्धलाभात् प्रीतः, तदीयवृद्ध्या शत्रुवृद्ध्या विजिह्मो विश्लथश्च तथा स्पष्टो दीप्त्या प्रज्वलन्नप्यविस्पष्टो वपुःप्रकाशो यस्य सः । कुतः । सर्पन् प्रसरन् महान्धूमो यस्य स सर्पन्महाधूमोऽद्रिवह्निरिव स्थितः ॥ २ ॥

वे (अर्जुन) महान् व्यक्ति के साथ युद्धलाभ से तो प्रसन्न थे परन्तु शत्रु के उत्कर्ष से उनकी मुखकान्ति म्लान प्रतीत हो रही थी । वे दीप्ति से उद्भासित हो रहे थे तो भी पर्वतस्थ अग्नि के सदृश, जिसमें धूम ही का आधिपत्य रहता है, अप्रकाशित ही प्रतीत हो रहे थे ॥ २ ॥

तेजः समाश्रित्य परैरहार्यं निजं महन्मित्रमिवोरुधैर्यम् ।
आसादयन्नस्खलितस्वभावं भीमे भुजालम्ब्यमिवारिदुर्गे ॥ ३ ॥

तेज इति ॥ पुनश्च, परैररिभिरहार्यमभेद्यं निजं स्वकीयं महत्तेजो वीर्यं मित्रमिव समाश्रित्य । अत एव भीमे भयानकेऽरिरेव दुर्गं तस्मिन् अरिदुर्गे शत्रुसङ्कटे । अस्खलितस्वभावमचलशीलमुरु महत् धैर्यं भुजालम्बमिव हस्तावष्टम्भमिव आसादयन् प्राप्नुवन् । ईदृशे संकटेऽपि महावीर्यत्वाद्धैर्यमत्यजन्नित्यर्थः ॥ ३ ॥

वे शत्रुओं के द्वारा अनतिक्रमणीय अपने महान् बलवान् मित्र के समान आश्रय लेकर

भीषण शत्रु-संकट के समय हाथ के सहारा के समान अविचल महान् धैर्य को प्राप्त कर रहे थे ॥ ३ ।

वंशोचितत्वादभिमानवत्या संप्राप्तया संप्रियतामसुभ्यः ।
समक्षमादित्सितया परेण वध्वेव कीर्त्या परितप्यमानः ॥ ४ ॥

वंशेति ॥ पुनश्च, अभिमानो ममताबुद्धिस्तद्वत्या । विषयतया कर्मणि कर्तृत्वोपचारः । अभिमानास्पदेनेत्यर्थः । अन्यत्र,–कुलशीलाद्यभिमानवत्या । वंशोचितत्वात् स्वकुलानुरूपत्वात् । असुभ्यः प्राणेभ्योपि संप्रियतां संप्राप्तया परेण शत्रुणाऽक्ष्णोः समीपे समक्षमक्ष्यग्रतः । अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः । आदातुं ग्रहीतुमिच्छयाऽऽदित्सितया । आजिहीर्षितयेत्यर्थः । आङ्पूर्वाद्दातेः सन्नन्तात्कर्मणि क्तः । वध्वेव कीर्त्या हेतुना परितप्यमानः । कर्तरि शानच् 'हेतौ' इति तृतीया । कन्यया शोक इति वत् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार उत्तम वंश में जन्म लेने के कारण अभिमानशालिनी पत्नी, जो प्राणों से भी बढ़कर हो गई हो, आँख के सामने शत्रु के द्वारा अपहरण की जाती हो, उसी प्रकार वे अर्जुन प्राणों से प्रिय कीर्त्ति को शत्रु के द्वारा अपहरण होते हुए उसे भी स्वयं अपने आँखों के सामने देखकर सन्तप्त हो रहे थे ॥ ४ ॥

पतिं नगानामिव बद्धमूलमुन्मूलयिष्यंस्तरसा विपक्षम् ।
लघुप्रयत्नं निगृहीतवीर्यस्त्रिमार्गगावेग इवेश्वरेण ॥ ५ ॥

पतिमिति ॥ पुनश्च, नगानां पतिं हिमवन्तमिव बद्धमूलं विपक्षं शत्रुं तरसा बलेन । उन्मूलयिष्यन् उत्पाटयिष्यन् । किंच, त्रिभिर्मार्गैर्गच्छतीति त्रिमार्गगा गङ्गा । उत्तरपदसमासः । तस्या वेग इव । ईश्वरेण लघुप्रयत्नमल्पप्रयासं यथा तथा निगृहीतवीर्यः प्रतिबद्धशक्तिः । हतास्त्रशक्तिरिति यावत् । पुरा किल हिमाद्रिविदलनाय गगनात्पतन्तं गङ्गाप्रवाहं गङ्गाधरो निजजटाजूटेन निजग्राहेति पौराणी कथा तद्वदित्यर्थः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार त्रिपथगा (गङ्गा) का वेग, जो अपने प्रखर पराक्रम से बद्धमूल तथा पक्षहीन पर्वतराज, हिमालय को रसातल में पहुँचा देने की इच्छा कर रहा था, शंकर भगवान् के द्वारा बिना प्रयास के ही अवरुद्ध कर दिया गया उसी प्रकार शंकर के द्वारा अर्जुन का पराक्रम भी अवरुद्ध कर दिया गया था ॥ ५ ॥

संस्कारवत्त्वाद्रमयत्सु चेतः प्रयोगशिक्षागुणभूषणेषु ।
अयं यथार्थेषु शरेषु पार्थः शब्देषु भावार्थमिवाशशंसे ॥ ६ ॥

संस्कारेति ॥ एवंभूतः पार्थः संस्कारवत्त्वात् संस्कारश्चित्तवासना । अन्यत्र, साधुत्वम् । असाधूनां प्रयोगनिषेधादिति भावः । अथवा संस्कारो व्युत्पत्तिस्तद्वत्त्वात्

चेतो रमयत्सु । प्रयोगः संधानमोक्षादिः शिक्षाऽभ्यासो गुणस्तदाहितोऽतिशयो मौर्वी वा, अन्यत्र तु,–प्रयोगोऽभियुक्तव्यवहारः शिक्षाभ्यासो गुणाः स्वस्थस्थानकरणादयः श्लेषप्रसादादयो वा ते भूषणं येषां तेषु । यथा यथाभूता अर्था येषां तेषु यथार्थेषु । अन्यत्र,–नियतार्थेषु । शृणन्ति हिंसन्तीति शरास्तेषु जयम् । तन्निर्वाहकत्वात्तदाधारत्वविवक्षायां सप्तमी । शब्देषु पदेषु भावः प्रवृत्तिनिमित्तं सामान्यादिः स एव अर्थस्तमिव । आशशंसे आचकाङ्क्षे । शास्तिशसत्योराङ्पूर्वयोरिच्छायामात्मनेपदमुपसंख्यानात् । यथा शाब्दिकाः शब्दैरर्थं साधयन्ति तद्वदयं शरैर्जयं साधयितुमियेपेत्यर्थः ॥ ६ ॥

उपर्युक्त विशेषणों से सम्पन्न अर्जुन अपने बाणों के आधार पर शब्दों के अपार भावार्थ की तरह विजय की अभिलाषा करने लगे। जिस प्रकार शब्द संस्कार के कारण प्रयोगार्ह होते हैं (असाधु शब्दों के प्रयोग से प्रत्यवाय होता है) उचित प्रयोग की शिक्षारूप गुण ही उसके भूषण है और यथार्थ (शब्दानुकूल अर्थ प्रतिपादक) में समर्थ होते हैं उसी प्रकार बाण भी चित्तवासना के अनुकूल होने के कारण चित्त को प्रसन्न रखते हैं अर्थात् उत्साह की वृद्धि में समर्थ होते हैं, इनके संधान और मोक्षादि की शिक्षा का अभ्यास ही गुण है, जो विभूषित करता रहता है। यहाँ शृधातु का अर्थ है हिंसा करना—अतः शर हिंसाकारी होते हैं यथा नाम तथा गुण प्रत्यक्ष रूप से इनमें संघटित हो जाता है ॥ ६ ॥

भूयः समाधानविवृद्धतेजा नैवं पुरा युद्धमिति व्यथावान् ।
स निर्ववामास्रममर्षनुन्नं विषं महानाग इवेक्षणाभ्याम् ॥ ७ ॥

भूय इति ॥ भूयः पुनरपि समाधानेन युद्धाय मनोव्यवस्थापनेन विवृद्धतेजाः प्रवृद्धप्रतापः पुरा पुरातनं युद्धमेवमित्थं शक्तिसादकरं नाभवत्, इति हेतोर्व्यथावान् परितापवान् सोऽर्जुन ईक्षणाभ्यां दृष्टिभ्यां महानागो महासर्पो विषमिवामर्षनुन्नं क्रोधोत्थापितम् । अस्रमश्रु निर्ववाम निर्जगार । सात्त्विकानां रससाधारण्याद्रौद्रेऽश्रूदयोक्तिः । 'स्तंभः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः । वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः' ॥ ७ ॥

'ऐसा युद्ध कभी नहीं हुआ था' इस प्रकार के दुःख से संतप्त अर्जुन पुनः युद्ध के लिये निश्चय कर प्रबल तेज से प्रदीप्त होकर महानाग के समान, जो अपनी दृष्टि से विष वमन करता हैं, क्रोध से अपने नेत्रों से जलबिन्दु गिराने लगे ॥ ७ ॥

तस्याहवायास्तविलोलमौलेः संरम्भताम्रायतलोचनस्य ।
निर्वापयिष्यन्निव रोषतप्तं प्रस्नापयामास मुखं निदाघः ॥ ८ ॥

तस्येति ॥ आहवायासेन युद्धायासेन विलोलमौलेः स्रस्तकेशबन्धस्य । 'चूडा किरीटं केशाश्च संयता मौलयस्त्रयः' इत्यमरः । संरम्भताम्रे कोपारुणे आयते विस्तृते लोचने यस्य । 'संरम्भः संभ्रमे कोपे' इति विश्वः । तस्यार्जुनस्य । रोषतप्तं मुखं

निदाघो घर्मो निर्वापयिष्यन् शिशिरीकरिष्यन्निवेत्युत्प्रेक्षा । प्रस्नापयामास सिषेव । स्वेदं जनयामासेत्यर्थः । स्नातेर्मित्त्वविकल्पाद्ध्रस्वविकल्पः ।। ८ ।।

युद्ध के परिश्रम से अर्जुन के केशबन्ध ढीले पड़ गये तथा क्रोध के कारण उनके विशाल नेत्रों ने ताँबे के सदृश अरुण वर्ण धारण किया। क्रोधाग्नि से संतप्त उनके मुख को शीतल करने के लिये ही मानो स्वेद बिन्दु सिञ्चन करने लगे अर्थात् उनके मुखमण्डल पर श्रमकण झलकने लगे ।। ८ ।।

क्रोधान्धकारान्तरितो रणाय भ्रूभेदरेखाः स बभार तिस्रः ।
घनोपरुद्धः प्रभवाय वृष्टेरूर्ध्वांशुराजीरिव तिग्मरश्मिः ।। ९ ।।

क्रोधेति ।। क्रोधोऽन्धकार इव तेनान्तरित आवृतः सोऽर्जुनो घनोपरुद्धो मेघावृतस्तिग्मरश्मी रविर्वृष्टेः प्रभवाय वर्षणाय तिस्र ऊर्ध्वांशूनां राजीरिव । अर्कस्योर्ध्वांशुरेखोदये वृष्टिलिङ्गमित्यागमः । रणाय रणप्रवृत्तये तिस्रस्त्रिसंख्या भ्रूभेदो भ्रूभङ्गस्तस्य रेखा बभार ।। ९ ।।

क्रोधान्धकार से आच्छन्न अर्जुन ने जलदपटलाच्छन्न सूर्य की तरह, जो वृष्टि के लिये ऊर्ध्व किरणों की पंक्तियों को धारण करता है संग्रामार्थ भ्रूभङ्गिमा की तीन रेखाओं को धारण किया अर्थात् जिस प्रकार सूर्य की ऊर्ध्व किरणें वृष्टि की सूचना देती हैं उसी प्रकार अर्जुन के भौंह के ऊपर जो क्रोध के कारण तीन रेखायें बन गई थीं उनसे सूचित होता था कि वे युद्ध के लिये उद्यत हैं ।। ९ ।।

स प्रध्वनय्याम्बुदनादि चापं हस्तेन दिङ्नाग इवाद्रिशृङ्गम् ।
बलानि शंभोरिषुभिस्तताप चेतांसि चिन्ताभिरिवाशरीरः ।। १० ।।

स इति ।। सोऽर्जुनोऽम्बुदवन्नदतीति अम्बुदनादि । 'कर्तर्युपमाने' इति णिनिः । चापं दिङ्नागो दिग्गजोऽद्रिशृङ्गमिव हस्तेन करेण प्रध्वनय्य ध्वनयित्वा शंभोर्बलानि सैन्यानि । अशरीरोऽनङ्गः कामश्चेतांसि युवमनांसि चिन्ताभिः प्रयोजनध्यानैरिव । इषुभिस्तताप तापयामास । तपतिः सकर्मकः । अत्र 'इषु'शब्दः स्त्रीलिङ्गः । अन्यथोपमानोपमेययोर्भिन्नलिङ्गतादोषः स्यात् । 'पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः ।। १० ।।

जिस तरह कामदेव विषयचिन्तनरूप बाणों से युवकों के मन को सन्तप्त करता हैं उसी प्रकार अर्जुन मेघ के सदृश गम्भीर घोषकारी गाण्डीव से दिग्गज की भाँति, जो अपने शुण्ड से पहाड़ के शिखरों को ध्वनित करता है, शरों की वर्षा कर शंकर भगवान् की सेनाको सन्तप्त करने लगे ।। १० ।।

सद्वादितेवाभिनिविष्टबुद्धौ गुणाभ्यसूयेव विपक्षपाते ।
अगोचरे वागिव चोपरेमे शक्तिः शराणां शितिकण्ठकाये ।। ११ ।।

सद्वादितेति ।। अभिनिविष्टा शास्त्रनिश्चिता बुद्धिर्यस्य स तस्मिन् अभिनिविष्टबुद्धौ शास्त्रनिष्ठितमतौ विषये सद्वादिता प्रामाणिकार्थसमर्थकतेव । न हि सम्यगभ्यस्तशास्त्रं

प्रति सद्वाद्यपि शक्नोतीति व्याचक्षते केचित् । अन्ये त्वभिनिविष्टबुद्धावाग्रहाविष्टचित्ते विषये सद्वादिता हितोपदेशोऽत्वमिव । न ह्याग्रही हितं गृह्णातीति भावः । विपक्षपाते वीतरागे विषये गुणाभ्यसूया गुणासहिष्णुतेव । स हि समदर्शी द्विषन्तमपि न द्वेष्टीति भावः । अगोचरेऽवाङ्मनसगोचरे ब्रह्मणि वागिव । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेरिति भावः । शराणां शक्तिः शितिकण्ठकाये शिवशरीरे विषये उपरेम उपरता । तस्याक्षोभ्यमहिमत्वादिति भावः । 'विभाषाकर्मकात्' इत्यस्य वैकल्पिकत्वात्पक्ष आत्मनेपदम् । अत्र मालोपमा ॥ ११ ॥

आग्रह बुद्धिसम्पन्न पुरुष में हित की वार्ता का उपदेश जिस प्रकार व्यर्थ हो जाता है विरक्तपुरुषों के विषय में गुणों के प्रति ईर्ष्या जिस प्रकार स्थान नहीं प्राप्त करती और इन्द्रियों से परे परब्रह्म के विषय में जैसे वाणी मूक हो जाती है उसी प्रकार नीलकण्ठ (शंकर भगवान्) के शरीर में अर्जुन के शरों की शक्ति विफल होने लगी ॥ ११ ॥

उमापतिं पाण्डुसुतप्रणुन्नाः शिलीमुखा न व्यथयांबभूवुः ।
अभ्युत्थितस्याद्रिपतेर्नितम्बमर्कस्य पादा इव हैमनस्य ॥ १२ ॥

उमेति ॥ पाण्डुसुतेन प्रणुन्नाः प्रक्षिप्ताः शिली शल्यं मुखे येषां ते शिलीमुखा बाणा उमापतिं शिवम् । अभ्युत्थितस्याभ्युन्नतस्य । अद्रिपतेर्नितम्बं कटकम् । हेमन्ते भवस्य हैमनस्य । 'सर्वत्राण्च तलोपश्च' इत्यण्प्रत्ययस्तकारलोपश्च । अर्कस्य पादा रश्मय इव । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः । न व्यथयांबभूवुः ! 'मध्ये स्थितस्यासुमतां समूहमर्कस्य' इति पाठान्तरे मध्ये स्थितस्य हैमनस्यार्कस्य पादाः किरणा असुमतां प्राणिनां समूहमिवेति न दुःखमुत्पादयामासुरिति योजना ॥ १२ ॥

अर्जुन के द्वारा प्रक्षिप्त बाण शिव भगवान् को उस प्रकार व्यथित न कर सका, जिस प्रकार हेमन्तकालीन सूर्य की किरणें अत्यन्त ऊँचे हिमालय के नितम्ब को नहीं व्यथित कर पाती हैं ॥ १२ ॥

संप्रीयमाणोऽनुबभूव तीव्रं पराक्रमं तस्य पतिर्गणानाम् ।
विषाणभेदं हिमवानसह्यं वप्रानतस्येव सुरद्विपस्य ॥ १३ ॥

समिति ॥ गणानां पतिः शिवः । तीव्रं तस्यार्जुनस्य पराक्रमं वप्रे रोधसि आनतस्य परिणतस्य । तटप्रहारिण इत्यर्थः । सुरद्विपस्यासह्यं विषाणभेदं दन्तप्रहारं हिमवानिव संप्रीयमाणः संहृष्यन्, अनुबभूवानुभवति स्म । तस्याक्षोभ्यत्वादनुजिघृक्षुत्वाच्चेति भावः ॥ १३ ॥

तटप्रहारकारी ऐरावत के असह्य दन्तप्रहार को हिमालय की तरह प्रमथगणों के स्वामी शंकर भगवान् प्रहृष्ट होते हुए उस अर्जुन के तीक्ष्ण पराक्रम का अनुभव करने लगे ॥ १३ ॥

तस्मै हि भारोद्धरणे समर्थं प्रदास्यता बाहुमिव प्रतापम् ।
चिरं विषेहेऽभिभवस्तदानीं स कारणानामपि कारणेन ॥ १४ ॥

तस्मै हीति ॥ तस्मै पार्थाय भारस्य भूभारस्य उद्धरणे उद्वहने समर्थं प्रतापं बाहुमिव । अवष्टम्भतयेति शेषः । अन्यथा भारोद्वहनस्य दुष्करत्वादिति भावः । 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः । प्रदास्यता वितरिष्यता कारणानां ब्रह्मादीनामपि कारणेन जनकेन देवेन सोऽभिभवोऽर्जुनपरिभवः । तदानीं चिरं विषेहे सोढः । वात्सल्यादिति भावः ॥ १४ ॥

उस अर्जुन को पृथ्वी का भार हरण करने में समर्थ, प्रताप को भुजावलम्ब के समान वितरण करते हुए, कारणों के कारण अर्थात् सृष्टि के उत्पादक ब्रह्मादिक के भी जनक शंकर भगवान् अर्जुनकृत पराभव का सहन करते रहे ॥ १४ ॥

अथ त्रिभिर्भगवदभिप्रायमाविष्कुर्वंश्चतुर्भिः कलापकमाह—

प्रत्याहृतौजाः कृतसत्त्ववेगः पराक्रमं ज्यायसि यस्तनोति ।
तेजांसि भानोरिव निष्पतन्ति यशांसि वीर्यज्वलितानि तस्य ॥ १५ ॥

प्रत्याहृतेति ॥ प्रत्याहृतौजाः परेण प्रतिहतबलाः सन्नपि कृतसत्त्ववेगः कृतोत्साहातिशयः सन् यः पुमान् ज्यायसि स्वस्मादप्यधिके पराक्रमं तनोति तस्य पुंसो भानोरर्कस्य तेजांसीव वीर्येण शौर्येण ज्वलितानि प्रकाशितानि यशांसि निष्पतन्ति । उद्भवन्तीत्यर्थः । हीनस्याधिकाभियोगो यशस्कर इति भावः ॥ १५ ॥

शत्रु के द्वारा क्षीण-पराक्रम होने पर भी उत्साह शक्ति का अवलम्बन लेते हुए जो पुरुष अपने से अधिक बलशाली पुरुष के साथ विक्रम प्रदर्शन करता है उस पुरुष के यश, जो शौर्य से प्रकाशमान रहते हैं, सूर्य की किरणों के समान विकीर्ण होते हैं ॥ १५ ॥

ततः किमित्यत आह—

दृष्टावदानाद्व्यथतेऽरिलोकः प्रध्वंसमेति व्यथिताच्च तेजः ।
तेजोविहीनं विजहाति दर्पः शान्तार्चिषं दीपमिव प्रकाशः ॥ १६ ॥

दृष्टेति ॥ दृष्टमवदानं महत्कर्म यस्य तस्मात् दृष्टावदानाद् दृष्टपौरुषात् । अरिलोकः शत्रुजनो व्यथते बिभेति । व्यथिताद्भीतात् तेजः प्रध्वंसं नाशम् । एति । तेजोविहीनं दर्पं उत्साहः शान्तार्चिषं निर्वाणज्वालं दीपं प्रकाश इव विजहाति त्यजति ॥ १६ ॥

जिस पुरुष का पुरुषार्थ प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है उससे शत्रुवर्ग त्रस्त रहता है अर्थात् भयभीत होकर तेजहत हो जाता है, हतप्रभ होने पर उत्साह उसे इस प्रकार त्याग देता है जिस प्रकार दीपक की ज्वाला के निर्वाण हो जाने पर प्रकाश उसका परित्याग कर देता है ॥ १६ ॥

ततः प्रयात्यस्तमदावलेपः स जय्यतायाः पदवीं जिगीषोः ।
गन्धेन जेतुः प्रमुखागतस्य प्रतिद्विपस्येव मतङ्गजौघः ॥ १७ ॥

तत इति ॥ ततो दर्पहान्यनन्तरम् । अस्तौ क्षयं गतौ मदावलेपौ मदगर्वौ यस्य सोऽरिलोको गन्धेन मदगन्धेनेव जेतुर्जयनशीलस्य । शीलार्थे तृच्प्रत्ययः । प्रमुखागत

स्याभिमुखागतस्य प्रतिद्विपस्यान्यो मतङ्गजौघो मत्तगजसमूह इव जिगीषोर्नायकस्य जय्यतायाः पदवीं प्रयाति प्राप्नोति । विजिगीषुणा जेतुं शक्यो भवतीत्यर्थः । 'क्षय्य-जय्यौ शक्यार्थे' इति निपातः । अत्र श्लोकद्वये ज्यायसि पराक्रमकरणादीनां पूर्वपूर्व-स्योत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वकथनात् कारणमालाख्योऽलंकारः । लक्षणं तूक्तम् ॥१७॥

पुनः उत्साह से परित्यक्त होकर वह पुरुष अभिमानिता को छोड़ देता हैं और जया-भिलाषी शत्रु के विजय का इस तरह लक्ष्य बन जाता हैं जिस तरह मदगन्धि से सम्मुख समुपस्थित जयेच्छु गजराज को हाथियों का संघ विजयी बनने का सुअवसर प्रदान करता है ॥ १७ ॥

एवं प्रतिद्वन्द्विषु तस्य कीर्तिं मौलीन्दुलेखाविशदां विधास्यन् ।
इयेष पर्यायजयावसादां रणक्रियां शंभुरनुक्रमेण ॥ १८ ॥

एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या प्रतिद्वन्द्विषु प्रत्यर्थिषु मध्ये तस्यार्जुनस्य मौलीन्दुले-खाविशदां कीर्तिं विधास्यन् करिष्यन्, अनुक्रमेणाविपर्यासेन पर्यायेण जयोऽवसादो भङ्गश्च तौ जयावसादौ यस्यां तां पर्यायजयावसादां रणक्रियाम् । इयेषेच्छति स्म । जयानन्तरं भङ्गो भङ्गानन्तरं जय इति पर्यायार्थः । तस्य विपर्यासोऽन्यतरनैरन्तर्यं तदभावोऽनुक्रम इत्यपौनरुक्त्यम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार शंकर भगवान् विपक्षियों के बीच उस अर्जुन की कीर्ति को स्वकीय ललाट पट्टस्थ चन्द्रलेखा के सदृश शुभ्रवर्ण करते हुए क्रमशः कभी जय तो कभी पराजय रूप युद्धक्रिया के इच्छुक हुए ॥ १८ ॥

मुनेर्विचित्रैरिषुभिः स भूयान्निन्ये वशं भूतपतेर्बलौघः ।
सहात्मलाभेन समुत्पतद्भिर्जातिस्वभावैरिव जीवलोकः ॥ १९ ॥

मुनेरिति ॥ मुनेर्विचित्रैरिषुभिः स भूयान् असंख्यो भूतपतेर्बलौघ आत्मलाभेन जन्मना सह समुत्पतद्भिराविर्भवद्भिः । आजन्मसिद्धैरित्यर्थः । जातयो गोत्वमनुष्य-त्वादयः, स्वभावा जातिनियता धर्मास्तैः जातिस्वभावैर्जीवलोकः प्राणिजातमिव वशं निन्ये नीतः । कर्मणि लिट् । प्राणिनो जातिधर्मानिव गणा मुनिशरान्नातिक्रमितुं शेकुरित्यर्थः । कलापकम् ॥ १९ ॥

आजन्म सिद्ध जातियों के धर्म के द्वारा संसारी लोग की तरह अर्जुन की विविध प्रकार के विलक्षण अस्त्रों के द्वारा भूताधिनाथ (शंकर) का सेनासमूह वश्यता को प्राप्त हो गया अर्थात् शंकर भगवान् का सैनिक वर्ग अर्जुन के अस्त्र शस्त्रों का अतिक्रमण न कर सका ॥ १९ ॥

वितन्वतस्तस्य शरान्धकारं त्रस्तानि सैन्यानि रवं निशेमुः ।
प्रवर्षतः संततवेपथूनि क्षपाघनस्येव गवां कुलानि ॥ २० ॥

वितन्वत इति ॥ त्रस्तानि सैन्यानि संततवेपथूनि निरन्तरकम्पानि गवां कुलानि

वृन्दानि वृष्टिं कुर्वतः क्षपाघनस्य रात्रिमेघस्येव शरैर्योऽन्धकारस्तं वितन्वतो विस्तारयतः तस्य मुनेः संबन्धिनं रवं शरवर्षघोषं निशेमुः शुश्रुवुः। न तु किंचिद्ददृशुः। चेष्टा तु दूरापास्तेति भावः।। २०।।

वृष्टिकर्म में संलग्न रात्रिकालीन मेघ के गम्भीर गर्जन से निरन्तर काँपती हुई गायों के परिवार के सदृश बाणान्धकार का विस्तार करते हुए अर्जुन के अस्त्र-निर्घोष को भयभीत शंकर की सेना ने सुना।। २०।।

स सायकान्साध्वसविप्लुतानां क्षिपन्परेषामतिसौष्ठवेन।
शशीव दोषावृतलोचनानां विभिद्यमानः पृथगाबभासे।। २१।।

स इति।। अतिसौष्ठवेनातिलाघवेन सायकान् शरान् क्षिपन् सोऽर्जुनः साध्वसेन विप्लुतानां भ्रान्तानां परेषां द्विषां दोषेण काचकामलादिरोगेण आवृतलोचनानां दुष्टचक्षुषां शशीव पृथग्विभिद्यमान आबभासे। यथा सदोषचक्षुषैकश्चन्द्रो नानेव लक्ष्यते तद्वदेकोऽप्यनेक इव दृष्ट इति भावः।। २१।।

अत्यन्त क्षिप्रता (लाघव) के साथ बाण प्रक्षेप करते हुए अर्जुन काच, कामलादि दोष से दूषित नेत्रों के लिये पृथक् पृथक् हिमांशु बिम्ब की तरह भयग्रस्त शत्रुओं के लिये एक होते हुए भी अनेक दृष्टिगोचर होने लगे।। २१।।

क्षोभेण तेनाऽथ गणाधिपानां भेदं ययावाकृतिरीश्वरस्य।
तरङ्गकम्पेन महाह्रदानां छायामयस्येव दिनस्य कर्तुः।। २२।।

क्षोभेणेति।। अथ गणाधिपानां संबन्धिना तेन क्षोभेण कम्पेन। ईश्वरस्याकृतिराकारो मूर्तिः। महाह्रदानां तरङ्गकम्पेन छायामयस्य प्रतिबिम्बरूपस्य दिनस्य कर्तुर्दिवाकरस्याकृतिरिव भेदं विकारं ययौ प्राप। स्वयं निर्विकारोऽपि प्रतिमासूर्यवत् परसंसर्गात्तथा प्रतीयत इत्यर्थः।। २२।।

विलोल लहरों से महाजलाशयान्तर्गत दिनकर प्रतिबिम्ब की भाँति प्रमथगणों के उस विक्षोभ से शंकर भगवान् की आकृत भी विकृति हो गई अर्थात् जिस प्रकार सूर्यमण्डल में किसी प्रकार की विकृति न रहने पर भी तरङ्गों के कम्प के कारण उसका प्रतिबिम्ब कम्पित दिखलाई पड़ता है उसी प्रकार शंकर भगवान् स्वयं निर्विकार होते हुए भी गणों के विक्षोभ से क्षुभित प्रतीत होने लगे।। २२।।

यदि देवोऽपि विकृतस्तर्हि कोपः किं न कृतः, तत्राह—

प्रसेदिवांसं न तमाप कोपः कुतः परस्मिन्पुरुषे विकारः।
आकारवैषम्यमिदं च भेजे दुर्लक्ष्यचिह्ना महतां हि वृत्तिः।। २३।।

प्रसेदिवांसमिति।। प्रसेदिवांसमर्जुनं प्रति प्रसन्नचित्तं तं देवं कोपो नाप न प्राप। तत्राप्यनुग्रहं ययाविति भावः। तत्र हेतुः—परस्मिन् पुरुषे परात्मनि देवे। स्वतो निर्विकार इत्यर्थः। विकारः कोपरूपः कुतः। न कुतश्चिदित्यर्थः। ननु तस्य निर्विकारस्य

कथ वहिराकारभेदः कारणाभावादिति चेन्न विद्म इत्याह – इदं पूर्वोक्तम् । आकारवैषम्यं च भेजे । किंतु केनापि कारणेन न कुप्यतीत्यर्थः । ननु निर्विकारे कुत आकारभेदस्तत्राह—महतां वृत्तिश्चेष्टा दुर्लक्ष्यचिह्ना दुर्ग्रहहेतुका हि ॥ २३ ॥

यद्यपि शंकर भगवान् की आकृति में विकारकृत परिवर्तन हो गया था तथापि अर्जुन के प्रति उन्हें क्रोध न हुआ। परम पुरुष में विकार कहाँ ? केवल आकारमात्र में यह विषमता थी। महान् व्यक्तियों का भाव किसी चिह्न विशेष से व्यक्त नहीं हो पाता ॥ २३ ॥

वैषम्यमेवाह—

विस्फार्यमाणस्य ततो भुजाभ्यां भूतानि भर्त्रा धनुरन्तकस्य ।
भिन्नाकृतिं ज्यां ददृशुः स्फुरन्तीं क्रुद्धस्य जिह्वामिव तक्षकस्य ॥ २४ ॥

विस्फार्यमाणस्येति ॥ ततोऽनन्तरं भूतानि भर्त्रा भूतपतिना । भृञस्तृच्प्रत्ययः । अत एव 'न लोक—इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । भुजाभ्याम् । कर्तृकरणयोस्तृतीया । विस्फार्यमाणस्याकृष्यमाणस्य धनुरन्तक इव तस्य धनुरन्तकस्य संबन्धिनी स्फुरन्तीं चलन्तीमत एव भिन्ना द्विधेव दृश्यमानाऽऽकृतिर्यस्यास्तां ज्यां धनुर्गुणं क्रुद्धस्य तक्षकस्य नागविशेषस्य जिह्वामिव ददृशुः । द्विधाभावाद्भयंकरत्वाच्चेति भावः ॥ २४ ॥

स्वामी शंकर भगवान् की भुजाओं से आकृष्ट किये जाते हुए मृत्यु सदृश धनुष की स्फुरण करती हुई प्रत्यञ्चाको (डोरी), जो भिन्नाकृति धारण कर रही थी, कुपित् तक्षक की लपलपाती हुई जिह्वा के सदृश सब लोगों ने देखा ॥ २४ ॥

सव्यापसव्यध्वनितोग्रचापं पार्थः किराताधिपमाशशङ्के ।
पर्यायसंपादितकर्णतालं यन्ता गजं व्यालमिवापराद्धः ॥ २५ ॥

सव्येति ॥ पार्थः सव्यापसव्याभ्यां वामदक्षिणगतिभ्यां ध्वनितं नादितमुग्रचापं येन तं किराताधिपम् । अपराद्धः प्रमत्तो यन्ता पर्यायेणायौपगद्येन संपादितः कर्णयोस्ताल आस्फालनं येन तं व्यालं दुष्टम् । 'भेद्यलिङ्गः शठे व्यालः' इत्यमरः । गजमिवाशशङ्के । तच्चापचातुर्यदर्शनाद् दुर्जयः कोऽप्ययमनर्थकरश्चेति शङ्कितवानित्यर्थः ॥ २५ ॥

जिस प्रकार मतवाला हाथीवान बारी बारी से दोनों कर्णतालों को संचालन करते हुए दुष्ट हाथी के प्रति आशङ्का करता है उसी प्रकार अर्जुन वाम और दक्षिण उभय गति से धनुष को निर्घोषित करते हुए शवराधिनाथ (शंकर) को देखकर आशङ्का करने लगे ॥ २५ ॥

निजघ्निरे तस्य हरेषुजालैः पतन्ति वृन्दानि शिलीमुखानाम् ।
ऊर्जस्विभिः सिन्धुमुखागतानि यादांसि यादोभिरिवाम्बुराशेः ॥ २६ ॥

निजघ्निर इति ॥ हरेषुजालैस्तस्यार्जुनस्य पतन्ति आगच्छन्ति शिलीमुखानां शराणां वृन्दानि । ऊर्जस्विभिः प्रबलैः । अम्बुराशेर्यादोभिर्जलग्राहैः सिन्धुमुखेन नदीमुखेन आगतानि यादांसीव निजघ्निरे हतानि ॥ २६ ॥

समुद्र के बलिष्ठ (भीषण) जन्तुओं के द्वारा स्रोतस्विनियों (नदियों) के मुख से समागत जलजन्तु की भाँति शंकर भगवान् के वेगशाली बाणसमूहों से उस अर्जुन के उत्पतनशील शरों के समूह ताडित किये गये अर्थात् छिन्न-भिन्न कर दिये ॥ २६ ॥

विभेदमन्तः पदवीनिरोधं विध्वंसनं चाविदितप्रयोगः ।
नेताऽरिलोकेषु करोति यद्यत्तत्तच्चकारास्य शरेषु शंभुः ॥ २७ ॥

विभेदमिति । अन्तर्विभेदं व्यूहविश्लेषणमुपजापं च पदवीनिरोधं मार्ग एव प्रतिबन्धनम्, अन्यत्र तु—आसारप्रसारप्रतिबन्धं विध्वंसनं खण्डनं दुर्गलुण्ठनदाहादिकं चेत्यादि यद्यन्नेता नायको जिगीषुः । अविदितप्रयोगः संवृतमन्त्रत्वादविज्ञातोपायप्रयोगः सन्, अरिलोकेषु शत्रुकुलेषु करोति तत्तच्छंभुरविदितप्रयोगोऽज्ञातबाणसंधानमोक्षादिकः सन्, अस्यार्जुनस्य शरेषु चकार कृतवान् । कर्तरि लिट् । श्लेषालङ्कारः ॥ २७ ॥

जिस प्रकार सेनानायक अन्य से अपरिचित उपाय प्रयोग वाला होकर शत्रु समूह के विषय में भेदनीति का प्रयोग करता है, यातायात मार्ग का अवरोध करता है और किले को तोड़ ताड़ जला-भुना कर नष्ट-भ्रष्ट कर देता है उसी प्रकार शंकर भगवान् ने अन्य से अपरिचित उपाय प्रयोग (अज्ञात बाण संधान मोक्षादि) वाला हो व्यूह को तितर बितर कर दिया बाणों को बीच से काट डाला ॥ २७ ॥

सोढावगीतप्रथमायुधस्य क्रोधोज्झितैर्वेगितया पतद्भिः ।
छिन्नैरपि त्रासितवाहिनीकैः पेते कृतार्थैरिव तस्य बाणैः ॥ २८ ॥

सोढेति ॥ सोढानि परैरवगीतानि गर्हितानि प्रथमायुधानि सर्वोत्सृष्टबाणा यस्य तस्यार्जुनस्य संबन्धिभिः क्रोधोज्झितैः पूर्वबाणवैफल्यात्कोपेन त्यक्तैः । अत एव वेगितया वेगेन पतद्भिर्गतिं कुर्वद्भिः अत एव छिन्नैरपि त्रासिता वाहिन्यो यैस्तैरत एव कृतार्थैरिव बाणः पेते । भावे लिट् । वस्तुतस्त्वकृतार्था एवेत्यर्थः ॥ २८ ॥

अर्जुन ने जिन बाणों का प्रयोग किया था सभी का प्रतीकार भगवान् शंकर ने किया जिससे उनके द्वारा अत्यन्त क्रोध के साथ प्रक्षिप्त बाण वेग से उड़ते हुए शंकर भगवान् की ओर से खण्डित कर दिये गये तथापि उनकी सेनाओं को त्रस्त करते हुए सफलीभूत की तरह गिरने लगे, वस्तुतः विफल रहे ॥ २८ ॥

अलंकृतानामृजुतागुणेन गुरूपदिष्टां गतिमास्थितानाम् ।
सतामिवापर्वणि मार्गणानां भङ्गः स जिष्णोर्धृतिमुन्ममाथ ॥ २९ ॥

अलमिति ॥ ऋजुताऽवक्राकारत्वमवक्रशीलत्वं च सैव गुणस्तेन अलंकृतानां गुरुभिर्धनुर्विद्यागुरुभिर्धर्मशास्त्रगुरुभिश्च उपदिष्टां दर्शितां गतिं गमनमाचारं च आस्थितानां प्राप्तानां मार्गणानां शराणां सतां साधूनामिव । अपर्वण्यग्रन्थौ । अन्यत्र,—अप्र-

स्तावे । अकाण्ड इत्यर्थः । 'पर्व स्यादुत्सवे ग्रन्थौ प्रस्तावे लक्षणान्तरे' इति विश्वः । स ईश्वरकृतो भङ्गश्छेदो व्यसनं च जिष्णोरर्जुनस्य कस्यचिज्जित्वरस्य च । 'जिष्णुः शक्रे धनंजये । जित्वरे' इति विश्वः । धृतिं धैर्यम् । उन्ममाथ । जहारेत्यर्थः । अकाण्डे साधुविपत्तिदर्शनादिव शरभङ्गदर्शनाद्धैर्यभङ्गोऽभूदित्यर्थः ॥ २९ ॥

जिस प्रकार सज्जन पुरुष का, जो विनम्रता से अलंकृत रहता है, तथा धर्मशास्त्र द्वारा प्रदर्शित पथपर अपनी जीवन-यात्रा को अवलम्बित रखता हैं, धैर्य आगन्तुक विपत्ति से छूट जाता है उसी प्रकार सरलता के गुणों से सम्पन्न तथा धनुर्विद्याविशारद गुरुओं के द्वारा प्रदर्शित गति के अनुसारी वाणों के खण्डन ने अर्जुन के धैर्य को मथ डाला अर्थात् उनका धैर्य छूटने-छूटने को हो गया ॥ २९ ॥

बाणच्छिदस्ते विशिखाः स्मरारेवाङ्मुखीभूतफलाः पतन्तः ।
अखण्डितं पाण्डवसायकेभ्यः कृतस्य सद्यः प्रतिकारमापुः ॥ ३० ॥

वाणेति ॥ बाणच्छिदः पार्थशरच्छेदिनस्ते स्मरारेर्विशिखा अवाङ्मुखीभूतफला-विमुखाग्रा विफलाश्च सन्तः पतन्तः पाण्डवसायकेभ्यः । क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी । पाण्ड-वसायकानां कृतस्य फलभङ्गरूपस्य स्वकर्मणः सद्योऽखण्डितं प्रतिकारमापुः । अत्यु-त्कटं कर्म सद्यो दर्शयतीति भावः ॥ ३० ॥

कामदेव के शत्रु शंकर भगवान् के वाण, जो अर्जुन के वाणों को छिन्न-भिन्न कर रहे थे, अत एव उनके अग्रभाग में लगे हुए फल मुड़कर टेढ़े हो गये थे और किसी-किसी के निकल कर गिर गये थे, अर्जुन के शरों पर गिरते हुए अपने किये हुए कर्मों के अखण्डफल को प्राप्त कर लिये ॥ ३० ॥

पुनरर्जुनस्य जयमाह—

चित्रीयमाणानतिलाघवेन प्रमाथिनस्तान्भवमार्गणानाम् ।
समाकुलाया निचखान दूरं बाणान्ध्वजिन्या हृदयेष्वरातिः ॥ ३१ ॥

चित्रीयमाणानिति ॥ अरातिरर्जुनः । अतिलाघवेनातिशीघ्रत्वात् चित्रीयमाणांश्चि-त्रमाश्चर्यं कुर्वाणान् । 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' । भवमार्गणानां प्रमाथिनः खण्डयतः तान् बाणान् । समाकुलायाः संक्षुभितायाः ध्वजिन्याः सेनाया हृदयेषु दूरं गाढं निच-खान निखातवान् ॥ ३१ ॥

अर्जुन ने हस्तलाघव से (वाण के आदान और प्रक्षेप रूप क्रियाकुशलता से) आश्चर्य में डाल देने वाले बाणों को, जो शंकर भगवान् के शरों को खण्डित कर रहे थे, अस्तव्यस्त सेना के वक्षस्थल में गाड़ दिया ॥ ३१ ॥

तस्यातियत्नादतिरिच्यमाने पराक्रमेऽन्योन्यविशेषणेन ।
हन्ता पुरां भूरि पृषत्कवर्षं निरास नैदाघ इवाम्बु मेघः ॥ ३२ ॥

तस्येति ।। तस्यार्जुनस्य पराक्रमेऽतियवाद्धेतोः । अन्योन्यस्य विशेषणेनातिशयकरणेन । अतिरिच्यमान उत्कृष्यमाणे सति पुरां हन्ता त्रिपुरविजयी हरो भूरि प्रभूतं पृषत्कवर्षं बाणवर्षम् । 'पृषत्कबाणविशिखाः' इत्यमरः । निदाघे भवो नैदाघो मेघोऽम्बुवाहोऽम्बु जलमिव निरास मुमोच । अस्यतेर्लिट् । 'निदाघ' ग्रहणं वर्षणस्यातितीव्रत्वद्योतनार्थम् ।। ३२ ।।

अत्यन्त परिश्रमपूर्वक संग्राम करते करते अर्जुन के पराक्रम की शिथिलता होने पर त्रिपुरविघाती भगवान् शूली ने ग्रीष्मकालिक मेघकी जलवृष्टि सदृश बाणवृष्टि करना प्रारम्भ कर दिया ।। ३२ ।।

अनामृशन्तः क्वचिदेव मर्म प्रियैषिणाऽनुप्रहिताः शिवेन ।
सुहृत्प्रयुक्ता इव नर्मवादाः शरा मुनेः प्रीतिकरा बभूवुः ।। ३३ ।।

अनामृशन्त इति ।। प्रियैषिणा प्रियचिकीर्षुणा शिवेनानुप्रहिताः प्रयुक्ता अतएव क्वचिदेव मर्मानामृशन्तोऽस्पृशन्तः शराः सुहृन्मित्रं सोऽपि प्रियैषी तेन प्रयुक्ता उच्चारिता नर्मवादाः प्रियवादा इव मुनेरर्जुनस्य प्रीतिकराः प्रीतिजनका बभूवुः ।। ३३ ।।

अर्जुन के शुभचिन्तक शंकर भगवान् के द्वारा प्रेरित बाण उनके मर्मस्थलों को कहीं भी कष्ट न पहुँचाते हुए मित्र के द्वारा प्रयुक्त परिहास वचनों की भांति दुःखद न होकर प्रीतिप्रद होने लगे ।। ३३ ।।

अस्त्रैः समानामतिरेकिणीं वा पश्यन्निषूणामपि तस्य शक्तिम् ।
विषादवक्तव्यबलः प्रमाथी स्वमाललम्बे बलमिन्दुमौलिः ।। ३४ ।।

अस्त्रैरिति ।। अस्त्रैः स्वायुधैः समानां तुल्याम् । अतिरेकिणीं ततोऽधिकां वा तस्य मुनेः । इषूणामपि शक्तिं पश्यन् विषादेनोत्साहभङ्गेन वक्तव्यानि निर्वाच्यानि बलानि सैन्यानि यस्य स प्रमाथी शत्रुमर्दन इन्दुमौलिर्महादेवः स्वं बलमात्मीयं महिमानम् । आललम्बे स्वसामर्थ्यमवलम्बितवान् ।। ३४ ।।

शत्रुसूदन, चन्द्रचूड़ भगवान् शंकर ने अर्जुन के बाणों की शक्ति को स्वकीय शरों के समान अथवा उससे भी अधिक देखकर उत्साहभंग के कारण सेनाओं को कोसते हुए अपनी सामर्थ्य का आश्रय लिया ।। ३४ ।।

ततस्तपोवीर्यसमुद्धतस्य पारं यियासोः समरार्णवस्य ।
महेषुजालान्यखिलानि जिष्णोरर्कः पयांसीव समाचचाम ।। ३५ ।।

तत इति ।। ततो महिमप्रादुर्भावानन्तरं देवस्तपोवीर्याभ्यां समुद्धतस्य प्रगल्भस्य समर एवार्णवस्तस्य पारमन्तं यियासोर्जिगमिषोर्जिष्णोरर्जुनस्य अखिलानि महेषुजालानि समग्रबाणसमूहान् । अर्कः सूर्यः पयांसीव जलानीव समाचचाम संजहार ।। ३५ ।।

भगवान् मरीचिमाली के द्वारा जलशोषण की भांति शंकर भगवान् ने अपनी महिमा

के व्यक्त करने के अनन्तर तपस्या और पराक्रम से प्रगल्भ तथा समर समुद्र के पारंगत होने के अभिलाषी अर्जुन के सम्पूर्ण शरसमूह का आचमन कर लिया ॥ ३५ ॥

रिक्ते सविस्रम्भमथार्जुनस्य निषङ्गवक्त्रे निपपात पाणिः ।
अन्यद्विपापीतजले सतर्षं मतङ्गजस्येव नगाश्मरन्ध्रे ॥ ३६ ॥

रिक्त इति ॥ अथ बाणान्तर्धानानन्तरम् । अर्जुनस्य पाणिः करः रिक्ते बाणशून्ये निषङ्गवक्त्रे तूणीरमुखेऽन्यद्विपेन गजान्तरेण आपीतजले पीततोये नगस्याचलस्याश्मरन्ध्रे शिलागर्ते । प्रदर इत्यर्थः । सतर्षं सतृष्णं यथा स्यात्तथा मतङ्गजस्य पाणिर्लक्षणया कर इव सविस्रम्भं सन्त्येव बाणा इति सविश्वासं निपपात ॥ ३६ ॥

पर्वत के पत्थरों की दरारों में पूर्ण जल को वन्य हाथी के द्वारा शोषण कर लेने पर उस स्थान के जलपान के अभ्यासी हाथी की तरह, जो जल की सत्ता पर विश्वास करते हुए अपनी सूँड़ से उसे टटोलता है, अर्जुनका हाथ शंकर के द्वारा बाणशोषण के अनन्तर रिक्त तरकश को बाण की सत्ता का विश्वास करते हुए टटोलने लगा ॥ ३६ ॥

च्युते स तस्मिन्निषुधौ शरार्थाद्ध्वस्तार्थसारे सहसेव बन्धौ ।
तत्कालमोघप्रणयः प्रपेदे निर्वाच्यताकाम इवाभिमुख्यम् ॥ ३७ ॥

च्युत इति ॥ शरा एव अर्थो धनं तस्मात् । च्युते भ्रष्टे तस्मिन्निषुधौ निषङ्गे सहसा झटिति ध्वस्तार्थसारेऽकाण्डे नष्टधनसारे बन्धाविव तत्काले मोघो वितथः प्रणयः प्रीतिर्यस्य सः । तत्कालकृतव्यर्थप्रार्थनः । पूर्वं कृतार्थ एवेति भावः । स पाणिः । निर्वाच्यतां कृतघ्नत्वापवादराहित्यं कामयेत इति निर्वाच्यताकामः । 'शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः' स इवेत्युत्प्रेक्षा । आभिमुख्यं प्रपेदे । यथा कश्चित्कृतज्ञस्तत्कालेऽकृतोपकारमपि बन्धुं पूर्वोपकारस्मरणात्पुनः पुनरनुबध्नाति तद्वदित्यर्थः ॥ ३७ ॥

तरकश की सम्पत्ति तो बाण ही है । उनके नष्ट हो जाने पर भी अर्जुन का हाथ उस क्षण विफल मनोरथ रहता है तो भी उसके पूर्वकृत उपकारों की कृतज्ञता प्रगट करने के लिये उस व्यक्ति की तरह जो आत्मीय बन्धु के उपकारों की कृतज्ञता प्रकट करने के लिये उसके सर्वस्वापहार दशा में भी उसके समक्ष उपस्थित होता है, तरकश के सम्मुख उपस्थित हुआ ॥ ३७ ॥

आघट्टयामास गतागताभ्यां सावेगमग्नाङ्गुलिरस्य तूणी ।
विधेयमार्गे मतिरुत्सुकस्य नयप्रयोगाविव गां जिगीषोः ॥ ३८ ॥

आघट्टयामासेति ॥ अस्य मुनेः । अग्रं चासावङ्गुलिश्चेत्यग्रांगुलिः । 'हस्ताग्राग्रहस्तयोर्गुणगुणिनोर्भेदाभेदात्' इति वामनः । विधेयमार्गे कर्तव्यान्वेषण उत्सुकस्य प्रवृत्तस्य गां भुवं जिगीषोर्नायकस्य मतिर्बुद्धिर्नयः षाड्गुण्यं प्रयोग उपायस्तौ नयप्रयोगाविव तूणी निषङ्गौ सावेगं ससंभ्रमम् । 'इष्टानिष्टागमाज्ञाने आवेगश्चित्तसंभ्रमः' इति शाश्वतः । गतागताभ्यां यातायाताभ्यामावापोद्वापाभ्यां चाऽऽघट्टयामास ।

अन्यत्र तु—वितर्कयामास । शरग्रहणाय पुनःपुनस्तूणयोः पाणिं व्यापारयामासेत्यर्थः ।

जिस तरह पृथ्वी के जीतने का अभिलाषी और कर्तव्यानुष्ठान में उत्साही पुरुष की बुद्धि षाड्गुण्य प्रयोग में लगती है फिर वहाँ से पराङ्मुख हो जाती है अर्थात् अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क करती है उसी तरह अर्जुन का हाथ वेग के साथ निषङ्ग तक गमनागमन करता था और संघृष्ट होता था ॥ ३८ ॥

बभार शून्याकृतिरर्जुनस्तौ महेषुधी वीतमहेषुजालौ ।
युगान्तसंशुष्कजलौ विजिह्मः पूर्वापरौ लोक इवाम्बुराशी ॥ ३९ ॥

बभारेति ॥ शून्याकृतिरिषुनाशान्निस्तेजस्करूपोऽर्जुनः । तौ वीतमहेषुजालौ वीतानि गतानि महेषुजालानि ययोस्तौ महेषुधी महानिषङ्गौ विजिह्मः शून्यो लोको युगान्ते संशुष्कजलौ । 'शुषः कः' इति निष्ठातकारस्य ककारः । पूर्वापराम्बुराशी समुद्राविव बभार ॥ ३९ ॥

तरकश से शक्तिशाली बाण चले गये जिससे अर्जुन हतप्रभ हो गये । रिक्त तूणीर को अर्जुन ने उसी प्रकार धारण किया जिस प्रकार प्रलयकाल की प्रचण्ड ज्वाला से शुष्क पूर्वीय और पश्चिमीय दोनों समुद्रों को संसार त्रस्त होकर धारण करता है ॥ ३९ ॥

तेनानिमित्तेन तथा न पार्थस्तयोर्यथा रिक्ततयाऽनुतेपे ।
स्वमापदं प्रोज्झ्य विपत्तिमग्नं शोचन्ति सन्तो ह्युपकारिपक्षम् ॥४०॥

तेनेति ॥ पार्थस्तयोस्तूणयो रिक्ततया हेतुना यथाऽनुतेपे शुशोच तथा तेनानिमित्तेन बाणक्षयरूपेण दुर्निमित्तेन न शुशोच । तथा हि—सन्तः स्वामापदं प्रोज्झ्य विसृज्य विपत्तिमग्नमुपकारिणां पक्षं वर्गं शोचन्ति । स्वव्यसनापेक्षया परकीयव्यसनमेव सतामनुतापकमित्यर्थः ॥ ४० ॥

अर्जुन को निषङ्गों के रिक्त होने से जो सन्ताप हुआ वह सन्ताप बाण के नाश रूप दुर्निमित्त से नहीं हुआ, क्योंकि महात्मा लोग अपनी विपत्ति पर ध्यान न देकर विपद्ग्रस्त उपकारी वर्ग पर विशेष ध्यान देते हैं (अर्थात् अपने दुःख की अपेक्षा दूसरों का दुःख महात्मा लोगों को अधिक संतापकारी होता है) ॥ ४० ॥

प्रतिक्रियायै विधुरः स तस्मात्कृच्छ्रेण विश्लेषमियाय हस्तः ।
पराङ्मुखत्वेऽपि कृतोपकारात्तूणीमुखान्मित्रकुलादिवार्यः ॥ ४१ ॥

प्रतीति ॥ प्रतिक्रियायै विधुरः प्रतिकर्तुमसमर्थः । 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी । अर्जुनस्य स हस्तः पाणिः । पराङ्मुखत्वेऽपि तत्कालवैमुख्येऽपि कृतोपकारात्तस्मात्तूणीमुखान्मित्रकुलादार्यः साधुः कृतज्ञ इव । 'आर्यः साधुकुलीनयोः' इति विश्वः । कृच्छ्रेण महाकष्टेन विश्लेषमियाय । गौरादित्वात् 'तृण'शब्दान्ङीप् ॥

प्रतिक्रिया में असमर्थ अर्जुन का हाथ विफल मनोरथ होता था तथापि उन तूणीरों के मुख से पूर्व उपकारी मित्र से सज्जन पुरुष की तरह बड़े कष्ट के साथ वियुक्त हुआ ॥ ४१ ॥

पश्चात्क्रिया तूणयुगस्य भर्तुर्जज्ञे तदानीमुपकारिणीव ।
संभावनायामधरीकृतायां पत्युः पुरः साहसमासितव्यम् ॥ ४२ ॥

पश्चादिति ॥ तदानीं भर्तुः स्वामिनः । कर्तरि षष्ठी । पश्चात्क्रिया पृष्ठतः करणं तूणयुगस्योपकारिणीव उपकारिकेव जज्ञे । जाता । तथा हि—संभावनायां स्वयोग्यतायाम् । अधरीकृतायामफलीकृतायां पत्युः स्वामिनः पुरोऽग्र आसितव्यमासितं स्थितिः । बहुलग्रहणाद्भावे तव्यप्रत्ययः । साहसं न क्षमं न योग्यम् । भर्त्रा संभावितस्यावसरेऽनुपकर्तुरनुजीविनस्तत्सांमुख्यमनुचितमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

अर्जुन का तरकशों को पीछे रखना उस काल उन (तरकशों) के लिये उपकार हो गया क्योंकि अनुचर वर्ग से जितनी सम्भावना की जाती है उसमें न्यूनता आ जाती है उस समय स्वामी के सम्मुख उसका अवस्थान साहस मात्र ही होता है ॥ ४२ ॥

तं शंभुराक्षिप्तमहेषुजालं लोहैः शरैर्मर्मसु निस्तुतोद ।
हृतोत्तरं तत्त्वविचारमध्ये वक्तेव दोषैर्गुरुभिर्विपक्षम् ॥ ४३ ॥

तमिति ॥ शंभुराक्षिप्तानि आहतानि महेषुजालानि यस्य तं मुनिं तत्त्वविचारमध्ये वादमध्ये हृतोत्तरं निरुत्तरीकृतं विपक्षं प्रतिवादिनं वक्ता वादी गुरुभिर्दोषैर्निग्रहस्थानैरिव लोहैर्लोहमयैः शरैर्मर्मसु निस्तुतोद व्यथयामास ॥ ४३ ॥

शंकर भगवान् इस तरह से अर्जुन के अस्त्र समूहों को खण्डित करके पुनः लोहनिर्मित बाणों से उनके मर्मस्थानों को इस प्रकार व्यथित करने लगे जिस प्रकार तत्त्वविचार के विषय में विवाद करते हुए विपक्षी को उचित उत्तर न देने पर निरुत्तर होना पड़ता है और उस समय विजेता वक्ता बड़े दोषदानों के द्वारा उसे व्यथित करता है ॥ ४३ ॥

जहार चास्मादचिरेण वर्म ज्वलन्मणिद्योतितहैमलेखम् ।
चण्डः पतङ्गान्मरुदेकनीलं तडित्वतः खण्डमिवाम्बुदस्य ॥ ४४ ॥

जहारेति ॥ किंच, अस्मान्मुनेः । अचिरेण शीघ्रं ज्वलद्भिर्मणिभिर्द्योतिता हैम्यः सौवर्ण्यो लेखा यस्य तत्तथोक्तं वर्म कवचम् । चण्डो मरुत् पवनः पतङ्गात् सूर्यात् । एकनीलं केवलकृष्णवर्णम् । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । तडित्वतस्तडिद्युक्तस्याम्बुदस्य खण्डमिव जहार । तदा भगवन्मायया मुक्तकञ्चुको मुनिर्मेघनिर्मुक्तः सूर्य इव दिदीपे इति भावः ॥ ४४ ॥

इतना ही नहीं किन्तु शंकर भगवान् ने अर्जुन के कवच को, जिसमें दीप्तमणियों की प्रभा से स्वर्ण की रेखायें झलक रही थीं ऐसे अपहरण कर लिया जैसे प्रचण्ड वायुवेग विद्युल्लतासम्पन्न कृष्ण वर्ण के मेघों के खण्डों को उड़ाकर सूर्य से दूर कर देता है अर्थात् वायु द्वारा बादलों के टुकड़ों को उड़ा दिये जाने पर सूर्य पुनः प्रकाशित हो उठता है उसी तरह शंकर भगवान् के द्वारा कवच के अपहरण कर लेने पर अर्जुन सुशोभित हो उठे ॥ ४४ ॥

अथ युग्मेनाह—

विकोशनिर्धौततनोर्महासेः फणावतश्च त्वचि विच्युतायाम् ।
प्रतिद्विपाबद्धरुषः समक्षं नागस्य चाक्षिप्तमुखच्छदस्य ॥ ४५ ॥

विकोशेति ॥ सोऽर्जुनः । तनुं त्रायत इति तनुत्रं वर्म । 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । तेन विना विकोशः । कोशादुद्धृतो निर्धौततनुः शाणोल्लीढमूर्तिः । ततो विशेषणसमासः । तस्य विकोशनिर्धौततनोर्महासेर्महाखड्गस्य तथा त्वचि विच्युतायां सत्यां फणावतश्च मुक्तकञ्चुकस्याहेश्च प्रतिद्विपे प्रतिगज आबद्धरुषो बद्धकोपस्य समक्षं प्रतिगजस्याग्रे आक्षिप्तमुखच्छदस्य निरस्तमुखावरणस्य नागस्य गजस्य च ॥ ४५ ॥

जो शोभा क्रोध से निकलते हुए खड्ग की; कञ्चुक (केचली) से निर्मुक्त अहिराज की; प्रतिपक्षी के निमित्त क्रुद्ध हाथीके समक्ष मुखावगुण्ठन को दूर प्रक्षेप किये हुए गजराज की ॥

विबोधितस्य ध्वनिना घनानां हरेरपेतस्य च शैलरन्ध्रात् ।
निरस्त धूमस्य च रात्रिवह्नेर्विना तनुत्रेण रुचिं स भेजे ॥ ४६ ॥

विबोधितस्येति ॥ घनानां ध्वनिना गर्जितेन विबोधितस्य । शैलरन्ध्रात् कंदरात् । अपेतस्य निष्क्रान्तस्य हरेः सिंहस्य च । तथा, निरस्तधूमस्य गतधूमस्य रात्रिवह्नेश्च रुचिं शोभां भेजे । एतेनास्य तीक्ष्णत्ववैरनिर्यातनत्वरणदुर्मदत्वमनस्वित्वतेजस्वित्वान्युक्तानि । अत्र रुचिमिव रुचिमिति सादृश्याक्षेपादसंभवद्वस्तुसम्बन्धी निदर्शनालंकारो मालया संसृष्टः ॥ ४६ ॥

मेघों के गम्भीर गर्जन को सुनकर कन्दरा से बहिर्निसृत सिंह की, तथा धूम से रहित रात्रिकाल के अग्नि की होती है वही शोभा कवच के बिना अर्जुन की हुई ॥ ४६ ॥

अचित्ततायामपि नाम युक्तामनूर्ध्वतां प्राप्य तदीयकृच्छ्रे ।
महीं गतौ ताविषुधी तदानीं विवव्रतुश्चेतनयेव योगम् ॥ ४७ ॥

अचित्ततायामिति ॥ तदानीं कवचपतनसमये महीं गताविषुधी निषङ्गौ अचित्ततायामप्यचेतनत्वेऽपि तदीयकृच्छ्रे स्वामिव्यसने युक्तां योग्याम् । नाम किल । अकिंचित्करत्वादिति भावः । अनूर्ध्वतामवाङ्मुखत्वं प्राप्य चेतनया प्राणिसाधारणज्ञानेनेव योगं संबन्धं विवव्रतुरिवेत्युत्प्रेक्षा । अचेतनत्वेऽप्यवाङ्मुखत्वादिचेतनधर्मयोगादिति भावः ॥ ४७ ॥

कवच पतन के समय भूमि पर पड़े हुए तरकशों ने अचेतन होते हुए भी अपने स्वामी की विपदावस्था में सहायता करने में असमर्थ होकर नीचे की तरफ मुख करके चेतन पदार्थों को विशेष रूप से शिक्षा दिया ॥ ४० ॥

स्थितं विशुद्धे नभसीव सत्त्वे धाम्ना तपोवीर्यमयेन युक्तम् ।
शस्त्राभिघातैस्तमजस्रमीशस्त्वष्टा विवस्वन्तमिवोल्लिलेख ।। ४८ ।।

स्थितमिति ॥ विशुद्धे निर्मले नभसि सत्त्वे सत्त्वगुणे स्थितं तपोवीर्यमयेन तपोवीर्याभ्यामागतेन धाम्ना तेजसा युक्तं तमर्जुनम् । ईशस्त्वष्टा विश्वकर्मा विवस्वन्तं सूर्यमिवाजस्रं निरन्तरं शस्त्राभिघातैः शस्त्रकर्षणैः । उल्लिलेख ततक्ष ॥ ४८ ॥

शंकर भगवान् शस्त्रास्त्र प्रहार से सत्त्वगुण में स्थित तथा तपस्या और पराक्रम के द्वारा प्राप्त प्रताप से युक्त अर्जुन को निर्मल आकाश में स्थित-सूर्य को विश्वकर्मा की तरह छीलने लगे ॥ ४८ ॥

संरम्भवेगोज्झितवेदनेषु गात्रेषु बाधिर्यमुपागतेषु ।
मुनेर्बभूवागणितेषुराशेर्लौहस्तिरस्कार इवात्ममन्युः ।। ४९ ।।

संरम्भेति ।। संरम्भवेगेन संभ्रमातिशयेन उज्झितवेदनेषु त्यक्तदुःखेषु गात्रेषु बाधिर्यं स्तैमित्यमुपागतेषु सत्सु न गणिता इषुराशयो येन तस्य अगणितेषुराशेर्मुनेरर्जुनस्य आत्ममन्युः स्वकोपो लोहस्य विकारो लौहः कार्ष्णायसः तिरस्क्रियत आच्छाद्यतेऽनेनेति तिरस्कारः कञ्चुक इव बभूव । रोषवशान्न किंचित्प्रहारदुःखमज्ञासीदित्यर्थः । क्रोधैकवर्मणां वीराणां किमन्यैर्लौहभारैरिति भावः ॥ ४९ ॥

अर्जुन के शरीर में क्रोध के वेग से वेदना मालूम नहीं पड़ती थी और उनका शरीर जड़तुल्य हो गया था जिसके कारण बाणों के ढेर का उन्हें कुछ भी ध्यान न था । उनका क्रोध लोहनिर्मित कवच का काम करने लगा ॥ ४९ ॥

अथ युग्मेनाह—

ततोऽनुपूर्वायतवृत्तबाहुः श्रीमान्क्षरल्लोहितदिग्धदेहः ।
आस्कन्द्य वेगेन विमुक्तनादः क्षितिं विधुन्वन्निव पार्ष्णिघातैः ।। ५० ।।

तत इति ।। ततोऽनन्तरम् । अनुपूर्वौ पूर्वमनुगतौ गोपुच्छाकारौ आयतौ दीर्घौ वृत्तौ वर्तुलौ च बाहू यस्य स श्रीमान् शोभावान् क्षरल्लोहितदिग्धदेहः स्रवद्रुधिरलिप्तगात्रः । पार्ष्णिघातैश्चरणतलाघातैः । 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ स्त्रियां पार्ष्णिरघस्तयोः' इत्यमरः । 'क्षितिं विधुन्वन् प्रकम्पयन्निव वेगेनास्कन्द्याभिद्रुत्य विमुक्तनादः सोऽर्जुनः ।। ५० ।।

इसके अनन्तर गाय की पूँछ की तरह लम्बी और गोल भुजावान् तथा श्रीसम्पन्न अर्जुन ने जिनका शरीर परिस्रवण करते हुए रुधिर से लिप्त था, चरण तलाघात से भूमि को कम्पित करते हुए और वेग से दौड़कर गम्भीर गर्जन करते हुए ॥ ५० ॥

साम्यं गतेनाशनिना मघोनः शशाङ्कखण्डाकृतिपाण्डुरेण ।
शंभुं विभित्सुर्धनुषा जघान स्तम्बं विषाणेन महानिवेभः ।। ५१ ।।

साम्यमिति ।। मघोन इन्द्रस्य अशनिना वज्रेण सह साम्यं गतेन वज्रकल्पेन शशाङ्कस्य खण्डं शकलं तस्येवाकृतिर्यस्य । तद्वद्वक्रमित्यर्थः । पाण्डुरं च । तद्वदेवेति भावः । तेन शशाङ्कखण्डाकृतिपाण्डुरेण धनुषा शंभुं विभित्सुर्भेत्तुमिच्छुः सन् । महानिभो गजो विषाणेन दन्तेन स्तम्भमिव जघान ।। ५१ ।।

इन्द्र-वज्र की समानता को प्राप्त तथा चन्द्रमा की खण्ड-आकृति के सदृश पीले रंग के धनुष से भेदन करने की अभिलाषा से मतवाले हाथी की तरह, जो अपने दाँत से खम्भे पर प्रहार करता है, शंकर भगवान् को मारा ॥ ५१ ॥

रयेण सा संनिदधे पतन्ती भवोद्भवेनात्मनि चापयष्टिः ।
समुद्धता सिन्धुरनेकमार्गा परे स्थितेनौजसि जह्नुनेव ।। ५२ ।।

रयेणेति ।। रयेण वेगेन पतन्ती सा चापयष्टिर्भवस्य संसारस्योद्भव उत्पत्तिर्यस्मात्तेन भवोद्भवेन ईश्वरेण पर ओजसि परमे ज्योतिषि स्थितेन जह्नुना राजर्षिणा समुद्धता त्युत्कटाऽनेकमार्गा त्रिस्रोताः सिन्धुर्गङ्गेवात्मनि संनिदधे सम्यङ् निहिता । अन्तर्निलायितेत्यर्थः ।। ५२ ।।

जिस प्रकार परम तेजस्वी जह्नु राजर्षि ने समुद्धत त्रिपथगा गङ्गा को अपने में विलीन कर लिया उसी प्रकार अर्जुन के द्वारा प्रक्षिप्त वेग से गिरते हुए धनुर्दण्ड को सृष्टि के सृजन कर्त्ता शंकर भगवान् ने अपने आप में विलीन कर लिया ॥ ५२ ॥

विकार्मुकः कर्मसु शोचनीयः परिच्युतौदार्य इवोपचारः ।
विचिक्षिपे शूलभृता सलीलं स पत्रिभिर्दूरमदूरपातैः ।। ५३ ।।

विकार्मुक इति ।। विकार्मुको भग्नचापोऽत एव परिच्युतौदार्यो दानवर्जित उपचारः सत्कार इव कर्मसु रणक्रियासु कृत्येषु च शोचनीयः शोच्योऽपूज्यश्च सत्त्वावष्टम्भेनाभग्नचित्तत्वाच्च सोऽर्जुनः शूलभृता शिवेन सलीलं सहेलं यथा तथाऽदूरपातैरतिगाढप्रहारैः पत्रिभिः शरैर्दूरमत्यन्तं विचिक्षिपे नुन्नः ।। ५३ ।।

अर्जुन का धनुष नष्ट हो गया । उनकी दशा बिना दान के सत्कार की सी हो गई । रणक्रिया के योग्य नहीं रहे । धैर्य की मात्रा उनमें वर्तमान थी इसीसे वे हताश नहीं थे । उन्हें शंकर भगवान् ने अपने तीक्ष्ण वाणों के प्रहार से बड़ी सरलता से दूर फेंक दिया ॥ ५३ ॥

उपोढकल्याणफलोऽभिरक्षन् वीरव्रतं पुण्यरणाश्रमस्थः ।
जपोपवासैरिव संयतात्मा तेपे मुनिस्तैरिषुभिः शिवस्य ।। ५४ ।।

उपोढेति ।। उपोढमासन्नं कल्याणफलमस्खलाभरूपं स्वर्गादिकं च यस्य स वीरव्रतमाहवादनिवृत्तिरूपं तीव्रं तपश्च अभिरक्षन् पालयन् पुण्यो यो रण एवाश्रमस्तत्र तिष्ठतीति पुण्यरणाश्रमस्थः संयतात्मा नियमितचित्तो मुनिरर्जुनः कश्चित्तपस्वी च तैः शिवस्य महादेवस्य । इषुभिः शरैः । जपोपवासैरिव तेपे तप्तः । तपतेः कर्मणि लिट् ।

जिस प्रकार पवित्र आश्रम में निवास करके नियमों की रक्षा करता हुआ जितेन्द्रिय

तपस्वी जप, उपवासादि कर्तव्यानुष्ठानों के द्वारा शंकर भगवान् की तपस्या करता है उसी प्रकार अर्जुन, जिनके अस्त्रलाभ का समय अत्यन्त निकट था, रण में वीरव्रत का पालन करते हुए जितेन्द्रिय बन शंकर के उन बाणों के द्वारा भगवान् शूली की तपश्चर्या करने लगे ।। ५४ ।।

ततोऽग्रभूमिं व्यवसायसिद्धेः सीमान्नमन्यैरतिदुस्तरं सः ।
तेजःश्रियामाश्रयमुत्तमासिं साक्षादहंकारमिवाललम्बे ।। ५५ ।।

तत इति ।। ततश्चापान्तर्धानानन्तरम् । सोऽर्जुनोऽग्रभूमिं विपदि गन्तव्यस्थानम् । शरण्यमित्यर्थः । अन्यैः परैः । अतिदुस्तरं दुरतिक्रमं तेजः श्रियां प्रतापसंपदामाश्रयम् । हेतुमित्यर्थः । उत्तमासिं महाखड्गम् । 'सन्महत्—' इत्यादिना समासः । साक्षादहंकारं सविग्रहमभिमानमिवाललम्बे जग्राह ॥ ५५ ॥

अब अर्जुन के पास विशाल एक खड्ग के सिवा बचा ही क्या था, धनुष ही तो आधार था वह शंकर भगवान् में अन्तर्हित हो गया अतः उन्होंने उत्तम असि की शरण ली । विपत्ति—पड़ने पर वही जीवन निर्वाह का स्थान था, उद्योग सिद्धि का चरम उपाय था, अन्य व्यक्ति उसे अतिक्रमण नहीं कर सकता था, तेज की सम्पत्ति का आधार था, और वह साक्षात् मूर्तिधारी अहङ्कार ही था । अर्थात् उन्होंने विशाल खड्ग हाथ में लिया ।। ५५ ।।

शरानवद्यन्ननवद्यकर्मा चचार चित्रं प्रविचारमार्गैः ।
हस्तेन निस्त्रिंशभृता स दीप्तः सार्कांशुना वारिधिरूर्मिणेव ।। ५६ ।।

शरानिति ॥ अनवद्यकर्माऽगर्ह्यकर्मा । 'अवद्यपण्य—' इत्यादिना निपातः । शरानवद्यन् खण्डयन् वीरो निस्त्रिंशभृता खड्गयुक्तेन हस्तेन सार्कांशुना अर्कांशुसहितेन ऊर्मिणा तरङ्गेण वारिधिरिव दीप्तो दीपितः सोऽर्जुनः प्रविचारमार्गैः शृङ्गिणां गतिभेदैश्चित्रं यथा तथा चचार ॥ ५६ ॥

जिस तरह समुद्र सूर्य की किरणों से संसक्त तरङ्गों से दीप्त होकर हिलोरें लेता है उसी प्रकार निष्कलङ्क अर्जुन बाणों का खण्डन करते हुये तथा हाथ में चमकदार तलवार ग्रहण करने के कारण दीप्त होते हुए अनेक प्रकार के पैतरे चलने लगे ।। ५६ ।।

यथा निजे वर्त्मनि भाति भाभिश्छायामयश्चाप्सु सहस्ररश्मिः ।
तथा नभस्याशु रणस्थलीषु स्पष्टद्विमूर्तिर्ददृशे स भूतैः ।। ५७ ।।

यथेति । भाभिर्दीप्तिभिरुपलक्षितः । 'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः । सहस्ररश्मिरर्को यथा निजे वर्त्मनि नभसि छायामयः प्रतिबिम्बरूपः सन्, अप्सु स्पष्टद्विमूर्तिर्भाति तथा सोऽर्जुनो नभसि आकाशे रणस्थलीषु च स्पष्टे द्वे मूर्ती यस्य स स्पष्टद्विमूर्तिः सन् भूतैर्गणैर्ददृशे दृष्टः । यथैकोऽर्को नभस्यप्सु चानेक इव

दृश्यते तथा सोऽपि दिवि भुवि चाशुसंचाराद्यौगपद्यभ्रमादेवैकोऽप्यनेक इव गणैर्दृष्ट इत्युत्प्रेक्षा ॥ ५७ ॥

जिस प्रकार प्रभा से उपलक्षित सूर्य आकाश मार्ग में स्थित होते हुए जल के मध्य प्रतिबिम्बित होकर स्पष्ट रूप से (अर्थात् एक आकाश में और एक जल में) दिखलाई पड़ता है उसी प्रकार अर्जुन अपने पैंतरे के मार्ग में स्थित होकर शीघ्रगति के कारण युद्धक्षेत्र में और आकाश में दोनों जगह स्पष्ट रूप से शंकर भगवान् के गणों के द्वारा देखे गये ॥ ५७ ॥

शिवप्रणुन्नेन शिलीमुखेन त्सरुप्रदेशादपवर्जिताङ्गः ।
ज्वलन्नसिस्तस्य पपात पाणेर्घनस्य वप्रादिव वैद्युतोऽग्निः ॥ ५८ ॥

शिवेति ॥ शिवेन प्रणुन्नः क्षिप्तस्तेन शिलीमुखेन त्सरुप्रदेशात् मुष्टिप्रदेशमवधि कृत्वा । 'त्सरुः खड्गादिमुष्टौ स्यात्' इत्यमरः । अपवर्जिताङ्गो लूनविग्रहोऽसि खड्गः । तस्यार्जुनस्य पाणेः करात् । घनस्य मेघस्य वप्रात्तटात् । वैद्युतो विद्युत्संबन्ध्यग्निरिव ज्वलन् पपात ॥ ५८ ॥

अर्जुन की तलवार शंकर भगवान् के द्वारा प्रक्षिप्त वाण से मुष्टिप्रदेश से कटकर चमकती हुई उनके हाथ से इस प्रकार गिरी जैसे मेघमण्डल से बिजली की आग गिरती है ॥ ५८ ॥

आक्षिप्तचापावरणेषुजालश्छिन्नोत्तमासिः स मृधेऽवधूतः ।
रिक्तः प्रकाशश्च बभूव भूमेरुत्सादितोद्यान इव प्रदेशः ॥ ५९ ॥

आक्षिप्तेति ॥ आक्षिप्तान्यपहृतानि चापावरणेषुजालानि धनुर्वर्मवाणसमूहा यस्य स छिन्नत्तोमासिर्लूनमहाखड्गो मृधे रणे । 'मृधमास्कन्दनं सख्यम्' इत्यमरः । अवधूतो निरस्तः सोऽर्जुन उत्सादितमुत्पाटितमुद्यानं यस्य स भूमेः प्रदेशो भूमिभाग इव रिक्तः शून्यः प्रकाशो निःसंबाधश्च । दृश्य इति यावत् । बभूव ॥ ५९ ॥

अर्जुन के धनुष, कवच और वाणों के समूह अपहृत हो चुके, उत्तम खड्ग भी खण्डित कर दिया गया, इस प्रकार अभिभूत होकर वे इस प्रकार शून्य हो प्रकाशपूर्ण हो गये जिस प्रकार उद्यान (बाग) के काट डालने पर भूमिका प्रदेश सूना तथा प्रकाशपूर्ण हो जाता है ॥ ५९ ॥

स खण्डनं प्राप्य परादमर्षवान् भुजाद्वितीयोऽपि विजेतुमिच्छया ।
ससर्ज वृष्टिं परिरुग्णपादपां द्रवेतरेषां पयसामिवाश्मनाम् ॥ ६० ॥

स इति ॥ परात् परस्माच्छत्रोः । 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति विकल्पान्न स्मादादेशः । खण्डनं भङ्गं प्राप्य, अमर्षवान् सोऽर्जुनो भुजद्वितीयो भुजमात्रसहायः सन्नपि विजेतुमिच्छया द्रवेभ्य इतराणि तेषां द्रवेतरेषां कठिनानां पयसामिव । करकाणामित्यर्थः । अश्मनां संबन्धिनीं परिरुग्णा भग्नाः पादपा यया सा तां वृष्टिं ससर्ज । अश्मभिर्जघानेत्यर्थः ॥ ६० ॥

अर्जुन की इस तरह की दुर्दशा हुई तथापि उन्हें क्रोध न आया। उनका सहायक अब उनकी भुजाओं के अतिरिक्त कोई नहीं रहा। वे विजय की कामना से पत्थरों के द्वारा इस प्रकार प्रहार करने लगे जिस प्रकार वृक्षों को नष्ट-भ्रष्ट करते हुए उपलों की वर्षा होती है ॥ ६० ॥

नीरन्ध्रं परिगमिते क्षयं पृषत्कैर्भूतानामधिपतिना शिलाविताने।
उच्छ्रायस्थगितनभोदिगन्तरालं चिक्षेप क्षितिरुहजालमिन्द्रसूनुः ॥६१॥

नीरन्ध्रमिति ॥ शिलाविताने शिलाजाले भूतानामधिपतिना शिवेन पृषत्कैर्बाणैः क्षयं परिगमिते नीते सति। इन्द्रसूनुरर्जुन उच्छ्रायेणोत्सेधेन स्थगितमाच्छादितं नभो दिशामन्तरालं च येन तन्नीरन्ध्रं सान्द्रम्। रोहन्तीति रुहाः। इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः। क्षितौ रुहा वृक्षास्तेषां जालं चिक्षेप प्रेरयामास। 'उच्छ्रायं गमितवति' इति प्रामादिकः पाठः ॥ ६१ ॥

अर्जुन का यह भी वार खाली गया—प्रमथगणों के अधिनायक शंकर भगवान्‌ने शरों से अर्जुन के शिलावर्षण को भी समाप्त कर दिया। सुरेन्द्रकुमार अर्जुन ने वृक्षों को, जो अपने औन्नत्य और विस्तार से आकाश और दिशाओं के अन्तरालों को आच्छादित कर देते थे (उखाड़ उखाड़ कर) शिवसेना पर फेंकना प्रारम्भ कर दिया ॥ ६१ ॥

निःशेषं शकलितवल्कलाङ्गसारैः कुर्वद्भिर्भुवमभितः कषायचित्राम्।
ईशानः सकुसुमपल्लवैर्नगैस्तैरातेने बलिमिव रङ्गदेवताभ्यः ॥ ६२ ॥

निःशेषमिति ॥ ईशानः शिवः। शानच्प्रत्ययः। निःशेषं यथा तथा शकलितानि वल्कलानि त्वचोऽङ्गानि शाखाः सारो मज्जा च येषां तैर्भुवमभितः कषायो यो रागः। स्वरसेन रञ्जनमिति यावत्। 'रागे क्वाथे कषायोऽस्त्री' इति वैजयन्ती। तेन चित्रां विचित्रवर्णां कुर्वद्भिः सकुसुमपल्लवैस्तैर्नगैर्वृक्षैः रङ्गे रणरङ्गे या देवतास्ताभ्यो बलिं पूजामिव। आतेने ॥ ६२ ॥

अर्जुन को वृक्षों के प्रहार से भी सफलता न प्राप्त हुई—अर्जुन द्वारा प्रहृत वृक्षों की शाखाओं तथा अन्तःस्थित पदार्थों को शंकर भगवान् ने अपने अस्त्रों से छिन्न-भिन्न कर पृथ्वी पर बिछा दिया जिससे भूमि कषायवर्ण की चित्र-विचित्र हो गई मानों शंकर भगवान् ने रणक्षेत्र देवता को पुष्प और पत्रों से युक्त वृक्षों से बलिप्रदान किया हो ॥ ६२ ॥

उन्मज्जन्मकर इवामरापगाया वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः।
गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः ॥६३॥

उन्मज्जन्निति ॥ गाण्डीवी अर्जुनः। उन्मज्जन्नुत्तरन् मकरो जलग्रहविशेषोऽमरापगाया गङ्गाया इव बाणनद्या बाणप्रवाहाद्वेगेन प्रतिमुखमभिमुखम्। एत्यागत्य

कनकशिलानिभम् । 'कनक' ग्रहणं काठिन्यातिशयद्योतनार्थम् । विषमविलोचनस्य त्र्यम्बकस्य वक्षो हृदयं भुजाभ्यामाजघ्ने ताडितवान् । अत्रात्मनेपदं विचार्यम् । 'आङो यमहनः' इत्यत्राकर्मकाधिकारात् । 'स्वाङ्गकर्मकाच्च' इति वक्तव्यत्वात् । न च शिवस्य प्रतिमुखमित्यन्वयात् कनकशिलानिभं कनकनिकषतुल्यं श्यामं स्ववक्ष आजघ्न इत्यर्थः इति वाच्यम्, अनौचित्याचरणात् । न हि युद्धाय संनद्धा निपुणा अपि मल्लाः स्ववक्षस्ताडनमाचरन्ति, किं तु स्वभुजास्फलानम् । किंच, अनन्तरं वक्ष्यमाणभवकर्तृकाविनयसहनरोधाद्वक्ष एवेत्यन्वयस्याव्यवधान चच पूर्वैरेव दूषितत्वात् । अतो व्याकरणान्तराद् द्रष्टव्यम् । केचित्तु 'त्र्यम्बकस्य वक्षः प्राप्य' इत्यध्याहारं स्वीकृतत्यात्मकर्मकत्वादात्मनेपदमाहुः ।। ६३ ।।

अर्जुन ने सुरसरिता के वेग से पार करते हुए घड़ियाल के समान वाणरूपी नदी के वेग से सम्मुख उपस्थित हो सुवर्ण की चट्टान के सदृश त्र्यम्बक (शंकर भगवान्) के वक्ष स्थल में भुजाओं से प्रहार किया ।। ६३ ।।

अभिलषतः उपायं विक्रमं कीर्तिलक्ष्म्योरसुगममरिसैन्यैरङ्कमभ्यागतस्य ।
जनक इव शिशुत्वे सुप्रियस्यैकसूनोरविनयमपि सेहे पाण्डवस्य स्मरारिः ।।६४।।

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये सप्तदशः सर्गः ।

अभिलषत इति ।। कीर्तिलक्ष्म्योरुपायं साधनभूतम् । अरिसैन्यैरसुगमं दुरासदं विक्रममभिलषतः । सूनुपक्षे,—यत्किञ्चिन्महत्फलं प्रार्थयमानस्येत्यर्थः । अत एव, अङ्कमन्तिकमभ्यागतस्योत्सङ्गमारूढस्य च पाण्डवस्याविनयं स्मरारिः । अनेन भक्तवात्सल्यमेव सहनकारणमिति सूच्यते । शिशुत्वे शैशवे सुप्रियस्य परमप्रेमास्पदस्य । कुतः । एक एव सूनुस्तस्य एकसूनोरविनयं जनक इव सेहे सोढवान् ।। ६४ ।।

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां सप्तदशः सर्गः समाप्तः ।

यश और लक्ष्मी के साधनभूत, शत्रु की सेना के लिये असह्य पराक्रम की अभिलाषा रखते हुए अत्यन्त सन्निकट प्राप्त पाण्डुपुत्र अर्जुन की उद्दण्डता को कामदेव के शत्रु शंकर भगवान् ने इस प्रकार सहन किया जिस प्रकार गोद में बैठे हुए सर्वोत्तम वस्तु की प्रार्थना करते हुये, प्रिय एकलौते पुत्र की उद्दण्डता शैशव काल में उसका पिता सहन करता है ।।६४।।

सप्तदश सर्ग

अष्टादशः सर्गः

तत उदग्र इव द्विरदे मुनौ रणमुपेयुषि भीमभुजायुधे।
धनुरपास्य सबाणधि शंकरः प्रतिजघान घनैरिव मुष्टिभिः ॥ १ ॥

तत इति ॥ ततो मुष्टिनियुद्धानन्तरम्। उदग्रे महति द्विरदे गज इव भीमे भुजावेव आयुधे यस्य तथाभूते रणमुपेयुषि मुनौ शंकरः स्वयमपि सबाणधि सतूणं धनुरपास्य त्यक्त्वा मुष्टिभिर्घनैर्लोहमुद्गरैरिव प्रतिजघान। प्राङ्मुनिकृताघातस्य प्रतिघातं कृतवानित्यर्थः। 'घनाः कठिनसंघातमेघकाठिन्यमुद्गराः' इति वैजयन्ती। 'घनस्तु लोहमुद्गरे' इति विश्वः। यद्यपि 'मुष्टि' शब्दः 'मुष्ट्या तु बद्धया। सरत्निः स्यादरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना' इत्यमरः। इत्युभयथा प्रयोगाद्द्विलिङ्गस्तथाप्यत्रोपमानसारूप्यात् पुंलिङ्गो ग्राह्यः। द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ १ ॥

तपस्वी अर्जुन संग्रामार्थ समागत उद्दण्ड हाथी के सदृश थे। भीषण भुजायें ही उनके शस्त्र थीं (शेष शस्त्र तो खण्डित कर दिये गये थे)। अर्जुन के किये गये आघात के अनन्तर शंकर भगवान् ने भी निषङ्ग के सहित धनुष को दूर प्रक्षिप्त कर लौहमुद्गर के सदृश मुष्टियों से उन्हें (अर्जुन को) मारा ॥ १ ॥

हरपृथासुतयोर्ध्वनिरुत्पतन्नमृदुसंवलिताङ्गुलिपाणिजः।
स्फुटदनल्पशिलारवदारुणः प्रतिननाद दरीषु दरीभृतः ॥ २ ॥

हरेति ॥ हरपृथासुतयोः शिवार्जुनयोरमृदु निबिड यथा तथा संवलिताः संघटिता अङ्गुलयो येषां ते। मुष्टिकृता इत्यर्थः। तेषु पाणिषु जातस्तथोक्तः। स्फुटन्तीनां विदलन्तीनामनल्पशिलानामारव इव दारुणो भीषणो ध्वनिरुत्पतन् उद्गच्छन् दरीभृतो गिरेर्दरीषु गुहासु प्रतिननाद प्रतिदध्वान ॥ २ ॥

शंकर भगवान् और पृथापुत्र अर्जुन के हाथ की अंगुलियाँ कर्कश और संघटित थीं, उनके हाथों से उत्पन्न होता हुआ त्रासजनक शब्द, जो कि टूट कर भहराते हुए विशाल पर्वतखण्ड के भीषण शब्द सदृश मालूम पड़ता था, पर्वत की कन्दराओं में गूंजकर प्रतिध्वनित हो उठा ॥२॥

शिवभुजाहतिभिन्नपृथुक्षतीः सुखमिवानुबभूव कपिध्वजः।
क इव नाम बृहन्मनसां भवेदनुकृतेरपि सत्त्ववतां क्षमः ॥ ३ ॥

शिवेति ॥ कपिध्वजः शिवस्य भुजाहतिभिर्मुष्टिघातैर्भिन्ना विदीर्णा याः पृथवो महत्यः क्षतयः प्रहारा व्रणास्ताः सुखमिवानुबभूव। दुःखकरीरपीति भावः। क्षतिदुःखं नाजीगणदित्यर्थः। ननु दुःसहदुःखवेगेषु कथमगणनेत्यत्राह—क इति। क इव नाम को नु खलु सत्त्ववतां सत्त्वाधिकानां बृहन्मनसां तेजस्विनाम्। अनुकृतेरनुकरणस्यापि क्षमो भवेत्। मनस्विनां चरितं नटवदनुकर्तुमपि न कश्चिदीष्टे, तस्याचरणं तु दूरापास्तमिति भावः। रौद्ररसाविष्टमनसां मनस्विनां कुतः सुखदुःखगणनेति भावः ॥

अर्जुन की ध्वजा पर वानर का चिह्न था । अर्जुन ने शिव को भुजाओं के घात से होने वाले विशाल व्रणों को सुख के समान समझा, अर्थात् यद्यपि वे दुःखोत्पादक थे तो भी उन्हें सुख कर ही माना । क्योंकि कौन ऐसा पुरुष है जो पराक्रमशाली तेजस्वी पुरुषों का अनुकरण मात्र करने में समर्थ है, आचरण करना तो दूर रहा ॥ ३ ॥

व्रणमुखच्युतशोणितशीकरस्थगितशैलतटाभभुजान्तरः ।
अभिनवौषसरागभृता बभौ जलधरेण समानमुमापतिः ॥ ४ ॥

व्रणेति ॥ व्रणमुखेभ्यश्च्युतस्य क्षरितस्य शोणितस्य शीकरैः स्थगितमावृतं शैलतटाभं शिलासदृशं भुजान्तरं वक्षो यस्य स तथोक्त उमापतिरभिनवमौषसरागं संध्यारागं बिभर्तीति तथोक्तेन जलधरेण समानं तुल्यं यथा तथा बभावित्युपमा ॥ ४ ॥

पर्वतखण्ड के सदृश भगवान् शंकर का विशाल वक्षस्थल क्षत के मुखों से परिस्रवण करते हुए रुधिर कण से व्याप्त था । उस क्षण शंकर भगवान् नूतन सन्ध्याकालीन लालिमा वहन करते हुए मेघ के सदृश सुशोभित होने लगे ॥ ४ ॥

उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहतिं ययुरर्जुनमुष्टयः ।
भृशरया इव सह्यमहीभृतः पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः ॥ ५ ॥

उरसीति ॥ शूलभृतः शिवस्य । उरसि प्रहिताः प्रयुक्ता अर्जुनस्य मुष्टयः पृथुनि विशाले सह्यमहीभृतः सह्याद्रे रोधसि तटे भृशरयास्तीव्रवेगाः सिन्धोः समुद्रस्य महोर्मय इव मुहुः प्रतिहतिं ययुः ॥ ५ ॥

शूली शंकर भगवान् का वक्षस्थल सह्यगिरि के तट के सदृश विशाल था । अर्जुन की मुष्टियाँ समुद्र की वेगशाली तरङ्गों के सदृश थीं अतः जिस प्रकार समुद्र की तरंगें सह्यगिरि के तट पर वेग के साथ जाकर टकराती हैं और पुनः वहाँ से प्रतिहत होती हैं उसी प्रकार अर्जुन की मुष्टियाँ शंकर के वक्षस्थल पर वेग के साथ हनन करने पर स्वयं सन्ताडित हो उठीं ॥ ५ ॥

निपतितेऽधिशिरोधरमायते समसरत्नियुगेऽयुगचक्षुषः ।
त्रिचतुरेषु पदेषु किरीटिना लुलितदृष्टि मदादिव चस्खले ॥ ६ ॥

निपतित इति ॥ अयुगानि चक्षूंषि यस्य तस्य अयुगचक्षुषस्त्रिलोचनस्य । आयते दीर्घे अरत्नियुगे अरत्न्योर्बद्धमुष्ट्योर्हस्तयोर्युगे युग्मे । 'हस्तो मुष्ट्या तु बद्धया । सरत्निः स्यादरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना' इत्यमरः । प्रकृते तु मुष्टिमात्रविवक्षा प्रयोगः । शिरोधरायामधीति अधिशिरोधरमधिकंधरं समं युगपन्निपतिते सति । किरीटिनाऽर्जुनेन मदादिव त्रीणि चत्वारि वा त्रिचतुराणि । 'संख्ययाव्ययासन्न–' इत्यादिना बहुव्रीहिः । 'चतुरोऽच्प्रकरणे' 'त्र्युपाभ्यामुपसंख्यानम्' इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः । तेषु त्रिचतुरेषु पदेषु लुलितदृष्टि घूर्णितनेत्रं यथा तथा चस्खले स्खलितम् । भावे लिट् ॥

अर्जुन की गर्दन पर त्रिलोचन शंकर भगवान् के विशाल मुष्टि प्रहार पड़ते ही अर्जुन के नेत्र घूर्णित हो गये और वे मदोन्मत्त की भाँति तीन चार पग पर्यन्त लड़खड़ा गये ॥ ६ ॥

अभिभवोदितमन्युविदीपितः समभिसृत्य भृशं जवमोजसा ।
भुजयुगेन विभज्य समाददे शशिकलाभरणस्य भुजद्वयम् ॥ ७ ॥

अभिभवेति ॥ अभिभवेनोक्तरूपेण परिभवेन उदित उत्पन्नो यो मन्युः क्रोधस्तेन विदीपितः प्रज्वलितः सोऽर्जुनो भृशं जवं समभिसृत्य समभिद्रुत्य, ओजसा बलेन शशिकलाभरणस्येन्दुमौलेः शिवस्य भुजद्वयं भुजयुगेन विभज्य वियोज्य समाददे जग्राह ॥ ७ ॥

इस प्रकार के अभिभव से अर्जुन का क्रोध भड़क उठा। उसने बड़े वेग के साथ शंकर भगवान् के समीप जाकर बलपूर्वक अपने दोनों बाहुओं से चन्द्रचूड की दोनों भुजाओं को नियोजित कर पकड़ लिया ॥ ७ ॥

प्रववृतेऽथ महाहवमल्लयोरचलसंचलनाहरणो रणः ।
करणशृङ्खलसंकलनागुरुर्गुरुभुजायुधगर्वितयोस्तयोः ॥ ८ ॥

प्रववृत इति ॥ अथ महाहवे महारणे मल्लयोर्बलीयसोः । 'मल्लः पात्रे कपोले च मत्स्यभेदे बलीयसि' इति विश्वः । गुरू भुजावेव आयुधं तेन गर्वितयोस्तयोः शिवार्जुनयोः कारणानि करचरणबन्धनान्येव शृङ्खलानि तेषां संकलना संघटना तथा गुरुर्दुस्तरस्तथाऽचलस्य हिमाद्रेः संचलनं कम्पस्तस्याहरण आरोपकः । कर्तरि ल्युट् । रणः प्रववृते प्रवृत्तः ॥ ८ ॥

शंकर और अर्जुन दोनों रणबाँकुरे थे। उनको अपनी-अपनी विशाल भुजाओं पर अभिमान था। दोनों में पर्वतकम्पी संग्राम, जो कि हस्त पादादिरूपी शृङ्खलाओं के संघटन से दुस्तर था, प्रारम्भ हो गया। अर्थात् शंकर और अर्जुन में मल्लयुद्ध होने लगा ॥ ८ ॥

अयमसौ भगवानुत पाण्डवः स्थितमवाङ्मुनिना शशिमौलिना ।
समधिरूढमजेन नु जिष्णुना स्विदिति वेगवशान्मुमुहे गणैः ॥ ९ ॥

अयमिति ॥ अयं पुरोवर्ती पुमान् । असौ भगवान् प्रसिद्धो देवः । तदुक्तम्—'इदमः समक्षरूपं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥' इति । उत पाण्डवः । अयं हि तिष्ठदवस्थायां भ्रम इति वेदितव्यम् । अथ पतनावस्थायामाह—मुनिनाऽवाक्अधः । स्थितमुत शशिमौलिना । अजेन देवेन नु समधिरूढमुपरि स्थितमथ जिष्णुना स्विदर्जुनेन वा समधिरूढम्, इत्येवं गणैः प्रमथैर्वेगवशान्मुमुहे भ्रान्तम् । 'मुह वैचित्त्ये' । भावे लिट् ॥ ९ ॥

मल्लयुद्ध के समय जो व्यक्ति प्रमथगणों में था उसका यह निर्णय करना बड़ा कठिन था कि यह शङ्कर हैं अथवा अर्जुन ?, नीचे तपस्वी अर्जुन हैं अथवा चन्द्रशेखर भगवान् शङ्कर ? एक दूसरे के ऊपर स्थित होने पर यह भी पता नहीं चलता था कि किरीटी हैं अथवा अजन्मा ? इस प्रकार से वेग के वश होकर गणों की स्मृति भ्रम में पड़ गई ॥ ९ ॥

प्रचलिते चलितं स्वितमास्थिते विनमिते नतमुन्नतमुन्नतौ ।
वृषकपिध्वजयोरसहिष्णुना मुहुरभावभयादिव भूभृता ॥ १० ॥

प्रचलित इति ॥ असहिष्णुना तयोर्भारमसहमानेन भूभृता शैलेन । अभावभयाद्विनाशभयादिव मुहुर्वृषश्च कपिश्च ध्वजे ययोस्तयोर्वृषकपिध्वजयोःप्रचलिते चलने सति चलितं प्रचेले । आस्थिते तूष्णीमवस्थाने स्थितं तथैव तस्थे । विनमिते सम्यगाक्रमणे सति नतं नम्रीभूतम् । अनामीति यावत् उन्नतावुन्नमने सति उन्नतमुदनामि । सर्वत्र भावे क्तः ॥ १० ॥

वृषभध्वज और कपिध्वज (शङ्कर और अर्जुन) का भार सहन करने में असमर्थ होकर इन्द्रनील पर्वत अपने विनष्ट हो जाने की आशङ्का से उन लोगों के चलने पर स्वयं विचलित हो जाता था । (अर्थात् काँपने लगता था) जब वे विश्रामार्थ रुक जाते थे तो यह भी (पर्वत) पूर्ववत् अविचलभाव धारण कर लेता था उन लोगों के झुक जाने पर यह भी झुक जाता था और उन लोगों के खड़ा हो जाने पर वह भी नीचे से ऊपर को उठ आता था ॥ १० ॥

करणशृङ्खलनिःसृतयोस्तयोः कृतभुजध्वनि वल्गु विवल्गतोः ।
चरणपातनिपातितरोधसः प्रससृपुः सरितः परितः स्थलीः ॥ ११ ॥

करणेति । करणानि करचरणबन्धविशेषास्तान्येव शृङ्खलानि तेभ्यो निःसृतयोः । मुहुस्त्यक्तबन्धयोरित्यर्थः । कृतो भुजध्वनिर्भुजास्फोटनशब्दो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा वल्गु सुन्दरं च यथा तथा विवल्गतोरुत्प्लवमानयोस्तयोर्हरपार्थयोश्चरणपातैःपादक्षेपैर्निपातितानि रोधांसि यासां ताः सरितो नद्यः स्थलीः परितः स्थलीषु प्रससृपुः प्रसृताः । 'अभितः परितः—' इत्यादिना द्वितीया । 'जानपद—' इत्यादिनाकृत्रिमार्थे ङीप् । कूलपातक्षोभादुद्वेलसलिलाः सरितः स्थलानि प्रामज्जयन्नित्यर्थः । एतेन तयोर्भार उक्तः ॥ ११ ॥

दोनों शङ्कर और अर्जुन हाथ और पैर के बन्धन से निर्मुक्त होकर भुजाओं पर सुमधुर ताल ठोंकते हुये पैतरे के साथ उछल रहे थे जिससे उनके पादाघात से नदियों के तट भहराने लगे और वे (नदियाँ) स्थल की ओर बह चलीं अर्थात् तट के टूट कर जल में गिरने से जल क्षुब्ध हो गया जिससे छलक कर इधर उधर बहने लगा ॥ ११ ॥

वियति वेगपरिप्लुतमन्तरा समभिसृत्य रयेण कपिध्वजः ।
चरणयोश्चरणानमितक्षितिर्निजगृहे तिसृणां जयिनं पुराम् ॥ १२ ॥

वियतीति ॥ वियत्यन्तरिक्षे वेगेन परिप्लुतमुत्पतितं तिसृणां पुरां जयिनं त्रिपुरान्तकम् । 'जिदृक्षि—' इत्यादिनेनिप्रत्ययः । कपिध्वजोऽर्जुनश्चरणाभ्यां पादाभ्यामानमितक्षितिः सन् । रयेण वेगेन समभिसृत्याभिद्रुत्य, अन्तरा मध्येमार्गं चरणयोः पदयोर्निजगृहे निगृहीतवान् । उत्पतितस्य भगवतश्चरणौ स्वकराभ्यां जग्राहेत्यर्थः ॥ १२ ॥

त्रिपुरविजेता शंकर भगवान् के वेगपूर्वक उछल कर अन्तराल में पहुँच कर नीचे की ओर आते समय भूमि को कम्पित करते हुये कपिध्वज (अर्जुन ने) शीघ्र ही पहुँच कर बीच मार्ग से ही उनके चरणों को पकड़ लिया ॥ १२ ॥

विस्मितः सपदि तेन कर्मणा कर्मणां क्षयकरः परः पुमान् ।
क्षेप्तुकाममवनौ तमक्लमं निष्पिपेष परिरभ्य वक्षसा ॥ १३ ॥

विस्मित इति ॥ तेन कर्मणा चरणग्रहणरूपेण सपदि विस्मितः सविस्मयः कर्मणां क्षयकरः । मोक्षप्रद इत्यर्थः । परः पुमान् हरोऽवनौ क्षितौ क्षेप्तुं कामो यस्य तम् । 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः । अक्लममक्लान्तं तं पार्थं वक्षसा परिरभ्य निष्पिपेष । गाढमालिलिङ्गेत्यर्थः । रथोद्धतावृत्तम् ॥ १३ ॥

प्राणिमात्र के शुभ अथवा अशुभ कर्मों के क्षयकारी आशुतोष भगवान् शङ्कर ने अर्जुनके उस पादग्रहणरूप कर्म से आश्चर्यचकित होकर पृथ्वी पर उन्हें फेंक देने के अभिलाषी अक्लान्त (थकावट रहित) अर्जुन को हृदय से आलिङ्गन कर दबाया ॥ १३ ॥

तपसा तथा न मुदमस्य ययौ भगवान्यथा विपुलसत्त्वतया ।
गुणसंहतेः समतिरिक्तमहो निजमेव सत्त्वमुपकारि सताम् ॥ १४ ॥

तपसेति ॥ भगवान् देवः । अस्यार्जुनस्य विपुलसत्त्वतया बहुसत्त्वसंपदा धैर्यसंपत्त्येति यावत् । यथा मुदं ययौ तथा तपसा मुदं न ययौ । तथा हि—सतां गुणसंहतेस्तपःसेवादिगुणसंघातात् समतिरिक्तमतिशयितं निजं सत्त्वमेवोपकार्युपकारकमहो । प्रमिताक्षरावृत्तम् ॥ १४ ॥

भगवान् शंकर जितना अर्जुन के धैर्य और साहस से प्रसन्न हुए उतना तपश्चर्या से नहीं । क्योंकि सत्पुरुषों का पराक्रम गुण की राशियों की अपेक्षा अधिक साहाय्य प्रदान करता है ॥ १४ ॥

अथ हिमशुचिभस्मभूषितं शिरसि विराजितमिन्दुलेखया ।
स्ववपुरतिमनोहरं हरं दधतमुदीक्ष्य ननाम पाण्डवः ॥ १५ ॥

अथेति ॥ अथ हिमशुचिना हिमशुभ्रेण भस्मना भूषितं शिरसीन्दुलेखया विराजितं शोभितम् अतिमनोहरं सुन्दरं स्ववपुर्दधतं किरातरूपं विहाय निजविग्रहं दधानं हरमुदीक्ष्य पाण्डवो ननाम प्रणतवान् । अपरवक्त्रं वृत्तम्—'अयुजि ननरला गुरुः समे तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ' इति लक्षणात् ॥ १५ ॥

तुषार (बर्फ) तुल्य धवल भस्म लगाये हुए, शिरस्थ चन्द्रलेखा से सुशोभित (किरात वेष का परित्याग कर) अति रमणीय, अपने शरीर को पुनः धारण किए हुए शङ्कर भगवान् को देखकर पाण्डुपुत्र (अर्जुन) ने प्रणाम किया ॥ १५ ॥

सहशरधि निजं तथा कार्मुकं वपुरतनु तथैव संवर्मितम् ।
निहितमपि तथैव पश्यन्नसि वृषभगतिरुपाययौ विस्मयम् ॥ १६ ॥

सहेति ॥ वृषभस्येव गतिर्यस्य सोऽर्जुनस्तस्मिन्समये सहशरधिभ्यां वर्तत इति सहशरधि सनिषङ्गम् । 'वोपसर्जनस्य' इति विकल्पाद् 'सह' शब्दस्य न सभावः । निजं कार्मुकं गाण्डीवं तथैव पूर्ववदेव संवर्मितं सम्यक्कवचितमतनु महन्निजं वपुस्तथैव निहितं यथापूर्वं स्थापितमपि खड्गं च तथैव पश्यन् विस्मयमुपाययौ । क्वचित्तु 'वृषभगतिम्' इति पाठः । तत्र वृषभगतिं शिवं च पश्यन् विस्मयमुपाययावित्यर्थः । प्रमुदितवदना वृत्तम्—'प्रमुदितवदना भवेन्नौ ररौ' इति लक्षणात् ॥ १६ ॥

वृष (बैल) की गति सदृश गतिशाली अर्जुन तूणीरों के सहित गाण्डीव धनुष को एवं कवच से आच्छादित अपने स्थूल शरीर को तथा पूर्ववत् यथास्थापित उत्तम चन्द्रहास (खड्ग) को देख कर अत्यन्त आश्चर्य में निमग्न हो गये ॥ १६ ॥

सिषिचुरवनिमम्बुवाहाः शनैः सुरकुसुममियाय चित्रं दिवः ।
विमलरुचिभृशं नभो दुन्दुभेर्ध्वनिरखिलमनाहतस्यानशे ॥ १७ ॥

सिषिचुरिति ॥ अम्बुवाहाः शनैरवनिं सिषिचुरुक्षांचक्रुः । दिवोऽन्तरिक्षाच्चित्रं विचित्रं सुरकुसुमं मन्दारकुसुमानि । जातावेकवचनम् । इयायाजगाम । अनाहतस्याताडितस्य दुन्दुभेः । जातावेकवचनम् । ध्वनिः शब्दो विमलरुचि प्रसन्नमखिलं नभो भृशमानशे । व्याप । अताडिता एव दुन्दुभयो नेदुरित्यर्थः । सर्वमिदमस्य सर्वलोकहितार्थित्वादिति वेदितव्यम् ॥ १७ ॥

मेघों ने जलवृष्टि से धीरे-धीरे वसुन्धरा का सिञ्चन किया, स्वर्ग से रंग-बिरंगे मंदार पुष्पों की वृष्टि हुई, आकाश निर्मल हो गया, बिना बजाये ही नकारों की गम्भीर ध्वनि सर्वत्र आकाश में गूँज गई ॥ १७ ॥

आसेदुषां गोत्रभिदोऽनुवृत्या गोपायकानां भुवनत्रयस्य ।
रोचिष्णुरत्नावलिभिर्विमानैर्द्यौराचिता तारकितेव रेजे ॥ १८ ॥

आसेदुषामिति ॥ गोत्रभिद इन्द्रस्य । अनुवृत्त्याऽनुसरणेन । आसेदुषामासन्नानां भुवनत्रयस्य गोपायकानां रक्षकाणां लोकपालादीनाम् । 'गुपू धूप—' इत्यादिनाऽऽयप्रत्ययः । तदन्ताण्ण्वुल् । रोचिष्णवः प्रकाशनशीला रत्नावलयो येषां तैः । 'अलंकृञ्—' इत्यादिनेष्णुच्प्रत्ययः । विमानैः पुष्पकैराचिता व्याप्ता द्यौस्तारकिता संजाततारकेव रेजे । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १८ ॥

सुरराज की तरह बैठने वाले, तीनों लोकों के रक्षक, लोकपालों के विमानों से, जिसमें कि प्रकाशमान रत्नों के ढेर छोड़े हुये थे, व्याप्त आकाश तारक मण्डली से युक्त की तरह प्रतीत होने लगा अर्थात् इन्द्र, वरुण, यम, कुबेरादि अष्ट लोकपाल रत्नजटित विमानों पर बैठकर आकाश में घूमने लगे, उस क्षण विमान में जटित रत्न तारों की तरह आकाश में जगमगाने लगे ॥ १८ ॥

हंसा बृहन्तः सुरसद्मवाहाः संह्रादिकण्ठाभरणाः पतन्तः ।
चक्रुः प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्व्योम्नः परिष्वङ्गमिवाग्रपक्षैः ॥ १९ ॥

हंसा इति ॥ बृहन्तो महान्तः सुरसद्मानि विमानानि वहन्तीति सुरसद्मवाहाः । कर्मण्यण् । संह्रादीनि निह्रादीनि मुखराणि कण्ठाभरणानि किङ्किण्यो येषां ते । पतन्तो धावन्तो हंसाः प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्विक्षिप्यमाणैः । अग्रपक्षैः पक्षाग्रैः । व्योम्नः परिष्वङ्गमालिङ्गनं चक्रुरिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ १९ ॥

देवताओं के विमानवाहक बड़े-बड़े हंस, जिनके कण्ठ में पड़े हुए आभूषण झंकृत हो रहे थे, दौड़ते हुए इस तरह मालूम पड़ते थे कि मानों परिश्रम से फैलाये हुए पक्षों से आकाश का आलिङ्गन करते हों ॥ १९ ॥

मुदितमधुलिहो वितानीकृताः स्रज उपरि वितत्य सांतानिकीः ।
जलद इव निषेदिवांसं वृषे मरुदुपसुखयांबभूवेश्वरम् ॥ २० ॥

मुदितेति ॥ अथ मरुद्वायु जलदे मेघ इव वृषे निषेदिवांसमुपविष्टमीश्वरं मुदिता मधुलिहो भृङ्गा यासिस्ता वितानीकृता उल्लोचाकाराः कृताः । 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः । सांतानिकीः संतानकुसुमविकाराः स्रजः मन्दारमाला इत्यर्थः । 'संतान' शब्दाद्विकारार्थे ठक् । 'संतानः कल्पवृक्षश्च' इत्यमरः । उपरि वितत्य विस्तार्य । उपसुखयांबभूव प्रह्लादयामास ॥ २० ॥

पवनदेव ने प्रसन्न भौंरों से युक्त मन्दार पुष्प ग्रथित मालाओं का चंदोवा ऊपर तान कर मेघतुल्य वृषभ पर चढ़े हुए शंकर भगवान् को सुख प्रदान किया ॥ २० ॥

कृतधृति परिवन्दितेनोच्चकैर्गणपतिभिरभिन्नरोमोद्गमैः ।
तपसि कृतफले फलज्यायसी स्तुतिरिति जगदे हरेः सूनुना ॥ २१ ॥

कृतेतिति ॥ अभिन्नरोमोद्गमैरविरलरोमाञ्चैर्गणपतिभिः प्रमथमुख्यैरुच्चकैः परिवन्दितेन साधु साधु इति संस्तुतेन । 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' । कर्मणिक्तः । हरेः सूनुनाऽर्जुनेन तपसि कृतं फलं भगवत्साक्षात्कारलक्षणं येन तस्मिन् । कृतफले सतीत्यर्थः । कृतधृति कृतसंतोषं यथा तथा फलज्यायसी फलाधिकेति वक्ष्यमाणा स्तुतिर्जगदे कथिता ॥ २१ ॥

शंकर भगवान् के प्रमथादि गण रोमाञ्चित होकर उच्च स्वर से अर्जुन की प्रशंसा करने लगे । उनकी तपश्चर्या पूर्ण हो गई (क्योंकि शंकर भगवान् की मूर्त्ति का उन्हें साक्षात्कार हो गया) अत एव संतुष्ट होकर इन्द्रपुत्र अर्जुन वक्ष्यमाण प्रकार से स्तुति करने लगे ॥ २१ ॥

शरणं भवन्तमतिकारुणिकं भव भक्तिगम्यमधिगम्य जनाः ।
जितमृत्यवोऽजित भवन्ति भये ससुरासुरस्य जगतः शरणम् ॥ २२ ॥

शरणमिति ॥ हे अजित अपराजित हे भव, अतिकारुणिकमतिदयालुम् । 'तदस्य

प्रयोजनम्' इति ठक् । भक्तिगम्यं भक्तिमात्रसुलभं भवन्तं शरणं रक्षकमधिगम्य जितमृत्यवो विगतमरणाः । अमरा भूत्वेत्यर्थः । जनाः ससुरासुरस्य जगतो भय आपदि शरणं स्वयं रक्षितारो भवन्ति । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इति विश्वः । प्रमिताक्षरावृत्तम् ॥ २२ ॥

॥ अर्जुनकृत स्तुति ॥

हे अपराजित ! हे भव ! लोग परमदयालु, भक्तिसुलभ, शरणप्रदायक आपको प्राप्त करके तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त करके (अर्थात् अमर बनकर) आपत्काल में देव दानवों के सहित संसार की रक्षा करने में समर्थ हो जाते हैं ॥ २२ ॥

विपदेति तावदवसादकरी न च कामसंपदभिकामयते ।
न नमन्ति चैकपुरुषं पुरुषास्तव यावदीश न नतिः क्रियते ॥ २३ ॥

विपदिति ॥ हे ईश, यावत्तव नतिः प्रणामो न क्रियते । पुरुषेणेति शेषः । तावदेव एकं पुरुषमेकाकिनं सन्तमवसादकरी क्षयकरी विपदेति प्राप्नोति । कामसंपत् मनोरथसंपच्च नाभिकामयते नेच्छति पुरुषाश्चान्ये लोकास्तमेकं पुरुषं तव स्तुतिमकुर्वाणं न नमन्ति न वशे वर्तन्ते । नानिष्टविवृत्तिर्नाभीष्टप्राप्तिरित्यर्थः । यदा तु त्वां प्रणमन्ति तदैव सर्वं लभ्यत इति भावः ॥ २३ ॥

हे भगवन् ! लोग जब तक आपके समक्ष प्रणत नहीं होते तब तक उन्हें असहाय करके क्षीण कारिणी विपत्ति आती हैं, वे मनोरथ सम्पत्ति की कामना नहीं करते और कोई भी पुरुष उनके आधीन नहीं रहता अर्थात् आपके शरण में गये बिना न अनिष्ट की निवृत्ति होती है और न इष्ट की प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

संसेवन्ते दानशीला विमुक्त्यै संपश्यन्तो जन्मदुःख पुमांसः ।
यन्निःसङ्गस्त्वं फलस्यानतेभ्यस्तत्कारुण्यं केवलं न स्वकार्यम् ॥ २४ ॥

संसेवन्त इति ॥ दानं शीलंस्वभावो निजधर्मो येषां ते दानशीलाः । त्वामेवोद्दिश्य दानं कुर्वन्त इत्यर्थः । 'तस्माद्दानं परमं वदन्ति' इति श्रुतेरिति भावः । कुतः । यतो जन्मदुःखं संपश्यन्तोऽनुभवन्तः पुमांसो विमुक्त्यै मोक्षाय संसेवन्ते । भवन्तमिति शेषः । न च तच्चित्रम्, किंतु आयतेभ्यः प्रणतेभ्यो निःसङ्गो निःस्पृहस्त्वं यत् फलसि फलं ददासि । तेषां फलार्थित्वादिति भावः । तत् केवलं निरुपाधिकं कारुण्यं करुणा । स्वार्थे ष्यञ् । 'कारुण्यं करुणा घृणा' इत्यमरः । न स्वकार्यम् । एतदेव चित्रम् । केवलं परार्थत्वादिति भावः । शालिनीवृत्तम् ॥ २४ ॥

लोग दानादि कर्म करते हुए जन्मधारण करने के सन्तापों का अनुभव करके मुक्ति प्राप्त करने के लिये आप की आराधना करते हैं इसमें कोई आश्चर्य नहीं किन्तु आप जो निःस्वार्थ भाव से अर्थात् किसी प्रकार के फल की कामना न करके उन्हें उनकी सेवा का फल प्रदान करते हैं यह केवल आप की दया है इसमें आप का स्वार्थ कुछ भी नहीं है ।

अर्थात् लोग स्वार्थवश होकर आपकी सेवा करते हैं और आप निःस्वार्थ उन्हें फल प्रदान करते हैं ॥ २४ ॥

प्राप्यते यदिह दूरमगत्वा यत्फलत्यपरलोकगताय ।
तीर्थमस्ति न भवार्णवबाह्यं सार्वकामिकमृते भवतस्तत् ॥ २५ ॥

प्राप्यत इति ॥ यद् तीर्थम् । इहास्मिल्लोके दूरमगत्वा प्राप्यते । स्मृतिमात्रसुलभमित्यर्थः । गङ्गादिकं तु न तथेति भावः । यत्तीर्थमपरलोकगताय फलति फलं प्रयच्छति । अत्रापि स्मरणमात्रादेवेति भावः । भवः संसारः स एव अर्णवस्ततो बाह्यं बहिर्भवं संसारातीतम् । मोक्षपदमित्यर्थः । 'बहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्चेति वक्तव्यम्' इति ञ्यप्रत्ययः । सर्वे कामाः प्रयोजनमस्येति सार्वकामिकम् । 'तदस्य प्रयोजनम्' इति ठञ् । तद् तादृक् । तरन्त्यनेनेति तीर्थं तारकं भवतस्त्वदृते । 'अन्यारात्–' इत्यादिना पञ्चमी । अन्यन्नास्ति । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ २५ ॥

जो तीर्थ बिना सुदूर यात्रा के उपलब्ध होता है, जो इसी संसार में फल प्रदान करता है, और जो संसार समुद्र से परे अर्थात् मोक्ष का स्थान है तथा सम्पूर्ण अभिलाषाओं का पूरक है ऐसा तीर्थ स्मरण मात्र से उपलभ्य आप के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है ॥ २५ ॥

व्रजति शुचि पदं त्वयि प्रीतिमान्प्रतिहतमतिरेति घोरां गतिम् ।
इयमनघ निमित्तशक्तिः परा तव वरद न चित्तभेदः क्वचित् ॥२६॥

व्रजतीति ॥ हे वरद ! त्वयि प्रीतिमान् नरः शुचि निर्मलं पदं कैवल्यं मुक्तिं व्रजति । 'मुक्तिः कैवल्यनिर्वाण–' इत्यमरः । प्रतिहतमतिरुपहतबुद्धिः । त्वद्द्वेषीत्यर्थः । घोरां गतिं तीव्रं नरकम् । एति प्राप्नोति । न चैतावता तव रागद्वेषकलङ्कपङ्क इत्याह—इयमिति । हे अनघ निष्कलङ्क ! इयम् । भक्ताभक्तयोरिति शेषः । विधेयप्राधान्यात्स्त्रीलिङ्गता । परा दुस्तरा निमित्तशक्तिर्निमित्तभूता शक्तिः स्वचेष्टितमहिमा । तव क्वचिदभक्ते द्वेषिणि वा कुत्रापि चित्तभेदो बुद्धिवैषम्यं नास्ति । स्वकर्मणैव जन्तुस्तरति पतति वा । त्वं साक्षितया सर्वत्र सम इत्यर्थः ॥ २६ ॥

हे वरप्रदायक ! आपमें प्रीति रखने वाला पुरुष सर्वोत्तम पद को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है । आपसे विरोध बुद्धि रखने वाला पुरुष नरकगामी होता है । (इसका यह अभिप्राय नहीं कि आप भक्तों को स्वर्ग और अभक्तों को नरक प्रदान करते है । किन्तु हे निष्कलंक ! यह कार्य कारणभाव से उत्पन्न होने वाली एक अतिरिक्त शक्ति हैं । आपके चित्त में किसी प्रकार का भेद भाव नहीं रहता अर्थात् आपके विषय में प्रेम करने वाले अपने कर्म ही से कैवल्य प्राप्त करते हैं और द्वेष बुद्धि रखनेवाले अपने कर्म ही से नरक में गिरते हैं । आप तो साक्षी मात्र हैं ॥ २६ ॥

दक्षिणां प्रणतदक्षिण मूर्तिं तत्त्वतः शिवकरीमविदित्वा ।
रागिणापि विहिता तव भक्त्या संस्मृतिर्भव भवत्यभवाय ॥ २७ ॥

दक्षिणामिति ॥ हे भव प्रणतदक्षिण प्रणतेषु दाक्षिण्यसंपन्न ! दाक्षिण्यं परच्छन्दानुवर्तित्वम् । 'दक्षिणः सरलावामपरच्छन्दानुवर्तिषु' इति विश्वः । शिवकरीं श्रेयस्करीम् । 'कृञो हेतु–' इत्यादिना टप्रत्यये ङीप् । तव दक्षिणां मूर्तिं तत्त्वतो याथार्थ्येन अविदित्वापि रागिणा रागद्वेषवतापि भक्त्या विहिता तव संस्मृतिः सम्यक्स्मरणमभवाय संसारनिवृत्तये । प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समास इष्यते । भवति । तत्त्वज्ञानं विनापि भक्तिपूर्विका तव संस्मृतिरेव मुक्तिनिदानमित्यर्थः । स्वागतावृत्तम् ॥ २७ ॥

हे भव प्रणतवश ! रागी व्यक्ति आपकी कल्याणकारिणी, दक्षिणामूर्ति के याथार्थ्यज्ञान के बिना ही भक्ति के साथ स्मरण मात्र से भवबन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा दृश्यान्याचरणीयानि विधाय प्रेक्षाकारी याति पदं मुक्तमपायैः ।
सम्यग्दृष्टिस्तस्य परं पश्यति यस्त्वां यश्चोपास्ते साधु विधेयं स विधत्ते ॥

दृष्ट्वेति ॥ प्रेक्षया बुद्ध्या करोतीति प्रेक्षाकारी विमृश्यकारी दृश्यानि द्रष्टव्यानि दृष्ट्वा ज्ञात्वा आचरणीयानि कर्तव्यानि च विधाय कृत्वा, अपायैर्मुक्तं नाशवर्जितं पदं याति । 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इति श्रुतेः । ज्ञानकर्मभ्यां मुक्तिरित्यर्थः । किन्तु तेऽपि ज्ञानकर्मणी त्वद्विषय एव मुक्तिसाधनं नान्यविषय इत्याशयेनाह—सम्यगिति । यः पुमान् परं पुरुषोत्तमत्वेन सर्वोत्कृष्टं त्वां पश्यति तस्य सम्यग्दृष्टिः सम्यग्ज्ञानम् । यश्च त्वामुपासते सेवते स एव साधु विधेयं विधत्ते । साधुकारीत्यर्थः । मत्तमयूरं वृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ २८ ॥

विवेकी पुरुष ज्ञानदृष्टि से तत्त्व को देखकर और कर्मों का अनुष्ठान कर निर्विघ्न पद को प्राप्त करता है तात्पर्य यह कि ज्ञान और कर्म से मुक्ति होती है । वह भी ज्ञान और कर्म आपके विषय का ही मोक्षसाधक है इस अभिप्राय से तीसरे चौथे चरण वर्णित हैं जो पुरुष आपको परपुरुष समझता है उसी की ज्ञान बुद्धि ठीक है और जो आपकी सेवा करता है वही सर्वोत्तम कर्तव्यकारी है ॥ २८ ॥

युक्ताः स्वशक्त्या मुनयः प्रजानां हितोपदेशैरुपकारवन्तः ।
समुच्छिनत्सि त्वमचिन्त्यधामा कर्माण्युपेतस्य दुरुत्तराणि ॥ २९ ॥

युक्ता इति ॥ मुनयो व्यासादयः स्वशक्त्या निजयोगमहिम्ना युक्ताः । तथा हितोपदेशैर्विधिनिषेधवाक्यैः स्मृतीतिहासपुराणमुखेन प्राजानामुपकारवन्तः कृतोपकाराश्च । मोक्षप्रदस्तु तेषामन्येषां च त्वमेवेत्याह—समिति । अचिन्त्यधामाऽचिन्त्यमहिमा त्वमेव उपेतस्य शरणं प्राप्तस्य प्रपन्नस्य संबन्धीनि दुरुत्तराणि सुदुस्तराणि कर्माणि बन्धकानि पुण्यपापानि समुच्छिनत्सि नाशयति । ते त्वत्रासमर्था एवेति भावः ॥ २९ ॥

व्यासवाल्मीकि आदि मुनि केवल अपने योग की महिमा से स्मृति इतिहास पुराणादि के द्वारा लोगोंका उपकार करने में समर्थ हो सके हैं परन्तु अचिन्त्यमहिमा आप शरणागतों

के पाप और पुण्यरूपी कर्म के दुर्भेद कर्मों को नाश कर देते हैं तात्पर्य यह कि जब तक जीवात्मा के शुभ अथवा अशुभ कर्मों की सत्ता रहती है तब तक मुक्ति प्राप्त नहीं होती चाहे वह कितना भी शुभ कर्म क्यों न करे। शुभ और अशुभ कर्मों का नाश तभी होता है जब वह परात्पर ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। बस इसी से उसकी मुक्ति है ॥ २९ ॥

संनिबद्धमपहर्तुमहार्यं भूरि दुर्गतिभयं भुवनानाम्।
अद्भुताकृतिमिमामतिमायस्त्वं बिभर्षि करुणामय मायाम् ॥ ३० ॥

संनिबद्धमिति ॥ अतिक्रान्तो मायां बन्धरूपामतिमायः। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः। हे करुणामय! हे कृपालो! संनिबद्धं स्वकर्मणा दृढ बद्धमत एव, आहार्यमन्यैरनुच्छेद्यं भूरि प्रभूतं भुवनानां दुर्गतिभयं नरकभयम्। 'स्यान्नारकं तु नरको निरयो दुर्गतिः स्त्रियाम्' इत्यमरः। अपहर्तुमद्भुताकृतिं विचित्ररूपामिमां मायां दृश्यमानां लीलाविग्रहरूपां बिभर्षि। अन्येषां कर्मानुबन्धी विग्रहपरिग्रहः। भवतस्तु परोपकारार्थ इत्यर्थः ॥ ३० ॥

हे दयालो! आप माया को जीतकर संसार के प्राणियों की भीषण नरक यातना को, जो अपने अपने कर्मों से दृढ़तापूर्वक बाँधी हुई है, तथा अन्य प्राणियों के द्वारा अभेद्य है, निवारण करने के लिए विलक्षणरूप इस माया को धारण करते हैं अर्थात् अजन्मा होकर भी शरीर धारण कर मनुष्यलीला करते हैं। और प्राणी तो कर्म के बन्धन में विवश होकर शरीर करते हैं। और आप परोपकारार्थ अपनी इच्छा से शरीर धारण करते हैं ॥ ३० ॥

न रागि चेतः परमा विलासिता वधूः शरीरेऽस्ति न चास्ति मन्मथः।
नमस्क्रिया चोषसि धातुरित्यहो निसर्गदुर्बोधमिदं तवेहितम् ॥ ३१ ॥

न रागिति ॥ देव! चेतस्तव चित्तं रागि रागयुक्तं न। परमयोगित्वादिति भावः। तथापि परमा निरतिशया विलासिता शृङ्गारादिचेष्टाशीलता। भिक्षाटनादिषु विहरणेन तौर्यत्रिकव्यसनितया चेति भावः। किंच, शरीरेऽर्धाङ्गे वधूरस्ति। प्रसिद्धं चैतदिति भावः तथापि मन्मथः कामश्च नास्ति। तस्य भस्मीकरणादिति भावः। किंच, उषसि प्रातः संध्यायां धातुर्ब्रह्मणो नमस्क्रिया वन्दनम्। स्वयं जगद्वन्द्यस्यापीत्यर्थः। इतीत्थं विरुद्धमिदमुक्तं तवेहितं चेष्टितं निसर्गतो दुर्बोधं दुराकलनीयम्। दुर्ग्रहमित्यर्थः। अदृष्टपूर्वत्वादिति भावः। वंशस्थं वृत्तम् ॥ ३१ ॥

(हे भगवान्,) आपका चित्त राग से मुक्त है (क्योंकि आप परम योगी हैं) विलासिता भी आप में कम नहीं है। स्त्री आपके शरीर में है (अर्द्धाङ्गी स्वरूप) तथापि कामदेव का सञ्चार नहीं (क्योंकि कामदेव को आपने जला डाला है) प्रभात काल में आप ब्रह्मदेव की वन्दना करते हैं (स्वयं जगद्वन्द्य हैं) आप क्या करना चाहते हैं यह स्वभावतः दुर्लक्ष्य है ॥ ३१ ॥

तवोत्तरीयं करिचर्मसाङ्गजं ज्वलन्मणिः सारसनं महानहिः।
स्रगास्यपङ्क्तिः शवभस्म चन्दनं कला हिमांशोश्च समं चकासति ॥ ३२ ॥

तवेति ॥ हे देव। तव साङ्गजं सलोमकं करिचर्मोत्तरीयं संव्यानम्। दुःस्पर्शमिति भावः। 'संव्यानमुत्तरीयं च' इत्यमरः। ज्वलन्मणिर्ज्वलद्रत्नो महानहिः सारसनं कटिभूषाविशेषः। योऽन्येषां प्राणहर इत्यर्थः। 'क्लीबे सारसनं चाथ पुंस्कट्यां शृङ्खलं त्रिपु' इत्यमरः। आस्यपङ्क्तिः कपालमाला स्रक् माल्यम्। शवभस्म चन्दनम्। उभयत्राप्यस्पृश्यममङ्गलं चेति भावः। किंच, एतानि वस्तूनि हिमांशोः कला च समं तुल्यतया चकासति दीप्यन्ते। त्वदाश्रयवशादरम्यस्यापि रम्यतेति किमशक्यं तवेति भावः ॥ ३२ ॥

आप का उत्तरीय (ओढ़ने का वस्त्र) रोमयुक्त गजचर्म है मणिधर भीषण सर्प आपका कटिभूषण (करधनी) हैं। आप मनुष्य के कपोलों की माला धारण करते हैं चिता की राख आपके मस्तक में लगी हुई है। ये वस्तुयें और चन्द्रमा की कला समान शोभा पा रही हैं अर्थात् अनङ्गल तथा विरूप वस्तुयें भी आपके आश्रय से शोभा पा रही हैं ॥ ३२ ॥

अविग्रहस्याप्यतुलेन हेतुना समेतभिन्नद्वयमूर्ति तिष्ठतः।
तवैव नान्यस्य जगत्सु दृश्यते विरुद्धवेषाभरणस्य कान्तता ॥ ३३ ॥

अविग्रहस्येति ॥ अविग्रहस्य वस्तुतोऽशरीरस्यापि सतोऽतुलेन दुर्बोधत्वादसदृशेन हेतुना। केनापि कारणेनेत्यर्थः। समेता संगता भिन्ना विलक्षणा च द्वयीद्विविधा स्त्रीपुंसात्मिका मूर्तिर्यस्मिन्कर्मणि तत् समेतभिन्नद्वयमूर्ति यथा तथा तिष्ठतः। अशरीरस्य शरीरमेव विरुद्धम् तदपि नारीनरात्मकमिति किमतश्चित्रमस्तीतिभावः। एवंविधस्य तवैव जगत्सु विरुद्धे वेषाभरणे पूर्वोक्ते यस्य तस्य विरुद्धवेषाभरणस्यापि सतः कान्तता रमणीयता दृश्यते। अन्यस्य न दृश्यते। तस्मादचिन्त्योऽसौ तव महिमेति भावः ॥

वस्तुतः आपका कोई शारीरिक रूप रेखा नहीं है तथापि न मालूम किस कारण स्त्री और पुरुष दोनों प्रकार का शरीर धारण किये हुए हैं। विरुद्ध वेपभूषा बनाने पर इस संसार में रहकर आप ही में रमणीयता पाई जाती है अन्य किसी व्यक्ति में सम्भाविनी नहीं है तात्पर्य यह कि आप अजन्मा होते हुए शरीर धारण करते हैं तथापि कोई या तो स्त्री का शरीर धारण करेगा या पुरुष का आपमें तो दोनों का सम्मिश्रण पाया जाता है इससे अधिक आश्चर्य की क्या बात हो सकती है ॥ ३३ ॥

आत्मलाभपरिणामनिरोधैर्भूतसंघ इव न त्वमुपेतः।
तेन सर्वभुवनातिग लोके नोपमानमसि नाप्युपमेयः ॥ ३४ ॥

आत्मेति ॥ हे देव ! त्वं भूतसंघ इव शरीरादिसंघात इव आत्मलाभपरिणामनिरोधैर्जन्मजरामरणैः। उपेतो युक्तो नासि। तेन कारणेन हे सर्वभुवनातिगसर्वलोकोत्तर ! उपमीयतेऽनेनेत्युपमानं नासि। उपमीयते यत्तदुपमेयमपि नासि। न कश्चित्त्वाद-

षोऽस्ति । त्वमपि नान्यसदृशः । अनन्यसाधारणत्वादित्यर्थः । वृत्तमुक्तम् ॥ ३४ ॥

(हे देव !) संसारी प्राणियों के समुदाय की तरह आप जन्म, जरा और मरण से युक्त नहीं है अर्थात् परे हैं, सम्पूर्ण संसार के अतिक्रमण कर्ता, इसलिये सम्पूर्ण लोकों में आपके बराबर कोई नहीं है तथा और न कोई वस्तु है जिससे आप उपमित किये जायँ ॥ २४ ॥

त्वमन्तकः स्थावरजङ्गमानां त्वया जगत्प्राणिति देव विश्वम् ।
त्वं योगिनां हेतुफले रुणत्सि त्वं कारणं कारणकारणानाम् ॥ ३५ ॥

त्वमिति ॥ हे, देव, त्वं स्थावरजङ्गमानामन्तकः संहर्ता । त्वया हेतुना विश्वं सर्वं जगत् प्राणिति जीवति । त्वं योगिनां हेतुः प्रवर्तकं कर्म फलं भोगश्च ते हेतुफले रुणत्सि निवर्तयसि । तेषां त्वमेव बन्धविमोचक इत्यर्थः । किंच, त्वं कारणानि भूतानि तेषां कारणानि भूतसूक्ष्माणि परमाणवो वा तेषां कारणकारणानां कारणं प्रकृत्यादिद्वारोत्पत्तिस्थानम् । अत्र सर्वत्र 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति श्रुतिः प्रमाणमिति भावः ॥ ३५ ॥

हे देव ! चराचर प्राणियों के संहारकारी आप ही हैं । आप से सम्पूर्ण संसार जीवित है । आप योगियों के कर्म और उनके उपभोग दोनों के निवर्तक हैं (अर्थात् उन्हें आपही बन्धन विमुक्त करते है) आप पञ्च महाभूतों के कारण परमाणु के भी कारण है ॥ ३५ ॥

रक्षोभिः सुरमनुजैर्दितेः सुतैर्वा यल्लोकेष्वविकलमाप्तमाधिपत्यम् ।
पाविन्याः शरणगतार्तिहारिणे तन्माहात्म्यं भव भवते नमस्क्रियायाः ॥

रक्षोभिरिति ॥ रक्षोभी राक्षसैः सुरमनुजैः सुराश्च मनुजाश्च तैर्देवमनुष्यैर्दितेः सुतैर्दैत्यैर्वा लोकेषु यदविकलं संपूर्णमाधिपत्यमाप्तं प्राप्तं, तत् हे भव ! शरणागतानामार्तिहारिणे दुःखनाशकाय भवते तुभ्यं नमस्क्रियायाः । 'नमःस्वस्ति—' इत्यादिना चतुर्थी । पाविन्याः पापहारिण्या माहात्म्यं सामर्थ्यम् । 'न कस्याप्युन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः' इति भावः । प्रहर्षिणीवृत्तम् ॥ ३६ ॥

हे भव ! देवता, मनुष्य राक्षस तथा दिति के सन्तान दानवों को जो सम्पूर्ण जगत् पर आधिपत्य प्राप्त हुआ है वह हे शरणागतरक्षक ! आप को किये गये पवित्र नमस्कार का ही सामर्थ्य है ॥ ३६ ॥

अथाष्टमूर्तिषु काश्चित्स्तुवन् वायुमूर्तिं तावदाह—

तरसा भुवनानि यो बिभर्ति ध्वनति ब्रह्म यतः परं पवित्रम् ।
परितो दुरितानि यः पुनीते शिव तस्मै पवनात्मने नमस्ते ॥ ३७ ॥

तरसेति ॥ यः पवनः । तरसा बलेन । 'तरसी बलरंहसी इति विश्वः । भुवनानि बिभर्ति प्राणात्मना धारयति । यतो यत्प्रेरणात् पवित्रं परं परमं ब्रह्म वर्णात्मकं ध्वनति नदति । 'सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः । 'वर्णाञ्जनयते' इति

वचनात् । यः पवनः परितो दुरितानि पातकानि पुनीते शोधयति । नाशयतीति यावत् । हे शिव ! तस्मै पावयतीति पवनो वायुः स एवात्मा यस्य तस्मै पवनात्मने ते तुभ्यं नमः । वृत्तमुक्तम् ॥ ३७ ॥

(वायु-मूर्तिकी स्तुति)

जो वायु बलपूर्वक जगत् का पोषण करता है (अर्थात् श्वासगति ही जगत् का जीवन है) जिसकी प्रेरणा से परम पवित्र वर्णात्मक ब्रह्म उच्चारित होता है । जो पवन सब तरह से पापों को पवित्र (नाश) कर देता है हे शिव ? उस पवनात्मक आप को प्रणाम है ॥ ३७ ॥

अथाग्निमूर्तिं स्तौति—

भवतः स्मरतां सदासने जयिनि ब्रह्ममये निषेदुषाम् ।
दहते भवबीजसंततिं शिखिनेऽनेकशिखाय ते नमः ॥ ३८ ॥

भवत इति ॥ जयिनि जयशीले सर्वोत्कृष्टे ब्रह्ममये ब्रह्मप्रदाने । तत्प्राप्त्युपायत्वात् । सदासने सम्यगासने । योगासन इत्यर्थः । निषेदुषामुपविष्टानां भवतः स्मरतां भवन्तं ध्यायताम् । 'अधीगर्थ–'इत्यादिना शेषे कर्मणि षष्ठी । भवबीजसंततिं संसारनिदानकर्मसंघातं दहते भस्मीकुर्वतेऽनेकशिखाय बहुज्वालाय शिखिने वह्निमूर्तये ते तुभ्यं नमः ॥ ३८ ॥

(अग्नि-मूर्तिकी स्तुति)

अग्नि सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म-प्राप्ति-साधक योगासन पर आरूढ़ तथा आप के ध्यान में संलग्न योगियों के जन्म, जरा, मरण के कारण भूतकर्मों के समूह को जो भस्म कर डालता है उस अनेक शिखा विशिष्ट अग्नि मूर्ति आप को नमस्कार है ॥ ३८ ॥

अथ जलमूर्तिं स्तौति—

आबाधामरणभयार्चिषा चिराय प्लुष्टेभ्यो भव महता भवानलेन ।
निर्वाणं समुपगमेन यच्छते ते बीजानां प्रभव नमोऽस्तु जीवनाय ॥ ३९ ॥

आबाधेति ॥ भव ! बीजानां प्रभव कारणभूत । 'जीवानाम्' इति पाठे तेषां तत्प्रतिबिम्बत्वादिति भावः । आबाधाऽध्यात्मिकादिदुःखं मरणं पञ्चत्वं ताभ्यां भयं तदेवार्चिर्यस्य तेन महता भवानलेन संसाराग्निना चिराय चिरं प्लुष्टेभ्यो दग्धेभ्यः समुपगमेन संसेवया निर्वाणं संतापशान्तिं यच्छते ददते जीवयतीति जीवनं तस्मै जीवनाय जलात्मने ते तुभ्यं नमः ॥ ३९ ॥

(जल-मूर्तिकी स्तुति)

हे शिव ! हे बीजों के कारण, सांसारिक विपत्ति और मृत्यु के भयरूप ज्वालासम्पन्न संसाराग्नि से चिरकाल के भस्म प्राणियों की सेवा करने से मोक्षप्रदायक जलात्मक आप को प्रणाम है ॥ ३९ ॥

इदानीं नभोमूर्तिं स्तौति—

यः सर्वेषामावरीता वरीयान् सर्वैर्भावैर्नावृतोऽनादिनिष्ठः ।
मार्गातीतायेन्द्रियाणां नमस्तेऽविज्ञेयाय व्योमरूपाय तस्मै ॥ ४० ॥

य इति ॥ भवेत्यनुवर्तते । भवत्यस्मादयं प्रपञ्च इति भवस्तत्संबुद्धौ । सकलजगज्जनकेति यावत् । वरीयानुरुतरः विभुरित्यर्थः । 'प्रियस्थिर–' इत्यादिना 'उरु' शब्दस्य वरादेशः । यस्त्वं सर्वेषां वस्तूनां आवरीताऽऽच्छादयिता । वृणोतेस्तृच्प्रत्ययः सर्वैर्भावैः पदार्थैर्नावृतः केनापि कदाचिदप्यनावृतः, स्वयं व्यापकत्वादिति भावः । अविद्यमाने आदिनिष्ठे उत्पत्तिनाशौ यस्यासावनादिनिष्ठो नित्यः । 'निष्ठानिष्पत्तिनाशान्ताः' इत्यमरः । इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मार्गातीतायातीन्द्रियाय । अत एव, अविज्ञेयायापरिच्छेद्याय तस्मै व्योमरूपाय ते तुभ्यं नमः ॥ ४० ॥

व्योम–मूर्ति की स्तुति

(हे नभ !) जो विभु है तथा सम्पूर्ण वस्तुओं का आच्छादनकारी है कोई भी पदार्थ उसे आवृत नहीं कर सकता, सम्पत्ति और विनाश से रहित है, इन्द्रियों से परे है उस दुर्ज्ञेय आकाशात्मक आप को प्रणाम है ॥ ४० ॥

अणीयसे विश्वविधारिणे नमो नमोऽन्तिकस्थाय नमो दवीयसे ।
अतीत्य वाचां मनसां च गोचरं स्थिताय ते तत्पतये नमो नमः ॥४१॥

अणीयस इति ॥ भवेत्यनुवर्तते हे भव ! अणीयसे सूक्ष्मतराय तथापि विश्वधारिणे जगद्धारकाय ते तुभ्यं नमः । अन्तिकस्थायान्तर्यामितया संनिकृष्टाय सते । तथापि दवीयसे दुर्ग्रहत्वाद्दूरतराय ते तुभ्यं नमः । वाचां मनसां च गोचरं विषयं अतीत्य स्थितायावाङ्मनसगोचराय । तत्पतये तेषां वाङ्मनसानामध्यक्षाय । तदध्यक्षस्तैरेव न दृश्यत इति विरोधः ते तुभ्यं नमो नमः । 'चापले द्वे भवत इति वक्तव्यम्' इति द्विरुक्तिः । संभ्रमेण, प्रवृत्तिश्चापलम्' इति काशिका । भवत्युद्रेकाच्च संभ्रमः । विरोधाभासोऽलंकारः ॥ ४१ ॥

हे भव ! सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते हुए भी विश्वधारक कर्त्ता आपको नमस्कार है । अन्तर्यामी होने से अत्यन्त सन्निकट होते हुए भी अत्यन्त दूरस्थित आप को नमस्कार हैं । वचन और मन से परे रहते हुए भी उन्हीं वचन और मन के अधिपति आप को अनेक बार नमस्कार हैं ॥४१॥

असंविदानस्य ममेश संविदां तितिक्षितुं दुश्चरितं त्वमर्हसि ।
विरोध्य मोहात्पुनरभ्युपेयुषां गतिर्भवानेव दुरात्मनामपि ॥ ४२ ॥

असंविदानस्येति ॥ संविदा ज्ञानानामीश । 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' इति श्रुतेरिति भावः । 'प्रेक्षोपलब्धिश्चित्संवित्' इत्यमरः । असंविदानस्याज्ञानस्य । 'समो गम्यृच्छि–' इत्यादिना विदेः संपूर्वादकर्मकाच्छानच्प्रत्ययः । मम दुश्चरितं शस्त्रप्रयो-

गरूपं दुश्चेष्टितं तितिक्षितुं सोढुम्। तिजेः सन्नन्तात्तुमुन्प्रत्ययः। त्वमर्हसि योग्योऽसि। ननु तव महानपराधः कथं सोढव्यस्तत्राह—विराध्येति। मोहादज्ञानात् विरोध्य वैरमुत्पाद्य पुनरभ्युपेयुषां पश्चाच्छरणागतानां दुरात्मनामपि भवानेव गतिः। त्वं हि शरणागतानामपराधं न गणयसीत्यर्थः॥ ४२॥

हे ज्ञानों के अधिनायक! आप मेरे शस्त्र प्रयोगरूप दुर्व्यवहार को क्षमा करने के योग्य हैं। (यदि आप कहें कि 'तुम्हारा अपराध बड़ा है मैं नहीं क्षमा कर सकता' सो भी नहीं क्योंकि) अज्ञान वश शत्रुता से पुनः शरणागत दुष्टों के शरण आप ही हैं अर्थात् शरणागतों के अपराध पर आप ध्यान नहीं देते॥ ४२॥

संप्रति वरं याचते—

आस्तिक्यशुद्धमवतः प्रियधर्म! धर्मं धर्मात्मजस्य विहितागसि शत्रुवर्गे।
संप्राप्नुयां विजयमीश यया समृद्धया तां भूतनाथ विभुतां वितराहवेषु॥

आस्तिक्येति॥ प्रियो धर्मो यस्येति प्रियधर्मः 'समासान्तो विधिरनित्यः' इति न समासान्तोऽनिच्प्रत्ययः। परलोके मतिरस्तीत्यास्तिकः पारलौकिकः। 'अस्ति नास्तिदिष्टम्—' इति ठक्। तस्य भाव आस्तिक्यं विश्वासस्तेन शुद्धं विमलं धर्मं वैदिकाचारम्। अवतः पलायतो धर्मात्मजस्य युधिष्ठिरस्य विहितागसि कृतापराधे शत्रुवर्गेऽरिवर्गे विषये हे ईश! यया समृद्धयाऽस्त्रवैभवेन विजयं संप्राप्नुयां भजेयम्। हे भूतनाथ, आहवेषु तां विभुतां विभूतिमस्त्रविद्यां वितर देहि॥ ४३॥

हे धर्मव्यवस्थापक! (शंकरजी) आस्तिक्य मति के कारण विशुद्ध धर्म की र ा करते हुए धर्मपुत्र (युधिष्ठिर) के शत्रुओं पर, जिन्होंने अपराध किया है, जिस शस्त्र सम्पत्ति से मैं विजयी बन सकता हूँ हे भगवन्! संग्राम काल में उस अस्त्र विद्या को मुझे (हे जीवों के स्वामी!) प्रदान कीजिये॥ ४३॥

इति निगदितवन्तं सूनुमुच्चैर्मघोनः प्रणतशिरसमीशः सादरं सान्त्वयित्वा।
ज्वलदनलपरीतं रौद्रमस्त्रं दधानं धनुरुपपदमस्मै वेदमभ्यादिदेश॥ ४४॥

इतीति॥ इत्युच्चैर्निगदितवन्तं प्रणतशिरसं मघोन इन्द्रस्य सूनुमर्जुनम्। ईशो महादेवः सादरं यथा तथा सान्त्वयित्वोपसान्त्वा, अस्मै अर्जुनाय ज्वलताऽनलेन तेजसा परीतं व्याप्तं रौद्रं रुद्रदेवताकं पाशुपतमस्त्रं दधानं धनुरुपपदं 'धनुःशब्दोपपद वेदम्'। 'धनुर्वेदमित्यर्थः। अभ्यादिदेश ददौ। अध्यापयामासेत्यर्थः। 'धनुरूपपद वेदम्' इत्यत्र धनुरुपपदत्व 'वेद' शब्दस्य न तु संज्ञिनस्तदर्थस्येति संज्ञायाः संज्ञिगतत्वाभावादवाच्यवचनदोषमाहुरालंकारिकाः। तदुक्तम्—'यदेवावाच्यवचनमवाच्यवचनं हि तत्' इति। समाधानं तु धनुः' शब्दविशेषितेन 'वेद' शब्देन शब्दपरेणेत्यर्थः। परोपदेशयोग्यो धनुर्वेदो लक्ष्यत इति कथंचित्संपाद्यम्॥ ४४॥

शङ्कर भगवान ने उपर्युक्त प्रकार से उच्चस्वर में स्तुति करते हुए तथा प्रणामार्थ नत-

भस्तक इन्द्रपुत्र (अर्जुन) को सान्त्वना (बोध) देते हुए प्रज्वलन्त अग्नि से व्याप्त पाशुपतास्त्र को धारण करते हुए धनुर्वेद का आदेश किया अर्थात् पढ़ाया ॥ ४४ ॥

स पिङ्गाक्षः श्रीमान् भुवनमहनीयेन महसा
तनुं भीमां बिभ्रत्त्रिगुणपरिवारप्रहरणः ।
परीत्येशानं त्रिः स्तुतिभिरुपगीतः सुरगणैः
सुतं पाण्डोर्वीरं जलदमिव भास्वानभिययौ ॥ ४५ ॥

स इति ॥ पिङ्गाक्षः पिङ्गलाक्षः श्रीमान् शोभावान् भुवनमहनीयेन लोकपूज्येन महसा तेजसा भीमां तनुं बिभ्रत् । त्रिगुणस्त्रिशिखः परिवारः आकारो यस्य तत् त्रिगुणपरिवारं त्रिशूलं तदेव प्रहरणमायुधं यस्य स तथोक्तः । 'सूर्यपक्षे तु—गुणत्रयपरिवारस्त्रय्यात्मक इति योज्यम् । स धनुर्वेदः सुरगणैः स्तुतिभिरुपगीतः सन् । ईशानं शिवं त्रिस्त्रिवारम् । 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' इति सुच्प्रत्ययः । परीत्य प्रदक्षिणीकृत्य वीरं पाण्डोः सुतमर्जुनम् । भास्वान् सूर्यो जलदमिव । अभिययौ । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४५ ॥

वह पिङ्गल नेत्रधारी, शोभासीम तथा लोकाराध्य तेज से विशाल शरीरधारी धनुर्वेद भगवान्, जो त्रिशूल धारण किये हुए थे; तथा देवता लोग स्तुतियों से जिनका गान करते थे, तीन बार शङ्कर भगवान् की प्रदक्षिणा करके वीर पाण्डु-पुत्र के समीप इस प्रकार उपस्थित हुए जिस प्रकार सूर्य भगवान् मेघ के समक्ष उपस्थित होते हैं ॥ ४५ ॥

अथ शशधरमौलेरभ्यनुज्ञामवाप्य त्रिदशपतिपुरोगाः पूर्णकामाय तस्मै ।
अवितथफलमाशीर्वादमारोपयन्तो विजयि विविधमस्त्रं लोकपाला वितेरुः ॥

अथेति ॥ अथ शशधरमौलिवरप्रदानानन्तरं त्रिदशपतिपुरोगा इन्द्रादयो लोकपालाः शशधरमौलेः शंभोः अभ्यनुज्ञामवाप्य पूर्णकामाय तस्मै पाण्डवाय अवितथफलममोघफलम् । आशीर्वादमारोपयन्तः प्रयुञ्जाना विजयि जयशीलं विविधं नानाविधम् अस्त्रमैन्द्रादिकं वितेरुर्ददुः । मालिनीवृत्तम् ॥ ४६ ॥

अर्जुन की अभिलाषाएँ पूर्ण हुईं । धनुर्वेदागमनानन्तर इन्द्रादिक लोकपालों ने चन्द्रशेखर (शङ्कर) की आज्ञा प्राप्त करके अमोघफलद आशीर्वाद का प्रयोग करते हुए जयनशील अनेक प्रकार के अस्त्रों को अर्जुन के लिए प्रदान किया ॥ ४६ ॥

असंहार्योत्साहं जयिनमुदयं प्राप्य तरसा
धुरं गुर्वीं वोढुं स्थितमनवसादाय जगतः ।
स्वधाम्ना लोकानां तमुपरि कृतस्थानममरा-
स्तपोलक्ष्म्या दीप्तं दिनकृतमिवोच्चैरुपजगुः ॥ ४७ ॥

असंहार्योत्साहमिति ॥ तरसा बलेन वेगेन च जयिनं जयशीलमुदयमस्त्रलाभ-

रूपमभ्युदयम् । अन्यत्र,—उदयाद्रिं च प्राप्य, असंहार्योत्साहं संहर्तुमशक्यमुद्योगं जगतोऽनवसादाय क्षेमाय गुर्वीं धुरं दुष्टनिग्रहभरं तमोपसंहाररूपं च भारं वोढुं स्थितम् । स्वधाम्ना स्वतेजसा लोकानामुपरि कृतस्थानं कृतपदम् । अन्यत्र,—उपरि वर्तमानम् । तपोलक्ष्म्या दीप्तं तं पाण्डवम् । अमरा इन्द्रादयो दिनकृतं सूर्यमिवोच्चैरुपजगुः साधु महाभाग्योऽसीति तुष्टुवुः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४७ ॥

जिस प्रकार देवतालोग वेग से उदयाचल तक प्राप्त, विजय संसार से कल्याण निमित्त अंधकाररूपी भार के संहारार्थ सन्नद्ध, अपने प्रखर प्रताप से संसार के ऊपर अपना स्थान निश्चित रखने वाले तथा प्रदीप्त सूर्य भगवान् का उच्चस्वर से उपस्थान करते हैं उसी प्रकार उन्होंने विजयी, बलपूर्वक उदयास्त को प्राप्त कर लेने के अनन्तर अव्याहत पराक्रमशाली, संसार की मङ्गलकामना के निमित्त महान् भार का वहन करने के लिए सन्नद्ध, अपने पराक्रम से संसार से सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने वाले तथा तपःश्री से विभूषित अर्जुन की स्तुति उच्चस्वर में करने लगे ॥ ४७ ॥

व्रज जय रिपुलोकं पादपद्मानतः सन् गदित इति शिवेन श्लाघितो देवसंघैः ।
निजगृहमथ गत्वा सादरं पाण्डुपुत्रो धृतगुरुजयलक्ष्मीर्धर्मसूनुं ननाम ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीयेऽष्टादशः सर्गः ।

व्रजेति ॥ शिवेन व्रज स्वपुरं गच्छ, रिपुलोकं जयेति गदित उक्तः । यतः पादपद्मानतः शिवपादपङ्कजानतः सन्, तथा देवसंघैः श्लाघितः स्तुतोऽत एव धृता गुर्वी जयलक्ष्मीर्येन स पाण्डुपुत्रोऽर्जुनो निजगृहं स्वाश्रमं गत्वा प्राप्य, अथ सादरं यथा तथा धर्मसूनुं युधिष्ठिरं ननाम नमश्चक्रे ॥ ४८ ॥

इति मल्लिनाथकृतव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायामष्टादशः सर्गः समाप्तः ।

श्री शङ्कर भगवान् ने कहा—'जाओ, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो' इसके अनन्तर चरण कमलों में शिर झुकाकर अर्जुन ने देवताओं से प्रशंसित होते हुए महान् विजयलक्ष्मी के साथ अपने घर पहुँचकर ज्येष्ठ भ्राता धर्मपुत्र (युधिष्ठिर) को प्रणाम किया ॥ ४८ ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

परिशिष्ट

किरातार्जुनीय में अलङ्कार-स्थापना

१ अतिशयोक्ति—द्वि० सर्ग २४, ३१; तृ० २१; पं० २, १९, ४३; ष० ४२; स० ११, १२, १६; अष्ट० २०, ४६; नव० ४; दश० १, २४, ३४; द्वाद० ७; त्रयो० १६, २१, २३।

२ अनुप्रास—अष्ट० २ छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास।

३ अनुमान—त्रयो० ३७।

४ अपह्नुति—द्वाद० १५।

५ अर्थत्रयवाचिन्—पञ्च० ४५।

६ अर्थान्तरन्यास—प्र० २, ५, ८, २३, २५, ३०; ४५; द्वि० १५, १८, २०, २१, ३०; तृ० १३, ३१, ५३; चतु० ४, २०, २३; पं० ४९, ५१; ष० ३७, ४३, ४४, ४५; सप्त० १३, १५; अष्ट० ४, ७; नव० ३३, ३५, ४९, ५८, ६४; दश० २५, ३५, ३७, ५८, ६२; एका० ५५, ७६; द्वाद० २९; त्रयो० ८, ६६; चतु० १, ११, २२; षो० ६१।

७ अर्थापत्ति—सप्त० २७।

८ अर्थभ्रमक—पञ्चद० २७।

९ उत्प्रेक्षा—द्वि० ५४; तृ० १, ३, ४३, ४७, ४८, ४९; चतु० ७, ११, १३, २६, २७, ३०, ३१; पं० १, ३, ७, ८, १५, १७, ३०, ३२, ३४, ३५, ४८; ष० १०, ११, १२, १७, २५, २६, २७, ३३, ४१; स० ६, १४, २३, ३१; अष्ट० १०, ११, २१; २६, २७, २८, ३२, ३३, ३४, ३८, ५०, ५५; न० १, ३, ५, ११, १२, १४, २१, २३, २६, ३२, ५३, ५५, ६९, ७२, ७४, ७५, ७६; द० ३, ११, २१, ३२, ३३, ४३; द्वा० १३, १४, २४, ४५; त्र० ५, ८, २२, ३३, ३४; चतु० २९, ३०, ३२ ३३, ३४, ४८, ५०, ५३, ५४; पञ्चद० ९; षो० ३, ३५, ३८' ४५, ४६, ६२, सप्तद० ८, ३७, ४७; अष्टा० १८, १९—हेतूत्प्रेक्षा।

१० उदात्त—प्र० १६; त्रयो० ५५।

११ उपमा—प्र० २१; द्वि० ५०; तृ० ३२, ३६, ४३, ४६; च० १, ६, १५, १७, १९, २८, ३६; प० १८, २६, ४१, ४६; ष० २, २३, ४०, ४७; न० ८, १०, १२, १४; १७, १८, २७, २९, ३२, ६३, ६७, ७८; द० ८, २४, ३४, ४२, एका० ३३, ५५, ५९, ६४; द्वा० १७, २०, २२; त्रयो० १४, १५, १७, २२, २५, २८, ५३, ६६; चतुर्द० ७, ३५, ४०, ५२; षो० ४६, ६०, सप्तद० ४ पूर्णोपमा, मालोपमा, श्लिष्टोपमा।

१२ ऊर्जस्वल—द० ५१, ५७।

१३ एकव्यञ्जन—पञ्चद० १४ ।
१४ एकावली—प्र० १२; द्वि० ३२; द० १३
१५ कारणमाला—द्वि० १४, ४०; सप्तदश १७
१६ काव्यलिङ्ग—प्र० ७; द्वि० २९, ३९, ४०, ४४; तृ० ४२; प० २०, २३, २६, ४०, ४४; ष० २८; स० २६; अष्ट० ३, १२, १८, ४४; न० ५५, ५७, ६२, ६३; द० १५; एका० १, ७८; चतुर्द० २९ ।
१७ गोमूत्रिका बन्ध—पञ्चद० १२ ।
१८ छेकानुप्रास—अष्ट० १ ।
१९ तद्गुण—ष० ८; स० २३; द्वा० २३ ।
२० तुल्ययोगिता—न० ५१; एका० ५४ ।
२१ दृष्टान्त—द्वि ५१; पञ्चद० २५ ।
२२ द्व्यक्षर—पञ्चद० ३८ ।
२३ निदर्शना—द्वि० ५९; प० ३९; ष० ४; स० ३, ३७, ४०, ५७; न० ९; द० २७; एका० १९; षो० २१, ४१, ६२; सप्तद० ४६ ।
२४ निरौष्ठ्य—पञ्चद० ७, २९ ।
२५ परिकर—प्र० १९; ष० ४०; स० ४; एका० ४५ ।
२६ परिणाम—च० २ ।
२७ परिवृत्ति—द्वि० १९—संपरिवृत्ति ।
२८ पर्य्याय—द० ४९ ।
२९ पर्य्यायोक्ति—प० ३७ ।
३० पूर्णोपमा—प्र० ४६; तृ० ४३ ।
३१ प्रतिलोम—पञ्चद० २३ ।
३२ प्रतिलोमानुलोमपाद—पञ्चद० २० ।
३३ प्रेय—प० ५१ ।
३४ भाविक—प्र० २९, ३३ ।
३५ भ्रान्तिमत—प० २६, ३१, ४२; ष० ८; स० २२, ३९; अष्ट० ७; द० ४; ४२; अष्टाद० २१ ।
३६ माला—अष्टाद० ४६ ।
३७ मालोपमा—त्रयो० २९; चतुर्द० ६३; सप्तद० ११ ।
३८ मीलन—अष्ट० ४६, ४८ ।
३९ यथासंख्य—अष्ट० ४२; पञ्चद० १६ ।
४० यमक—प० १८, २०, २३; पञ्चद० १, ३, १६, ३१, शृङ्खला यमक ।
४१ रसवत—द० ५१ ।
४२ रूपक—तृ० ४१; च० २४; प० २८; ष० ४१; स० ५, ११, १५; न० ३, २७, ५७, ६२; द० ३२; चतुर्द० १२; पञ्चद० ३८ ।
४३ वस्तुध्वनि—त्रयो० २३, २७ ।
४४ वास्तव—च० २२ ।
४५ विभावना—प० २६; अष्ट० ४०; न० २५ ।
४६ विरोध—द० १४ ।
४७ विरोधाभास—न० ६३, ६४; एका० ३५; द्वा० १६; अष्टाद० ४१ ।
४८ विशेषोक्ति—तृ० ८ ।
४९ विषम—अष्ट० ४१; द० ३८ ।
५० वृत्त्यनुप्रास—प्र० १ ।
५१ व्यतिरेक—प० ४४; एका० ६३; द्वा० १४; त्रयो० ५२, ५३ ।
५२ शृङ्खलायमक—पञ्चद० ४२ ।
५३ श्लिष्टोपमा—न० १८ ।
५४ श्लेष—अष्ट० २; द० २४, ३४; एका० ५९; त्रयो० १४, १५; चतुर्द० ५२; सप्तद० २७ ।
५५ संशय—न० ६९ ।
५६ सङ्कर—च० ३४; प० २६; ष० २, ८,

किरातार्जुनीयव्याख्यायां प्रमाणत्वेन समुपन्यस्तानां ग्रन्थानां ग्रन्थकाराणां च नामानि ।

पञ्चदशसर्गस्थितानां चित्रबन्धानामुद्धारः

गोमूत्रिकाबन्धः (१२ श्लोकः)

ना सु रो यं न वा ना गो ध र सं स्थो न रा क्ष सः

ना सु खो यं न वा भो गो ध र णि स्थो हि रा ज सः

सर्वतोभद्रः (२५ श्लोकः)

दे	वा	का	नि	नि	का	वा	दे
वा	हि	का	स्व	स्व	का	हि	वा
का	का	रे	भ	भ	रे	का	का
नि	स्व	भ	व्य	व्य	भ	स्व	नि
नि	स्व	भ	व्य	व्य	भ	स्व	नि
का	का	रे	भ	भ	रे	का	का
वा	हि	का	स्व	स्व	का	हि	वा
दे	वा	का	नि	नि	का	वा	दे

अर्धभ्रमकः (२७ श्लोकः)

स	स	त्य	र	ति	दे	नि	त्यं
स	द	रा	म	र्ष	ना	शि	नि
त्व	रा	धि	क	क	सं	ना	दे
र	म	क	त्व	म	क	र्ष	ति

श्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका